भाष्यद्वयसहितम्

शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम्

अथवा

वाजसनेयि-प्रातिशाख्यम्

डा॰ वीरेन्द्र कुमार वर्मा

॥ श्रीः ॥

ब्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

१६

भाष्यद्वयसहितम्

शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्यम्

अथवा

वाजसनेयि-प्रातिशाख्यम्

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डा० वीरेन्द्र कुमार वर्मा

एम० ए०, पीएच० डी०, ऋग्वेदाचार्य

रीडर, संस्कृत एवं पालि विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-५

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड,

दिल्ली ११०००७

दो शब्द

प्रातिशाख्य-शास्त्र महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ कठिन भी है। विषय-वस्तु का वैचित्र्य, अधुना-लुप्त परम्परा, पारिभाषिक शब्दों का वेष्टन यह त्रिवेणीसंगम इसमें पाया जाता है। पिछले पन्द्रह वर्षों से मैं इस साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में संलग्न हूँ। परिणामस्वरूप १९७० में उवट-भाष्य-सहित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य का एक संस्करण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। दो वर्ष बाद १९७२ में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य एक परिशीलन भी उक्त ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इन दो ग्रन्थों ने प्रातिशाख्य-शास्त्र की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। प्रातिशाख्य-शास्त्र से सम्बद्ध विषयों को लेकर पाँच शोधछात्रों ने मेरे निर्देशन में अत्युत्तम शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए और आठ शोधछात्र मेरे निर्देशन में अभी प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में लगे हुए हैं। अन्य भारतीय विश्वविद्यालयों में भी प्रातिशाख्यों पर छिटपुट कार्य हो रहा है।

विषय-वस्तु अत्यन्त पारिभाषिक होने के कारण और आधुनिक जगत् के सतत संचरणक्षेत्र के बाहर होने के कारण अन्य अनेक शास्त्रों की भाँति प्रातिशाख्य-शास्त्र की रक्षा का प्रश्न बड़ा जटिल होकर हमारे सामने उपस्थित हो गया है। रक्षा का अर्थ केवल नाश से बचाना ही नहीं, प्रचार भी है। प्रातिशाख्य-शास्त्र की विषय-वस्तु पारिभाषिक शब्दों एवं प्राचीन शैली में प्रतिपादित होने के कारण आधुनिक जगत् इस शास्त्र के लाभ से वंचित होता जा रहा है। अत एव गुरुपरम्परासिद्ध एवं भारतीय ऐतिह्य-वाही इस शास्त्र की रक्षा अत्यन्त स्पृहणीय है।

शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य एक अनमोल ग्रन्थ है। अद्यावधि इस ग्रन्थ का कोई भी प्रामाणिक संस्करण प्रकाश में नहीं आया था। इस ग्रन्थ के जितने संस्करण अब तक निकले वे अव्यस्थित एवं असंख्य अशुद्धियों से भरे हुए होने के कारण निराशाजनक ही रहे। अतः यह अत्यन्त आवश्यक था कि शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य का एक प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत किया जाये।

प्रातिशाख्य-शास्त्र जितना दुर्बोध है उतना ही महत्वपूर्ण है। इस दुर्बोध विषय को पाठकों के सम्मुख भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी में आधुनिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में कहाँ तक सफलता मिल पायी है यह विद्वानों को निर्णय करना है। विद्वान् को परिभाषा है दोषज्ञ। दोष की ओर ध्यान दिलाना विद्वान् का कर्तव्य है, और लेखक का कर्तव्य है आभार प्रदर्शित करना। मैं इसके लिए सज्ज हूँ।

इति विदुषां वशंवदः

वीरेन्द्र कुमार वर्मा

विषय-सूची

संक्षेप-सूची

अ० = अनन्तभट्टभाष्यम् । आप० परि० = आपस्तम्बपरिभाषा । उ० = उवटभाष्यम् । ऋ० भा० भू० = ऋग्वेदभाष्यभूमिका । का० = काण्वसंहिता । का० स० = कात्यायनसर्वानुक्रमणी । का० भा० भू० = काण्वभाष्यभूमिका । तै० भा० भू० = तैत्तिरीयभाष्यभूमिका । त्रि० = त्रिभाष्यरत्नम् । पा० = पाणिनीयाष्टाध्यायी । पा० शि० = पाणिनीयशिक्षा । मनु० = मनुस्मृति: । मा० सं० = माध्यन्दिनसंहिता । या० शि० = याज्ञवल्क्यशिक्षा । व० प्र० शि० = वर्णरत्नप्रदीपिकाशिक्षा । वा० = वाजसनेयिसंहिता । श० ब्रा० = शतपथब्राह्मणम् । सा० भा० भू० = सायणभाष्यभूमिका ।

भूमिका

१—संहितायें एवं उनकी रक्षा के उपाय

वेदों का महत्त्व—वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ-रत्न हैं। मानव संस्कृति के प्राचीनतम रूप तथा विकास को समझने के लिए वेदों का परिशीलन अपरिहार्य है। मानव-जाति के इतिहास के ज्ञान के लिए, भारतीय संस्कृति को समझने के लिए और भाषा-विज्ञान की गुत्थियों को सुलझाने के लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक माना जाता है। वेद भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की अमूल्य निधि हैं, जो आज भी वैज्ञानिक उपलब्धियों के बीच अपने ज्ञान-गौरव की अक्षुण्णता का अबाध उद्घोष कर रहे हैं। वेदों को ही आधार मानकर भारतीय दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक ज्ञान के भव्य प्रासाद को प्रतिभासम्पन्न वाक्-शिल्पियों ने खड़ा किया है। अत एव वेदों का अनुशीलन तथा उनके मौलिक सिद्धान्तों एवं तथ्यों का उद्घाटन ज्ञान के संवर्धन एवं उन्नयन के लिए विशेष उपयोगी है।

मुख्यतः संहिता का वेदत्व—'वेद' शब्द का प्रयोग सामान्यतः मन्त्र और ब्राह्मण-इन दोनों के लिए होता है[क]। किन्तु मन्त्र ही मुख्यतः वेद हैं। वेद के ब्राह्मण-भाग में मन्त्रभाग की व्याख्या ही प्रस्तुत की गई है। भट्ट भास्कर ने भी कहा है कि कर्म तथा कर्म में प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के व्याख्यान-ग्रन्थ को ही ब्राह्मण कहा गया है[ख]।

संहिताओं की संख्या—कहा जाता है कि मूलतः वेद एक ही था। मन्त्रों के याज्ञिक प्रयोग को दृष्टि में रखकर महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक ही वेद को चार मन्त्र-संहिताओं में विभक्त कर दिया। वेदों को विभक्त करने के कारण ही महर्षि कृष्ण द्वैपायन को 'वेदव्यास' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। चार मन्त्र-संहितायें ये हैं—ऋग्वेद-संहिता, यजुर्वेद-संहिता, सामवेद-संहिता और अथर्ववेद-संहिता। 'संहिता' का अर्थ है संकलन। हौत्र कर्म का सम्पादन करने वाले होतृ नामक ऋत्विक् के द्वारा पाठ किए जाने वाले मन्त्रों का संकलन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने ऋग्वेद-संहिता के रूप में किया। होतृ नामक ऋत्विक् यज्ञ के समय ऋग्वेद-संहिता की ऋचाओं का पाठ करता है। आध्वर्यव कर्म का सम्पादन करने वाले अध्वर्यु नामक ऋत्विक् के द्वारा पाठ किए

(क) मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्। आप० परि० ३१

(ख) ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यानग्रन्थः। तै० सं० १।५।१ पर भाष्य

जाने वाले मन्त्रों का संकलन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने यजुर्वेद-संहिता के रूप में किया। अध्वर्यु नामक ऋत्विक् यज्ञ के समय यजुषों (गद्यात्मक मन्त्रों) का उपांशु रूप से उच्चारण करता है। औद्गात्र कर्म का सम्पादन करने वाले उद्गातृ नामक ऋत्विक् के द्वारा गाए जाने वाले मन्त्रों का संकलन महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने सामवेद-संहिता के रूप में किया। उद्गातृ नामक ऋत्विक् यज्ञ के समय सामवेद-संहिता के मन्त्रों का गान ऊँची ध्वनि से करता है। महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने अथर्ववेद-संहिता में ऐसे मन्त्रों का संकलन किया, जिनका यज्ञों के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है। इस संहिता में लौकिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मन्त्रों का संकलन है।

वेदों की शाखायें—भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने एक मूल वेद को चार संहिताओं में संकलित किया। संहिताओं को सुरक्षित रखने के लिए उन्होंने इन संहिताओं को अपने चार शिष्यों को पढ़ाया—पैल को ऋग्वेद-संहिता, जैमिनि को सामवेद-संहिता, वैशम्पायन को यजुर्वेद संहिता और सुमन्तु को अथर्ववेद-संहिता[क]। इन चार शिष्यों ने इन चार संहिताओं को अपने अनेक शिष्यों को पढ़ाया और उन शिष्यों ने अपने अनेक शिष्यों को पढ़ाया। इसी क्रम से अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से चलता रहा। यद्यपि संहिताओं के अध्यापकों और अध्येताओं ने संहिताओं के मन्त्रों को अपरिवर्तित रखने का अथक परिश्रम किया, तथापि समय के साथ संहिताओं के मन्त्रों में उच्चारण आदि से सम्बद्ध कतिपय परिवर्तन हो ही गए। इसके परिणामस्वरूप एक-एक संहिता की अनेक संहितायें बन गईं। एक मूल संहिता अनेक शाखाओं में विभक्त हो गई-एक परम्परा से अनेक परम्पराओं का आविर्भाव हुआ।

एक वेद की विभिन्न शाखाओं में परस्पर दो प्रकार के अन्तर हैं—(१) उच्चारण-विषयक अन्तर। (२) कतिपय मन्त्रों का एक शाखा में उपलब्ध होना और दूसरी शाखा में उपलब्ध न होना। एक वेद की शाखाओं में परस्पर अत्यल्प अन्तर उपलब्ध होता है। संहिताओं में सूक्तों और मन्त्रों का क्रम प्रायः समान ही होता है। कतिपय शब्दों अथवा मन्त्रों तक ही अन्तर सीमित होता है। ऐसे उदाहरण अल्प ही हैं जहाँ एक शाखा में दूसरी शाखा की अपेक्षा कतिपय अधिक सूक्त हैं। शाखायें प्राचीन सूक्तों के स्वतन्त्र संग्रह-ग्रन्थ नहीं हैं, अपितु एक ही मूल-संग्रह के विभिन्न संस्करण हैं।

वेदों की शाखाओं की संख्या के विषय में परस्पर-विरोधी उल्लेख मिलते हैं। अस्तु, पतञ्जलि के अनुसार ऋग्वेद की इक्कीस (२१), यजुर्वेद की एक सौ एक

(क) तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः॥ भागवत (१।४।२१)

(१०१), सामवेद की एक हजार (१०००) और अथर्ववेद की नौ (९) शाखायें हैं[क]। इनमें से अधिकतर शाखायें विनष्ट हो गई हैं। आजकल अधोलिखित शाखाओं की संहितायें ही उपलब्ध हैं—

ऋग्वेद – (१) शाकल (२) शांखायन।

यजुर्वेद (शुक्ल)— १) काण्व (२) माध्यन्दिन।

यजुर्वेद (कृष्ण)—(१) तैत्तिरीय (२) मैत्रायणी (३) कठ (४) कपिष्ठलकठ (अंशतः उपलब्ध)।

सामवेद—(१) कौथुम (२) जैमिनीय (३) राणायनीय।

अथर्ववेद—(१) शौनक (२) पैप्पलाद (अंशतः उपलब्ध)।

यजुर्वेद का महत्त्व—साहित्य वैभव तथा पुराण-विज्ञान (Mythology) की दृष्टि से यजुर्वेद का स्थान ऋग्वेद के बाद ही आता है। यद्यपि यजुर्वेद तथा इसके साथ सामवेद को ऋग्वेद का परिचारक बतलाया गया है[ख], तथापि याज्ञिक उपासना के रूप में विकसित होने वाले प्राचीन भारतीय धर्म को दृष्टि से यजुर्वेद ऋग्वेद की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। ऋग्वेद में यदि होता के उपयोगार्थ देवताओं के आवाहन-मन्त्रों का संग्रह है, सामवेद में यदि उद्‌गाता के गान के लिए आर्चमन्त्रों का गेय उपनिबन्धन है तो यजुर्वेद में विविध यागों के सम्पादन की सुविधा के लिए ऋचाओं तथा यजुषों का संकलन है[ग]। याज्ञिक अनुष्ठानों से सम्बद्ध यजुषों की संहिता होने के कारण यह यजुर्वेद कहलाता है। यजुष् शब्द 'यज्' धातु से निष्पन्न हुआ है, अतः वह उन मन्त्रों का द्योतन करता है जिनका प्रयोग देवोपासना तथा हविर्दान के समय होता है। "अनियताक्षरावसानो यजुः", "गद्यात्मको यजुः" तथा "शेषे यजुः"—ये कतिपय व्याख्यायें यजुषों के स्वरूप का निदर्शन करती हैं। तदनुसार ये वे मन्त्र हैं जो गद्यमय होते हैं और जिनमें अक्षरों की संख्या नियत नहीं होती।

यजुर्वेद का ऋत्विक् अध्वर्यु ही यज्ञ के सम्पूर्ण महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करता है। स्वयं ऋग्वेद का कहना है कि वही यज्ञ के स्वरूप का निष्पादन करता

(क) एकशतमध्वर्युशाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाथर्वणो वेदः। पस्पशाह्निक।

(ख) तत्परिचरणौ इतरौ वेदौ। कौषीतकि-ब्राह्मण, ६–२।

(ग) यजुर्वेद के परिचय के लिए देखिए मेरा शोध-लेख 'यजुर्वेद का संक्षिप्त आलोचनात्मक अध्ययन' भारती पत्रिका १९६४–६५।

है[क]। यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ का शरीर निष्पन्न हो जाने पर उसमें अपेक्षित स्तोत्र और शस्त्र रूप दो अवयव अन्य दो वेदों–ऋग्वेद और सामवेद–के द्वारा पूरे किये जाते हैं। यही कारण है कि सायण ने सर्वप्रथम यजुर्वेद का ही व्याख्यान किया है[ख]। यजुर्वेद का महत्त्व बतलाते हुए आचार्य सायण ने यह भी कहा है–"यजुर्वेद भित्तिस्थानीय है, अन्य दो वेद (=ऋग्वेद, सामवेद) उस पर आश्रित चित्रस्थानीय हैं। इसलिए यागों में यजुर्वेद का प्राधान्य है"[ग], "जिस प्रकार शरीर के उत्पन्न होने पर कटक आदि आभूषण पहने जाते हैं और कटक आदि आभूषणों में मोती तथा हीरे जड़े जाते हैं, उसी प्रकार यजुर्वेद के द्वारा यज्ञ-शरीर उत्पन्न हो जाने पर ऋचाओं के द्वारा यज्ञ-शरीर भूषित किया जाता है और उन ऋचाओं पर साम-संज्ञक मोती तथा हीरे जड़े जाते हैं[घ]।

यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय—यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं–ब्रह्म सम्प्रदाय तथा आदित्य सम्प्रदाय। ब्रह्म सम्प्रदाय का प्रतिनिधि कृष्ण यजुर्वेद है तथा आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद है। यजुर्वेद के शुक्ल एवं कृष्ण होने के विषय में एक प्राचीन आख्यान अनेक स्थलों में निर्दिष्ट किया गया है जिसका सार यह है—किसी कारणवश क्रुद्ध हुए गुरु वैशम्पायन ने याज्ञवल्क्य को आदेश दिया–"मुझसे अधीत विद्या को तुरन्त लौटा दो"। गुरु वैशम्पायन के शाप से डर कर योगी याज्ञवल्क्य ने स्वाधीत यजुषों का वमन कर दिया। गुरु के आदेश से अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण करके उन यजुषों को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार तित्तिर रूप में ग्रहण किया गया यजुर्वेद तैत्तिरीय (कृष्णयजुर्वेद) नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूर्य (आदित्य) को प्रसन्न करके याज्ञवल्क्य ने सूर्य (आदित्य) से शुक्ल-यजुर्वेद को प्राप्त किया। आदित्य से प्राप्त होने के कारण यह शुक्ल-यजुर्वेद कहलाया।

(क) यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः (ऋ. १०।७१।११)।

(ख) यजुर्वेदे निष्पन्नं यज्ञशरीरमुपजीव्य तदपेक्षितौ स्तोत्रशस्त्ररूपौ अवयवौ इतरेण वेदद्वयेन पूर्येते इत्युपजीव्यस्य यजुर्वेदस्य प्रथमतो व्याख्यानं युक्तम्। ऋ. भा. भू०, पृ० १४।

(ग) भित्तिस्थानीयो यजुर्वेदः, चित्रस्थानीयावितरौ। तस्मात्कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम्। तै. भा. भू. पृ. ७।

(घ) जाते देहे भवत्यस्य कटकादिविभूषणम्।
आश्रितं मणिमुक्तादि कटकादौ यथा तथा॥ १२॥
यजुर्जाते यज्ञदेहे स्यादृग्भिस्तद्विभूषणम्।
सामाख्या मणिमुक्ताद्या ऋक्षु तासु समाश्रिताः॥ १३॥ सा. भा. भू. पृ. ६३।

यजुर्वेद का कृष्ण तथा शुक्ल के रूप में विभाजन स्वरूप की दृष्टि से हुआ है। सबसे मुख्य अन्तर कृष्ण तथा शुक्लयजुर्वेद में यह है कि जहाँ कृष्णयजुर्वेद में अनुष्ठेय मन्त्रों के साथ-साथ तद्विधिपरक ब्राह्मणों का भी संमिश्रण है वहाँ शुक्लयजुर्वेद में केवल मन्त्रों का संकलन है और तत्सम्बन्धी ब्राह्मण पृथक् रखा गया है। मन्त्र तथा ब्राह्मण का एकत्र मिश्रण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है, तथा मन्त्रों का विशुद्ध एवं अमिश्रित रूप ही शुक्लयजुर्वेद का शुक्लत्व है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कृष्णयजुर्वेद में 'अध्वर्यु' के कर्त्तव्यों के साथ-साथ 'होता' के कर्त्तव्यों की ओर भी बहुत अधिक ध्यान दिया गया है जब कि शुक्लयजुर्वेद में यह बात नहीं है। कृष्णयजुर्वेद में मन्त्रों तथा ब्राह्मणों के मिल जाने के कारण कतिपय भ्रमों से बुद्धि के मलिन होने की बहुत सम्भावना है, इसलिए उसे कृष्ण या मलिन वेद कहा जाता है। शुक्लयजुर्वेद में मन्त्रों तथा ब्राह्मणों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था होने से विषय शुद्ध तथा सुबोध हो जाता है, यही उसकी शुक्लता अथवा शुद्धता है।[क] अन्यथा यज्ञीय विषयों के प्रतिपादन की विधि तथा क्रम में कोई विशेष अन्तर शुक्ल तथा कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं में नहीं मिलता।

शुक्लयजुर्वेद की शाखायें—शुक्लयजुर्वेद की पन्द्रह शाखायें ये हैं—(१) काण्व (२) माध्यन्दिन (३) शापेय (४) तापायनीय (५) कापाल (६) पौण्ड्रवत्स (७) आवटिक (८) परमावटिक (९) पाराशर्य (१०) वैधेय (११) वैनेय (१२) औधेय (१३) गालव (१४) वैजव (१५) कात्यायनीय। आजकल उपलब्ध दो शाखाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

(१) काण्व शाखा—महर्षि कण्व के द्वारा जिस शाखा का प्रचार-प्रसार किया गया वह काण्व शाखा है। कण्व याज्ञवल्क्य के प्रथम शिष्य थे, अतः यह शाखा प्रथम शाखा भी कही जाती है। इस शाखा की संहिता (= काण्व संहिता) में अध्यायों की संख्या ४०, अनुवाकों की संख्या ३२८ तथा मन्त्रों की संख्या २०८६ है। माध्यन्दिन संहिता की अपेक्षा इसमें १११ मन्त्र अधिक हैं। काण्व संहिता का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् है। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण में १०४ अध्याय हैं। इसके चौदहवें काण्ड का एक भाग बृहदारण्यकोपनिषद् है। काण्व संहिता पर आचार्य सायण का भाष्य मिलता है। हलायुध ने इस संहिता पर 'ब्राह्मणसर्वस्व' नामक भाष्य लिखा था। काण्व शाखा का प्रचार आजकल महाराष्ट्र प्रदेश में ही है, किन्तु प्राचीन काल में यह शाखा उत्तर भारत में प्रचलित थी।

(क) देखिए का. भा. भू. पृ. १०३।

(२) **माध्यन्दिन शाखा**—महर्षि मध्यन्दिन के द्वारा जिस शाखा का प्रचार-प्रसार किया गया वह माध्यन्दिन शाखा है। इस शाखा की संहिता (= माध्यन्दिन संहिता) में अध्यायों की संख्या ४०, अनुवाकों की संख्या ३०३ तथा मन्त्रों की संख्या १९७५ है। माध्यन्दिन शाखा का चालीसवाँ अध्याय ईशोपनिषद् है। माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण में सौ अध्याय हैं। इसके चौदहवें काण्ड का एक भाग बृहदारण्यकोपनिषद् है। उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के सभी प्रान्तों में इस शाखा के बहुसंख्यक अनुयायी उपलब्ध होते हैं। आचार्य उवट तथा आचार्य महीधर के विद्वत्तापूर्ण भाष्य माध्यन्दिन-संहिता पर उपलब्ध हैं।

संहिता-साहित्य की रक्षा के उपाय—भारतीय जीवन में संहिताओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। संहिताओं को अपौरुषेय माना गया है तथा उनको अतिशय आदर, सम्मान एवं पवित्रता की दृष्टि से देखा गया है। यह बात संहिताओं के उदय-काल के कुछ ही दिनों बाद सम्पन्न हो गई थी। संहिताओं का एक-एक अक्षर पवित्र माना जाने लगा तथा उनमें परिवर्तन महान् अनर्थ का कारण समझा जाने लगा। प्राचीन ऋषियों तथा विद्वानों के सम्मुख यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि संहिताओं की रक्षा कैसे की जाये.? संहिताओं के दो पक्षों की रक्षा करनी थी। एक ओर तो उनके आभ्यन्तरपक्ष (अर्थ) की रक्षा करनी थी—भय यह था कि कहीं आगे आने वाली पीढ़ियाँ संहिताओं के अर्थ को भूल न जायें, साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों के अभिप्राय कहीं अगम्य न हो जायें। दूसरी ओर संहिताओं के बाह्य स्वरूप की रक्षा करनी थी—भय यह था कि कहीं पवित्र मन्त्रों के बाह्य स्वरूप में परिवर्तन न हो जाये, कहीं आगे आने वाली पीढ़ियाँ ऋषियों की पवित्र वाणी के शुद्ध रूप से वञ्चित न हो जायें। संहिताओं के आभ्यन्तर-पक्ष (अर्थ) की रक्षा का प्रयत्न निरुक्त के द्वारा किया गया। संहिताओं के बाह्य स्वरूप को अक्षुण्ण रखने के लिये दो प्रकार के उपायों को अपनाया गया—(१) व्यावहारिक (Practical) उपाय (२) सैद्धान्तिक (Theoretical) उपाय।

व्यावहारिक उपाय—संहिताओं के बाह्य-स्वरूप की रक्षा के लिये अध्ययन-अध्यापन की मौखिक परम्परा का उदय हुआ। पहले गुरु मन्त्र का उच्चारण स्वयं करते थे और गुरु के उच्चारण को सुनकर शिष्य उच्चारण करते थे। इस क्रम से मन्त्र के उच्चारण को तब तक दोहराया जाता था जब तक शिष्य मन्त्र को पूर्णरूप से ग्रहण न कर लें। गुरु इस बात का सतत ध्यान रखते थे कि शिष्य पूर्णरूपेण शुद्ध उच्चारण को ग्रहण कर रहे हैं या नहीं। आज भी हमारा मस्तक महाभाष्य में उल्लिखित उन गुरुप्रवर के प्रति श्रद्धा से अवनत हो जाता है, जो उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले अपने शिष्य के मुँह पर चाँटा लगाकर उसके उच्चारण को शुद्ध

करते थे।[क] इस प्रकार मौखिक परम्परा से गुरुगण अपने शिष्यों को वैदिक मन्त्रों के उच्चारण की व्यावहारिक शिक्षा निरन्तर बहुत वर्षों तक प्रदान किया करते थे।

सैद्धान्तिक उपाय—ऊपर कहा जा चुका है कि आर्यजन गुरु-मुख से संहितात्मक मन्त्रों का अध्ययन करके उनको स्मरण रखते थे। ब्राह्मण-काल के अनन्तर जब लोक-भाषा का अधिक विकास हुआ तब संहितात्मक वैदिक मन्त्रों की भाषा से आर्यजन अपरिचित होने लगे। ऐसी स्थिति में वर्ण, पद, सन्धि, स्वर (Accent) इत्यादि के विशिष्ट नियमों के अभाव में वेद के पवित्र मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करना कठिन हो गया। तत्कालीन वैदिक विद्वानों ने अनुभव किया कि वैदिक मन्त्रों के बाह्य स्वरूप से सम्बद्ध विशिष्टताओं को ग्रन्थों के रूप में उल्लिखित कर देना अत्यन्त आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों, शिक्षा-ग्रन्थों और अनुक्रमणिका-ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का स्थान सर्वोपरि है। इस प्रकार वेदों की रक्षा के लिए प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का उद्भव हुआ।

२–प्रातिशाख्य-विषयक सामान्य तथ्य

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों की संख्या—ये छः प्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण हैं[ख] (१) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (३) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य (४) शौनकीया चतुरध्यायिका (५) अथर्ववेद–प्रातिशाख्य (६) ऋक्तन्त्र।

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का काल—इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। अस्तु, प्रातिशाख्यों का समय यास्क के बाद और पाणिनि के पूर्व है अर्थात् प्रातिशाख्यों की रचना ७०० ई० पू० तथा ५०० ई० पू० के मध्य में हुई।

प्रातिशाख्य–ग्रन्थों का पौर्वापर्य—प्रातिशाख्यों को इस क्रम में रख सकते हैं—(१) ऋग्वेद–प्रातिशाख्य (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (३) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य (४) शौनकीया चतुरध्यायिका (५) ऋक्तन्त्र (६) अथर्ववेद-प्रातिशाख्य।[ग]

प्रातिशाख्य का क्षेत्र—एक प्रातिशाख्य का सम्बन्ध मुख्यतः वेद की किसी एक शाखा के साथ होता है। वा० प्रा० का सम्बन्ध मा० सं० के साथ है।

(क) उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते; खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। पा० १।१।१ पर पतञ्जलि।

(ख) यहाँ कतिपय विषयों का संकेतमात्र किया जा रहा है। इन महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तृत विवेचन मैंने अपने ग्रन्थ **ऋग्वेदप्रातिशाख्य—एक परिशीलन—** में किया है।

(ग) इन प्रातिशाख्यों के विवरण के लिए **'ऋग्वेदप्रातिशाख्य-एक परिशीलन'** को देखिए।

३-वाजसनेयि-प्रातिशाख्य का संक्षिप्त विवरण

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के स्वरूप का परिचय—वाजसनेयि-संहिता से सम्बन्धित वाजसनेयि-प्रातिशाख्य आचार्य शौनक के शिष्य कात्यायन की रचना है। वा० प्रा० में आचार्य कात्यायन ने वाजसनेयि-संहिता के बाह्य स्वरूप के विषय में अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक नियमों का निर्माण किया है। इन नियमों के अध्ययन से पता चलता है कि वाजसनेयि-संहिता का बाह्य स्वरूप उस प्राचीन समय में अक्षरशः वैसा ही था जैसा वह आज मुद्रित ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। आचार्य कात्यायन के नियमों की कृपा से ही वाजसनेयि-संहिता के बाह्य स्वरूप की यह रक्षा सम्भव हो सकी है।

विस्तार की दृष्टि से वा० प्रा० ऋ० प्रा० से छोटा तथा अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है। अष्टम अध्याय के कतिपय श्लोकात्मक सूत्रों को छोड़कर सम्पूर्ण प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपनिबद्ध है। इस प्रातिशाख्य में आठ अध्याय हैं। अध्याय के अन्तर्गत सूत्र हैं। वा० प्रा० के मुद्रित संस्करणों में सूत्रों की संख्या समान नहीं है। उदाहरण के लिए जीवानन्द के संस्करण में सूत्रों की संख्या ७२७ है, वेङ्कटराम शर्मा के संस्करण में ७२६, इन्दु रस्तोगी के संस्करण में ७४० तथा प्रस्तुत संस्करण में ७३४ हैं। इसका कारण यह है कि अष्टम अध्याय के सूत्रों का विन्यास एवं संख्या नितान्त अव्यवस्थित है। विषय-वस्तु की दृष्टि से वा० प्रा० महत्त्वपूर्ण है। किन्तु विषय-विधान की दृष्टि से यह अव्यवस्थित है। वा० प्रा० के आठों अध्यायों के विषयों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

अध्याय	सूत्र-संख्या	विषय
प्रथम	१६९	वर्णोत्पत्ति, अध्ययनविधि, संज्ञा-परिभाषा, वर्णों के उच्चारणस्थान तथा करण, पूर्वाङ्गपराङ्ग-चिन्ता।
द्वितीय	६५	स्वर के नियम।
तृतीय	१५१	संधि के नियम।
चतुर्थ	१९८	संधि के नियम, पद-पाठ के नियम, क्रम-पाठ के नियम।
पञ्चम	४६	अवग्रह के नियम।
षष्ठ	३१	आख्यात और उपसर्ग के स्वर के नियम तथा कतिपय पदों का स्वरूप।
सप्तम	१२	परिग्रह के नियम।
अष्टम	६२	वर्णसमाम्नाय, अध्ययनविधि, वर्णों के देवता, पदचतुष्टय, पदों के गोत्र एवं देवता।

वा० प्रा० के मुख्य विषय—वा० प्रा० के मुख्य विषयों को अधोलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वर्ण-विचार—वा० प्रा० का मूल उद्देश्य वा० सं० के परम्परागत शुद्ध उच्चारण को सुरक्षित रखना है। संहिता मन्त्रों का समूह है, मन्त्र वाक्यों के समूह हैं, वाक्य पदों के समूह हैं और पद वर्णों के समूह हैं। इस प्रकार वर्ण संहिता की मूल इकाई हैं। संहिता का शुद्ध उच्चारण वर्णों के शुद्ध उच्चारण पर आधृत है। यही कारण है कि वा० प्रा० के अष्टम अध्याय में वर्णसमाम्नाय का कथन तथा प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति, वर्णों के उच्चारण में स्थान और करण, अक्षर-विभाजन इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का विधान किया गया है।

(२) स्वर विचार—संहिता का पाठ परम्परा के अनुसार करना पड़ता है। यह पाठ साधारण न होकर स्वाराघातों के अनुसार होता है। स्वर की अत्यल्प त्रुटि होने पर भी महान् अनर्थ हो जाता है। यही कारण है कि वा० प्रा० में स्वर-विषयक विस्तृत विधान किया गया है। प्रथम अध्याय में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के लक्षण, स्वरित के भेद एवं उनके लक्षण, स्वरितों के उच्चारण में हस्तप्रदर्शन इत्यादि महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया गया है। सम्पूर्ण द्वितीय तथा षष्ठ अध्याय में वैदिक पदों में स्वर-विषयक नियमों का विस्तृत विधान किया गया है।

(३) संधि-विचार—प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का मुख्य विषय है पदों से संहिता-पाठ का निर्माण करना। पदों से संहिता-पाठ का निर्माण संधि के नियमों के आधार पर ही होता है। यही कारण है कि वा० प्रा० के सम्पूर्ण तृतीय अध्याय एवं चतुर्थ अध्याय के तीन चौथाई भाग में संधि-विषयक नियमों का विधान किया गया है।

(४) पदपाठ-विचार—वा० प्रा० वा० सं० के पद-पाठ पर आधृत है। यह पदों को सिद्ध मानता है और सिद्ध पदों से संहिता-पाठ के निर्माण के लिए नियमों का विधान करता है। वा० प्रा० में पदों की सिद्धि नहीं की गई है, क्योंकि वे पहले से ही सिद्ध हैं। पदों का प्रकृति-प्रत्यय में विभाग प्रातिशाख्य के विषय के बाहर की वस्तु है। यह वस्तुस्थिति होते हुए भी पदों के सामान्य स्वरूप का ज्ञान वक्ता को होना ही चाहिए क्योंकि संहिता के शुद्ध उच्चारण के लिए पदों का शुद्ध उच्चारण अपेक्षित है। पद का लक्षण, चार प्रकार के पद एवं उनके लक्षण, पद-पाठ में इति-करण का विधान, स्थितोपस्थित का स्वरूप, अवग्रह का विस्तृत विधान इत्यादि विषयों का प्रतिपादन वा० प्रा० के प्रथम एवं चतुर्थ अध्याय के कतिपय सूत्रों तथा सम्पूर्ण पञ्चम अध्याय में किया गया है।

(५) क्रमपाठ-विचार—पद-पाठ और संहितापाठ के बाद में क्रम-पाठ आता है। पदपाठ और संहितापाठ इन दोनों की पुष्टि के लिए क्रमपाठ उपयोगी है।

अतएव वा० प्रा० के चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्रों तथा सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में क्रमपाठ-विषयक विधान किया गया है।

(६) **वेदाध्ययन-विचार**—वेदाध्ययन अव्यवस्थित तथा अनियमित रूप से नहीं किया जा सकता है। वेदाध्ययन की अपनी विशिष्ट विधि है। इस विधि का वर्णन प्रथम तथा अष्टम अध्याय के कतिपय सूत्रों में किया गया है। वेदाध्ययन का फल भी अष्टम अध्याय में बतलाया गया है।

वा० प्रा० की मुख्य विशेषतायें—(१) वा० प्रा० में वर्ण-समाम्नाय का स्पष्ट रूप से कथन किया गया है। अन्य प्रातिशाख्यों में वर्ण-समाम्नाय का इस प्रकार कथन नहीं किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि भाष्यकारों को इस विषय में ऊहापोह नहीं करना पड़ा है तथा वा० प्रा० में स्वीकृत वर्णों की संख्या के विषय में हमें असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

(२) भाषा-विज्ञान की दृष्टि से वा० प्रा० का अत्यधिक महत्त्व है। वा० प्रा० में वर्णों के स्वरूप और उनके उच्चारण-प्रकार का गम्भीर एवं वैज्ञानिक विवेचन किया गया है। शब्दोत्पत्ति के मूल कारण एवं शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया के विषय में सूत्रकार ने जो कहा हैं वह ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार पद-विषयक विधान पद-विज्ञान की दृष्टि से उपादेय हैं।

(३) वैदिक स्वर, वैदिक संधि, क्रम-पाठ इत्यादि के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधान वा० प्रा० में किये गये हैं।

(४) अनेक विवादास्पद विषयों तथा उच्चारण-विषयक महत्त्वपूर्ण बातों के प्रसङ्ग में आचार्य कात्यायन ने अनेक अन्य आचार्यों के मत को प्रस्तुत किया हैं। वा० प्रा० में इन दस आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है—काण्व (१।१२३, १।१४९), शाकटायन (३।९, ३।१२, ३।८७, ४।५, ४।१२९, ४।१९१), शाकल्य (३।१०), औपशवि (३।१३१); काश्यप (४।५, ४।१६०), गार्ग्य (४।१६७), जातूकर्ण्य (४।१२५, ४।१६०, ५।२२), दाल्भ्य (४।१६), माध्यन्दिन (८।३९), शौनक (४।१२२)।

इन आचार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक आचार्यों के मतों को नामोल्लेख के बिना प्रस्तुत किया गया है। यथा—एके (३।९१; ३।१२८, ३।१८८, ५।२३, ७।८), एकेषाम् (४।५७, ४।१२८, ४।१४६)।

(५) वा० प्रा० के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति सूत्रकार के द्वारा 'वृद्धं वृद्धिः' सूत्र के द्वारा की गई है। इसका अर्थ यह है—यह शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव इस शास्त्र के अध्ययन करने वालों की वृद्धि होती है। प्रातिशाख्य के अध्ययन के प्रति पाठकों की अभिरुचि बढ़ाने के लिए इस सूत्र को प्रत्येक अध्याय के अन्त में रखा गया है।

वा० प्रा० के निर्माण में अपनाई गई पद्धति—आचार्य कात्यायन ने वा. प्रा. में मा. सं. की विशिष्टताओं को पूर्ण रूपेण उल्लिखित किया है। स्थल-स्थल पर उन्होंने दूसरी शाखाओं की विशिष्टताओं को भी बतलाया है। इतने विशाल साहित्य की विशिष्टताओं को उल्लिखित करने के लिए आचार्य ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर तीन प्रकार के सूत्रों का निर्माण किया है—(१) सामान्य सूत्र (२) अपवाद सूत्र और (३) निपातन सूत्र। सर्वप्रथम उन्होंने विस्तृत क्षेत्र वाली विधियों को सामान्य सूत्रों के रूप में उपनिबद्ध किया है। तदनन्तर अल्प क्षेत्र वाली विधियों को सामान्य सूत्रों के अपवाद सूत्रों के रूप में उपनिबद्ध किया है। सामान्य सूत्रों तथा अपवाद सूत्रों के अन्तर्गत न आने वाले स्थलों को निपातन के रूप में प्रस्तुत किया है। मा. सं. के सभी स्थल इन सूत्रों के अन्तर्गत आ गये हैं। इस प्रकार वा. प्रा. का निर्माण इन तीन प्रकार के सूत्रों के रूप में हुआ है। वा. प्रा. की पद्धति में अधोलिखित बातें भी उल्लेखनीय हैं—

(अ) पारिभाषिक शब्द—सूत्रशैली में उपनिबद्ध ग्रन्थों की एक मुख्य विशेषता है—संक्षिप्तता। संक्षिप्तता की रक्षा के लिए सूत्रकारों ने अथक प्रयत्न किया है। संक्षिप्तता की सिद्धि मुख्यरूपेण पारिभाषिक शब्दों के माध्यम से सम्भव हो सकी है। विपुल अर्थ को प्रकट करने के लिए एक पारिभाषिक शब्द का विधान ग्रन्थ में केवल एक स्थल पर कर दिया जाता है और ग्रन्थ में जहाँ-जहाँ उस अर्थ को प्रकट करना अभीष्ट होता है वहाँ-वहाँ उस छोटे से पारिभाषिक शब्द का उल्लेख कर दिया जाता है। पारिभाषिक शब्द जिस अर्थ-विशेष के द्योतक होते हैं; उस सम्पूर्ण अर्थ-विशेष का ज्ञान पारिभाषिक शब्द के कथनमात्र से ही हो जाता है। पारिभाषिक शब्द-रूप अल्प शब्द से विपुल अर्थ को असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। विचारों की अभिव्यक्ति का सौन्दर्य शब्द-लाघव में ही समाहृत होता है। शब्द की लघुता में विचारों की विशदता का समन्वय स्थान और समय दोनों के अभिरक्षण में सहायक होता है। पारिभाषिक शब्द इन गुणों से परिपूर्ण होने के कारण अपनी अद्वितीय उपयोगिता परिलक्षित करते हैं। एक शब्द में कहा जा सकता है कि वे भावाभिव्यक्ति के प्राण हैं। यही कारण है कि आचार्य कात्यायन ने मुख्यतः प्रथम एवं अष्टम अध्याय में स्वर, संध्यक्षर इत्यादि अनेक पारिभाषिक शब्दों का विधान किया है[क]। वा. प्रा. में जहाँ एक ओर स्वर, संध्यक्षर इत्यादि अन्वर्थ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है वहाँ दूसरी ओर इसमें जित्, मुत्, घि, सिम् इत्यादि अनर्थक एकाक्षरात्मक पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

(आ) परिभाषा-सूत्र—सूत्रों के निर्माण में आचार्य कात्यायन ने कतिपय

(क) वा.प्रा. के पारिभाषिक शब्दों का विवरण पारिभाषिक शब्द-कोष में दिया गया है।

सिद्धान्तों को अपनाया है। इन सिद्धान्तों के प्रकाश में ही सूत्रों को समझा जा सकता है। अपने सूत्रों के अवबोध के लिए तथा उनके समुचित प्रयोग के लिए आचार्य कात्यायन ने अपने सिद्धान्तों को ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के कतिपय परिभाषा-सूत्रों में उपनिबद्ध किया है। इन परिभाषा-सूत्र रूपी कुञ्जी को हाथ में लेकर ही व्यक्ति आचार्य के सूत्रों के रहस्य को खोलने में कृतकृत्य हो सकता है। वा० प्रा० के उल्लेखनीय परिभाषा सूत्र ये हैं—१।३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४६, ६३, ६४, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४२, १४३, १४४, १४५, १५२, १५३, १५४, १५६, ३।४, ५, ४।१३१।

(इ) सूत्र-विभाजन—सूत्रकार ने 'हि' सूत्र के द्वारा संधि-विषयक सम्पूर्ण सूत्रों को सुविधा के लिए तीन कालों (भागों) में विभक्त किया है। इस प्रकार से सूत्र-विभाजन सर्वथा नवीन उद्भावना है।

४—सूत्रकार एवं भाष्यकार

आचार्य कात्यायन तथा उनकी कृतियाँ—आचार्य कात्यायन के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। उनके विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कात्यायन के विषय में कतिपय तथ्यों को यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

का० स० १।१ पर वेदार्थदीपिका में षड्गुरुशिष्य ने बतलाया है कि आश्वलायन की भाँति कात्यायन भी शौनक के शिष्य थे। शौनक ने स्वयं दस ग्रन्थों की रचना करके तथा अपने शिष्यों—आश्वलायन और कात्यायन—के द्वारा अनेक ग्रन्थों की रचना करा कर वेद का जो उद्धार किया है उसके लिए सारा जगत् शौनक का ऋणी रहेगा।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के कर्ता कात्यायन को अष्टाध्यायी के वार्तिककार कात्यायन से अभिन्न मानना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि (१) प्रातिशाख्यकार कात्यायन के पदों में अनेक वैदिक विशिष्टतायें मिलती हैं तथा अनेक अपाणिनीय पदों का भी प्रयोग मिलता है (२) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य तथा अष्टाध्यायी में अनेक पारिभाषिक शब्द समान हैं। तथा अनेक ऐसे सूत्र हैं जो दोनों ग्रन्थों में एकरूप में मिलते हैं। कात्यायन तथा पाणिनि के ग्रन्थों का अध्ययन करके पाणिनि की रचना-शैली की प्रौढ़ता, उनकी परिभाषाओं एवं संज्ञाओं की एकरूपता तथा कात्यायन की शैली की अप्रौढ़ता एवं अव्यवस्था का अवलोकन करके अध्येता इसी निर्णय पर पहुँचता है कि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ की रचना उस समय की जब व्याकरण-साहित्य में सूत्रशैली पूर्णरूपेण विकसित हो चुकी थी। इसके विपरीत कात्यायन ने अपने ग्रन्थ की रचना उस समय की जब व्याकरण-साहित्य में सूत्रशैली अपनी शैशवावस्था में विद्यमान थी। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पाणिनि ने ही इन पारिभाषिक शब्दों तथा सूत्रों को प्रातिशाख्य से ग्रहण किया है। अतः प्रातिशाख्यकार कात्यायन पाणिनि से प्राचीनतर हैं।

कात्यायन का समय अत्यधिक विवाद का विषय है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि कुछ विद्वान् प्रातिशाख्यकार के कर्ता कात्यायन और पाणिनि-सूत्रों पर वार्तिकों की रचना करने वाले कात्यायन को अभिन्न मानते हैं। इस प्रकार ये विद्वान् कात्यायन को पाणिनि से परवर्ती बतलाते हैं। किन्तु अधिकतर विद्वान् अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इन दोनों को भिन्न-भिन्न व्यक्ति मानते हैं। इस प्रकार कात्यायन पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। अधिकतर विद्वानों के अनुसार पाणिनि का समय ५०० ई० पू० है। कात्यायन का समय लगभग ६०० ई० पू० होगा।

आचार्य कात्यायन ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) कात्यायन-श्रौतसूत्र (२) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य (३) सर्वानुक्रमणी।

वा० प्रा० की टीकायें—वा० प्रा० की दो टीकायें अद्यावधि प्रकाशित हुई हैं—(१) उवटकृत मातृमोद नामक भाष्य (२) अनन्तभट्टकृत पदार्थ प्रकाश नामक भाष्य।

भाष्यकार उवट तथा उनका भाष्य—उवट आनन्दपुर निवासी वज्रट के पुत्र थे। इन्होंने राजा भोज के शासन-काल में अपने भाष्यों की रचना की। राजा भोज ने १०१८ ई० से लेकर १०६० ई० तक शासन किया। राजा भोज के समसामयिक होने के कारण उवट का भी समय यही अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य काल है।

उवट की ये रचनायें हैं (१) ऋग्वेद प्रातिशाख्य पर भाष्य (२) वाजसनेयि-प्रातिशाख्य पर भाष्य (३) शुक्ल-यजुर्वेद पर भाष्य (४) ऋक्सर्वानुक्रमणी पर भाष्य (५) ईशावास्य उपनिषद् पर भाष्य।

वा० प्रा० के भाष्यकार उवट की कतिपय विशेषताओं को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—(१) भाष्यकार ने सूत्रकार की पुष्टि करना अपना परम कर्त्तव्य समझा है। उन्होंने सूत्रों की सार्थकता को स्थापित किया है, सूत्रस्थ सभी पदों की उपयोगिता को दिखलाया है तथा सूत्रों में प्रतीयमान विरोधों का परिहार किया है (२) उनका भाष्य न अधिक संक्षिप्त है और न अधिक विस्तृत (३) उन्होंने अनावश्यक शब्दों एवं विवादों से बचने का प्रयत्न किया है (४) सरल शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने सूत्रों के अर्थ समझाने का अथक प्रयास किया है (५) सूत्रों को समझाने के लिए उन्होंने उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। जहाँ सूत्रों के उदाहरण संहिता में नहीं मिले हैं वहाँ उन्होंने दूसरी शाखाओं से उदाहरण दिये हैं अथवा लौकिक (रूप) उदाहरणों को प्रस्तुत किया है (६) विषय को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने शिक्षाग्रन्थों इत्यादि से कारिकाओं को भी उद्धृत किया है। (७) अपने भाष्य में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है। यथा—प्रातिशाख्य का क्षेत्र (१।१,) पदभक्तियाँ (२।१), सोष्म-संज्ञा (१।५४); क्रम-पाठ की उपयोगिता (४।१८२) इत्यादि।

अनन्तभट्ट एवं उनका भाष्य—अनन्तभट्ट ने वा० प्रा० के अन्त में अपना परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम नागदेव और उनकी माता का नाम भागीरथी था। वे काण्वशाखा के अनुयायी थे। उनके दूसरे ग्रन्थ 'काण्व-याजुष-भाष्य' से पता चलता है कि वे काशी के रहने वाले थे (काश्यां वासः सदा यस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये)। इनका समय षोडश शताब्दी का अन्त तथा सप्तदश शताब्दी का पूर्वार्ध (१५८० ई०–१६४० ई०) है।

अनन्तभट्ट के भाष्य के विषय में कतिपय तथ्यों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है–(१) इस भाष्य में मौलिकता का अभाव है। अनन्तभट्ट ने उवट-भाष्य को ही अधिकांश स्थलों में अपनाया है। उवट के द्वारा न कही गई नवीन किसी बात को उन्होंने प्रायः नहीं बतलाया है। उवट के भाष्य में दिये गये उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को ही उन्होंने प्रायः अपने भाष्य में दिया है। अधिकांश स्थलों में अनन्तभट्ट का भाष्य उवट के भाष्य का अनुकरणमात्र है। यह वस्तुस्थिति होते हुए भी अनन्तभट्ट ने उवट का नामोल्लेख नहीं किया है। (२) अनन्तभट्ट काण्वशाखा के अनुयायी थे। उन्होंने अपने भाष्य में काण्व-संहिता से ही उदाहरणों एवं प्रत्युदाहरणों को प्रस्तुत किया है। अनन्तभट्ट ने अनेक स्थलों में माध्यन्दिन-संहिता और काण्वसंहिता के पाठ-भेद को बतलाया है, जो उपयोगी है। (३) कतिपय स्थलों में अनन्तभट्ट ने उवट के द्वारा अनुक्त महत्वपूर्ण तथ्यों को भी बतलाया है। यथा–वा० प्रा० १।१ के संदर्भ में उन्होंने प्रातिशाख्य के क्षेत्र के विषय में विस्तारपूर्वक जो विचार प्रस्तुत किया है वह नितान्त महत्वपूर्ण है। ४।१२६ और ४।१९१ के संदर्भ में उन्होंने शाकटायन पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया है। (४) सूत्रों की व्याख्या करते समय उन्होंने अनेक नवीन उदाहरण एवं प्रत्युदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं। (५) अनेक सूत्रों का अनन्तभट्ट-भाष्य उवट-भाष्य की अपेक्षा अधिक विस्तृत एवं उपयोगी है। यथा–४।१७० इत्यादि क्रम-पाठ-विषयक सूत्रों के भाष्यों को देखा जा सकता है। (६) अनेक स्थलों पर अनन्तभट्ट ने नामोल्लेख किए विना उवट के मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। यथा –२।१२, २।२१, ४।६१ इत्यादि सूत्रों के भाष्य में।

अ–वर्ण–समाम्नाय

५–वा० प्रा० में प्रतिपादित विषयों का संक्षिप्त विवरण—वा० प्रा० के अष्टम अध्याय में सूत्रकार ने सम्पूर्ण वर्ण-समाम्नाय का कथन किया है। वा० प्रा० में विहित वर्णों की संख्या ६५ है (८।२५) इनमें २३ स्वर एवं ४२ व्यञ्जन हैं(८।३८)।

स्वर—वा० प्रा० में विहित स्वर ये हैं—अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ॠ३; ऌ, ॡ, ॡ३; ए, ए३; ऐ, ऐ३; ओ, ओ३; औ, औ३।

स्वरों के अवान्तर भेद—वा० प्रा० में स्वरों को मुख्य दो श्रेणियों में रखा गया है—(१) मूलस्वर और (२) सन्ध्यक्षर। अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ॠ३; ऌ, ॡ, ॡ३ –ये मूल स्वर हैं (८।२–३)। ए, ए३; ऐ, ऐ३; ओ, ओ३; औ, औ३-ये सन्ध्यक्षर हैं (८।४–५)।

व्यञ्जन—वा० प्रा० के अष्टम अध्याय के १८ सूत्रों (८।७–२४) में व्यञ्जनों का कथन किया गया है। वा० प्रा० में विहित व्यञ्जन ये हैं—क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म; य, र, ल, व; श, ष, स, ह; ᳵक, ᳶप, अं, अः, हुँ, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ।

व्यञ्जनों के अवान्तर भेद—वा० प्रा० में व्यञ्जनों को ४ विभागों में रखा गया है—स्पर्श, अन्तस्थ, ऊष्म तथा अयोगवाह।

स्पर्श—क, ख, ग, घ, ङ; च, छ, ज, झ, ञ; ट, ठ, ड, ढ, ण; त, थ, द, ध, न; प, फ, ब, भ, म। इन स्पर्शवर्णों में पाँच-पाँच वर्णों का एक-एक वर्ग होता है जिसका नाम वर्गस्थ प्रथम व्यञ्जन के नाम पर रखा गया है। यथा—कवर्ग = क, ख, ग, घ, ङ। चवर्ग = च, छ, ज, झ, ञ। टवर्ग = ट, ठ, ड, ढ, ण। तवर्ग = त, थ, द, ध, न। पवर्ग = प, फ, ब, भ, म (८।८–१३)। इन स्पर्श-वर्णों में ही संख्या का व्यवहार होता है। प्रत्येक वर्ग में स्थित पाँच-पाँच वर्ण क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम कहे जाते हैं। इस प्रकार स्पर्श-वर्णों के अन्तर्गत क, च, ट, त, प—प्रथम, ख, छ, ठ, थ, फ—द्वितीय, ग, ज, ड, द, ब—तृतीय एवं घ, झ, ढ, ध, भ—चतुर्थ एवं ङ, ञ, ण, न, म पञ्चम कहे जाते हैं (१।४९)। स्पर्श-वर्गों में प्रथम दो-दो वर्णों की संज्ञा जित् (१।५०) एवं द्वितीय तथा चतुर्थ वर्णों की संज्ञा सोष्म है (१।५४)।

अन्तस्थ—य, र, ल, व अन्तस्थ संज्ञक हैं (८।१४–१५)।

ऊष्म—श, ष, स, ह ऊष्म संज्ञक हैं (८।१६–१७)। हकार के अतिरिक्त अन्य तीन वर्ण (श, ष, स) जित् (१।५१) तथा मुत् (१।५२) संज्ञक भी हैं।

अयोगवाह—ᳵक (जिह्वामूलीय), ᳶप (उपध्मानीय), अं (अनुस्वार), अः (विसर्जनीय), हुँ (नासिक्य) तथा कुँ, खुँ, गुँ, घुँ (यम) (८।१८–२४)। ककार से पहले उच्चारित होने वाला विसर्जनीय जिह्वामूलीय एवं पकार से पहले उच्चारित होने वाला विसर्जनीय उपध्मानीय हो जाता है। शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन-संहिता में ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, दीर्घ ॡकार तथा २।५० में कहे गये प्लुत स्वरों को छोड़कर अन्य प्लुत-स्वर उपलब्ध नहीं होते हैं (८।३९) परन्तु सूत्रकार ने परम्परा का निर्वाह करते हुए वर्ण-समाम्नाय में इन वर्णों का कथन कर दिया है।

वा० प्रा० में विहित वर्ण-राशि को अगले पृष्ठ पर निर्दिष्ट तालिका से भली-भाँति समझा जा सकता है।

वर्ण → स्वर, व्यञ्जन

मूल स्वर	सन्ध्यक्षर	स्पर्श	अन्तस्थ	ऊष्म	अयोगवाह
अ आ आ३	ए ए३	कवर्ग–क, ख, ग, घ, ङ	य	श	≍क (जिह्वामूलीय), ≍प (उपध्मानीय)
इ ई ई३	ऐ ऐ३	चवर्ग–च, छ, ज, झ, ञ	र	ष	अं (अनुस्वार), अः (विसर्जनीय)
उ ऊ ऊ३	ओ ओ३	टवर्ग–ट, ठ, ड, ढ, ण	ल	स	हुँ (नासिक्य),
ऋ ॠ ॠ३	औ औ३	तवर्ग–त, थ, द, ध, न	व	ह	कुँ, खुँ, गुँ, घुँ (यम)
ऌ ॡ ॡ३		पवर्ग–प, फ, ब, भ, म			
= १५	= ८	= २५	= ४	= ४	= ९ = ६५

आ — वर्णोच्चारण

वर्णोच्चारण में वायु का महत्त्व—वा. प्रा. में प्रथम अध्याय के लगभग ६६ सूत्रों (१।५–१५, २९–८४) तथा चतुर्थ अध्याय के आठ सूत्रों (४।१७, १४४–१४६, १४८–१५१) में वर्णोच्चारण-विषयक विधान किया गया है। ध्वनियों के उच्चारण में वायु का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वायु दो प्रकार की होती है-एक वह जिसे हम लोग वायुमण्डल से ग्रहण करके मुँह या नाक द्वारा फेफड़े में ले जाते हैं और दूसरी वह जिसे हम फेफड़े से मुँह या नाक द्वारा बाहर निकालते हैं। फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु ही वर्णों की उत्पत्ति का मूल कारण है। १।६–७ में शब्द का कारण बतलाते हुए कहा गया है कि शब्द का कारण वायु है और वह वायु आकाश से उत्पन्न होती है। वा० प्रा० के भाष्यकार उवट का कथन है कि शब्द वायुस्वरूप ही है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि शब्द वायुस्वरूप है तब वायु के सर्वत्र विद्यमान होने से सभी समय सभी स्थानों पर शब्द की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए सूत्रकार ने १।८ में कहा है कि उचित करणों अर्थात् उच्चारण–साधनों से युक्त होने पर ही वायु शब्द का रूप ग्रहण करती है।

वर्णोच्चारण में प्रयत्न—वर्णों के उच्चारण के लिए व्यक्ति को कुछ न कुछ चेष्टा अवश्य करनी पड़ती है। १।९ में कहा गया है कि पुरुष-प्रयत्न प्राप्त करके ही वायु वाणी के रूप में परिणत होती है। पुरुष के द्वारा प्रयत्न न करने पर वायु अबाध गति से बाहर निकल जाती है। वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले उच्चारणावयवों के व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। यह प्रयत्न दो प्रकार का होता है-(१) बाह्य प्रयत्न (२) आभ्यन्तर प्रयत्न।

(अ) बाह्य प्रयत्न—मुख के बाहर अर्थात् स्वर-यन्त्र में जो प्रयत्न होता है उसे बाह्य प्रयत्न कहा जाता है। बाह्य प्रयत्न में स्वर-तन्त्रियाँ ही मुख्य सक्रिय उच्चारणावयव हैं। जब वायु श्वास-नलिका के मार्ग से फेफड़े से बाहर निकलती है तो स्वर-यन्त्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। स्वर-यन्त्र ही पहला उच्चारणावयव है जहाँ वायु में कुछ विकार उत्पन्न किया जाता है। १।११ में स्वर-तन्त्रियों की इन दो स्थितियों का निर्देश किया गया है—

(१) विवृत—इस स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक दूसरे से दूर रहती हैं और स्वर-यन्त्र मुख (कण्ठ-द्वार) पूर्णरूपेण खुला रहता है। फलतः फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वर-तंत्रियों के साथ घर्षण नहीं होता। इसीलिये उनमें कम्पन नहीं होता। इस स्थिति में स्वर-यन्त्र-मुख से निकली हुई वायु श्वास कहलाती है।

(२) संवृत—इस स्थिति में स्वर-तंत्रियाँ एक दूसरे के अत्यधिक निकट होती हैं, स्वर-यन्त्र-मुख बन्द-सा हो जाता है। जब स्वर-तंत्रियाँ इस स्थिति में होती

हैं तो फेफड़े से निकलती हुई वायु का स्वर-तंत्रियों के साथ घर्षण होता है। इसीलिए उनमें कम्पन हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यन्त्र-मुख से निकली हुई वायु नाद हो जाती है। इस प्रकार श्वास तथा नाद के रूप में कण्ठ-विवर से निकली हुई वायु शब्द के रूप में परिणत हो जाती है।

(आ) आभ्यन्तर प्रयत्न—वर्णों के उच्चारण के लिए मुख के भीतर जो प्रयत्न किये जाते हैं उन्हें आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। १।४३ के भाष्य में उवट ने आभ्यन्तर प्रयत्न को आस्य-प्रयत्न एवं मुख-प्रयत्न भी कहा है। वर्णोच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न का अत्यधिक महत्त्व है। आभ्यन्तर प्रयत्न से ही मुख के उच्चारणावयव स्वर-यन्त्र के द्वारा प्रदत्त श्वास तथा नादसंज्ञक वायु से भिन्न-भिन्न प्रकार के वर्णों को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। अस्तु, आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में सूत्रकार मौन हैं। १।७२ के भाष्य में उवट ने इन ६ आभ्यन्तर प्रयत्नों का उल्लेख किया है—संवृतता, विवृतता, अस्पृष्टता, स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता, अर्धस्पृष्टता। उवट ने यह भी बतलाया है कि अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट है, स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है, अन्तस्थ वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट है, ऊष्म-वर्णों और अनुस्वार का आभ्यन्तर प्रयत्न अर्धस्पृष्ट है।

वर्णों के उच्चारण में स्थान तथा करण—वर्णों के उच्चारण को समझने के लिए वर्णों की उत्पत्ति में सहायक अङ्गों के कार्य का ज्ञान आवश्यक है। अन्दर से बाहर आती हुई वायु को वर्णों के उच्चारण के लिए मुख-विवर में रोक कर अथवा अन्य कई प्रकारों से विकृत करना पड़ता है। १।१३ में कहा गया है कि शरीर से बाहर निकलती हुई वायु विशिष्ट स्वरूप (ककार आदि वर्ण) को प्राप्त कर लेती है। १।१४ में कहा गया है कि शरीर के एक भाग (अर्थात् मुख) में पहुँचने पर वायु वर्णविशेष को प्राप्त करती है। वस्तुतः वर्णोच्चारण के लिए मुख में स्थित दो प्रकार के अवयवों—करण तथा स्थान की आवश्यकता होती है। सक्रिय और गतिशील अङ्ग को करण (वर्णों के उच्चारण में प्रमुख अङ्ग) कहते हैं और निष्क्रिय तथा अपेक्षाकृत अचल अङ्ग को स्थान कहते हैं। अर्थात् करण वह अङ्गविशेष है जो उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार (प्रयत्न) करता है और स्थान वह अङ्गविशेष है, जहाँ अन्दर से बाहर आती हुई वायु को रोक कर या अन्य किसी प्रकार से उसमें विकार लाकर वर्णों को उत्पन्न किया जाता है।

उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण—वस्तुतः जिस स्थान पर वायु को विकृत करके किसी वर्णविशेष को उत्पन्न किया जाता है, उसी स्थान को उस वर्ण विशेष का उच्चारण-स्थान कहते हैं। यथा अन्दर से बाहर आती हुई वायु को यदि तालु पर विकृत किया जाये तो वह वर्ण तालव्य होगा और यदि मूर्धा पर विकृत

किया जाये तो वह वर्ण मूर्धन्य कहा जायेगा। वा० प्रा० के अनुसार वर्णों को अधोलिखित वर्गों में रखा जा सकता है—

(अ) **जिह्वामूलीय**—ऋ, ॠ, ॠ३; क, ख, ग, घ, ङ; ͡क (१।६५)। (आ) **तालव्य**—इ, ई, ई३; ए; च, छ, ज, झ, ञ; य; श (१।६६)। (इ) **मूर्धन्य**—ट, ठ, ड, ढ, ण; ष (१।६७)। (ई) **दन्तमूलीय**—र (१।६८)। (उ) **दन्त्य**—ऌ, ॡ, ॡ ३; त, थ, द, ध, न; ल; स (१।६९)। (ऊ) **ओष्ठ्य**—उ, ऊ, ऊ ३; ओ; प, फ, ब, भ, म; व; ͡प (१।७०)। (ए) **कण्ठ्य**—अ, आ, आ३; अः; ह (१।७१)। (ऐ) **नासिक्य**—यम, अनुस्वार, नासिक्य (१।४७)।

सक्रिय उच्चारणावयवों का निरूपण—उच्चारण-स्थान के आधार पर वर्णों के वर्गीकरण का निरूपण करने के अनन्तर अब विभिन्न सक्रिय उच्चारणावयवों (करणों) तथा उनसे निष्पन्न वर्णों का प्रतिपादन किया जाता है—

(अ) **जिह्वाग्र**—ऌ, ॡ, ॡ३; त, थ, द, ध, न; र, ल; स (१।७६-७७)। (आ) **प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र**—ट, ठ, ड, ढ, ण; ष (१।७८)।

(इ) **जिह्वामध्य**—इ, ई, ई३; ए; च, छ, ज, झ, ञ; य; श (१।७९)।

(ई) **ओष्ठ**—उ, ऊ, ऊ३; ओ; प, फ, ब, भ, म; व; ͡प (१।८०)। (उ) **नासिका**—नासिक्य (१।८०)। (ऊ) **दन्ताग्र**—व (१।८१)। (ए) **नासिकामूल**—यम (१।८२)। (ऐ) **हनुमूल**—ऋ ॠ, ॠ ३; क, ख, ग, घ, ङ; ͡क (१।८३)। (ओ) **हनुमध्य**—अ, आ, आ ३; अः; ह (१।८४)।

वर्णोच्चारण-काल—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ समय अवश्य लगता है। किसी वर्ण के उच्चारण में कम समय लगता है और किसी वर्ण के उच्चारण में अधिक। वर्णों के उच्चारण में जो समय लगता है उसके परिमाण को बतलाने के लिए मात्रा शब्द का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार मात्रा वह इकाई है जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय को मापा गया है।

(अ) **उच्चारणकाल के आधार पर स्वरों का विभाजन**—उच्चारण-काल के आधार पर स्वरों को तीन श्रेणियों में रख सकते हैं—(१) ह्रस्व स्वर (२) दीर्घस्वर (३) प्लुतस्वर।

(१) **ह्रस्व-स्वर**—१।५५ में ह्रस्व-स्वर की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि अकार के समान मात्रा काल वाला स्वर ह्रस्व कहलाता है। वा० प्रा० के अनुसार अ, इ, उ, ऋ और ऌ स्वर ह्रस्व हैं। (२) **दीर्घ स्वर**—१।५७ के अनुसार ह्रस्व से दुगुने काल वाला स्वर दीर्घ कहलाता है। अर्थात् दीर्घ स्वर का उच्चारणकाल दो मात्रा है। वा०प्रा०के अनुसार आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ औ—ये नौ वर्ण दीर्घ हैं। (३) **प्लुत स्वर**—१।५८ के अनुसार ह्रस्व-स्वर से

तिगुने काल में उच्चारित होने वाला स्वर प्लुत कहलाता है। वा० प्रा० के अनुसार अा ३, ई ३, ऊ ३, ॠ ३, ॡ ३, ए ३, ऐ ३, ओ ३, औ ३–ये नौ स्वर-वर्ण प्लुत हैं।

(आ) व्यञ्जनों का उच्चारणकाल–१।५९ के अनुसार व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारण-काल आधी मात्रा है। अर्द्धमात्रिक व्यञ्जन का स्वतन्त्र उच्चारण तो कठिन होता है, किन्तु स्वर की सहायता से व्यञ्जन का उच्चारण मुखर हो जाता है। मात्रा के आधार पर वर्णों के विभाजन को इस रेखा-चित्र से भली-भाँति समझा जा सकता है—

½ मात्रा	१ मात्रा	२ मात्रा	३ मात्रा
व्यञ्जन	ह्रस्व स्वर = अ, इ, उ, ऋ, ऌ।	आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ।	आ३, ई३, ऊ३, ॠ३, ॡ३, ए३, ऐ३, ओ३, औ३, ।

कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विशेष विचार—वा० प्रा० के चतुर्थ अध्याय में सूत्रकार ने कतिपय वर्णों के स्वरूप के विषय में विशेष विधान किया है, जो इस प्रकार है—

(अ) ऋकार एवं ऌकार का स्वरूप–ऋ और ऌ के स्वरूप के विषय में ४।१४८ में कहा गया है कि ऋ और ऌ में क्रमशः रेफ और लकार मिले हुए हैं। पृथक् रूप से सुनाई न पड़ने वाले ये स्वर-तत्त्व के साथ मिलकर एक वर्ण ही होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वा० प्रा० के अनुसार। (१) ऋ और ऌ स्वरात्मक तथा व्यञ्जनात्मक तत्त्वों के मिलने से बनी हुई मिश्रित ध्वनियाँ हैं। (२) स्वर-तत्त्व तथा व्यञ्जन-तत्त्व पृथक् रूप से सुनाई नहीं पड़ते। दोनों तत्त्व मिलकर एक वर्ण हैं। (३) ये मूल-स्वर हैं, सन्ध्यक्षर नहीं। वा. प्रा. में यह नहीं बतलाया गया है कि ऋ और ऌ में व्यञ्जनात्मक तत्त्व का कितना परिमाण है और स्वरात्मक तत्त्व का कितना परिमाण है। यह भी नहीं बतलाया गया है कि स्वरात्मक अंश का क्या स्वरूप है। किन्तु भाष्यकार उवट ने बतलाया है कि ऋ और ऌ के मध्य में ½ मात्रा वाला व्यञ्जन-तत्त्व है तथा आदि और अन्त में ¼ + ¼ मात्रा वाला कण्ठ्य स्वर अ है।

सन्ध्यक्षरों का स्वरूप—१।४५ में ए, ऐ, ओ, औ के लिए सन्ध्यक्षर संज्ञा का विधान किया गया है। १।७३ में कहा गया है कि ऐकार और औकार की पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की है एवं उत्तरवर्ती मात्रा क्रमशः तालव्य वर्ण (एकार) की तथा ओष्ठ्यवर्ण (ओकार) की है। इस प्रकार अ + ए = ऐ तथा अ + ओ = औ। सूत्रकार ने यह नहीं बतलाया है कि इन वर्णों में कितनी मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की एवं कितनी मात्रा तालव्य वर्ण (ए) एवं ओष्ठ्य वर्ण (ओ) की है। भाष्यकार

उवट ने इस सम्बन्ध में बतलाया है कि ऐकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की है तथा परवर्ती डेढ़ मात्रा तालव्य वर्ण (एकार) की है। इसी प्रकार औकार में पूर्ववर्ती आधी मात्रा कण्ठ्य वर्ण (अकार) की है एवं परवर्ती डेढ़ मात्रा ओष्ठ्य वर्ण (ओकार) की है। ए तथा ओ के विषय में सूत्रकार ने यह नहीं बतलाया है कि ये वर्ण किन दो वर्णों के संयोग से निष्पन्न होते हैं।

अनुस्वार का स्वरूप—वा० प्रा० में अयोगवाह वर्णों के अन्तर्गत अनुस्वार का ग्रहण किया गया है। अनुस्वार के स्वरूप के विषय में ४।१५०–१५१ में कहा गया है कि ह्रस्व स्वर पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर आधी मात्रा काल वाला होता है। दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार आधी मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर डेढ़ मात्रा काल वाला होता है। इससे ज्ञात होता है कि अनुस्वार तथा पूर्ववर्ती स्वर के उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। आधी मात्रा काल से अधिक समय का विधान अनुस्वार के स्वर होने की ओर संकेत करता है क्योंकि व्यञ्जन का काल तो आधी मात्रा होता है। यह स्थिति होते हुए भी अनुस्वार स्वर नहीं है। अन्य व्यञ्जनों की भाँति अनुस्वार भी स्वर की सहायता के बिना उच्चारित नहीं किया जा सकता। अनुस्वार की गणना अयोगवाह संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत की गई है। अयोगवाह व्यञ्जन हैं, स्वर नहीं।

संयोग-विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य—संयोग संज्ञा का विधान करते हुए १।४८ में कहा गया है कि स्वर के व्यवधान से रहित व्यञ्जन संयोग (संयुक्त) कहलाते हैं। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं—व्यवधान-रहित व्यञ्जनों का मेल संयोग कहलाता है। व्यञ्जनों के संयोग से सम्बन्धित कतिपय उच्चारण-विशेषताओं को यहाँ वा. प्रा. के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है—

(अ) **यम**—वा. प्रा. में अयोगवाह संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत यम का ग्रहण किया गया है। ४।१६३ में विधान किया गया है कि पद के मध्य में पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर पञ्चम से अन्य स्पर्श विच्छेद हो जाता है। भाष्यकार उवट ने 'विच्छेद' शब्द को यम का पर्याय स्वीकार किया है। इस विधान के अनुसार यदि किसी पद में किसी भी वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थ स्पर्श पूर्व में हो तथा उसके बाद किसी भी वर्ग का पञ्चम स्पर्श हो तो पूर्ववर्ती स्पर्श तथा पञ्चम स्पर्श के मध्य में यम का प्रादुर्भाव होता है उदाहरण—रुक्क्म:–४।१०१ से ककार का द्वित्व करने पर द्वितीय ककार अनुनासिक उच्चारित होता है। इसी अनुनासिक वर्ण को यम कहा जाता है।

स्वर-भक्ति—४।१७ में विधान किया गया है कि स्वर है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर रेफ और लकार सर्वत्र क्रमशः ऋवर्ण एवं ऌवर्ण के

सदृश ध्वनियों से व्यवहित हो जाते हैं। अर्थात् यदि रेफ या लकार के बाद में ऊष्म वर्ण हो तथा उस ऊष्म वर्ण के बाद में स्वर हो तो रेफ तथा ऊष्मवर्ण के मध्य में ऋवर्ण-सदृश एवं लकार तथा ऊष्मवर्ण के मध्य में लृवर्ण-सदृश ध्वनि का अतिरिक्त उच्चारण होता है। इसी ध्वनि को स्वर-भक्ति कहते हैं। स्वर-भक्ति रूप यह आगम सर्वत्र अर्थात् संहिता-पाठ में और पद-पाठ में, एक पद के मध्य में और भिन्न पद में होता है। उदाहरण (१) गार्हपत्यम्—रेफ के बाद में ऊष्मवर्ण (हकार) है तथा हकार के बाद में स्वर (अकार) है। अतः रेफ और हकार के मध्य में स्वर-भक्ति होती है। (२) शतवल्शः—लकार के बाद में ऊष्म वर्ण (शकार) है तथा शकार के बाद में स्वर (अकार) है। अतः लकार और शकार के मध्य में स्वरभक्ति होती है।

अभिनिधान—वा० प्रा० में सूत्रकार द्वारा अभिनिधान संज्ञा का न तो विधान किया गया है और न प्रयोग। किन्तु ४।१४४ में विहित उच्चारण-वैशिष्ट्य के लिए भाष्यकार उवट ने अभिनिधान (अभिधान) संज्ञा का प्रयोग किया है। इस सूत्र में यह विधान किया गया है—एक पद में दो स्वरों के मध्य में विद्यमान दो वर्णों को, श्वास का अवरोध करके, एक वर्ण के समान उच्चारित करना चाहिए। उदाहरण—"कुक्कुटः" में दो उकारों के मध्य में स्थित 'क्क्' को, श्वास का अवरोध करके, एक ककार के समान उच्चारित करना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ पर स्वर से परवर्ती संयोग के प्रथम व्यञ्जन के द्वित्व होने का प्रसङ्ग हो वहाँ यदि संयुक्त वर्ण एक ही हों अर्थात् समानवर्णों का ही संयोग हो तो संयोग के प्रथम वर्ण का द्वित्व न होकर दोनों वर्णों का एक वर्ण के समान उच्चारण करना चाहिए।

द्वित्व—वर्णोच्चारण में द्वित्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परिस्थितिविशेष में जब किसी व्यञ्जन के पूर्व में उसी व्यञ्जन का आगम हो जाता है तो उसे द्वित्व कहते हैं। द्वित्व का परिणाम यह होता है कि मूलभूत व्यञ्जन के उच्चारण के पूर्व उसी व्यञ्जन का एक अतिरिक्त उच्चारण होता है। इस उच्चारण-वैशिष्ट्य को क्रम, द्विरुक्ति और द्विर्भाव भी कहा जाता है। द्वित्व से उत्पन्न वर्ण को क्रमज या द्विरुक्तिज कहते हैं। वा० प्रा० के चतुर्थ अध्याय के १६ सूत्रों (४।१०१—१०७, ११०—११८) में द्वित्वसम्बन्धी विधान किया गया है।

अक्षर-विभाजन—स्वर-वर्णों का उच्चारण अन्य वर्ण की सहायता के बिना होता है। स्वर-वर्णों का उच्चारण अधिक स्पष्टता से और अधिक देर तक किया जा सकता है। इसके विपरीत व्यञ्जन-वर्णों के उच्चारण में स्वर-वर्णों की अपेक्षा होती है। यही कारण है कि स्वर-वर्ण को अक्षर (syllable) का अपरिहार्य उपकरण माना गया है।

अक्षर-विभाजन बड़ा आवश्यक है। एक स्वर-वर्ण का उच्चारण एक झटके से होता है। जब किसी स्वर-वर्ण का उच्चारण होता है तब उसके अङ्गभूत व्यञ्जन का भी उस स्वर-वर्ण के साथ उच्चारण होता है। दूसरी बात यह है कि स्वर (accent) वैदिक भाषा की एक प्रमुख विशेषता है। प्रत्येक वर्ण का उच्चारण किसी न किसी स्वर (accent) में होता हैं। किन्तु व्यञ्जन का अपना कोई स्वर नहीं होता है। अतः व्यञ्जन का उच्चारण भी उसी स्वर में होता है, जिसमें उसके अङ्गी स्वर-वर्ण का। इस प्रकार स्वर-वर्ण के स्वर (accent) से ही व्यञ्जन सस्वर हैं। अक्षर-विभाजन के ज्ञान के विना उच्चारण शुद्ध नहीं हो सकता है। यही कारण है कि अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति वा. प्रा. में भी अक्षर-विभाजन के नियम बतलाये गए हैं, जिनको अति संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है (१।१०२)। (२) यम भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है (१।१०३)। (३) द्वित्व से उत्पन्न व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है (१।१०४)। (४) द्वित्व से उत्पन्न वर्ण से परवर्ती व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, स्पर्श बाद में होने पर (१।१०५)। (५) अवसान में स्थित व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है (१।१०६)।

इ—स्वर

स्वर की महत्ता—स्वर (accent) वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है। वेद के अध्ययन में स्वर-शास्त्र की बड़ी महत्ता है, क्योंकि वेद के मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के लिए और अर्थज्ञान के लिए स्वर का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

वा० प्रा० में स्वर का विधान—अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति वा० प्रा० मे भी स्वर का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। वा० प्रा० के सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय में, चतुर्थ अध्याय के अनेक सूत्रों में तथा षष्ठ अध्याय के अधिकांश (= $\frac{४}{५}$) भाग में (= ६।१-२४) में स्वर का विधान किया गया है। प्रथम अध्याय में स्वर विषयक अनेक संज्ञाओं एवं परिभाषाओं का कथन किया गया है। उपर्युक्त आधार पर स्वर का अध्ययन अति संक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वर स्वर-वर्णों के धर्म हैं- उदात्त आदि स्वर (accent) स्वर-वर्णों के ही धर्म हैं, व्यञ्जन-वर्णों के नहीं, क्योंकि स्वर-वर्णों का ही अन्य किसी वर्ण की सहायता के विना उच्चारण हो सकता है। जिन व्यञ्जन-वर्णों का अन्य वर्ण (=स्वर) की सहायता के विना उच्चारण भी नहीं हो सकता, उनमें उदात्त आदि धर्म कैसे रह सकते हैं ? व्यञ्जन के स्वर के विषय में १।१०७ में यह विधान किया गया है—व्यञ्जन

जिस स्वर-वर्ण का अङ्ग होता है उस स्वर-वर्ण के समान स्वर वाला हो जाता है। इस सूत्र के भाष्य में उवट ने या० शि० ११८ को उद्धृत किया है, जिसका अर्थ यह है—स्वर-वर्ण उदात्त होता है, स्वर-वर्ण अनुदात्त होता है, स्वर-वर्ण स्वरित भी होता है। तीनों स्वर स्वर-वर्ण पर आश्रित हैं। व्यञ्जन जिस स्वर-वर्ण का अङ्ग होता है उस स्वर-वर्ण के समान स्वर वाला हो जाता है।

स्वरों की संख्या और उनका उच्चारण-प्रकार—वा० प्रा० के चार सूत्रों (१।१२७-१३०) में स्वरों की संख्या के विषय में विधान किया गया है। स्वरों की संख्या के विषय में ये चार पक्ष हैं—(१) **सात स्वर**—(१।१२७) साम-मन्त्रों में ये सात स्वर होते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद अथवा स्वरित के ये सात भेद-जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त। (२) **तीन स्वर**—(१।१२८) यजुर्वेद में तीन स्वर प्रयुक्त होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित। (३) **दो स्वर**—(१।१२९) शतपथ ब्राह्मण में भाषिकसंज्ञक दो स्वर होते हैं। (४) **एक स्वर**—(१।१३०) यज्ञों में एकश्रुति संज्ञक एक स्वर होता है।

१।१२८ के भाष्य में, उवट ने बतलाया है कि यजुर्वेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर होते हैं। समस्त वैदिक साहित्य में ये तीन स्वर ही मुख्य हैं। **(१) उदात्त**–१।१०८ के अनुसार उच्च ध्वनि से उच्चारित स्वर उदात्त कहलाता है। भाष्यकार उवट का कहना है कि गात्रों के ऊर्ध्वगमन (आयाम) से जो स्वर निष्पन्न होता है वह उदात्त-संज्ञक होता है।

(२) अनुदात्त—१।१०९ के अनुसार नीची ध्वनि से उच्चारित स्वर अनुदात्त कहलाता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि गात्रों के अधोगमन (मार्दव) से जो स्वर निष्पन्न होता है वह अनुदात्त-संज्ञक होता है।

(३) स्वरित–१।११० के अनुसार दोनों प्रयत्नों से उच्चारित होने वाला स्वर स्वरित कहलाता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि गात्रों (उच्चारणावयवों) का ऊर्ध्वगमन उदात्त का प्रयत्न है, गात्रों का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। एकत्र मिले हुए इन दो प्रयत्नों से जो स्वर उच्चारित होता है वह स्वरित–संज्ञक होता है। १।३१ में स्वरित का प्रयत्न अभिघात बतलाया गया है। उवट ने बतलाया है कि अभिघात का अर्थ है—गात्रों का तिर्यग्गमन। १।३२ में सूत्रकार ने स्वयं बतलाया है कि उच्च और नीच के मिश्रण से स्वरित निष्पन्न होता है।

यह कहा जा चुका है कि स्वरित में उदात्त एवं अनुदात्त का समावेश होता है। यह प्रश्न होता है कि स्वरित में उदात्त का कितना अंश होता है तथा अनुदात्त का कितना अंश होता है? इस प्रश्न का उत्तर १।१२६ में इस प्रकार दिया गया है–स्वरित

के आदि में स्वर का आधा भाग उदात्त होता है। इस सूत्र के भाष्य में उवट ने कहा है—"स्वरित स्वर के आदि में उदात्त स्वर जानना चाहिए और वह उदात्त उतने काल तक उच्चारित होने वाला होता है जितना स्वर का आधा भाग है। चाहे स्वरित स्वर एक मात्रा वाला हो, चाहे दो मात्रा वाला हो, चाहे तीन मात्रा वाला हो सर्वत्र उसका आधा भाग उदात्त होता है और परवर्ती आधा भाग अनुदात्त होता है। जिस प्रकार सीसे (त्रपु) और ताम्बे (ताम्र) का संयोग होने पर कांसा नामक नवीन धातु की उत्पत्ति होती है, और जिस प्रकार गुड़ और दही का योग होने पर मार्जिका नामक अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है; उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त का संयोग होने पर स्वरित नामक भिन्न स्वर की उत्पत्ति होती है।" इससे ज्ञात होता है कि ह्रस्व स्वर में आधी मात्रा उदात्त और आधी मात्रा अनुदात्त, दीर्घ में एक मात्रा उदात्त और एक मात्रा अनुदात्त, प्लुत में डेढ़ मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त होती है।

स्वरित के भेद—वा० प्रा० के अनुसार स्वरित के सात भेद हैं–जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त। इनका विधान वा० प्रा० के नौ सूत्रों (१।१११–११६) में किया गया है।

स्वरितों के उच्चारण में प्रयत्न-भेद—१।१२५ में विधान किया गया है कि अभिनिहित तीक्ष्ण होता है तथा अन्य स्वरित क्रमशः मृदु होते हैं। उवट के भाष्य से यह ज्ञात होता है--अभिनिहित सबसे अधिक तीक्ष्ण प्रयत्न वाला होता है। प्रश्लिष्ट अभिनिहित की अपेक्षा मृदु प्रयत्न वाला होता है। तदनन्तर जात्य और क्षैप्र-ये दोनों स्वरित मृदुतर प्रयत्न वाले होते हैं। तैरोव्यञ्जन उनसे मृदुतर होता है। पादवृत्त मृदुतम प्रयत्न वाला होता है।

(४) **प्रचय**—उपर्युक्त तीन प्रधान स्वरों—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अतिरिक्त प्रचय (उदात्तसम) संज्ञक चतुर्थ स्वर का भी विधान वा० प्रा० में किया गया है। प्रचय स्वर मूलतः अनुदात्त होता है। जब पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से अनुदात्त, अनुदात्त के समान उच्चारित न होकर, उदात्त के समान उच्चारित होने लगता है तब वह प्रचय कहलाता है।

प्रचय (उदात्तसम) का विधान करते हुए ४।१४१–१४२ में कहा गया है कि स्वरित से परवर्ती अनुदात्त प्रचय (उदात्तसम) हो जाता है। स्वरित से परवर्ती अनेक भी अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वरित के बाद में विद्यमान एक या अनेक अनुदात्त अक्षरों का उच्चारण उदात्त के समान होने लगता है।

४।१४३ में यह विधान किया गया है कि उदात्त और स्वरित बाद में होने पर अनुदात्त अक्षर प्रचय (उदात्तसम) नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि स्वरित के बाद

में विद्यमान अनुदात्त तभी उदात्त के समान उच्चारित होता है, जब उस अनुदात्त के बाद में उदात्त या स्वरित न हो।

स्वरों की संधि—वा. प्रा. के चतुर्थ अध्याय के ६ सूत्रों (४।१३१-१३६) में स्वरों की संधि के नियमों को बतलाया गया है। जब पदान्त स्वर-वर्ण और पदादि स्वर-वर्ण के मिलने से एक स्वर-वर्ण सम्पन्न होता है, तब पदान्त स्वर-वर्ण का स्वर (Accent) और पदादि स्वर-वर्ण का स्वर (Accent)—ये दोनों स्वर (Accents)—भी मिलकर एक स्वर (Accent) हो जाते हैं। स्वरों की संधि के मुख्य नियम ये हैं—(१) स्वरित वाला एकीभाव स्वरित होता है (४।१३३)। (२) उदात्त वाला एकीभाव उदात्त होता है (४।१३४)। (३) वे दो ह्रस्व इकार, जिनमें पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती अनुदात्त हो, मिलकर स्वरित हो जाते हैं।

स्वरों का हाथ से प्रदर्शन—स्वरों के उच्चारण के समय उनका हाथ से प्रदर्शन भी किया जाता है। १।१२१ में कहा गया है कि उदात्तादि स्वर हस्त के द्वारा प्रदर्शित किये जाते हैं। स्वरों के प्रदर्शन की रीति का पूर्ण विवरण वा. प्रा. में प्रस्तुत नहीं किया गया है। हस्त-प्रदर्शन के विषय में कतिपय विधाओं को ही बतलाया गया है जो इस प्रकार हैं—(१) १।१२१ के भाष्य में उवट ने बतलाया है कि उदात्त के उच्चारण में हस्त का ऊर्ध्वगमन होता है, अनुदात्त के उच्चारण में हस्त का अधोगमन होता है। (२) जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट—ये चार स्वरित हाथ को तिरछा करके प्रदर्शित किये जाते हैं। (३) आचार्य काण्व के अनुसार अनुदात्त पूर्व में होने पर ही जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट के उच्चारण में हाथ को तिरछा किया जाता है। (४) उदात्त बाद में होने पर जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट के उच्चारण में हाथ को सीधे नीचा करके तदनन्तर प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाया जाता है।

पदों के प्रकार तथा उनका विधान—२।१ के भाष्य में उवट ने बतलाया कि स्वर की दृष्टि से पद ग्यारह प्रकार के होते हैं—(१) सर्वोदात्त (२) आद्युदात्त (३) मध्योदात्त (४) अन्तोदात्त (५) द्व्युदात्त (६) त्र्युदात्त (७) सर्वस्वरित (८) आदिस्वरित (९) मध्यस्वरित (१०) अन्तस्वरित (११) सर्वानुदात्त।

उपर्युक्त ग्यारह में से कतिपय पद-प्रकारों की सिद्धि के लिए वा. प्रा. में विस्तृत विधान किये गये हैं जिनका निर्देश मात्र यहाँ किया जाता है—

(अ) **सर्वोदात्त पद**—अग्ना३इ, लाजी३न्, शाची३न् और ओ३म् सर्वोदात्त पद हैं (२।५०-५१)। (आ) **आद्युदात्त पद**—वा. प्रा. के चौबीस सूत्रों (२।२२-४५) में उल्लिखित अनेक पद (भूति....सुकृतम्) आद्युदात्त होते हैं। (इ) **अन्तोदात्त पद**—वा० प्रा० के नौ सूत्रों (२।५४-६२) में अन्तोदात्त पदों का विधान किया गया है। (ई) **द्व्युदात्त पद**—२।४६ से द्व्युदात्त पदों का अधिकार

चलता है। २।४७ में उल्लिखित द्व्युदात्त पद ये हैं—बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, तनूनप्त्रे, तनूनपात्, नक्तोषासा, उषासानक्ता, द्यावापृथिवी, द्यावाक्षामा, क्रतुदक्षाभ्याम्, एतवै, अन्वेतवै। सम्बोधन न होने पर देवताओं के नामों से बने हुए द्वन्द्व-समास भी द्व्युदात्त होते हैं। (उ) **त्र्युदात्त पद**— इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् और इन्द्राबृहस्पती में तीन अक्षर उदात्त होते हैं (२।४६)। (ऊ) **सर्वानुदात्त पद**—वा. प्रा. के द्वितीय अध्याय के अनेक छिटपुट सूत्रों में तथा षष्ठ अध्याय के स्वर-विषयक सभी सूत्रों में सर्वानुदात्त पदों से सम्बन्धित सामान्य नियमों एवं अपवादों का प्रतिपादन किया गया है।

ई- संधि

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—पदों से संहिता-पाठ का निर्माण करना। संधि-नियमों के आधार पर पदों से संहिता निष्पन्न होती है। यही कारण है कि अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति वा० प्रा० में भी संधि-नियमों का विस्तृत विधान किया गया है। वा० प्रा० में विहित संधियों को यहाँ अति संक्षेप में निर्दिष्ट किया जा रहा है।

संहिता का लक्षण—१।१५८ में संहिता का यह लक्षण प्रस्तुत किया गया है—एक श्वास में उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल संहिता है।

संस्कार— वा० प्रा० में संस्कार शब्द का प्रयोग संधि के पर्याय के रूप में हुआ है। १।१ के भाष्य में उवट ने बतलाया है कि संस्कार लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव रूप हैं। उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्यग्रन्थों में वर्णों के पास-पास आ जाने मात्र को संधि अथवा संस्कार कहते हैं, चाहे वर्णों में विकार हो अथवा न हो।

संधि के प्रकार—३।३ के भाष्य में उवट ने बतलाया है कि संधियाँ चार प्रकार की होती हैं—(१) स्वर-संधि-दो स्वरों की संधि (२) व्यञ्जन-संधि-दो व्यञ्जनों की संधि (३) स्वर-व्यञ्जन-संधि (४) व्यञ्जन-स्वर-संधि।

पदों के अन्त और पदों के आदि में आने वाले वर्ण—३।३ में यह विधान किया गया है कि संधि पद के अन्त और पद के आदि में होती है। इससे ज्ञात होता है कि संधियों के नियम पदों के अन्तिम वर्णों (पदान्तों) और पदों के प्रथम वर्णों (पदादियों) पर ही लागू होते हैं। यही कारण है कि सूत्रकार ने चार सूत्रों (१।८५-८८) में पद के अन्त में आने वाले वर्णों को बतलाया है। इन सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है—(१) पदों के अन्त में आने वाले वर्ण ये हैं—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ; क्, ट्, त्, प्; ङ्, ण्, न्, म्; अः। सूत्रकार ने पदों के आदि में आने वाले वर्णों को नहीं बतलाया है।

संधि-विषयक परिभाषा-सूत्र—संधियों का विधान करने से पहले आचार्य

कात्यायन ने तीन परिभाषा-सूत्रों (३।३–५) का प्रणयन किया है। संधियों के सम्यक् अवबोध के लिए इन सूत्रों को समझ लेना चाहिए।

संधि (संस्कार) के अन्तर्गत लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव आते हैं–यह कहा जा चुका है। इसी क्रम से अब सधियों का दिग्दर्शनमात्र किया जाता है–

(क) लोप–लोप का अर्थ है वर्ण का अदर्शन, वर्ण की अनुपलब्धि। सूत्रकार ने ३।१८, ३।१३८, ४।४१, ४।४२, ४।६६, ४।१२७, ४।१३० इत्यादि सूत्रों में नि, इ, य्, आ, अ, स्, य्, व्, य् इत्यादि के लोप का विधान किया है।

(ख) आगम—अतिरिक्त वर्ण का आ जाना आगम है। आचार्य कात्यायन ने ३।४९–५४, ४।१५, ४।-५ इत्यादि सूत्रों में र्, स्, ष्, श्, क् त्, च् इत्यादि वर्णों के आगम का विधान किया है।

(ग) वर्ण-विकार–वा० प्रा० में वर्ण-विक.र का विधान विस्तृत रूप में किया गया है। वर्ण-विकार ही मुख्यतः संधि है। वर्ण-विकार का दिग्दर्शनमात्र इस प्रकार किया जा सकता है –

स्वरों के विकार–(१) एकीभाव—पदान्तीय स्वर और पदादि स्वर का मिलकर एक हो जाना एकीभाव है। एकीभाव का विधान ग्यारह सूत्रों (४।५१–६१) में किया गया है। एकाभाव के अन्तर्गत ये विधान हैं—सवर्ण दीर्घ होना, एकार–ओकार होना, ऐकार-औकार होना, आर्–आल् होना।

(२) अन्तस्थीभाव –४।४७ में विधान किया गया है कि स्वर बाद में होने पर अकण्ठ्य स्वर (इ, उ) अन्तस्थ (य्, व्) हो जाता है।

(३) अयादिभाव—४।४८ में विधान किया गया है कि सन्ध्यक्षर (ए, ओ. ऐ, औ) क्रमशः अय्, अव्, आय् और आव् हो जाते हैं।

(४) पूर्वरूपता—(अभिनिधानभाव) एकार और ओकार के बाद में स्थित अकार का पूर्वरूप होना अभिनिधान (पूर्वरूपता) कहलाता है। वा० प्रा० के पच्चीस सूत्रों (४.६२–८६) में अभिनिहित (पूर्वरूप) संधि का विधान किया गया है।

(५) दीर्घीभाव—प० पा० में ह्रस्व रूप में विद्यमान स्वर का सं० पा० में दीर्घ होना दीर्घीभाव है। दीर्घीभाव का विधान वा. प्रा. के चौंतोस सूत्रों (३।९६–१२९) में किया गया है।

व्यञ्जनों के विकार–स्पर्श-वर्णों के विकार—

(१) प्रथम स्पर्श का द्वितीय स्पर्शभाव—आचार्य शौनक के मतानुसार मूत्संज्ञक वर्ण बाद में होने पर पूर्ववर्ती प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय हो जाता है (४। १२०)।

(२) **प्रथम स्पर्श का तृतीय स्पर्शभाव**—स्वर-वर्ण तथा घि-संज्ञक वर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का तृतीय हो जाता है (४११८)।

(३) **अपञ्चम स्पर्श का प्रथम स्पर्शभाव**—जित्संज्ञक वर्ण बाद में होने पर अपञ्चम स्पर्श प्रथम स्पर्श हो जाता है (४।११९)।

(४) **अपञ्चम स्पर्श का पञ्चम स्पर्शभाव**—पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर पूर्ववर्ती अपञ्चम स्पर्श अपने वर्ग का पञ्चम हो जाता है (४।१२)।

(५) **टकार के विकार**—(अ) क्रमशः संख्या-वाचक और अवस्था-वाचक दश और दन्त शब्द बाद में होने पर पूर्ववर्ती षट् का टकार उपधा के सहित ओकार हो जाता है (३ ४७)। (आ) कतिपय आचार्यों के मतानुसार दो स्वरों के मध्य में स्थित डकार तथा ढकार क्रमशः ळकार तथा ळ्हकार हो जाते हैं (४।१४४)।

(६) **तवर्ग के विकार**—(अ) चवर्ग तथा शकार बाद में होने पर तवर्ग चवर्ग में परिणत हो जाता है (४।९४--९५)। (आ) लकार बाद में होने पर तकार लकार हो जाता है (४।१३)।

(७) **नकार तथा मकार के विकार**—नकार तथा मकार अत्यधिक परिवर्तनशील वर्ण हैं। परिस्थिति के अनुसार ये अनेक रूपों में परिणत हो जाते हैं। नकार ३।१३३-१३७, १४०—१५०, ४।२—३,५,६ और १४ के अनुसार शकार, सकार, विसर्जनीय, यकार, रेफ इत्यादि विकारों को प्राप्त करता है। मकार ४।१,३,५—८, १० और १२ के अनुसार, शकार, सकार, अनुस्वार, परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला पञ्चम स्पर्श तथा अनुनासिक अन्तस्थ इत्यादि विकारों को प्राप्त करता है।

ऊष्मवर्णों के विकार—वा० प्रा० में ऊष्म वर्णों के अन्तर्गत श, ष, स, ह—इन वर्णों का ग्रहण किया गया है। इन वर्णों के विकारों का विधान वा० प्रा० में इस प्रकार किया गया है—

(१) स्पर्श बाद में न होने पर (स्पर्श-भिन्न वर्ण बाद में होने पर) पदान्तीय तवर्ग से परवर्ती पदादि शकार छकार हो जाता है (४।९८)।

(२) स्थ बाद में होने पर अश्व से परवर्ती सकार तकार हो जाता है। यदि इससे संज्ञा (पदार्थविशेष के नाम) की प्रतीति होती है (४।१००)।

(३) वाह बाद में होने पर अनस् का सकार डकार हो जाता है (३।४५)।

(४) तृतीय स्पर्श में परिणत अपञ्चम स्पर्श से परवर्ती हकार पूर्ववर्ती स्पर्श के वर्ग का चतुर्थ हो जाता है (४।१२४)।

विसर्जनीय के विकार—विसर्जनीय अत्यन्त परिवर्तनशील वर्ण है। परिस्थिति के अनुसार यह वर्ण ओकार, यकार, रेफ, शकार, षकार, सकार, जिह्वामूलीय और

उपध्मानीय—इन वर्णों में परिणत हो जाता है। विसर्जनीय के इन वर्णों में परिवर्तित होने का विधान वा० प्रा० के छत्तीस सूत्रों (३।१६—१७, २१—४४) में किया गया है।

नति—१।४२ के अनुसार दन्त्य वर्णों (त, थ, द, ध, न, स) के मूर्धन्य वर्णों (ट, ढ, ड, ढ, ण, ष) में परिणत हो जाने को नति कहते हैं। वा० प्रा० के बारह सूत्रों (३।८४—९५) में नकार के णकार होने का, सत्ताइस सूत्रों (३।५६—७८, ८०—८३) में सकार के षकार होने का तथा एक सूत्र (३।७९) में तकार तथा थकार के क्रमशः टकार तथा ठकार होने का विधान किया गया है।

उ—पद—पाठ

वा० प्रा० वाजसनेयि-संहिता के पद-पाठ पर आश्रित है। यद्यपि अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति वा० प्रा० भी पद-पाठ को सिद्ध मानता है और मुख्यतः उन नियमों का निर्माण करता है जिनकी सहायता से पद-पाठ से संहिता-पाठ का निर्माण होता है, तथापि यह प्रातिशाख्य पदपाठसम्बन्धी नियम भी देता है। पदपाठसम्बन्धी नियमों का निर्देश इस प्रकार किया जा सकता है—

इतिकरण—मुख्य नियम ये हैं-(१) चर्चा बाद में होने पर प्रगृह्य-संज्ञक पद इति से व्यवहित हो जाता है (४।१८)। (२) संहिता-पाठ में जिसका रेफ स्वरूप ज्ञात नहीं हुआ है वह रिफित पद भी इति से व्यवहित हो जाता है। (३) पद की द्विरुक्ति होने पर मध्य में इति आ जाता है (४।२०)। वा० प्रा० के अनुसार द्विरुक्ति के स्थल ये हैं—(१) क्रम-पाठ में कही गई पदों की द्विरुक्ति पद-पाठ में भी होती है, सु पद और अवसान को छोड़कर (४।२१—२२)। (२) ३।१९ के अधिकार में कहे गए विकार तथा आगम वाले पद को पहले कहकर बाद में उस पद की आवृत्ति करनी चाहिए (४।२३)। (३) विस्पतीव पद को भी पहले कहकर तत्पश्चात् इस पद की द्विरुक्ति करनी चाहिए (४।२४)।

अवग्रह—अवग्रह का अर्थ है पृथक्करण। पद-पाठ में समासों तथा कतिपय अन्य पदों को पृथक् कर दिया जाता है, इसे ही अवग्रह कहते हैं। पृथग्भूत पूर्व-पद तथा उत्तर-पद के मध्य में काल का व्यवधान हो जाता है। ५।१ के अनुसार यह व्यवधान ह्रस्व अक्षर के तुल्य काल वाला अर्थात् एक मात्रा वाला होता है। वा० प्रा० के सम्पूर्ण पञ्चम अध्याय में अवग्रह के स्थलों को बतलाया गया है।

सङ्क्रम—सङ्क्रम शब्द का अर्थ है अतिक्रमण करना, परित्याग करना। तीन या तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर पुनरुक्त स्थलों को पद-पाठ में तथा क्रम-पाठ में छोड़ दिया जाता है। वा० प्रा० में इसे सङ्क्रम शब्द से अभिहित किया गया है। सङ्क्रम के स्थलों को चतुर्थ अध्याय के चौदह सूत्रों (४।१६८—१८१) में उल्लिखित किया गया है।

कतिपय विशिष्ट पदों का स्वरूप—पद-पाठ के पद संहिता-पाठ में अपने समीपवर्ती पद के प्रभाव से विकृत हो जाते हैं और कभी-कभी उनके मूल स्वरूप को पहचानना कठिन हो जाता है। अतः सन्देह-निवारण के लिए वा० प्रा० के पच्चीस सूत्रों (४।२७-३४, १५२-१६२, ६।२५-३०) में संहिता के कतिपय संदेहास्पद पदों के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। साधु पद के निश्चय के लिए ये विधान किये गये हैं।

ऊ-क्रम-पाठ

वा० प्रा० में क्रम-पाठ का विधान—संहिता-पाठ और पद-पाठ के बाद में क्रम-पाठ का स्थान है। वा० प्रा० के चतुर्थ अध्याय के सोलह सूत्रों (४।१८२-१९७) में क्रम-पाठ का विधान किया गया है। सम्पूर्ण सप्तम अध्याय भी क्रम-पाठ विषयक है।

क्रम-पाठ का प्रयोजन—४।१८२ में सूत्रकार ने बतलाया है कि क्रम-पाठ का प्रयोजन स्मृति है। तात्पर्य यह है कि क्रम-पाठ संहिता-पाठ और पद-पाठ के विषय को दृढ़स्मरण (पक्का) बना देता है। अतएव संहिता-पाठ और पद-पाठ की दृढ़ता के लिए क्रम-पाठ का अध्ययन किया जाता है। भाष्यकार उवट का कथन है कि सूत्रकार ने प्रयोजन का यह दिग्दर्शनमात्र किया है। क्रम-पाठ के प्रयोजन तो अन्य बहुत हैं। यथा—(१) दो-दो पदों की वर्ण-संहिता और उदात्त आदि स्वरों की संहिता का ज्ञान क्रम-पाठ से ही होता है। (२) संहिता के अवसानों का ज्ञान क्रम-पाठ से होता है। (३) क्रम-पाठ शिष्टों के मध्य में सम्मान प्रदान करता है। (४) क्रम-पाठ का अध्ययन सिद्ध तत्त्व है। अतः यह अध्ययन पुण्यप्रद होता है।

क्रम-पाठ के निर्माण के नियम—(१) क्रम-पाठ में दो-दो पदों को मिलाया जाता है। (२) दो पदों का प्रथम क्रम-वर्ग बनाने के अनन्तर प्रथम क्रम-वर्ग के अन्तिम (= द्वितीय) पद के साथ उसके परवर्ती पद को मिलाकर द्वितीय क्रम-वर्ग बनाया जाता है। (३) दो-दो पदों के ये क्रम-वर्ग अवसान तक बनाये जाते हैं। (४) अवसान के अनन्तर पुनः पूर्ववत् दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाये जाते हैं (४।१८२)।

दो से अधिक पदों के क्रम-वर्ग—क्रम-पाठ के दो मुख्य उद्देश्य हैं—(१) आर्षी संहिता की रक्षा (अलोप) और (२) पदों के मूल रूप का प्रदर्शन। इन दोनों की सिद्धि के लिए ही क्रम-पाठ में दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाए जाते हैं। इससे दो-दो पदों के मध्य में होने वाली संहिता की भी रक्षा (अलोप) हो जाती है और प्रत्येक पद का मूल रूप भी दिखलाई पड़ जाता है। किन्तु दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाने पर कभी-कभी किसी विकारविशेष का कारणभूत कोई पद उस क्रम-वर्ग में नहीं आता, जिससे वह संधि-विकार भी नहीं हो सकता है। ऐसे स्थलों पर विकार के कारणभूत उन पदों को उसी क्रम-वर्ग में रखा जाता है। विकार के कारणभूत उन पदों को अन्य पदों की भाँति क्रम-वर्ग के अन्त में नहीं रखा जाता है—उनसे परवर्ती

पदों के द्वारा क्रम-वर्गों को समाप्त किया जाता है। इन पदों को अन्य पदों के समान पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के साथ मिलाकर दोहराया नहीं जाता है, अपितु ऐसे पदों को पूर्ववर्ती तथा परवर्ती पदों के मध्य में रखकर केवल एक बार उच्चारित किया जाता है। इससे बहुत (= दो से अधिक) पदों के क्रम-वर्ग निष्पन्न हो जाते हैं। इस विषय में वा० प्रा० में ये नियम बनाये गये हैं—(१) अपृक्त पद (आ और उ) को मध्य में रखकर तीन पदों का क्रम-वर्ग बनाना चाहिए (४।१८४)। (२) आकार के साथ उसके परवर्ती पद को दूसरी बार मिलाना चाहिए (४।१८५)। (३) मो षू णः और अभी षु णः—ये भी तीन-तीन पदों के क्रम-वर्ग हैं (४।१८६)। (४) सु पद के पूर्व में अपृक्त पद हो और बाद में नकार हो तो चार पदों का क्रम-वर्ग बनाना चाहिए (४।१८७)। (५) सु पद के साथ उसके परवर्ती पद को दूसरी बार मिलाना चाहिए (४।१८८)।

क्रम-पाठ में स्थितोपस्थित—क्रम-पाठ में दो-दो पदों के क्रम-वर्ग बनाये जाते हैं। प्रत्येक पद का दो क्रम-वर्गों में उच्चारण होता है। प्रत्येक पद पहली बार क्रम-वर्ग के अन्त में आता है और दूसरी बार क्रम-वर्ग के आदि में आता है। प्रथम क्रम-वर्ग में पद का अन्तिम वर्ण सर्वदा अविकृत रूप में दिखलाई पड़ता है और द्वितीय क्रम-वर्ग में पद का प्रथम वर्ण सर्वदा अविकृत रूप में दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार अधिकांश स्थलों में सामान्य क्रम-वर्गों में ही पदों के मूल रूप दिखलाई पड़ जाते हैं। किन्तु कतिपय स्थलों में पदों के मूल रूप सामान्य क्रम-वर्गों में दिखलाई नहीं पड़ते हैं। वहाँ सामान्य क्रम-वर्ग बनाने के अनन्तर मध्य में इति रखकर सम्बद्ध पद का द्विरुच्चारण किया जाता है। इसे स्थितोपस्थित कहते हैं। वा० प्रा० में स्थितोपस्थित के अधोलिखित स्थल विहित हैं—(१) परवर्ती पद के साथ संहित पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए, यदि पूर्ववर्ती पद अवग्रह के योग्य है (४।१९०)। (२) पद के मध्य में दीर्घ होने पर उस पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए (४।१९२)। (३) एकपदगत मूर्धन्यभाव के स्थल में स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए (४।१९३)। (४) प्रगृह्यसंज्ञक पद में स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए (४।१९४)। (५) सं० पा० में जिसका रेफ-स्वरूप ज्ञात नहीं होता है उस रिफित पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए (४।१९५)। (६) अवसान में स्थित पद का भी स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए (४।१९६)।

क्रम-पाठ में इति के साथ संधि—परिग्रह (स्थितोपस्थित, वेष्टक) में प्रथम पठित पद के अन्तिम वर्ण के साथ इति की संधि कैसे की जानी चाहिए इसका विधान वा० प्रा० के सम्पूर्ण सप्तम अध्याय में किया गया है। सूत्रों के अध्ययन से यह विषय सरलता से समझा जा सकता है।

ए—वेदाध्ययन

वेद की रक्षा के हेतु सैद्धान्तिक पक्ष—वर्ण, स्वर, संधि से सम्बन्धित सिद्धान्तों—को उल्लिखित करने के साथ-साथ आचार्य कात्यायन ने व्यावहारिक पक्ष—वेदाध्ययन की मौखिक परम्परा—को भी वा० प्रा० में उल्लिखित कर दिया है। वा० प्रा० के प्रथम अध्याय के दस सूत्रों (१।१६-२५) तथा अष्टम अध्याय के तीन सूत्रों (८।२७-२९) में वेदाध्ययन-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का प्रतिपादन किया गया है। अष्टम अध्याय में वेदाध्ययन के फल को भी बतलाया है। वा० प्रा० से वेदाध्ययन के विषय में जो बातें ज्ञात होती हैं वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—(१) पाद-शुद्धि, आचमन इत्यादि के द्वारा पवित्र होकर वेदाध्ययन करना चाहिए (१।२०,८।२७)। (२) शुद्ध स्थान में वेदाध्ययन करना चाहिए (१।२१,८।२८)। (३) सुखद आसन पर बैठकर वेदाध्ययन करना चाहिए (१।२२)। (४) हेमन्त ऋतु आने पर रात्रि के चतुर्थ प्रहर में वेदाध्ययन करना चाहिए (१।२३)। (५) वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओम् का उच्चारण करना चाहिए (१।१६)। (६) शूद्र एवं पतित जिस प्रकार न सुनें उस प्रकार वेदाध्ययन करना चाहिए (८।२९)। (७) अध्ययन-काल में अध्येता को एक योजन से अधिक पैदल नहीं चलना चाहिए (१।२४)। (८) अध्येता को मधुर एवं स्निग्ध भोजन करना चाहिए (१।२५)।

वेदाध्ययन का फल बतलाते हुए आचार्य कात्यायन ने कहा है कि वेदों के अध्ययन एवं अर्थ-ज्ञान से मोक्ष, स्वर्ग, यश तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है (८।३१-३४)। वेद के अध्ययन से, वेद के अध्यापन से, वेद के श्रवण से तथा वेद के वर्णों, अक्षरों, विभक्तियों और पदों के ज्ञान से धर्म होता है (८।३७)।

६—वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के संस्करण—

वा. प्रा. के अनेक संस्करण प्रकाश में आये हैं। किन्तु यह दुर्भाग्य की बात है कि सभी संस्करण अशुद्धियों से भरे हुए तथा अव्यवस्थित होने के कारण अनुपयोगी हैं। सर्वप्रथम वा. प्रा० का संस्करण पाश्चात्य वैदिक विद्वान् वेबर ने १८५८ ई. में प्रस्तुत किया। उन्होंने जर्मन भाषा में सूत्रों का अनुवाद भी किया। जर्मन भाषा से अपरिचित पाठकों के लिए यह संस्करण अनुपयोगी रहा। अब यह उपलब्ध नहीं है। पं. युगल-किशोर पाठक ने १८८८ ई. में भारत में पहली बार उवटभाष्यसहित वा. प्रा. का संस्करण निकाला। इस संस्करण में उदाहरणों के मूल-स्थलों को भी उल्लिखित किया गया है। यह संस्करण भी अब उपलब्ध नहीं है। १८९३ ई. में जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ने उवटभाष्यसहित वा. प्रा. का संस्करण प्रस्तुत किया। यह संस्करण निम्न कोटि का है। अब यह भी अनुपलब्ध है। १९३४ ई. में श्री वेङ्कटराम शर्मा ने उवट-भाष्य तथा अनन्तभट्ट-भाष्य के सहित वा. प्रा. का संस्करण प्रस्तुत किया। यह संस्करण

असंख्य अशुद्धियों से भरा हुआ होने के कारण नितान्त अनुपयोगी है। इसमें कितनी अशुद्धियाँ हैं इसका कुछ आभास इस तथ्य से हो जायेगा कि ग्रन्थ के अन्त में दिया गया १६ पृष्ठों का शुद्धि-पत्र स्वयं अनेक अशुद्धियों से भरा हुआ है। यह अशुद्धि-बहुल संस्करण भी उपलब्ध नहीं है। श्रीमती इन्दु रस्तोगी के द्वारा १९६७ में प्रकाशित संस्करण भाष्यादि के अभाव के कारण विशेष उपयोगी सिद्ध न हो सका।

वर्तमान संस्करण की विशेषतायें—(१) इसमें वा० प्रा० को शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने का अथक प्रयास किया गया है। (२) वा०प्रा० के सूत्रों के साथ-साथ इसमें उवट के मातृमोद-संज्ञक भाष्य एवं अनन्तभट्ट के पदार्थप्रकाश-संज्ञक भाष्य को प्रस्तुत किया गया है। (३) वा० प्रा० का यह संस्करण अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयास है। प्रत्येक सूत्र का तथा तत्संलग्न उवट-भाष्य का हिन्दी में आक्षरिक अनुवाद दिया गया है। विषय को समझने में सौविध्य की दृष्टि से अनुवाद में आज कल के प्रचलित लौकिक शब्दों का प्रयोग किया गया है। कोष्ठकों में पारिभाषिक शब्दों का संनिवेश करके प्रौढ़ि भी सुरक्षित की गई है। सूत्रार्थ तथा भाष्यार्थ को स्पष्ट करने के लिए अनुवाद करते समय आवश्यकतानुसार कोष्ठक में अतिरिक्त शब्द जोड़े गये हैं। (४) प्रत्येक सूत्र के अनुवाद में जहाँ-जहाँ आवश्यक हुआ है वहाँ-वहाँ सूत्रान्तर से अनुवृत्त शब्दों को ग्रहण किया गया है। उसी प्रकार भाष्यकार ने अपने भाष्य में जहाँ-जहाँ सूत्र-प्रतीकों को छोड़ दिया है वहाँ-वहाँ कोष्ठक में उन प्रतीकों को दिखलाया गया है, जिससे पाठक मूल और उसकी व्याख्या को संलग्न करके देख सके। (५) भाष्यस्थ कठिन स्थलों के विषय में टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। (६) आवश्यकतानुसार संहिता-पाठ, पद-पाठ तथा क्रम-पाठ दिये गये हैं। (७) भाष्योक्त प्रत्येक उदाहरण का मूल-स्थल प्रस्तुत किया गया है। (८) ग्रन्थ के अन्त में सूत्र-सूची एवं पारिभाषिक शब्द-कोष जोड़ दिये गये हैं जो नितान्त उपयोगी हैं। (९) ग्रन्थ के प्रारम्भ में एक प्रमेयबहुल भूमिका दी गई है जो पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी।

इस संस्करण को प्रस्तुत करने में यही उद्देश्य रहा है कि ग्रन्थ स्वयं ही अपने गुणों से पाठकों को अवगत करावे। अतएव यह कर्तव्य समझा गया है कि वैयक्तिक विचारों एवं कल्पनाओं को ग्रन्थ की विषय-वस्तु में न लगाया जावे। केवल भूमिका में आवश्यक होने पर अपने मत को स्थान-स्थान पर व्यक्त किया गया है। इस बात का निरन्तर ध्यान रखा गया है कि इस दुर्बोध विषय को पाठकों के सामने आधुनिक ढंग से प्रस्तुत किया जाये जिससे बुद्धिमान् पाठकों को विषय के समझने में सौविध्य हो। इस प्रयत्न में कहाँ तक सफलता मिली है इसके निर्णय के लिए सहृदय विद्वत्समाज से प्रश्रय अभ्यर्थना कर रहा हूँ।

वाजसनेयिप्रातिशाख्यम्

उवटभाष्य-अनन्तभट्टभाष्याभ्यां सहितम्

प्रथमोऽध्यायः

स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः ॥ १ ॥

सू० अ०—वेद के विषय में स्वर और संस्कार का नियम (कहा जायेगा) । (अथवा वेद के विषय में स्वर और संस्कार का विधान किया जायेगा) ।

उ०—यस्य भृङ्गावलिः कण्ठे स्रुतदानाम्बुपूरिते ।
भाति रुद्राक्षमालेव स वः पायाद् गणाधिपः ॥
प्रणम्य परमात्मानं व्याख्यास्ये प्रातिशाख्यकम् ।
सरस्वतीं च जगतस्तमोनाशनदीपिकाम् ॥
जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक् पाठमजानतः ।
प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयं सम्यक्पाठस्य सिद्धये ॥

स्वर उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितलक्षणः, संस्कारो लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः, तयोः **स्वरसंस्कारयोः छन्दसि** विषये **नियमो**ऽधिकृतो वेदितव्यः । प्रतिज्ञासूत्रमेतत् । प्रतिज्ञा च शिष्यबुद्धिसमाधानार्था ॥ १ ॥

उ० अ०—जिसके प्रवाहित होते हुए मद-जल से व्याप्त कण्ठ पर भ्रमरों की पङ्क्ति रुद्राक्षमाला के समान शोभायमान होती है वह गणेश जी आप लोगों की रक्षा करें । परमात्मा को नमस्कार करके और संसार के (अज्ञानरूप) अंधकार के विनाश के लिए दीपिका-स्वरूप सरस्वती को (नमस्कार करके) मैं प्रातिशाख्य की व्याख्या करूँगा । जः व्यक्ति वेद का ठीक-ठीक उच्चारण करना नहीं जानता है उसका जप आदि में अधिकार नहीं है । इसलिए शुद्ध उच्चारण की सिद्धि के लिए प्रातिशाख्य का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।

स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचयरूप है (अर्थात् स्वर के अन्तर्गत उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय हैं), संस्कार लोप, आगम, वर्णविकार और

प्रकृतिभाव रूप हैं (अर्थात् संस्कार के अन्तर्गत लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृति-भाव आते हैं), उन; **स्वरसंस्कारयोः** = स्वर और संस्कार का; **छन्दसि** = वेद के विषय में; **नियमः** = नियम; अधिकृत जानना चाहिए। यह प्रतिज्ञा-सूत्र है और प्रतिज्ञा शिष्यों की बुद्धि को एकाग्र करने के लिए है।[क]

अ०—हरिः ओम्।

गजाननकटद्वन्द्वनिस्सृता मदजर्झरी। प्रक्षालयतु नः क्षिप्रं विघ्नसङ्घातकर्दमम्॥१
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि। त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं तु देहि मे॥

श्रीसरस्वत्यै नमः। ओम्।

दक्षं दक्षाध्वरहरं हरहर्युभयात्मकम्। खलानामहितं नित्यं वन्दे श्रीरामसद्गुरुम्॥

श्रीगुरुभ्यो नमः।

वन्दे विष्णुं सदानन्दं भक्तकल्पमहीरुहम्। यच्छायमाश्रितैर्लभ्यं नरैरर्थचतुष्टयम्॥
याज्ञवल्क्यमुनिं नत्वा कात्यायनमुनीनपि। सुमङ्गलादिकांश्चापि वन्दे विद्यागुरून्मम॥
वेदवदाङ्गतत्त्वज्ञोऽनन्तभट्ट इति श्रुतः। व्याख्यास्यामि प्रातिशाख्यं कात्यायनमुनीरितम्॥
समस्तकाण्वशाखिभ्यो मूर्धन्येषोऽञ्जलिर्मया। ग्रथ्यते मच्छ्रमं दृष्ट्वा कृपां कुर्वन्तु ते मयि॥
उदाहरणवाक्यानि दीयन्ते काण्वशाखिनाम्। अलाभे परकीयाणि सूत्रकारानुशासनात्॥

शाखायां शाखायां प्रति प्रतिशाखम्, प्रतिशाख भवम् इति प्रातिशाख्यम् इति समाख्यया समग्रादाहरणलाभेन च माध्यन्दिनीयशाखीयमेवेदं प्रातिशाख्यमिति गम्यते। अतः काण्वशाखोदाहरणप्रतिज्ञानं कथमिति चेत्। सत्यम्। माध्यन्दिनीयमेवेति न नियमः। किन्तु काण्वादिपञ्चदशशाखानुगतं यतस्तासु शाखासु नियमः स्वल्पभेददर्शनेन। तल्लक्षणस्यासकृदुक्त्या बहूपकारार्थं तन्त्रेणाचार्यप्रवृत्तेः। तथा च पञ्चदशसु शाखासु एकमेव कात्यायनसूत्रम् इति। अनादिवृद्धव्यवहारात् अधिकं प्रविष्टं चेन्न तु तद्धानिरिति न्यायात्। अनेनैव काण्वापेक्षितसर्वलक्षणसिद्धेश्च। इतरथा केनचिद् भ्रान्त्या प्रयुक्तस्यापपाठस्यापि सुपाठत्वापत्यातिप्रसङ्गो दुष्परिहरः स्यात्। किञ्चित्प्रातिशाख्यं श्रौतस्मार्त्तादि-सूत्रवत्। बहूनां क्वापि देशेऽनुपलम्भात् सर्वदेशीयानामेकेनैव सूत्रग्रन्थेन कर्मानुष्ठान-दर्शनाच्च। न केवलमेतदेव सूत्रैकत्वगमकम्। अपितु प्रातिशाख्यसूत्रेष्वपि तत्र तत्र ज्ञापकाच्च। तथाहि—यान्युदाहरणानि माध्यन्दिनशाखायां न सन्ति काण्वशाखादौ

(क) यह प्रतिज्ञा-सूत्र है। प्रतिज्ञा-सूत्र में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को प्रस्तुत किया जाता है। आचार्य कात्यायन ने इस सूत्र में प्रतिज्ञा की है कि वे प्रस्तुत ग्रन्थ में शुक्ल-यजुर्वेद के स्वर और संस्कार का विधान करेंगे। यह सुनकर शिष्यों का चित्त शुक्ल-यजुर्वेद के स्वर और संस्कार में ही एकाग्र हो जाता है।

सन्ति तदुदाहरणसाधकानि सूत्राणि दृश्यन्ते। यथा—"पुरोळाशेन सविता जजान"। "पुरोळाशैर्हवींष्या"। तथा—"समूळ्हमस्य पांसुरे" "मीळ्हुष्टम शिवतम" इत्यादि काण्वशाखोदाहरणसिध्यर्थम्, "पुरो दाशे" इति सूत्रेण पुरोडाशेनेति सिद्धेऽपि माध्यन्दिनोदाहरणे पुनस्सूत्रं दृश्यते—"डढौ ळ्ळ्हावेकेषाम्" इति। तथा "निषण्णाय रथवाहणमिन्द्रएणम्परिणीयते समिन्द्रण उरुष्याणो रक्षाणष्पूणष्पुणासरया स्वर्णास्थूरिणौ प्रण आयूंषि" इति सूत्रेण भिन्नपदेष्वप्येषु णत्वे नियमितेऽन्यत्र "परि नो रुद्रस्य" इत्यादौ माध्यन्दिनानां नत्वे सिद्धेऽपि "परिणो हेती रुद्रस्य" इति काण्वोदाहरणसिध्यर्थम् "परिण इति शाकटायनः" इति पुनस्सूत्रं दृश्यते।

तथा भिन्नपदत्वेन "श्रोमणा" इति माध्यन्दिनोदाहरणसिद्धेऽपि "श्रीमनाशशतपया." इति काण्वानां नत्वसिध्यर्थं पुनस्सूत्रम् "श्रीमना इत्येके" इति। तथा "प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च" इति सूत्रेण "विष्णोः क्रमोऽसि", "ततः खनेम", "देवसवितः प्रसुव", "याः फलिनीः" इत्यादौ माध्यन्दिनीयानां विसर्गस्य प्रकृतिभावे सिद्धेऽपि "विष्णो ≍ क्रमोऽसि", "तत् ≍ खनेम", "देवसवित ≍ प्रसुव", "या≍फलिनीः" इत्यादौ काण्वोदाहरणे जिह्वामूलीयोपध्मानीयसिध्यर्थं पुनर्वचनम्—"जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः" इति न च वाच्यं जिह्वामूलीयादिकं माध्यन्दिनस्यापि विकल्पेन भविष्यतीति, 'तस्मिन् ळ्ळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्" इति सूत्रकारेण निषिद्धत्वात्। न च वाच्यमेषु सूत्रेषु एकेषामित्यादिपदैः मतान्तरप्रदर्शनं कृतं सूत्रकारेणेति तावता वैयर्थ्यं भवति, यथा "देवेभ्यः शुन्धध्वम्" इति मन्त्राभावेऽपि मतान्तरप्रदर्शनं श्रितम्, तद्वदत्रापीति। यत्र मतान्तरप्रदर्शनं नास्ति केवल शाखान्तरोदाहरणसिध्यर्थमेवाचार्यप्रवृत्तिः। तादृशान्यपि सूत्राणि दृश्यन्ते, यथा—"दूणाशं सख्यं तव" इति शावीयादिशाखोदाहरणसिध्यर्थं तृतीयाध्याये "नाशे च" इति सूत्रम्। तथा "षोडन्त्यो अस्य" इत्युदाहरणसिध्यर्थम् "षट्दशदन्तयोः सङ्ख्यावयोऽर्थयोश्च" इति सूत्रम्। तथा "सोमापूष्णोर्भागधेयम्" इत्युदाहरणस्य अन्तोदात्तत्वसिध्यर्थम् "द्वन्द्वं चेन्द्रसोमपूर्वं पूषाग्निवायुषु" इति सूत्रम्। एवं तत्र तत्र शाखान्तरोदाहरणसिध्यर्थं बहूनि सूत्राण्युपलभ्यन्ते। न च तानि लौकिकप्रयोजनसाधनार्थानि; तेषां व्याकरणसिद्धत्वात्। नाप्याश्वलायनाचार्यादिकृतप्रातिशाख्यसिद्धत्वम्। ऋषिवचनमात्रस्यापि वैयर्थ्यं वक्तुमनुचितत्वाच्च। तस्मात् सिद्धं काण्वादिपञ्चदशशाखासु एकमेव प्रातिशाख्यमिति। ओम्। हरिः ओम्॥

जपादौ नाधिकारोऽस्ति सम्यक्पाठमजानतः।
प्रातिशाख्यमतो ज्ञेयं सम्यक्पाठस्य सिद्धये॥

सङ्गतिज्ञापकं तस्येदमाद्यं वचनं स्पष्टार्थम्। स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः। स्वरः उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचयरूपः, संस्कारो नाम लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावादिरूपः; तयोः छन्दसि वेदविषये नियमोऽधिक्रियते। प्रतिज्ञासूत्रमेतत्। प्रतिज्ञा तु शिष्यबुद्धिसमाधानार्था ॥ १ ॥

लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात् ॥ २ ॥

सू० अ०—प्रयोजनपूर्वक होने से लौकिक (शब्दों के नियम को नहीं कहा जायेगा)।

उ०—लोके विदिता लौकिकाः। **लौकिकानां** शब्दाना**मर्थपूर्वकत्वात्**प्रयोजनपूर्वकत्वादस्मिन् शास्त्रे नियमो न क्रियते। कथं प्रयोजनपूर्वकत्वम्? कथं प्रयोजनपूर्वकाणां शब्दानां नियमो न क्रियते? आह—"देवदत्तः गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इति यस्य पुरुषस्य देवदत्तकर्तृका गोत्वजात्युपलक्षितशुक्लद्रव्यकर्मिका दण्डकरणिका अभ्याजनक्रिया अभिप्रेता स एवैतद्वाक्यं ब्रवीति, न तत्सर्वः। अतोऽर्थपूर्वकत्वं लौकिकाना शब्दानाम्। अर्थपूर्वकत्वे सत्यर्थाभावे नोच्चारणं लौकिकानां शब्दानाम्। छन्दसि पुनः "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति श्रुतिचोदनात्। अतः सदाकालं छान्दसानां शब्दानामभ्यासः श्रुत्या विधीयते पुरुषस्याभ्युदयार्थम्। अतस्तद्विषय एव स्वरसंस्कारयोर्नियम आरभ्यते न लौकिकानामर्थपूर्वकत्वात् ॥ २ ॥

उ० अ०—लोक में प्रचलित (शब्द) लौकिक (शब्द हैं। **अर्थपूर्वकत्वात्**= प्रयोजनपूर्वक होने से; **लौकिकानाम्** = लौकिक शब्दों का; इस शास्त्र में नियम नहीं[क] किया जाता है। प्रयोजनपूर्वकत्व कैसे हैं? प्रयोजनपूर्वक शब्दों का नियम क्यों नहीं किया जाता है? कहते हैं (उत्तर देते हैं)—"हे देवदत्त! सफेद गाय को डण्डे से लाओ"—जिस पुरुष को देवदत्त कर्त्ता वाली, गोत्वजातिविशिष्ट शुक्ल द्रव्य कर्म वाली और दण्ड करण वाली लाने की क्रिया अभीष्ट है वही (पुरुष) इस वाक्य का उच्चारण करता है, सब पुरुष (इस वाक्य का उच्चारण) नहीं (करते हैं)। इसलिए लौकिक शब्दों का प्रयोजनपूर्वकत्व है। प्रयोजनपूर्वक (उच्चारित) होने के कारण प्रयोजन का अभाव होने से लौकिक शब्दों का उच्चारण नहीं किया जाता है। वेद के विषय में तो, 'प्रतिदिन अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए' यह श्रुति (वेद) का आदेश है, पुरुष के अभ्युदय के लिए। इसलिए सर्वदा (सभी दिनों) के हेतु वैदिक शब्दों का अध्ययन (पाठ, अभ्यास) श्रुति के द्वारा विधान किया जाता है। उन (वैदिक शब्दों) के

(क) १। ३ में प्रयुक्त 'न' (नहीं) पद का सम्बन्ध प्रस्तुत सूत्र के साथ भी है।

विषय में ही स्वर और संस्कार का विधान (नियम) प्रारम्भ किया जाता है, प्रयोजन-पूर्वक होने से लौकिक (शब्दों) का नहीं।[क]

अ०—लोके भवा लौकिकाः शब्दास्तेषां गामानय शुक्लां दण्डेन इत्येवमादीनां वाक्यानां नियमो न क्रियते। कुतः ? अर्थपूर्वकत्वात्। यस्य पुंसः देवदत्तकर्तृका गोत्वजात्याक्रान्ता शुक्लद्रव्यकर्मिका दण्डकरणिका आनयनक्रियाभिप्रेता स एवैतद्वाक्यं प्रयुङ्क्ते न सर्वः अर्थाभावात्। छन्दसि तु पुनः "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति श्रुत्या सर्वकालार्थंप्रयोजनाभावेऽपि वेदाध्ययनं विधीयते पुरुषस्याभ्युदयाय। अतो वैलक्षण्यात् तद्विषय एवायं नियमः, न लौकिकविषयः ॥ २ ॥

न समत्वात् ॥ ३ ॥

सू० अ०—तुल्य होने से (यह कहना युक्त) नहीं (कि वैदिक शब्दों के अध्ययन से ही अभ्युदय होता है)।

उ०—नकारः प्रतिषेधवाची उभयत्र सम्बध्यते काकाक्षिवत्। न चैतत्, यद्वैदिकानां शब्दानां स्वरसंस्कारनियमोऽभ्युदयहेतुः। किन्तर्हि ? लौकिकानामपि नियमोऽभ्युदयहेतुरेव। कुतः ? **समत्वात्**, तुल्यत्वाच्छब्दानाम्। य एव वैदिकास्त एव लौकिकास्त एव तेषामर्था इति। अतो यदुक्तं वैदिकानामेव स्वरसंस्करणमभ्युदय-हेतुरित्येतन्न समत्वात् ॥ ३ ॥

उ० अ०—प्रतिषेध (निषेध) का वाचक (सूत्रोक्त) 'न' शब्द कौए को आँख की तरह दोनों ओर लगता है। (अर्थात् इसका सम्बन्ध १।२ और १।३ इन दोनों सूत्रों के साथ है)। (पू०) यह कहना युक्त; न=नहीं; है कि वैदिक शब्दों

(क) आचार्य वैदिक शब्दों के स्वर और संस्कार का ही विधान करेंगे क्योंकि (१) लौकिक शब्दों का उच्चारण सभी लोगों के द्वारा नहीं किया जाता है। वैदिक शब्दों के विषय में यह बात नहीं है। वेद के आदेश के अनुसार सभी पुरुष वैदिक शब्दों का उच्चारण प्रतिदिन करते हैं। अतः वैदिक शब्द सभी पुरुषों के लिए उपयोगी हैं, जब कि लौकिक शब्द कुछ ही पुरुषों के लिए उपयोगी हैं। (२) लौकिक शब्द प्रयोजन-विशेष के लिए प्रयुक्त होते हैं। उस प्रयोजन की सिद्धि करने में ही लौकिक शब्दों का उपयोग समाप्त हो जाता है। वैदिक शब्दों का ऐसा कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं होता है। वैदिक शब्दों के अध्ययन का प्रयोजन है—पुरुष का अभ्युदय, पुरुष का पारमार्थिक कल्याण।

के स्वर और संस्कार का नियम अभ्युदय का हेतु है। [क] (सि०) तब क्या? (पू०) लौकिक शब्दों का नियम (भी) अभ्युदय का हेतु ही है। (सि०) कैसे? समत्वात्=समान होने से=(वैदिक और लौकिक) शब्दों के तुल्य होने से। जो वैदिक (शब्द) हैं वे ही लौकिक (शब्द) हैं, वे ही उनके अर्थ हैं। इसलिए यह जो कहा गया है कि वैदिक (शब्दों) के ही स्वर और संस्कार (का नियम) अभ्युदय का हेतु है, यह युक्त नहीं है, (वैदिक लौकिक शब्दों के) तुल्य होने से। [ख]

अ०—नञ् प्रतिषेधवाची, न पर्युदासार्थः। प्रसक्तप्रतिषेधात्। तदुक्तं महाभाष्ये—

"प्राधान्यं तु विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता। पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन तु।'
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधप्रधानता। प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥"इति॥

इयमस्य योजना—अथ यदुक्तं वैदिकानामेव शब्दानामयं नियमो न लौकिकानामिति, तन्नेत्यर्थः। कुतः? समत्वाच्छब्दानाम्। य एव वैदिकाः त एव लौकिकाः त एव चामीषामर्था इति॥ ३॥

स्याद्वाम्नायधर्मित्वाच्छन्दसि नियमः॥ ४॥

सू० अ०—(वेदस्थ) शब्द-समूह वेद के धर्म से समन्वित हैं, अतः वेद के विषय में (स्वर और संस्कार का) नियम (अभ्युदय का जनक) है-अथवा [आम्नाय धर्म (यज्ञ में प्रयोग) होने से वेद में स्वर और संस्कार का नियम (अभ्युदय का जनक) है]।

(क) पूर्ववर्ती सूत्र के भाष्य को देखने से यह ज्ञात होता है कि वैदिक शब्दों के उच्चारण (अध्ययन) से अभ्युदय की प्राप्ति होती है, जबकि लौकिक शब्दों के उच्चारण से केवल लौकिक प्रयोजन (लौकिक व्यवहार) की सिद्धि होती है। प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में वैदिक शब्दों के स्वर और संस्कार के नियम को अभ्युदय का हेतु माना गया है। स्वर और संस्कार के नियम को अभ्युदय का हेतु बतलाना ठीक ही है क्योंकि स्वर और संस्कार के नियम को जानकर ही वैदिक शब्दों का शुद्ध उच्चारण (अध्ययन) संभव है और यह भी निश्चित है कि वैदिक शब्दों का शुद्ध उच्चारण करने पर ही अभ्युदय की प्राप्ति होती है, अशुद्ध उच्चारण से अनिष्ट ही होगा।

(ख) पूर्वपक्षी का कहना है कि वेद में जो शब्द हैं, वे ही शब्द लोक में हैं। उन शब्दों के अर्थ भी समान हैं। अत एव यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि वेद के रूप में उच्चारित होने पर ये शब्द अभ्युदय के जनक हैं, लोक में उच्चारित होने पर नहीं।

उ०—आम्नायो वेदः, तस्य धर्मः आम्नायधर्मः, आम्नायधर्मो विद्यते यस्य शब्दग्रामस्य स आम्नायधर्मी, तस्य भावः आम्नायधर्मित्वम्, तस्मादाम्नाय-धर्मित्वात् (स्याद्वा) भवेद्वा छन्दसि शब्दानां स्वरसंस्कारनियमोऽभ्युदयाय महते स्यात्। छन्दसि नियमो महोदयः। कतमत्तदाम्नायधर्मित्वं नाम? आह—आम्नायः क्रियार्थो यज्ञार्थश्च। तद्यथा—ब्राह्मणं विध्यर्थवादरूपम्, मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवतास्मारकः, मन्त्रेण स्मृतं कर्म कर्त्तव्यमिति नियमार्थं वचनम्। मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनो भवति अथ कर्मासमृद्धिः, न केवलं कर्मासमृद्धिः, किन्तर्हि? दुरिष्टहेतुः प्रत्यवायः स्यात्। उक्तं च—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥" इति॥

दुष्प्रयुक्तमन्त्रविषयो निन्दार्थवादः, तथा स्वाध्यायविषयः फलार्थवादो भवति "घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन् स्वधा अभि वहन्तीति।" न तु लौकिकशब्दविषयमिदं किञ्चिदुपलभ्यते। अतः स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमो महोदय इति॥ ४॥

उ० अ०—आम्नाय का अर्थ है वेद, उसका धर्म = आम्नायधर्म, आम्नायधर्म है जिस शब्दसमूह का वह है आम्नायधर्मी, उसका भाव = आम्नायधर्मित्व, उस, आम्नायधर्मित्वात्=आम्नायधर्मित्व से; छन्दसि=वेद के विषय में; शब्दों के स्वर और संस्कार का नियम महान् अभ्युदय के लिए; (स्याद्वा =) है। वेद के विषय में नियम महान् अभ्युदय (का हेतु है)। (पू०) वह आम्नायधर्मित्व है क्या वस्तु? बतलाते हैं—वेद (आम्नाय) क्रिया के लिए और यज्ञ के लिए है। जैसे—ब्राह्मण विधि और अर्थवाद रूप हैं (ब्राह्मण के अन्तर्गत विधि और अर्थवाद आते हैं), मन्त्र तो कर्म के अङ्गभूत द्रव्य और देवता का स्मारक (स्मरण कराने वाला) है। मन्त्र के द्वारा स्मरण कराये गये कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए इस नियम के लिए विधान है (अर्थात् इस प्रकार का विधान है कि कर्म के द्रव्य और देवता का स्मरण मन्त्र के द्वारा कराना अनिवार्य है। यदि अन्य उपाय से द्रव्य और देवता का स्मरण कराया जाय तो कर्म निष्फल होगा)। मन्त्र तो यदि स्वर की दृष्टि से अथवा वर्ण की दृष्टि से थोड़ा-सा भी त्रुटिपूर्ण हो जाय तो कर्म की अपूर्णता रहेगी, केवल कर्म की अपूर्णता ही नहीं रहेगी। (पू०) तब क्या? अशुद्ध याग के अनुष्ठान के कारण हानि होगी। कहा भी है—

"जो मन्त्र 'स्वर' (accent) से या वर्ण से हीन होता है वह मिथ्या रूप से प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को नहीं कहता है। वह वाग्वज्र बनकर यजमान को ही विनष्ट कर देता है, जैसे (स्वर) (accent) के अपराध से 'इन्द्रशत्रु' पद यजमान (वृत्र) का ही विनाशक बन गया।"

अशुद्ध रूप में प्रयुक्त मन्त्र के विषय में यह निन्दा रूप अर्थवाद है। उसी प्रकार वेदाध्ययन (स्वाध्याय) के विषय में यह फल रूप अर्थवाद है—"वेद का अध्ययन करने वालों के पितरों के लिए घी की नहरें और मधु की नहरें स्वधा के रूप में प्रवाहित होती हैं"। लौकिक शब्दों के विषय में इस प्रकार का कुछ भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिए वेद के विषय में स्वर और संस्कार का नियम महान् अभ्युदय का जनक है।

अ०—अतः समत्वात् उभयेषामयं नियमोऽस्त्वित्याह। वाशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्यर्थः। आम्नायो वेदः। तद्धर्मित्वात् स्वरसंस्कारयोः तत्रैवायं नियमः, नान्यत्र। आम्नायधर्मित्वं चेत्थम्-मन्त्रब्राह्मणरूपो वेदो यज्ञार्थः। ब्राह्मणमपि विध्यर्थवादरूपम्। मन्त्रस्तु कर्माङ्गभूतद्रव्यदेवताप्रकाशकः। मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनो भवति, अथ कर्मासमृद्धिः। नैव केवलं कर्मासमृद्धिः। किन्तर्हि? अनर्थहेतुः प्रत्यवायोऽपि। उक्तं हि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

इति। मन्त्रविषयो निन्दार्थवादः। तथा स्वाध्यायविषयः फलार्थवादः "घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन् स्वधा अभि वहन्तीति", "एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति" इत्यादितश्च। न तु लौकिकशब्दविषये ईदृङ्नियमः क्वचिदुपलभ्यते। अतः स्वरसंस्कारनियमो वेदविषय एवेति सिद्धम् ॥ ४ ॥

यत्तन्न ॥ ५ ॥

सू० अ०—जो (ज्ञात) नहीं है उस (शब्द के कारण) को (कहेंगे)।

उ०—एवं स्वरसंस्कारौ छन्दसि विषये प्रतिज्ञातौ छन्दोविषये महोदयफलावित्यवधार्य, अधुना शब्दस्वरूपजिज्ञापयिषयेदमाह। **यत् न** ज्ञायते शब्दस्य कारणभूतं **तद्** वक्ष्याम इति सूत्रशेषः ॥ ५ ॥

उ० अ०—इस प्रकार वेद के सम्बन्ध में प्रस्तुत किये गये स्वर और संस्कार वेद में महान् अभ्युदय रूप फल को प्रदान करने वाले होते हैं—यह निश्चय करके अब शब्द के स्वरूप को बतलाने की इच्छा से (सूत्रकार) इस (सूत्र) को कहते हैं। शब्द का कारण; यत्, = जो; (शिष्यों को) न = नहीं; ज्ञात है; तत् = उसको; कहेंगे—(सूत्रपूर्ति के लिए) इसे जोड़ना है।

अ०—नकारोऽत्र भिन्नक्रमः। एवं स्वरसंस्कारनियममभिधाय यन्न ज्ञायते शब्दकरणमिति तदुच्यत इति सूत्रशेषः ॥ ५ ॥

वायुः खात् ॥ ६ ॥

सू० अ०—वायु आकाश से (उत्पन्न होती है) [(अथवा-फेफड़े से बाहर आने के बाद) वायु कण्ठ-छिद्र से (होकर बाहर आती है)]।

उ०—वायुः कारणभूतः शब्दस्य, स च; **खात्** = आकाशात्; उत्पद्यते ॥ ६ ॥

उ० अ०—वायु शब्द का कारण है।[क] और वह; **खात्** = आकाश से; उत्पन्न होती है।[ख]

अ०—वायुः शब्दस्य कारणम्, स च आकाशादुत्पद्यते। "आकाशाद्वायुः" इति श्रुतेः ॥ ६ ॥

शब्दस्तत् ॥ ७ ॥

सू० अ०—शब्द उस (= वायु) (के रूप वाला है) [अथवा-वह (= वायु) शब्द (हो जाती है शब्द के रूप में परिणत हो जाती है)]।

उ०—शब्दस्तदात्मकः वाय्वात्मक इत्यर्थः ॥ ७ ॥

उ० अ०—शब्दः = ध्वनि; (**तत्** = वह =) उसी के रूप वाला है; वायु के रूप वाला है—यह अर्थ है।

अ०—यद्वायुस्वरूपमुत्पन्नं तच्छब्दः वाय्वात्मकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

सङ्करोपहितः ॥ ८ ॥

सू० अ०—समुचित करणों (उच्चारण-साधनों) से प्रेरित (अथवा युक्त) होकर (हृदयस्थ वायु बाँसुरी, शङ्ख इत्यादि के द्वारा शब्द हो जाती है)।

(क) ध्वनियों की उत्पत्ति में वायु का महत्त्वपूर्ण योगदान है। वास्तव में वायु समस्त ध्वनियों का मूल कारण है। वायु दो प्रकार की होती है—एक वह जिसे हम लोग वायुमण्डल से ग्रहण करके मुँह या नाक के द्वारा फेफड़े में ले जाते हैं और दूसरी वह जिसे हम फेफड़े से मुँह या नाक के द्वारा बाहर निकालते हैं। फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु ही वर्णों की उत्पत्ति का मूल कारण है। (ख) सूत्र का जो दूसरा अर्थ किया गया है उसके लिए देखिए ऋ० प्रा० १३।१—कण्ठस्य खे विवृते संवृते वा = कण्ठ के छेद (स्वरयन्त्र) के खुले हुए अथवा बन्द होने के अनुसार (वायु श्वास अथवा नाद हो जाती है)।

उ०—यदि वाय्वात्मकः शब्दः, वायोः सर्वगतत्वात् सदाकालं सर्वत्रोपलब्धिः प्राप्नोतीत्याशङ्क्याह—सङ्करोपेति। सम्यक्करणैरुपहितो हृदि वायुर्वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति ॥ ८ ॥

उ० अ०—यदि शब्द वायुस्वरूप है, तब वायु के सर्वत्र व्याप्त होने से सभी समय सभी स्थलों पर (शब्द की) उपलब्धि प्राप्त होती है—यह आशङ्का करके (सूत्रकार ने) कहा है—**सङ्करोप** = उचित करणों (आत्मा, मन, कायाग्नि) के द्वारा प्रेरित होकर, हृदयस्थ (छाती में स्थित) वायु बाँसुरी, शङ्ख आदि के द्वारा शब्द हो जाती है।[क] [अथवा-हृदय (छाती।) में स्थित वायु बाँसुरी, शङ्ख इत्यादि समुचित साधनों के द्वारा शब्द हो जाती है]।

अ०—यदि वाय्वादिशब्दात्मकः शब्दस्तर्हि वायोस्सर्वगतत्वात् सर्वकालं सर्वशब्दोपलब्धिः स्यादित्याशंक्याह। करणानि कराः, समीचीनाः कराः सङ्कराः। सम्यक् करणैरुपहितो वायुः वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति ॥ ८ ॥

स सङ्घातादीन् वाक् ॥ ९ ॥

सू० अ०—वह (वायु) पुरुष-प्रयत्न इत्यादि को (प्राप्त करके) वाणी (हो जाती है)।

उ०—यो वायुः सम्यक्करणैरुपहितो वेणुशङ्खादिभिः शब्दीभवति स एव **सङ्घातादीन्**-प्राप्य वाग्भवति। सङ्घातः = पुरुषप्रयत्नः, स आदौ येषां स्थानादीनां ते सङ्घातादयः, तान् प्राप्य वाग्भवति वर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

उ० अ०—जो वायु उचित करणों (आत्मा, मन, कायाग्नि) के द्वारा प्रेरित होकर बाँसुरी और शङ्ख इत्यादि के द्वारा शब्द हो जाती है; सः=वही; **सङ्घातादीन्**=

(क) इस सूत्र में अव्यक्त ध्वनि की उत्पत्ति का विधान किया गया है। तुलना कीजिए पा० शि०—

> मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
> मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।

मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है। वह (शरीर की अग्नि) वायु को प्रेरित करती है। हृदय में विचरण करती हुई वायु मधुर स्वर को उत्पन्न करती है।

शब्द की उत्पत्ति के विषय में तै० प्रा० २।२ में कहा गया है—वायुशरीरसमीरणात् कण्ठोरसोः सन्धाने—अर्थात् शरीर में स्थित वायु के गतिशील होने से कण्ठ और उर के सन्धि-स्थल में शब्द की उत्पत्ति होती है।

सङ्घात आदि को; प्राप्त करके; **वाक्** = वाणी; हो जाती है। **सङ्घात** = पुरुष का प्रयत्न। वह (पुरुष—प्रयत्न) है आदि में जिन स्थान (उच्चारणस्थान) आदि के वे सङ्घात आदि हैं। उनको प्राप्त करके (वायु) वाणी हो जाती है, वर्ण हो जाती है—यह अर्थ है।[क]

अ०—यो वायुः वेणुशङ्खादिभिरुपहितः शब्दो भवति, स एव सङ्घातादीन् प्राप्य वागिति व्यवह्रियते। सङ्घातो नाम प्रयत्नः। स बाह्याभ्यन्तरत्वेन द्विधा। बाह्योऽप्येकादशविधः विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषः अल्पप्राणः महाप्राणः उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति महाभाष्ये विशेषोक्तः। तल्लक्षणमपि तत्रैवोक्तम्—

"खयां यमाः खय≍क≍पौ विसर्गः शर एव च।
एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृता॥"

इति आन्तरप्रयत्नश्चतुर्धा भिद्यते॥ ९॥

त्रीणि स्थानानि॥ १०॥

सू० अ०—(वायु के) तीन स्थान (होते हैं)।

उ०—सङ्घातः पुरुषप्रयत्न इत्युक्तम्। अधुना सङ्घात आदिभूतो येषां स्थानादीनां तान्युच्यन्ते। **त्रीणि स्थानानि** वायोर्भवन्ति उरःकण्ठशिरआत्मकानि शरीरे॥ १०॥

उ० अ०—सङ्घात = पुरुष का प्रयत्न—यह कहा जा चुका है। अब सङ्घात है आदि में जिन स्थान आदि के उन्हें कहा जा रहा है। शरीर में वायु के; **त्रीणि** तीन; **स्थानानि** = स्थान; होते हैं—उर, कण्ठ और सिर।[ख]

अ० - वायोः त्रीणि स्थानानि उरःकण्ठमूर्धात्मकानि भवन्ति॥ १०॥

(क) इस सूत्र में वर्णरूप व्यक्त ध्वनि की उत्पत्ति का विधान किया गया है। वास्तव में ध्वनि की उत्पत्ति में पुरुष—प्रयत्न का बड़ा महत्त्व है। फेफड़े से निकलती हुई वायु वर्णों की उत्पत्ति में तभी समर्थ हो सकती है, जब पुरुष वर्णों को उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। पुरुष के द्वारा प्रयत्न न करने पर वायु अबाध गति से बाहर निकल जाती है।

(ख) वायु के ये तीन स्थान ध्वनि की आपेक्षिक उच्चता को ध्यान में रखकर बतलाये गए है। उर (छाती) से उत्पन्न ध्वनि धीमी होती है, कण्ठ से

द्वे करणे ॥ ११ ॥

सू० अ०—वायु के दो करण (होते है)।

उ०—संवृतविवृताख्ये (द्वे करणे) वायोर्भवतः ॥ ११ ॥

उ० अ०—वायु के संवृत्त और विवृत्त संज्ञक (द्वे करणे = दो करण) होते हैं ।[क]

अ०—संवृतविवृतलक्षणे वायोः द्वे करणे भवतः । तदुक्तं कात्यायनेन—

"चत्वारश्च प्रयत्ना स्युरक्षराणां तथैव च ।
स्पृष्टेषत्स्पृष्टता चैव संवृतं विवृतं तथा ॥" इति ॥ ११ ॥

शरीरात् ॥ १२ ॥

सू० अ०—शरीर से (निकलती हुई वायु के ये स्थान और करण हैं)।

उत्पन्न ध्वनि उससे ऊँची होती है तथा सिर (मूर्धा) से उत्पन्न ध्वनि सबसे ऊँची होती है। इसी तथ्य को तै० प्रा० २३।१० में इस प्रकार कहा गया है—"उरसि मन्द्रं कण्ठे मध्यमं शिरसि तारम्" । मन्द्र अवस्था में व्याघ्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है, मध्यम अवस्था में चक्रवाक के कूजने के समान ध्वनि होती है तथा तार अवस्था में मयूर अथवा हंस अथवा कोकिल की ध्वनि के समान ध्वनि होती है।

(क) जब वायु श्वास-नलिका के मार्ग से फेफड़े से बाहर निकलती है तो स्वर-यन्त्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। स्वर-यन्त्र ही पहला उच्चारणावयव है जहाँ वायु में कुछ विकार उत्पन्न किया जाता है। मुख्यतः स्वरतन्त्रियों की दो स्थितियाँ होती हैं—(१) विवृत—इस स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से दूर रहती हैं और स्वरयन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) पूर्णरूपेण खुला रहता है। फलतः फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वर-तन्त्रियों के साथ घर्षण नहीं होता है और इसलिए उनमें कम्पन नहीं होता है। इस स्थिति में स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) से निकली हुई वायु 'श्वास' कहलाती है (२) संवृत—इस स्थिति में स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे के अत्यधिक निकट रहती हैं और स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) बन्द-सा हो जाता है। जब स्वर-तन्त्रियाँ इस स्थिति में होती हैं, तब फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वर तन्त्रियों के साथ घर्षण होता है और इसीलिए उनमें कम्पन हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) से निकली हुई वायु 'नाद' कहलाती है।

उ०—य एते करणे संवृतविवृताख्ये, यानि च त्रीणि स्थानानि, **शरीराद्वायो-** र्निर्गच्छतस्तानि भवन्ति । यानि पुनरुपरिष्टाद्वक्ष्यति स्थानकरणानि तानि मुखस्थानानि । अत एवमाह शरीरादिति ॥ १२ ॥

उ० अ०—जो ये संवृत और विवृत संज्ञक करण हैं, और जो तीन स्थान हैं, वे; **शरीरात्** = शरीर से; निकलती हुई वायु के हैं । किन्तु जिन स्थान और करणों को (सूत्रकार) आगे कहेंगे, वे (स्थान और करण) मुख में स्थित हैं । इसलिये (सूत्रकार ने) इस प्रकार कहा है—शरीर से ।

अ०—ये द्वे करणे, यानि त्रीणि स्थानानि, तानि शरीरान्निर्गच्छतः वायोर्भवन्ति । यानि पुनरग्रे सूत्रकृद्वक्ष्यति स्थानकरणानि तानि मुखस्थानानि । अत एवमाह शरीरादिति ॥ १२ ॥

शरीरम् ॥ १३ ॥

सू० अ०—(शरीर से निकलती हुई वायु) विशिष्ट स्वरूप (ककार आदि वर्ण) को (प्राप्त कर लेती है) ।

उ०—एवमेतेन प्रकारेण शरीराद्वायुर्निर्गच्छन्, (**शरीरम्** =) कादिवर्णविशेषव्यक्तिम्; आपद्यते ॥ १३ ॥

उ० अ०—इस प्रकार इस (पूर्वोक्त) प्रक्रिया के द्वारा शरीर से बाहर निकलती हुई वायु; (**शरीरम्** =) ककार आदि वर्ण-विशेष के स्वरूप को; प्राप्त हो जाती है ।

अ०—एवं शरीराद्वायुः निर्गच्छन् अकारादिविशेषव्यक्ति [शरीर]-मापद्यते॥ १३॥

शारीरे ॥ १४ ॥

सू० अ०—शरीर के एक भाग (मुख) में (प्राप्त वायु वर्णविशेष को प्राप्त करती है) ।

उ० - किं शरीराद्वायुर्निर्गच्छन् मात्रादिवर्णविशेषव्यक्तिमापद्यते ? नेत्याह—**शारीरे** शरीरैकदेशे मुखे प्राप्तो वायुस्ताल्वादिस्थानेषु निषक्तः करणेन विशेषव्यक्तिरूपेण वर्णत्वमापद्यते ॥ १४ ॥

उ० अ०—क्या शरीर से बाहर निकलती हुई वायु मात्रा आदि की विशेषताओं से समन्वित वर्णविशेष के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है ? (सूत्रकार) कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है—**शारीरे** = शरीर के एक भाग मुख में; प्राप्त होने (पहुँचने) पर वायु तालु इत्यादि स्थानों में संयुक्त होने पर सक्रिय उच्चारणावयव के द्वारा विशेष स्वरूप से समन्वित वर्णत्व को प्राप्त करती है ।

अ०—किं यस्मात् कस्मात् शरीरात् वायुर्निर्गच्छन् मात्रादिवर्णविशेषव्यक्तिरूपं शरीरमापद्यते ? नेत्याह—शारीरे इति। शरीरैकदेशमुखे प्राप्तो वायुस्ताल्वादिस्थानेषु निस्सृतः करणविशेषनिरूपितवर्णत्वमापद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

तेषां समूहात् स उदयँस्त्रैकाल्यम् ॥ १५ ॥

सू० अ०—उन (स्थान, करण और प्रयत्न) के समह से ऊपर की ओर जाती हुई वह (वायु) तीनों कालों के पदार्थों को (प्रगट करती है)।

उ०—**तेषां** स्थानकरणप्रयत्नानां सम्बन्धिनः **समूहात् स उदयन्** वायुरुद्-गच्छन् **त्रैकाल्यम**भिधत्ते। त्रयः कालाः समाहृताः त्रिकालम्, त्रिकालमेव त्रैकाल्यम् स्वार्थे ष्यञ्। त्रिकालसम्बद्धमर्थजातं = भवद्भूतभविष्यत्सम्बद्धमर्थजातं; वायुर्वर्णीभूतः पदवाक्यैरभिधत्ते ; त्रिकालसम्बद्धस्यार्थजातस्य वायुः शब्दरूपेण प्रकाशको भवतीत्यर्थः। "वायोरियं विभूतिर्या त्रयी विद्या" इति श्रुतेः ॥ १५ ॥

उ० अ०—**तेषाम्** = उनके = स्थान, करण और प्रयत्न के; **समूहात्** = समूह (अथवा सहयोग, सम्पर्क, संयोग) से; **स उदयन्** = ऊपर जाती हुई वह वायु; **त्रैकाल्यम्** = त्रैकाल्य को; कहती है। तीन कालों का समुदाय = त्रिकाल, त्रिकाल ही त्रैकाल्य है, स्वार्थ में ष्यञ् (प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है)। वर्ण के रूप में परिणत वायु पदों और वाक्यों के द्वारा तीनों कालों से सम्बद्ध पदार्थ-समूह को = वर्तमान, भूत और भविष्य से सम्बद्ध पदार्थ-समूह को कहती है। तीनों कालों से सम्बद्ध पदार्थ समूह को वायु शब्द के रूप से प्रकाशित (प्रतिपादित) करने वाली होती है—यह अर्थ है। श्रुति भी कहती है कि ये जो तीनों विद्यायें (तीनों वेद) हैं वे वायु की ही विभूति हैं।

अ०—तेषां स्थानकरणप्रयत्नानां समूहादुदयन् उद्गच्छन् स वायुः त्रैकाल्यं त्रयः कालाः समाहृताः त्रिकालम्, त्रिकालमेव त्रैकाल्यम्। स्वार्थ ष्यञ्। त्रिकालसम्बद्ध-मर्थजातं भूतभविष्यद्वर्त्तमानरूपमभिधत्ते। त्रिकालसम्बद्धार्थजातस्य वायुः शब्दरूपेण प्रकाशको भवतीत्यर्थः। "वायोरियं विभूतिर्या त्रयी विद्या" इति श्रुतेः ॥ १५ ॥

ओङ्कारः स्वाध्यायादौ ॥ १६ ॥

सू० अ०—वेदाध्ययन (स्वाध्याय) के प्रारम्भ में ओम् शब्द (का उच्चारण करना चाहिए)।

उ०—"यत्तत्र:" (१।५) इत्येवमादिना वायुः पदवाक्यरूपेण सर्वं प्रकाशय-तीत्युक्तम्। अधुना स्वाध्यायविधिरुच्यते-**ओङ्कारः स्वाध्यायादौ**। कर्त्तव्य इति सूत्रशेषः। तथा चाह मनुः—

"ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा ।
क्षरत्यनोङ्कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशीर्य्यते ॥" इति (मनु० २।७४)

उ० अ०— 'जो (ज्ञात) नहीं है उसे (कहा जायेगा)" इत्यादि (सूत्रों) के द्वारा यह कहा जा चुका है कि वायु पदों और वाक्यों के रूप में सम्पूर्ण (पदार्थों) को प्रकाशित करती है। अब वेदाध्ययन की विधि (सूत्रकार के द्वारा) बतलाई जाती है—**ओंकारः स्वाध्यायादौ**वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओम् शब्द। करना चाहिए (सूत्र-पूर्ति के लिए) यह सूत्र में जोड़ना है। मनु ने भी वैसा कहा है— "वेद के अध्ययन के प्रारम्भ में और अन्त में 'ओम्' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। प्रारम्भ में 'ओम्' शब्द का उच्चारण न करने से अध्ययन स्थिर नहीं रहता है तथा अन्त में 'ओम्' शब्द का उच्चारण न करने से वह पूर्णतः नष्ट हो जाता है।"

अ०—"यत्तन्न" इत्येवमाद्येकादशसूत्रैर्वायुः पदवाक्यरूपेण सर्वं प्रकाशयतीत्युक्त्वा अधुना स्वाध्यायविधिमाह। वक्तव्य इति सूत्रशेषः। तदुक्तं मनुना—

"ब्राह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
क्षरत्यनोङ्कृतं ब्रह्म पुरस्ताच्च विशीर्य्यते॥" इति।

ओङ्काराथकारौ ॥ १७ ॥

सू० अ०—ओम् शब्द और अथ शब्द (तुल्य फल वाले हैं)।

उ०— ओङ्कारोच्चारणं स्वाध्यायादा प्रतिज्ञातमेव, तत्तुल्यफलोऽथशब्दोऽपीति सूत्रार्थः। तथा चोक्तम्—

"ओङ्कारश्चाथकारश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठ भित्त्वा विनिर्यातौ तेनेमौ मङ्गलावुभौ॥" इति॥

उ० अ०—वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओम् शब्द का उच्चारण (करना चाहिए) यह कहा ही जा चुका है, अथ शब्द भी उस (ओम् शब्द) के तुल्य फल वाला है-यह (प्रस्तुत) सूत्र का अर्थ है। वैसा कहा भी गया है—"ओङ्कार एवं अथ ये दोनों शब्द सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा के कण्ठ का भेदन करके उससे निकले थे। अतः ये दोनों मङ्गलकारी हैं।"

अ०—ओङ्कारोच्चारणं स्वाध्यायादौ प्रतिज्ञातमेव। तत्तुल्यफलत्वमथशब्दस्य ज्ञापयितुं पुनरोङ्कारग्रहणम्। ओङ्कारफलः अथशब्दोऽपि वक्तव्य इत्यर्थः।

"ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिष्क्रान्तौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥" इति स्मृतिः।

ओङ्कारं वेदेषु ॥ १८ ॥

सू० अ०—वेदों (= वेदाध्ययन के प्रारम्भ) में ओम् शब्द (का उच्चारण करना चाहिए)।

उ०—एवमधस्तनसूत्रेण ओङ्काराथशब्दयोः स्वाध्यायादावविशेषेणोच्चारण-मुक्त्वानेन सूत्रेण व्यवस्था क्रियते—**ओङ्कारं वेदेषु**। प्रयुञ्जीत इति सूत्रशेषः ॥१८॥

उ० अ०—इस प्रकार पूर्ववर्ती सूत्र से वेदाध्ययन के प्रारम्भ में ओम् और अथ शब्दों के उच्चारण को समान रूप (अविशेष = बिना किसी अन्तर के) से कहकर इस सूत्र से व्यवस्था की जाती है—**ओङ्कारं वेदेषु** = वेदों (= वेदाध्ययन के प्रारम्भ) में ओम् शब्द को। उच्चारित करना चाहिए—(सूत्र-पूर्ति के लिए) यह सूत्र में जोड़ना है।

अ०—तयोर्व्यवस्थामाह—ओङ्कारं वेदेषु। प्रयुञ्जीतेति सूत्रशेषः ॥ १८ ॥

अथकारं भाष्येषु ॥ १९ ॥

सू० अ०—भाष्य-ग्रन्थों में अथ शब्द (का उच्चारण करना चाहिए)।

अ०—भाष्येषु ग्रन्थेषु **अथकारम्**। प्रयुञ्जीतेति सूत्रशेषः ॥ १९ ॥

उ० अ०—**भाष्येषु** = भाष्य-ग्रन्थों[क] में; **अथकारम्** = अथ शब्द को। उच्चारित करना चाहिए—(सूत्र-पूर्ति के लिए) यह सूत्र में जोड़ना चाहिए।

अ०—भाष्यग्रन्थेषु अथकारं प्रयुञ्जीत ॥ १९ ॥

प्रयतः ॥ २० ॥

सू० अ०—(पादशुद्धि, आचमन इत्यादि के द्वारा) पवित्र (होकर वेदाध्ययन करना चाहिए)।

उ०—**प्रयतः** शुचिरुच्यते। पादशौचाचमनादिना शुचिरधीयीतेत्यर्थः ॥ २० ॥

उ० अ०—पवित्र (शुचि) को प्रयत कहते हैं। पादशुद्धि, आचमन इत्यादि के द्वारा; (**प्रयतः** =) पवित्र होकर; अध्ययन करना चाहिए—यह अर्थ है।

अ०—पादशौचाचमनादिना प्रयतः शुचिरधीयीत ॥ २० ॥

(क) भाष्य-ग्रन्थों से उन सभी ग्रन्थों का बोध होता है जो लौकिक संस्कृत में लिखे गए हैं अर्थात् वेदव्यतिरिक्त सभी ग्रन्थ भाष्य-ग्रन्थ हैं।

शुचौ ॥ २१ ॥

सू० अ०—पवित्र (स्थान) में (अध्ययन करना चाहिए) ।

उ०—शुचौ = विविक्तदेशेऽधीयीत । उक्तञ्च--

"द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥"

उ० अ०—शुचौ = पवित्र स्थान में; अध्ययन करना चाहिए । कहा भी गया है—"द्विज को अध्ययन के अनुपयुक्त इन दो समयों में प्रयत्नपूर्वक वेदाध्ययन का परित्याग करना चाहिए-(१) स्वाध्याय का स्थान अशुद्ध होने पर (२) स्वयं की अपवित्रता होने पर ।"

अ०—पवित्रदेशे अधीयीत ।

"द्वावेतौ वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः ।
स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥"

इति याज्ञवल्क्योक्तेः ॥ २१ ॥

इष्टम् ॥ २२ ॥

सू० अ०—सुखद (आसन पर बैठकर अध्ययन करना चाहिए) ।

उ०—(इष्टम् =) अभिरुचितम्; आसनमासीनः ॥ २२ ॥

उ० अ०—(इष्टम् =) सुखद; आसन पर बैठ कर (अध्ययन करना चाहिए) ॥

अ०—अभीष्टमासने आसीत ॥ २२ ॥

ऋतुं प्राप्य ॥ २३ ॥

सू० अ०—उपयुक्त ऋतु के आने पर (अध्ययन करना चाहिए) ।

उ०—हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयीत ॥ २३ ॥

उ० अ०—हेमन्त; ऋतुम् = ऋतु को; प्राप्य = प्राप्त करके; रात्रि के चतुर्थ प्रहर में अध्ययन करना चाहिए ।

अ०—हेमन्तमृतुं प्राप्य रात्र्याश्चतुर्थप्रहरेऽधीयीत ॥ २३ ॥

योजनान्न परम् ॥ २४ ॥

सू० अ०—(वेद का अध्ययन करने वाले को) योजन से अधिक नहीं (चलना चाहिए) ।

उ०—अधीयानो योजनात् परमध्वानं न गच्छेत् ॥ २४ ॥

उ० अ०—(अध्ययन करने वाला) अध्ययन-काल में; योजनात् परम् = एक योजन से अधिक दूर; न जावे (न चले) ।

अ०—अधीयानो योजनान्न परमध्वानं गच्छेत् । योजनादूर्ध्वं गच्छन्नाधीयीतेति वा ॥ २४ ॥

भोजनं मधुरं स्निग्धम् ॥ २५ ॥

सू० अ०—मधुर और स्निग्ध भोजन (खाना चाहिए) ।

उ०—(मधुरम =) मधुररसप्रायम्; (स्निग्धम् =) घृतप्रायम्; च (भोजनम् =) अन्नम्; भुञ्जीत ॥ २५ ॥

उ० अ०—(मधुरम् =) मधुर रस से भरपूर; और; (स्निग्धम् =) घी से भरपूर; (भोजनम् =) अन्न को; खाना चाहिए ।

अ०—घृतप्रायं मधुरप्रायं चान्नं भुञ्जीत ॥ २५ ॥

वर्णदोषविवेकार्थम् ॥ २६ ॥

सू० अ०—वर्णों के दोषों के विवेचन के लिए (उपर्युक्त विधानों का पालन करना चाहिए) । [अथवा-वर्णों के दोषों को स्पष्ट रूप से जानने के लिए (व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए)] ।

उ०—(वर्णदोषविवेकार्थम् =) अकारादयो वर्णास्तेषां दोषाः तेषां विवेचनाय नानाकरणाय । तद्यथा—त्रिमात्रिकस्य स्वरस्य द्विमात्रता, द्विमात्रिकस्य मात्राकालता, अनुनासिकस्य स्वरस्यैकदेशरङ्गता । यथा—महाँ इन्द्र (वा० ७।३९) इति । तथा व्यञ्जनानामनेकप्रकारा दोषाः सम्भवन्ति । अयमपि वक्ष्यति—"उष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः" (४।१६४) इति ॥ २६ ॥

उ० अ०—(वर्णदोषविवेकार्थम् =) अकार आदि वर्ण हैं, उनके दोष, उन (वर्ण-दोषों) के विवेचन के लिए = पृथक् करने के लिए । जैसे—तीन मात्रा वाले स्वर का दो मात्रा (काल में उच्चारण), दो मात्रा वाले (स्वर) का एक मात्रा काल (में उच्चारण), अनुनासिक स्वर के (केवल) एक अंश का अनुनासिक (उच्चारण) । जैसे—"महाँ इन्द्रः" में । उसी प्रकार व्यञ्जनों के अनेक प्रकार के

दोष होते हैं। यह (सूत्रकार) भी कहेंगे-"ऊष्म (वर्णों) से वाद में पञ्चम (स्पर्श) होने पर यम करना दोष है।"

अ०—वर्णा अकारादयः, तेषां दोषाः अस्थानजत्वादयः, तद्विवेकाय ॥ २६ ॥

कुत इत्याकाङ्क्षायामाह—

तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः शब्दमयम् ॥ २७ ॥

सू० अ०—वैदिक शब्दराशि तिङन्त, कृदन्त, तद्धित और चार समासों के रूप में अवस्थित है।

उ०—यत्किञ्चिच्छब्दमयमुपलभ्यते त्रयीलक्षणं तत् **तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासाः**। तिङ् खलु आख्यातका भवन्ति पचति, पठतीत्येवमादयः। कृतः—कर्ता, कारक इत्येवमादयः। तद्धिताः—आग्नेयः, सारस्वत इत्येवमादयः। चतुष्प्रकाराः समासाः अव्ययीभाव-तत्पुरुष-द्वन्द्व-बहुव्रीहयः। अव्ययीभावो यथा-समंभूमि, उपरिनाभि। तत्पुरुषो यथा—प्रजापतिः, वृत्रहा। द्वन्द्वो यथा—इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ। बहुव्रीहिर्यथा—शुद्धबालः, सर्वशुद्धवालः ॥ २७ ॥

उ० अ०—वेद के रूप में जो कुछ; **शब्दमयम्** = शब्दराशि; उपलब्ध होती है वह; **तिङ्कृत्तद्धितसमासाः** = तिङन्तः, कृदन्त, तद्धित और चार समासों के रूप में स्थित है। आख्यात तिङन्त होते हैं—पचति, पठति इत्यादि। कृदन्त-कर्ता, कारक इत्यादि। तद्धित—आग्नेय, सारस्वत इत्यादि। चार प्रकार के समास ये हैं—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व और बहुव्रीहि। अव्ययीभाव जैसे—समंभूमि, उपरिनाभि। तत्पुरुष जैसे - प्रजापतिः, वृत्रहा। द्वन्द्व जैसे—इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ। बहुव्रीहि जैसे—शुद्धवालः, सर्वशुद्धवालः।

अ०—यत्किञ्चिच्छब्दजातिरुपलभ्यते त्रयीलक्षणं तत् तिङ्कृत्तद्धितचतुःप्रकारसमासात्मकं भवति। तिङ् खलु "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इत्येवमादि। कृत्—"येषां भागोऽसि" इत्यादि। तद्धितस्तु—"कृष्णग्रीवा आग्नेयाः" इत्येवमादि। चतुःप्रकारसमासाः अव्ययीभाव-तत्पुरुष-द्वन्द्व-बहुव्रीहयः। तत्राव्ययीभावो यथा—"अहरहरप्रत्तयावं रूपम्" इति। तत्पुरुषो यथा—"प्रजापतिश्चरति गर्भे", "वृत्रहा शतक्रतुः"। द्वन्द्वो यथा—"इन्द्राग्नी मित्रावरुणौ"। बहुव्रीहिर्यथा—"शुद्धवालस्सर्वशुद्धवालः" ॥ २७ ॥

तां वाचमोङ्कारं पृच्छामः ॥ २८ ॥

सू० अ०—उस वाणी के विषय में हम ओंकार से पूछते हैं।

उ०—तिङ्कृत्तद्धितचतुष्टयसमासलक्षणां तामित्थम्भूतां वाचमोङ्कारं पृच्छामः। ओङ्कारो वाचः पुत्रः, स पृष्टः सन् स्वाध्यायादावुच्चारणेन स्वां मातरमर्थतो

ग्रन्थतश्च कथयिष्यति । अतः स्वाध्यायादौ प्रणवः कार्यः । द्विकर्मा च पृच्छतिर्धातुः । अतो वाक्शब्दे ओङ्कारशब्दे च द्वितीया, माणवकं पन्थानं पृच्छतीति यथा ॥ २८ ॥

उ० अ०—तिङन्त, कृदन्त, तद्धित और चार समासों के रूप में स्थित; ताम्= उस, इस प्रकार की; **वाचमोङ्कारं पृच्छामः** = वाणी के विषय में ओङ्कार से पूछते हैं। ओङ्कार वाणी का पुत्र है। पूछे जाने पर वह वेदाध्ययन के प्रारम्भ में उच्चारण के द्वारा अपनी माता (वाणी) को अर्थ की दृष्टि से और शब्द (मन्त्र) की दृष्टि से कहेगा। इसलिए वेदाध्ययन (स्वाध्याय) के प्रारम्भ में ओङ्कार का उच्चारण करना चाहिए। 'पृच्छति' धातु द्विकर्मक है। इसलिए वाक् शब्द में और ओङ्कार शब्द में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है, जिस प्रकार 'माणवकं पन्थानं पृच्छति' में (दो शब्दों माणवक, और पथिन् में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है)।

अ०—तां कृत्तद्धितचतुष्टयसमासरूपां वेदवाचमोङ्कारं पृच्छामः। ओङ्कारात् वेदस्वरूपं जानीम इत्यर्थः। ओङ्कारो हि वाचः पुत्रः, स स्वाध्यायादावुच्चारितः सन् स्वां मातरमर्थतो ग्रन्थतश्च कथयिष्यतीति। स्वाध्यायादौ प्रणवो वक्तव्य इत्यभिप्रायः ।२८।

अथ शिक्षाविहिताः ॥ २९ ॥

सू० अ०—अब शिक्षा में विहित (उच्चारण-स्थान, करण और आभ्यन्तर प्रयत्न) (कहे जाते हैं)।

उ०—अथेत्ययं शब्दो विशेषाधिकारार्थः। **शिक्षाविहिताः** स्थानकरणास्य-प्रयत्नादयोऽभिधीयन्ते। इत उत्तरमधिकारद्वयानुवृत्तिर्द्रष्टव्या स्वरसंस्कारानुवृत्तिः शिक्षा-विहितानुवृत्तिश्च ॥ २९ ॥

उ० अ०—अथ—यह शब्द विशेष अधिकार के लिए है। **शिक्षाविहिताः** = शिक्षा में प्रतिपादित, उच्चारण-स्थान, सक्रिय उच्चारणावयव और आभ्यन्तर प्रयत्न कहे जाते हैं। यहाँ से आगे दो अधिकारों की अनुवृत्ति समझनी चाहिए—स्वर-संस्कार की अनुवृत्ति और शिक्षा में विहित की अनुवृत्ति।

अ०—अथशब्दोऽधिकारार्थः, शिक्षाभिहिताः स्थानकरणादयोऽधिक्रियन्त इति। इत उत्तरमधिकारद्वयानुवृत्तिर्द्रष्टव्या स्वरसंस्कारानुवृत्तिः शिक्षाविहितानुवृत्तिश्चेति ॥२९॥

सवनक्रमेणोरःकण्ठभ्रूमध्यानि ॥ ३० ॥

सू० अ०—सवनों के क्रम से उर (छाती), कण्ठ और भ्रू-मध्य (वायु के ये तीन स्थान होते हैं)।

उ०—अधस्तादुक्तं स सङ्घातादीन् प्राप्य वाक्, तस्यास्त्रीणि स्थानानि। ननु कतमानि तानीत्युक्तम्। इह तु शिक्षाप्रक्रमात्तत्पर्यायेणोच्यन्ते—**सवनक्रमेणोरःकण्ठ-**

भ्रूमध्यानि । प्रातस्सवन-माध्यन्दिनसवन-तृतीयसवनक्रमेण उरःकण्ठभ्रूमध्यानि त्रीणि स्थानानि वायोर्भवन्ति ॥ ३० ॥

उ० अ०—पहले (१।९ में) कहा गया है कि वह (वायु) पुरुषप्रयत्न इत्यादि को प्राप्त करके वाणी (हो जाती है), उस (वाणी) के तीन स्थान (होते हैं)। वे (स्थान) कौन हैं—यह (१।१० में) कहा जा चुका है। यहाँ पर तो शिक्षा का प्रारम्भ होने से उन (स्थानों) को दोबारा कहा जाता है—**सवनक्रमेणोरःकण्ठ-भ्रूमध्यानि** = प्रातस्सवन, माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन के क्रम से उर (छाती), कण्ठ और भ्रूमध्य—ये तीन स्थान वायु के होते हैं।

अ०—अधस्तादुक्तं त्रीणि स्थानानीति। तानि स्थानानि अनेन कथ्यन्ते। सवनक्रमेण प्रातस्सवन—माध्यन्दिनसवन—तृतीयसवनक्रमेण उरः—कण्ठ-भ्रूमध्यानीति त्रीणि वायोः स्थानानि भवन्ति ॥ ३० ॥

आयाममार्दवाभिघाताः ॥ ३१ ॥

सू० अ०—(उपर्युक्त स्थानों में) आयाम, मार्दव और अभिघात (शरीर के ये तीन विकार होते हैं)।

उ०—एवमेतेषु स्थानेषु वर्णेषूच्चार्यमाणेषु त्रयो विकाराः शरीरस्य पर्यायेण भवन्ति—**आयाममार्दवाभिघाताः**। आयामो नाम ऊर्ध्वगमनं शरीरस्य। मार्दवो नामाधोगमनं गात्राणाम्। अभिघातस्तिर्यग्गमनं गात्राणाम् ॥ ३१ ॥

उ० अ०—इस प्रकार इन (तीन) स्थानों में वर्णों का उच्चारण होने पर शरीर के तीन विकार क्रम से होते हैं—**आयाम, मार्दव, अभिघात**। आयाम = उच्चारणावयवों (शरीर) का ऊपर जाना। मार्दव = उच्चारणावयवों (गात्रों) का नीचे जाना। अभिघात = उच्चारणावयवों (गात्रों) का तिरछा जाना।

अ०—एवमेतेषु स्थानेषु वर्णेषूच्चार्यमाणेषु त्रयो विकारा आयाममार्दवा-भिघाताः शरीरस्य भवन्ति। आयामो नाम शरीरस्योर्ध्वगमनम्, मार्दवो नामाधोगमनम्, अभिघातस्तिर्यग्गमनम् ॥ ३१ ॥

उच्चनीचविशेषः ॥ ३२ ॥

सू० अ०—उच्च और नीच के मिश्रण से (स्वरित) निष्पन्न होता है।

उ०—योऽयं नामाभिघातः स्वरितः स **उच्चनीचविशेषः** उच्चनीचाभ्यामभि-निवर्त्यते। एवं शरीरस्य प्रयत्नेन ये निवर्त्यन्ते तेषामुपरिष्टात् संज्ञां वक्ष्यति "उच्चैरुदात्तः" (१।१०८) इत्येवमादिना ॥ ३२ ॥

उ० अ०—जो यह अभिघात स्वरूप स्वरित होता है वह; **उच्चनीचविशेषः**= उच्च और नीच से निष्पन्न होता है। इस प्रकार शरीर के प्रयत्न से जो निष्पन्न होते हैं (सूत्रकार) उनकी संज्ञा आगे "उच्च ध्वनि से उच्चारित अक्षर उदात्त कहलाता है" इत्यादि से बतलायेंगे।

अ०—अभिघातः उक्तः, स उच्चनीचविशेषः। उच्चनीचाभ्यामभिनिर्वर्त्यत इत्यर्थः॥ ३२॥

अथाख्याः समाम्नायाधिकाः प्राग्रिफितात्॥ ३३॥

सू० अ०—अब वर्णसमाम्नाय में कथित संज्ञाओं के अतिरिक्त संज्ञाओं का कथन रिफित (१।१६०) से पूर्व तक करते हैं।

उ०—अथशब्दो मङ्गलार्थः। संज्ञाः **समाम्नायाधिकाः**। वर्णसमाम्नायं वक्ष्यति—"अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः" (८।१) इति, तस्मादधिकाः। **प्राग्रिफितात्** रिफितसंशब्दनात्प्राक्, वक्ष्यति—"विसर्जनीयो रिफितः" (१।१६०) इति, तस्मात्प्राक्। उपलक्षणार्थमेतत्। परिभाषाप्यत्र भविष्यति। तद्यथा—"ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतौ प्रतीयात्" (१।६३), "प्रथमग्रहणे वर्गम्" (१।६४) इति॥ ३३॥

उ० अ०—अथ शब्द मङ्गल के लिए है। **समाम्नायाधिकाः** = समाम्नाय से अतिरिक्त; संज्ञा। (सूत्रकार) वर्णसमाम्नाय को कहेंगे—"अब वर्ण-माला को पूर्ण रूपेण कहेंगे", उससे अतिरिक्त। **प्राग्रिफितात्**=रिफित के विधान से पहले; (सूत्रकार) कहेंगे—"अधोलिखित स्थलों में विसर्जनीय रिफित संज्ञक है" उससे पहले तक। यह (सूत्र) उपलक्षण के लिए है। यहाँ पर परिभाषाओं का भी विधान किया जायेगा।[क] जैसे "ह्रस्व स्वर का ग्रहण होने पर दीर्घ और प्लुत स्वरों को जानना चाहिए", "वर्ग के प्रथम वर्ण का ग्रहण होने पर वर्ग को जानना चाहिए"।

अ०—अथशब्दो मङ्गलार्थः "मङ्गलवचनानि शास्त्राणि" इति वचनात्। अत ऊर्ध्वं प्राग्रिफितात् "विसर्जनीयो रिफितः" इत्यस्मात् प्राक् आख्याः संज्ञाः उच्यन्ते। कीदृश्यः? समाम्नायाधिकाः, समाम्नायं वक्ष्यति—"अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः" इति, तस्मादधिकाः। आख्याशब्दस्तु उपलक्षकः। तेनात्र परिभाषा अपि मध्ये उच्यन्ते॥ ३३॥

(क) तात्पर्य यह है कि यहाँ से लेकर १।१६० तक संज्ञाओं के अतिरिक्त परिभाषाओं का भी विधान किया जायेगा।

उपदिष्टा वर्णाः ॥ ३४ ॥

सू० अ०—वर्ण कहे गए हैं।

उ०—वर्णसमाम्नाये; (उपदिष्टा. =) कथिताः; वर्णाः। तद्यथा—"किति-खितिगितिघितिङिति कवर्गः" (८।८)। अथवा ये पदेषूपदिष्टा वर्णास्त एव प्रत्येतव्याः। अन्यद्वचनाद्भविष्यति। तद्यथा—"इषे त्वा" (वा० १।१)। अत्र संहितायामपि न वर्णान्यत्वम्। वचनात्संहितायां विकारा भविष्यन्ति, तांस्तत्रैव वक्ष्यामः। अथवा पदेषु संख्योपदिष्टा वर्णाः कर्त्तव्याः। तद्यथा—"इषे" त्रिवर्णं पदम्, "त्वा" त्रिवर्णं पदम्, "ऊर्ज्जे" (वा० १।१) पञ्चवर्णं पदम्। उक्तं च—

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा तत्प्रयोगार्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥" इति॥

उ० अ०—वर्ण-समाम्नाय में; वर्णाः = वर्ण; (उपदिष्टाः) कहे गए हैं। जैसे—"क, ख्, ग्, घ्, ङ्—कवर्ग।" अथवा पदों में जो वर्ण उपदिष्ट हैं उन्हें ही जानना चाहिए। अन्य (वर्ण) विधान से होगा। जैसे—"इषे त्वा" (में)। यहाँ पर संहिता में भी अन्य वर्ण नहीं हैं। विधान से संहिता में विकार होंगे, उनको वहीं पर कहेंगे। अथवा पदों में संख्या की दृष्टि से वर्णों का उच्चारण करना चाहिए। जैसे—"इषे" (यह) तीन वर्णों वाला पद है, "त्वा" (यह) तीन वर्णों वाला पद है; "ऊर्ज्जे" (यह) पाँच वर्णों वाला पद है। कहा भी गया है—"मन्त्र को जानने की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को प्रत्येक स्थल पर स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा विनियोग और अर्थ को जानना चाहिये।"

अ०—अष्टमाध्याये वर्णा उपदिष्टा एव। अतोऽत्र नोच्यन्ते। यद्वा पदेषु सङ्ख्योपदिष्टा वर्णा वेदितव्याः। तद्यथा—"इषे" इकार-षकार-एकाराः इति त्रिवर्णं पदम्। उक्तं च—

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा तत्प्रयोगार्थ एव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥ इति॥

अन्त्याद्वर्णात्पूर्व उपधा ॥ ३५ ॥

सू० अ०—अन्तिम वर्ण से पहले वाला (वर्ण) उपधा (कहलाता है)।

उ०—अन्ते भवोऽन्त्यः। वर्णः अकारादिः। अन्त्याद्वर्णात्पूर्वः; (उपधा=) उपधासंज्ञः; भवति। तद्यथा—"महान् इन्द्रः" (वा०७।३९) इति। अत्र नकारात्पूर्व आकार उपधासंज्ञकः। संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" (३।१३०) इति॥ ३५॥

उ० अ०—अन्त में होने वाला = अन्त्य। अकार इत्यादि वर्ण हैं। अन्त्याद्वर्णात्पूर्वः = अन्तिम वर्ण से पूर्ववर्ती (वर्ण); (उपधा =) उपधा संज्ञक; होता है। जैसे—"महान् इन्द्रः"—यहाँ नकार से पूर्वपर्ती आकार उपधा संज्ञक है। संज्ञा करने में प्रयोजन को (सूत्रकार) कहेंगे—"अन्तस्थामन्तस्था" (४।१०) सूत्र के पूर्व तक उपधा स्वर को अनुनासिक होने का अधिकार किया जाता है"।

अ०—अन्ते भवः अन्त्यः। वर्णः अकारादिः। तस्मात्पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञकः स्यात्। यथा-"महान् इन्द्रः" इत्यत्र नकारात्पूर्व आकार उपधासंज्ञः। संज्ञाप्रयोजनमुत्तरत्र भविष्यति "अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" इत्यादौ। एवमन्यत्रापि संज्ञाकरणे प्रयोजनं द्रष्टव्यम् ॥ ३५ ॥

निर्देश इतिना ॥ ३६ ॥

सू० अ०—(वर्णों का) निर्देश इति के द्वारा (किया जाता है)।

उ०—वर्णानां निर्देश इतिना भवति। तद्यथा—"कितिखितिगितिघितिङिति कवर्गः" (८।८) इति ॥ ३६ ॥

उ० अ०—वर्णों का निर्देश; इतिना = इति के द्वारा; होता है जैसे—"क् (किति), ख् (खिति), ग् (गिति), घ् (घिति), ङ् (ङिति)—कवर्ग हैं"।

अ०—वर्णानां निर्देश इतिशब्देन स्यात्। यथा—"कितिखितिगितिघितिङिति कवर्गः" इति ॥ ३६ ॥

कारेण च ॥ ३७ ॥

सू० अ०—(वर्णों का निर्देश) कार के द्वारा भी (किया जाता है)।

उ०—(कारेण =) कारप्रत्ययेन; च वर्णानां निर्देशो भवति। तद्यथा—"यकाराकारयोर्जास्पत्ये पदे" (४।४२) इति ॥ ३७ ॥

उ० अ०—(कारेण =) कार प्रत्यय के द्वारा; च = भी; वर्णों का निर्देश होता है। जैसे—"जास्पत्य पद में यकार और आकार का लोप हो गया है"।

अ०—चकारो वाशब्दार्थे। कारप्रत्ययेन वा वर्णनिर्देशः स्यात्। यथा—"यकाराकारयोर्जास्पत्ये पदे" इति ॥ ३७ ॥

अव्यवहितेन व्यञ्जनस्य ॥ ३८ ॥

सू० अ०—अकार से व्यवहित (कार प्रत्यय के द्वारा) व्यञ्जन का (निर्देश होता है)।

उ०—(अव्यवहितेन =) अकारव्यवहितेन; कारप्रत्ययेन व्यञ्जनस्य निर्देशो भवति। यथा–'ककारपकारयोः सकारम्" (३।२१) इति। व्यञ्जनस्येति किम्? अकारः, इकारः, उकारः, इति ॥ ३८ ॥

उ० अ०—(अव्यवहितेन =) अकार से व्यवहित; कार प्रत्यय के द्वारा; व्यञ्जनस्य = व्यञ्जन का; निर्देश होता है। जैसे–"ककार और पकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)"। व्यञ्जन का-यह क्यों (कहा)? अकार, इकार, उकार।[क]

अ०—अकारेण व्यवहितः अव्यवहितः। अकारसहितेन कारप्रत्ययेन व्यञ्जनस्य निर्देशः स्यात्। यथा–"ककारपकारयोः सकारम्" इति। व्यञ्जनस्येति किम्? अकारः, इकारः, उकारः, इत्यत्र मा भूदिति ॥ ३८ ॥

र एफेन च ॥ ३९ ॥

सू० अ०—र (रेफ) एफ के द्वारा (निर्दिष्ट होता है)।

उ०—रः = रेफः; एफेन च निर्दिश्यते। यथा–"रेफं स्वरघौ" (४।३७) इति। चशब्दादितिना च। यथा–"यितिरितिलितिविति" (८।१५) ॥ ३९ ॥

उ० अ०—रः = रेफ; एफेन च = एफ के द्वारा भी; निर्दिष्ट होता है। जैसे–"स्वर और घि (संज्ञक 'व्यञ्जन') बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)।" (सूत्रोक्त) च शब्द से (यह सूचित होता है कि) इति के द्वारा भी (रेफ निर्दिष्ट होता है)। जैसे–"(ये अन्तःस्था हैं) य्, र् (रिति) ल्, व्" ॥

अ०—रकारस्य एफप्रत्ययेन निर्देशः स्यात्। यथा–"रेफं स्वरघौ" इति। चशब्दात् इतिना च। यथा–"यिति" इत्यादि ॥ ३९ ॥

(क) १।३७ में यह बतलाया गया है कि वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए उस-उस वर्ण के बाद में 'कार' शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। प्रस्तुत सूत्र में यह बतलाया गया है कि जब 'कार' शब्द का प्रयोग करके किसी व्यञ्जन को निर्दिष्ट करना होता है तब उस व्यञ्जन और कार के मध्य में एक अतिरिक्त अकार (अ) का उच्चारण किया जाता है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्वर-वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए केवल कार शब्द को जोड़ दिया जाता है, जबकि व्यञ्जन-वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए 'अ' सहित 'कार' को जोड़ा जाता है। जैसे 'क' को ककार = क् + अ + कार के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है।

स्वरैरपि ॥ ४० ॥

सू० अ०—स्वरों के द्वारा भी (व्यञ्जनों का निर्देश होता है)।

उ०—**स्वरैरपि** व्यञ्जनानां निर्देशो भवति। यथा–"नुः" (३।१३३), "चछयोः शम्" (३।१३४), "तथयोः सम्" (३।१३५) इति ॥ ४० ॥

उ० अ०—स्वरैरपि = स्वरों के द्वारा भी; व्यञ्जनों का निर्देश होता है। जैसे—"(अधोलिखित स्थलों में) नकार (नु) (का अधिकार चलता है)", "चकार (च) और छकार (छ) बाद में होने पर (नकार) शकार (श) (हो जाता है)", "तकार (त) और थकार (थ) बाद में होने पर (नकार) सकार (स) (हो जाता है)" ॥

अ०—स्वरैरपि व्यञ्जनस्य निर्देशः स्यात्। यथा–"नुः", "चछयोः शम्" ॥ ४० ॥

नानुस्वारयमविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः ॥ ४१ ॥

सू० अ०—अनुस्वार, यम, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय (कार प्रत्यय के द्वारा) नहीं (निर्दिष्ट होते हैं)।

उ०—वक्ष्यति "अं इत्यनुस्वारः" (८।२१) तथा–"कुं खुं गुं घुं इति यमाः" (८।२४) तथा–"अः इति विसर्जनीयः" (८।२२) तथा–"ᳵक इति जिह्वामूलीयः" (८।१९) ᳶप इत्युपध्मानीयः" (८।२०) एते न कारप्रत्ययेन निर्देष्टव्याः। यथा–"अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" (४।१) इति अनुस्वारस्य स्वशब्देनैव निर्देशः। तथा–"ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः" (४।१६४) इति यमस्य स्वशब्देनैवोपादानम्। तथा विसर्जनीयस्य–"विसर्जनीयः" (३।६) इति। तथा–"जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः" (३।१२) इति ॥ ४१ ॥

उ० अ०—(सूत्रकार) कहेंगे–"अं–यह अनुस्वार है"। उसी प्रकार–"कुं, खुं, गुं, घुं – ये यम हैं"! उसी प्रकार–"अः–विसर्जनीय है। उसी प्रकार "ᳵक–यह जिह्वामूलीय है। "ᳶप–यह उपध्मानीय है"। इनका निर्देश कार प्रत्यय के द्वारा नहीं करना चाहिए।[क] जैसे—"रेफ और ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर मकार

(क) १।३७ में यह विधान किया जा चुका है कि वर्ण को निर्दिष्ट करने के लिए वर्ण के बाद में कार शब्द जोड़ा जाता है। अनुस्वार, यम, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय भी वर्ण हैं। अत एव १।३७ के अनुसार इनके बाद में भी कार शब्द जोड़ने का प्रसङ्ग उपस्थित होता है किन्तु प्रस्तुत सूत्र से इनके बाद में कार की प्राप्ति का निषेध कर दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र (१।४१) १।३७ का अपवाद है।

अनुस्वार (हो जाता है)" यहाँ अनुस्वार का निर्देश अपने शब्द (= अनुस्वार) के द्वारा हो (किया गया है)। उसी प्रकार 'ऊष्म (वर्णों) से बाद में पञ्चम (स्पर्श) होने पर यम करना दोष है" यहाँ यम का ग्रहण अपने शब्द (= यम) के द्वारा ही हुआ है। उसी प्रकार "(अव) विसर्जनीय (की संधि का अधिकार किया जाता है)" यहाँ विसर्जनीय का (निर्देश विसर्जनीय के द्वारा ही हुआ है)। उसी प्रकार "(विसर्जनीय) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (हो जाता है), शाकटायन (के मत से"—यहाँ (जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का निर्देश जिह्वामूलीय और उपध्मानीय शब्दों के द्वारा ही हुआ है)।

अ०—"अं इत्यनुस्वारः", "अः इति विसर्जनीयः", कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः", "ᳵक इति जिह्वामूलीयः", "ᳶप इत्युपध्मानीयः" एते कारप्रत्ययादिना न निर्दिष्टाः किन्तु स्वशब्दैरेव निर्देष्टव्याः। यथा-"अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" इति स्वशब्देनैव निर्देशः। तथा "ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः" इति यमशब्देन निर्देशः। तथा विसर्जनीयस्य—"विसर्जनीयः" इति, "जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः" इति ॥ ४१ ॥

दन्त्यस्य मूर्धन्यापत्तिर्नतिः ॥ ४२ ॥

सू० अ०—दन्त्य (वर्ण) का मूर्धन्य (वर्ण) होना नति (कहलाता है)।

उ०—दन्त्यस्य; (मूर्धन्यापत्तिः =) मूर्धन्यभावः; नतिरुच्यते। तद्यथा—"परिसिञ्चन्ति = परिषिञ्चन्ति" (वा० २०।२८)। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"स्विति चानतौ" (५।१४) इत्यादि ॥ ४२ ॥

उ० अ०—दन्त्यस्य = दन्त्य (वर्ण) का; (मूर्धन्यापत्तिः =) मूर्धन्य (वर्ण) होना; नतिः = मूर्धन्यभाव; कहलाता है। जैसे—"परि सिञ्चति = परिषिञ्चति"। संज्ञा करने में प्रयोजन—"मूर्धन्य न बना हुआ सु—यह (विभक्ति-प्रत्यय) भी (बाद में हो तो पृथक्करण होता है)" इत्यादि।

अ०—दन्त्यस्य मूर्धन्यभावो नतिसंज्ञः स्यात् यथा—'परि सिञ्चन्ति = परिषिञ्चन्ति" ॥ ४२ ॥

समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः ॥ ४३ ॥

सू० अ०—तुल्य उच्चारण-स्थान, सक्रिय उच्चारणावयव (करण) और आभ्यन्तर प्रयत्न (मुखप्रयत्न) वाला (वर्ण) सवर्ण (कहलाता है)।

उ०—समानमेकं स्थानं करणमास्यप्रयत्नश्च यस्य स एवमुच्यते। यो यस्य वर्णस्य; (समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः =) समानस्थानः समानकरणः समानमुख-

प्रयत्नः; स तस्य; (**सवर्णः** =) सवर्णसंज्ञा, भवति। तद्यथा—"प्र अर्पयतु=प्रार्पयतु" (वा०१।१)। "तव अयं=तवायं सोमः" (वा०२६।२३)। "स्रुचि इव = स्रुचीव घृतम्" (वा०२०।७९)। "अभि इन्धताम्=अभीन्धताम् मुखे (वा०११।६१)"। "अनु उज्जेषम्= अनूज्जेषं वाजस्य" (वा० २।१५)। "अनु उज्जायताम् = अनूज्जायताम्"। ऋकार-ऌकारयोरपि सवर्णदीर्घत्वमेव भवति यद्युदाहरणं छन्दसि लभ्यते। संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"सिं सवर्णे दीर्घम्" (४।५२) इति ॥ ४३ ॥

उ० अ०—समान = एक है उच्चारण-स्थान, सक्रिय उच्चारणावयव और आभ्यन्तर प्रयत्न जिसका वह इस प्रकार (= सवर्ण) कहलाता है। जो (वर्ण) जिस वर्ण का; (**समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः** =) समान उच्चारण-स्थान वाला, समान सक्रिय उच्चारणावयव वाला और समान आभ्यन्तर प्रयत्न (मुखप्रयत्न) वाला (होता है) वह उसका; (**सवर्णः**=) सवर्ण संज्ञक; होता है। [क] जैसे—"प्र अर्पयतु= प्रार्पयतु"। "तव अयम् = तवायं सोमः"। "स्रुचि इव = स्रुचीव घृतम्"। "अभि इन्धताम् = अभीन्धतां मुखे"। "अनु उज्जेषम्=अनूज्जेषं वाजस्य"। "अनु उज्जायताम्= अनूज्जायताम्"। [ख] ऋकार और ऌकार का भी सवर्ण दीर्घत्व होता यदि वेद में उदाहरण मिलता। (सूत्रकार) संज्ञा करने में प्रयोजन को कहेंगे—"सवर्ण स्वर बाद में होने पर प्रथम आठ स्वर (सिम्=अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ,) दीर्घ हो जाते हैं।"

अ०—समानमेकं स्थानं करणमास्यप्रयत्नश्च यस्य सः सवर्णसंज्ञः स्यात्। यथा—"प्र अर्पयतु=प्रार्पयतु" इत्यादि। प्रयोजनं तु—"सिं सवर्णे दीर्घम्" इति ॥ ४३ ॥

सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम् ॥ ४४ ॥

सू० अ०—(वर्णमाला के) आदि में (विद्यमान) आठ स्वरों की

(क) तै० प्रा० १।३ में विधान किया गया है—द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे अर्थात् समानाक्षरों में दो दो ह्रस्व और दीर्घ स्वर वर्ण सवर्ण संज्ञक होते हैं। इस सूत्र पर त्रि० कहता है-तेषु समानाक्षरेषु द्वे द्वे ह्रस्वे द्वे द्वे दीर्घे वा ह्रस्वदीर्घे वा दीर्घह्रस्वे वा अक्षरे परस्परं सवर्णसंज्ञे भवतः अर्थात् समानाक्षरों में दो दो ह्रस्व अथवा दो दो दीर्घ अथवा ह्रस्व और दीर्घ अथवा दीर्घ और ह्रस्व अक्षर परस्पर सवर्ण-संज्ञक हैं। इससे सिद्ध होता है कि अ और अ, आ और आ, अ और आ तथा आ और अ परस्पर सवर्ण हैं। इसी प्रकार इ और उ के विषय में भी समझना चाहिए। (ख) सवर्ण संज्ञक होने के कारण अ और अ मिलकर आ, इ और इ मिलकर ई तथा उ और उ मिलकर ऊ हो गए हैं। पदान्तीय ऋ तथा पदादि ऋ के ॠ होने का उदाहरण संहिता में नहीं उपलब्ध होता है।

सिम् (संज्ञा है) । (अथवा स्वरों के अन्तर्गत आदि में विद्यमान आठ स्वर सिम् संज्ञक हैं) ।

उ०—वर्णसमाम्नायस्य; (**आदितः**=) आदौ; (**अष्टौ**=) अष्टानाम्; **स्वराणां सिम्** संज्ञा भवति । अष्टाविति विभक्तिव्यत्ययेन षष्ठीबहुवचनं द्रष्टव्यम्, स्वराणामिति सामानाधिकरण्यात् । यथा अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ । वर्णसमाम्नाये त्रिमात्रा अपि वक्ष्यन्ते । इह सन्धौ तु तेषां ग्रहणं न सम्भवति प्रयोजनाभावात् । त्रिमात्रान् हि स्वयमेव वक्ष्यति—"सर्वमग्ना३इ लाजीं३ञ्छाची३निति त्रिमात्राणि च" (२।५०) इत्यादिना । सवर्णदीर्घत्वं च संज्ञाकरणे प्रयोजनम् । न च सवर्णदीर्घत्वमुक्तानां प्लुतानां च सम्भवति, अतः प्लुता न गृह्यन्ते । संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"सिं सवर्णे दीर्घम्" इति ॥ ४४ ॥

उ० अ०—वर्ण-माला के; (**आदितः** =) आदि में; (**अष्टौ** =) आठ; **स्वराणाम्** = स्वरों की; **सिम्** संज्ञा होती है । अष्टौ—इसे विभक्ति-परिवर्तन के द्वारा षष्ठी (विभक्ति) का बहुवचन समझना चाहिये, क्योंकि (अष्टौ का) स्वराणाम् के साथ सामानाधिकरण्य [क] है । जैसे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ । (अष्टम अध्याय में उल्लिखित) वर्णमाला में तीन मात्राओं वाले (वर्ण) (=प्लुत) भी (सूत्रकार के द्वारा) कहे जायेंगे । प्रयोजन का अभाव होने से यहाँ संधि में उनका ग्रहण नहीं होता है । "अग्ना३ इ, लाजी३न् और शाची३न् सर्वोदात्त (होते हैं) और (इनमें तीन अक्षर) तीन-तीन मात्राओ वाले (होते हैं)" इत्यादि के द्वारा तीन मात्राओं वाले (वर्णों) (= प्लुतों) को (सूत्रकार) स्वयं ही कहेंगे । संज्ञा करने में सवर्णदीर्घत्व ही प्रयोजन है । और (ऊपर) कहे गये प्लुत (वर्णों) का सवर्णदीर्घत्व नहीं होता है, अतः (यहाँ) प्लुत (वर्ण) ग्रहण नहीं किये जाते हैं । संज्ञा करने में (सूत्रकार) प्रयोजन कहेंगे "सवर्ण (स्वर) बाद में, होने पर प्रथम आठ स्वर (सिम् = अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ) दीर्घ (हो जाते हैं) ।

अ०—वर्णसमाम्नायस्यादौ अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ इत्येतेषामष्टानां स्वराणां सिमिति संज्ञा स्यात् । अष्टावित्यत्र विभक्तिव्यत्ययेन षष्ठीबहुवचनं द्रष्टव्यम्, स्वराणामिति सामानाधिकरण्यात् । स्वराणां मध्ये ये आदित अष्टौ स्वराः ते सिं संज्ञाः स्युः । समाम्नाये त्रिमात्रा अपि वक्ष्यन्ते । इह तु न ते गृह्यन्ते, प्रयोजनाभावात् ॥ ४४ ॥

(क) सामानाधिकरण्य का शाब्दिक अर्थ है—समान (एक) अधिकरण (स्थान, आश्रय) में होने की अवस्था । समान (एक) अर्थ के अभिधायक अथवा समान विभक्ति वाले पदों के लिए सामानाधिकरण्य शब्द का प्रयोग होता है । वैयाकरण-भूषणसारदर्पण में कहा गया है—"पदयोरेकार्थाभिधायित्वं समानविभक्तिकत्वं वा सामानाधिकरण्यम् । यथा नीलो घटः इत्यादौ नीलपदघटपदयोः सामानाधिकरण्यम् ।

सन्ध्यक्षरं परम् ॥ ४५ ॥

सू० अ०—परवर्ती (स्वर) सन्ध्यक्षर (कहलाते हैं) ।

उ०—स्वराणामित्यनुवर्त्तते । स्वराणां यत्; परम् = अन्त्यम्; अक्षरं तत्; (सन्ध्यक्षरम्=) सन्ध्यक्षरसंज्ञम्; भवति । सन्ध्यक्षरमिति जातावेकवचनम् । यथा—पक्वो यव इति । सन्ध्यक्षराणि पराणीत्यर्थः । तानि चत्वारि द्विमात्राणि गृह्यन्ते न प्लुतान्यपि प्रयोजनाभावात् । प्रयोजनार्थं च संज्ञापरिभाषाः क्रियन्ते । अतो द्विमात्राण्येव गृह्यन्ते, न सर्वाणीति । वर्णसमाम्नाये तु सर्वेषां वर्णानां पाठो युक्तरूप एव । तत्र हि एतावन्तो वर्णाः सम्भवन्तीत्येतदेव ख्याप्यते । अतस्तत्र सर्वेषां पाठो युक्तरूप एवेत्यदोषः । इह तु कार्यवन्त एवोपदिश्यन्ते । तद्यथा—ए ऐ ओ औ । संज्ञायाः प्रयोजनम्—"सन्ध्यक्षरमयवायावम्" (४।४८) इति ॥ ४५ ॥

उ० अ०—स्वरों की (अथवा 'स्वरों के मध्य में') इसकी (१।४४ से यहाँ) अनुवृत्ति हो रही है । स्वरों के मध्य में जो; परम् = परवर्ती = अन्त्य; अक्षर है वह; (सन्ध्यक्षरम् =) सन्ध्यक्षर संज्ञक; होता है । सन्ध्यक्षर-यहाँ जाति में एक वचन है । जैसे—'पका हुआ जौ' में । परवर्ती (स्वर) सन्ध्यक्षर हैं—यह अर्थ है । (यहाँ) दो मात्राओं वाले (स्वरों) (=दीर्घ स्वरों) का ही ग्रहण होता है, प्रयोजन का अभाव होने से प्लुत (स्वरों) का नहीं । प्रयोजन के लिए ही संज्ञा और परिभाषा की जाती हैं । इसलिए दो मात्राओं वाले (स्वरों) (दीर्घ स्वरों) का ही ग्रहण होता है, सभी (परवर्ती स्वरों) का नहीं । वर्णमाला (वर्णसमाम्नाय= अष्टम अध्याय) में तो सभी वर्णों का पाठ उचित ही है । क्योंकि वहाँ 'इतने वर्ण होते हैं' यही बतलाया जाता है । इसलिए वहाँ सभी (वर्णों) का पाठ उचित है, (ऐसा करने में कोई) दोष नहीं है । यहाँ तो उन्हीं (वर्णों) का उपदेश किया जाता है, जिनसे किसी कार्य (प्रयोजन) की सिद्धि होती है । जैसे—ए, ऐ, ओ, औ । संज्ञा का प्रयोजनम्—"सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) अय्, अव्, आय् और आव् (हो जाते हैं)" ॥

अ०—अष्टम्यः यत् परं ए ऐ ओ औ इत्येतच्चतुष्टयं संध्यक्षरसंज्ञं स्यात् । अत्रापि न त्रिमात्रग्रहणम्, प्रयोजनाभावात् । संज्ञाप्रयोजनम्—"सन्ध्यक्षरमयवायावम्" इति ॥४५॥

अकण्ठ्यो भावी ॥ ४६ ॥

सू० अ०—कण्ठ्य (अ, आ) से अन्य (स्वर) भावी (कहलाते हैं) ।

उ०—स्वराणामित्येव । (अकण्ठ्यः =) कण्ठ्यौ अकाराकारौ वर्जयित्वा; स्वराणां भाविसंज्ञा भवति । तद्यथा-इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ । संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"भाव्युपधश्च रिफिद्विसर्जनीयः" (४।३५) इति ।

उ० अ०—'स्वरों की'-इसकी ही (अनुवृत्ति हो रही है)। (अकण्ठ्यः =) कण्ठ्य = अकार और आकार को छोड़कर (अन्य) स्वरों की; (भावी =) भावी संज्ञा होती है। जैसे—इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ। संज्ञा करने में प्रयोजन को (सूत्रकार) कहेंगे-"अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय) और रिफित विसर्जनीय (इन दोनों को परवर्ती सूत्रों में समझना चाहिए)"।

अ०—स्वरप्रकरणान्नान्यो गृह्यते। कण्ठे भवः कण्ठ्यः अकारः, कण्ठ्यवर्जिताः स्वराः भाविसंज्ञाः स्युः। यथा—इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ए ऐ, ओ औ इति ॥ ४६ ।

व्यञ्जनं कादि ॥ ४७ ॥

सू० अ०—ककार से प्रारम्भ होने वाले (वर्ण) व्यञ्जन (कहलाते हैं)।

उ०—(कादि =) ककारादि; अनुस्वारान्तं यद्वर्णजातं; तत्; व्यञ्जनम् = व्यञ्जनसंज्ञम्; भवति। "कितिखितिगितिघितिङिति" (८।८) इत्यादि "अं इत्यनुस्वारः" (८।२१) इत्येतदन्तम्। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"व्यञ्जनमर्धमात्रा" (१।५९) इत्यादि ।४७।

उ० अ०—(कादि=) ककार से प्रारम्भ होने वाला और अनुस्वार पर समाप्त होने वाला जो वर्ण-समूह है वह (व्यञ्जनम्=) व्यञ्जन संज्ञक है। "क्, ख्, ग्, घ्, ङ्—कवर्ग" यहाँ से प्रारम्भ होने वाला और "अं अनुस्वार है" यहाँ पर समाप्त होने वाला (वर्ण-समूह)। संज्ञा करने में प्रयोजन— "व्यञ्जन का काल आधी मात्रा है" इत्यादि।

अ०—ककारादि अनुस्वारान्तवर्णजातं व्यञ्जनसंज्ञं स्यात् ॥ ४७ ॥

अनन्तरं संयोगः ॥ ४८ ॥

सू० अ०—(स्वर के) व्यवधान से रहित (व्यञ्जन) संयोग (कहलाते हैं)। (अथवा व्यवधानरहित व्यञ्जन-वर्णों का मेल संयोग कहलाता है)।

उ०—अनन्तरम् = अव्यवहितम्; व्यञ्जनं व्यञ्जनेन सह; (संयोगः =) संयोगसंज्ञम्; भवति। तद्यथा—पक्क्वम्—कितिकितिविति। अश्वः—शितिशितिविति। संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र" (१।१०१) इति ।४८।

उ० अ०—अनन्तरम् = अव्यवहित; व्यञ्जन, व्यञ्जन के साथ; (संयोगः=) संयोग संज्ञक; होता है। [क] जैसे—पक्क्वम्—ककार, ककार और वकार (संयोग हैं)।

(क) प्रस्तुत सूत्र का तथा अनेक स्थलों पर उवट-भाष्य का अध्ययन करने से सूत्र का प्रथम अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है किन्तु आधुनिक पाठक द्वितीय अर्थ को सरलता से समझता है और उसी को ग्राह्य मानता है।

अश्श्वः—शकार, षकार और वकार (संयोग है) । संज्ञा करने में प्रयोजन को (सूत्रकार) कहेंगे—"स्वर से बाद में स्थित संयोग का आदि (= प्रथम व्यञ्जन) सर्वत्र दो बार उच्चारित होता है ।"

अ०—स्वरेण अव्यवहितं व्यञ्जनं व्यञ्जनद्वयादिना संयोगसंज्ञं स्यात् । यथा—"स्वात्मन्" इत्यादि ॥ ४८ ॥

स्पर्शेष्वेव संख्या ॥ ४९ ॥

सू० अ०—स्पर्श (वर्णों) में ही संख्या (जाननी चाहिए) ।

उ०—ककारादयः पञ्चवर्गाः पञ्चवर्णाः समाम्नाये स्पर्शसंज्ञा उक्ताः । तेषु; (स्पर्शेष्वेव =) वर्गेषु; संख्या ज्ञातव्या । वक्ष्यति-"असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य" (४।१२२); "पञ्चमे पञ्चमम्" (४।१२३)इति । परिभाषासूत्रमेतत् ॥ ४९ ॥

उ० अ०—ककार से प्रारम्भ होने वाले और पाँच-पाँच वर्णों वाले पाँच वर्गों को वर्णमाला में स्पर्श संज्ञक कहा गया है । उन; (स्पर्शेष्वेव = स्पर्शों में ही =) वर्गों में; संख्या को जानना चाहिये । (सूत्रकार) कहेंगे—"असमान (भिन्न) उच्चारण स्थान वाला मुत् (संज्ञक वर्ण) बाद में होने पर (पञ्चम से अन्य स्पर्श) द्वितीय (हो जाता है)—शौनक के (मत से)", "पञ्चम बाद में होने पर (पंञ्चम से अन्य स्पर्श) पञ्चम (हो जाता है)" । यह परिभाषा-सूत्र है ।

अ०—कादयो मावसानाः स्पर्शाः । तेष्वेव संख्या ज्ञातव्या । वक्ष्यति—"असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य", "पञ्चमे पञ्चमम्" इत्यादौ ॥ ४९ ॥

द्वौ द्वौ प्रथमौ जित् ॥ ५० ॥

सू० अ०—(प्रत्येक वर्ग में) प्रथम दो-दो (वर्ण) जित् (कहलाते हैं) ।

उ०—"स्पर्शेष्वेव संख्या" (१।४९) इति परिभाषितमेव । अतस्तस्याः परिभाषाया इहोपस्थानम् । द्वौ द्वौ प्रथमौ वर्णौ वर्गे वर्गे जित्संज्ञौ । यथा—क ख,च छ, ट, ठ, त थ, प फ । संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"लुङ् मुदि जित्परः" (३।१३) इति ॥५०॥

उ० अ०—"स्पर्श (वर्णों) में ही संख्या (को जानना चाहिए)"—यह परिभाषा की ही जा चुकी है । इसलिए उस परिभाषा को यहाँ उपस्थित किया गया

(क) प्रथम इत्यादि के द्वारा ककारादि स्पर्शों का ही बोध होवे तथा 'स्वर', 'अन्तःस्था' तथा ऊष्म इत्यादि का बोध न होवे—इस हेतु प्रस्तुत सूत्र का निर्माण किया गया है । इसी कार्य की सिद्धि के लिए तै० प्रा० १।११ में यह विधान किया गया है—"प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः" अर्थात् (प्रत्येक वर्ग में स्थित पाँच-पाँच वर्ण क्रमशः) प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम संज्ञक होते हैं ।

है। द्वौ द्वौ = दो-दो; प्रथमौ = प्रथम वर्ण; प्रत्येक वर्ग में जित् संज्ञक हैं। जैसे—क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ। संज्ञा करने में प्रयोजन को (सूत्रकार) कहेंगे-"जित्पर मुत् वर्ण बाद में होने पर पूर्व के विसर्जनीय का लोप हो जाता है"।

अ०—"स्पर्शेष्वेव संख्या" इति परिभाषितम्, अतः परिभाषाप्रयोजनमनेनोच्यते। वर्गे वर्गे द्वौ द्वौ प्रथमौ वर्णौ जित्संज्ञकौ स्याताम्। यथा—क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ इत्येतौ ॥ ५० ॥

ऊष्माणश्च हवर्जम् ॥ ५१ ॥

सू० अ०—हकार को छोड़कर (अन्य) ऊष्म (भी जित् कहलाते हैं)।

उ०—ऊष्माणश्च जित्संज्ञका भवन्ति; (हवर्जम् =) हकारं वर्जयित्वा। तद्यथा—शषसाः। चशब्दात् द्वौ द्वौ प्रथमौ वर्गे वर्गे—क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ। एते त्रयोदशवर्णा जित्संज्ञा वेदितव्याः ॥ ५१ ॥

उ० अ०—ऊष्माणश्च = ऊष्म भी; जित् संज्ञक होते हैं; (हवर्जम् =) हकार को छोड़कर। जैसे—श, ष, स। च शब्द से (सूचित होता है कि) प्रत्येक वर्ग में प्रथम दो-दो (वर्ण भी जित् होते हैं)-क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ। इन तेरह वर्णों को जित् संज्ञक जानना चाहिए।

अ०— हकारवर्जिताः शषसा अपि जित्संज्ञाः स्युः ॥ ५१ ॥

मुच्च ॥ ५२ ॥

सू० अ०—(श, ष, स) मुत् भी (कहलाते हैं)।

उ०—मुत्संज्ञकाः शषसा भवन्ति। चशब्दाज्जित्संज्ञकाश्च। शषसेष्वेव मुत्संज्ञा यथा स्यादिति पृथग्योगकरणम्। संज्ञायाः प्रयोजनम्-"लुङ् मुदि जित्परे" (३।१३) इति ॥ ५२ ॥

उ० अ०—श, ष, स मुत् संज्ञक होते हैं। (सूत्रोक्त) च शब्द से 'जित्' संज्ञक भी (होते हैं)। पृथक् सूत्र का निर्माण इसलिए किया गया है, जिससे श, ष, स में ही मुत् संज्ञा हो। [क] संज्ञा का प्रयोजन "जित्पर मुत् वर्ण बाद में होने पर पूर्व के विसर्जनीय का लोप हो जाता है"।

(क) यह शङ्का हो सकती है कि जित् संज्ञा का विधान दो सूत्रों (१।५० और १।५१) में क्यों किया गया है। जित्संज्ञा का विधान एक ही सूत्र में इस प्रकार किया जा सकता था—"द्वौ द्वौ प्रथमौ जित् ऊष्माणश्च हवर्जम्"। इस शङ्का का समाधान यह है-यदि ऐसा किया जाता तो जित् संज्ञक सभी वर्णों की मुत् संज्ञा भी हो जाती जो इष्ट नहीं है। श, ष, स में ही मुत् संज्ञा लागू हो इस हेतु श, ष, स की जित् संज्ञा का विधान पृथक् सूत्र में किया गया है।

अ०—शषसा मुत्संज्ञकाः स्युः । शषसेष्वेव मुत्संज्ञा यथा स्यादिति पृथक् सूत्रकरणम् । अन्यथा "द्वौ द्वौ प्रथमौ जित्", "ऊष्माणश्च" इत्यवक्ष्यत् ॥ ५२ ॥

धि शेषः ॥ ५३ ॥

सू० अ०—अवशिष्ट (वर्ण) धि (कहलाते हैं) ।

उ०—कृतसंज्ञकेतरवचनः शेषशब्दः । शेषो यो वर्णराशिः सः; (धि=) धिसंज्ञः; भवति । तद्यथा—वर्गाणामुत्तरास्त्रयो यरलवहकाराश्चेति विंशतिवर्णा धिसंज्ञा भवन्ति । संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"रेफं स्वरधौ" (४.३७) इति ॥ ५३ ॥

उ० अ०—जिन (वर्णों) की संज्ञा की जा चुकी है उनसे अन्य का वाचक है शेष शब्द । शेषः = अवशिष्ट; जो वर्ण-समूह है वह; (धि =) धि संज्ञक; होता है । जैसे—वर्गों के बाद वाले तीन-तीन (वर्ण), य, र, ल, व, ह-ये बीस वर्ण धि संज्ञक होते हैं । संज्ञा करने में प्रयोजन—"स्वर और धि (संज्ञक व्यञ्जन) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)" ।

अ०—कृतसंज्ञकेतरवचनः शेषशब्दः, शेषो यो वर्णराशिः धिसंज्ञः स्यात् । स च वर्गाणामुत्तरास्त्रयः यरलवहकाराश्च । एते विंशतिवर्णाः शेषाः ॥ ५३ ॥

द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः ॥ ५४ ॥

सू० अ०—(प्रत्येक वर्ग में) द्वितीय और चतुर्थ सोष्म (कहलाते हैं) ।

उ०—द्वितीयाः खछठथफाः, चतुर्थाः घझढधभाः, एते (द्वितीयचतुर्थाः =) दशवर्णाः; (सोष्माणः =) सोष्मसंज्ञाः; भवन्ति । इह यासां संज्ञानां शास्त्रे संव्यवहारो नोपलभ्यते पूर्वाचार्यसंज्ञास्ता वेदितव्याः शिष्यसंव्यवहारार्थाः, शिष्या आभिः संव्यवहरेयुरिति । पूर्वाचार्यसंज्ञानुकथनमस्मिन् शास्त्रे मङ्गलार्थं च पूर्वाचार्यशास्त्रकीर्त्यपरिणाशार्थं वा । यद्वा यथा एते वर्णा नित्या एवमेता अपि संज्ञा नित्या एव एवं च कृत्वा सर्वशास्त्रेष्वेता एव संज्ञा उपलभ्यन्ते-द्वितीयचतुर्थाः सोष्माणः, तथा ककारादीनां स्पर्शसंज्ञा, तथा यकारादीनामन्तस्थसंज्ञा । आभिः संज्ञाभिर्व्यवहरतां धर्मो भवति । यद्वा नैव संज्ञा । किन्तर्हि ? वर्णस्वरूपमनेन सूत्रेण कथ्यते । ऊष्मा वायुः, ऊष्मणा सह वर्त्तन्त इति सोष्माणः अतिशयार्थं वचनम्, महाप्राणा इत्यर्थः । अत एवैषां संयोगपीडने वायुर्निर्गच्छति तन्निर्धारयेत् । यथा—"दद्ध्ना" दकारो धकारप्रकृतिर्यमः नकार इति संयोगः । अत्र धकारप्रकृतित्वात् यमस्य पीडने ऊष्मा निष्क्रामति, तं सन्धारयेत् तदात्मकत्वात्तस्य वर्णस्य । आचार्योऽपि यमस्य स्फोटने दोषं वक्ष्यति "ऊष्मस्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः" (४।१६४) इति, "स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्" (४।१६५) इति ॥ ५४ ॥

उ० अ०—द्वितीय = ख, छ, ठ, थ, फ; चतुर्थ = घ, झ, ढ, ध, भ; ये (**द्वितीयचतुर्थाः =** द्वितीय और चतुर्थ =) दस वर्ण; (**सोष्माणः =**) सोष्म-संज्ञक; होते हैं। जिन संज्ञाओं का इस शास्त्र में प्रयोग उपलब्ध नहीं होता है, पूर्ववर्ती आचार्यों की उन संज्ञाओं को शिष्यों के संव्यवहार के लिए जानना चाहिए = शिष्य इन (संज्ञाओं) से (का) परस्पर व्यवहार करें। और पूर्ववर्ती आचार्यों की संज्ञाओं का इस शास्त्र में पुनः कथन मङ्गल के लिए है अथवा पूर्ववर्ती आचार्यों के शास्त्रों की कीर्ति के अविनाश (रक्षा) के लिए है। अथवा जिस प्रकार ये वर्ण नित्य हैं उसी प्रकार ये संज्ञायें भी नित्य ही हैं। और यही कारण है कि सभी शास्त्रों में ये ही संज्ञाये उपलब्ध होती हैं—द्वितीय और चतुर्थ सोष्म हैं, उसी प्रकार ककार इत्यादि की स्पर्श संज्ञा है, उसी प्रकार यकार इत्यादि की अन्तःस्थ संज्ञा है। इन संज्ञाओं से व्यवहार करने वालों को धर्म प्राप्त होता है। अथवा (सोष्म) संज्ञा नहीं है। तब क्या है? इस सूत्र में (द्वितीय और चतुर्थ) वर्णों का स्वरूप कहा जाता है। ऊष्मा (= मुख से निकलने वाली) वायु है। वायु के साथ उच्चारित होते हैं अतः सोष्म हैं। (वायु के) आधिक्य (को बतलाने) के लिए विधान किया गया है, ये महाप्राण हैं—यह अर्थ है। इसलिए इनके संयोग के द्वित्व (पीडन) (पीडनं द्विर्भावः—ऋ० प्रा० १४।३ पर उवट) में वायु (मुख से) बाहर निकलती है, उस (वायु) को रोक कर रखना चाहिए। जैसे—"दद्ध्ना"। दकार, धकार प्रकृति वाला यम और नकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। यहाँ पर धकार प्रकृति वाला होने से यम के द्वित्व में वायु (मुख से) बाहर निकलती है, उस (वायु) को रोककर रखना चाहिए क्योंकि वह वर्ण तदात्मक (वाय्वात्मक, वायुस्वरूप) है (वायु को रोक कर नहीं रखा जायगा ता वायुस्वरूप वर्ण का उच्चारण नहीं होगा)। आचार्य भी यम के स्फोटन में दोष कहेंगे—"ऊष्म वर्णों से बाद में पञ्चम स्पर्श होने पर यम का उच्चारण दोष है" "कवर्ग बाद में होने पर स्पर्श-वर्ण का पृथक् उच्चारण विकल्प से दोष होता है"।

अ०—द्वितीयाः खछठथफाः, चतुर्थाः घझढधभाश्च सोष्मसंज्ञाः स्युः, इदं पूर्वोक्त-बाह्यप्रयत्नविवरणमिति द्रष्टव्यम्। यस्याश्शास्त्रसंव्यवहारो नास्ति सा संज्ञा पूर्वाचार्यकृता मङ्गलार्थं वेदितव्या ॥ ५४ ॥

अमात्रस्वरो ह्रस्वः ॥ ५५ ॥

सू० अ०—अ के परिमाण (उच्चारण-काल) वाला स्वर ह्रस्व (कहलाता है)।

उ०—(**अमात्रस्वरः =**) अकारमात्रस्वरः; (**ह्रस्वः =**) ह्रस्वसंज्ञः; भवति। तद्यथा—अ इ उ ऋ ऌ। संज्ञाकरणे प्रयोजनं वक्ष्यति—"अनुस्वारो ह्रस्व-पूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वा चार्द्धमात्रा" (४।१५०) इति ॥ ५५ ॥

उ० अ०—(अमात्रस्वरः =) अकार के परिमाण (उच्चारण-काल) वाला स्वर; (ह्रस्वः =) ह्रस्वसंज्ञक; होता है। जैसे—अ, इ, उ, ऋ, ऌ। संज्ञा करने में प्रयोजन को (सूत्रकार) कहेंगे—"ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती (ह्रस्व स्वर) आधी मात्रा काल वाला (होता है)"।

अ०—अ इत्येवमुच्चारणकालः स्वरः ह्रस्वसंज्ञः स्यात्। यथा—अ इ उ ऋ ऌ। ह्रस्वस्य मात्रेत्यपि संज्ञा ज्ञेया ॥ ५५ ॥

मात्रा च ॥ ५६ ॥

सू० अ०—और (इसका परिमाण) एक मात्रा होता है। (अथवा—अ के उच्चारण-काल वाला स्वर मात्रा भी कहलाता है)।

उ०—मात्रा च यत्र श्रूयते तत्र अकारकालो मात्रास्वरः प्रत्येतव्यः। ह्रस्वो मात्रेति पर्यायावित्यर्थः ॥ ५६ ॥

उ० अ०—मात्रा च = और मात्रा काल में; जिसका श्रवण होता है उसे अकार के उच्चारण-काल वाला अथवा मात्रा काल वाला स्वर जानना चाहिए। ह्रस्व और मात्रा-ये पर्यायवाची हैं—यह अर्थ है।

अ०—मात्राश्च यत्र श्रूयन्ते तत्र अकारकालमात्रस्वरो वेदितव्यः। ह्रस्वो मात्रेति पर्यायौ इत्यर्थः ॥ ५६ ॥

द्विस्तावान् दीर्घः ॥ ५७ ॥

सू० अ०—उतने (=एक मात्रा) से दुगुने (काल) वाला (स्वर) दीर्घ (कहलाता है)।

उ०—(तावान् =) ह्रस्वात्; (द्विः =) द्विगुणकालः; वर्णः; (दीर्घः=) दीर्घसंज्ञः; भवति। यथा—आ ई ऊ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ इति। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"दीर्घादर्धमात्रा पूर्वा चाध्यर्धा" (४।६५।१) इति ॥ ५७ ॥

उ० अ०—(तावान् = उतने से =) ह्रस्व (स्वर) से; (द्विः =) दुगुने काल वाला; वर्ण; (दीर्घः =) दीर्घसंज्ञक होता है। जैसे—आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ। संज्ञा करने में प्रयोजन—"दीर्घ (स्वर) से परवर्ती (अनुस्वार) आधी मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती (दीर्घ स्वर) डेढ़ (मात्रा काल वाला होता है)"।

अ०—ह्रस्वाद्द्विगुणोच्चारणकालस्वरः दीर्घसंज्ञः स्यात् ॥ ५७ ॥

प्लुतस्त्रिः ॥ ५८ ॥

सू० अ०—(ह्रस्व से) तिगुने (काल) वाला (स्वर) प्लुत (कहलाता है)।

उ०—(त्रिः =) ह्रस्वत्रिगुणकालः; (प्लुतः =) प्लुतसंज्ञः; भवतीति। यथा–आ३ ई३ ऊ३ ऋ३ लृ३ ए३ ऐ३ ओ३ औ३। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्–"प्लुतमितौ" (४।९२) इत्यादि ॥ ५८ ॥

उ० अ०—(त्रिः =) ह्रस्व (स्वर) से तिगुने काल वाला (स्वर); (प्लुतः =) प्लुतसंज्ञक; होता है। जैसे—आ३, ई३, ऊ३, ऋ३, लृ३, ए३, ऐ३, ओ३, औ३। संज्ञा के करने में प्रयोजन–"इति बाद में होने पर प्लुत (स्वर) (प्रकृतिभाव से रहता है)।"

अ० - ह्रस्वत्रिमात्रोच्चारणकालस्वरः प्लुतसंज्ञः स्यात्। यथा—आ३ ई३ ऊ३ ऋ३ लृ३ ए३ ऐ३ ओ३ औ३ इति ॥ ५८ ॥

व्यञ्जनमर्धमात्रा ॥ ५९ ॥

सू० अ० - व्यञ्जन (का काल) आधी मात्रा है।

उ०—कादीनां व्यञ्जनसंज्ञा कृता—"व्यञ्जनं कादि" (१।४७) इति। अधुना तस्यार्धमात्राकालतोच्यते। यथा—प्राङ्, प्रत्यङ्। ङकारावर्धमात्रौ ॥ ५९ ॥

उ० अ०—"ककार से प्रारम्भ होने वाले (वर्ण) व्यञ्जन (कहलाते हैं)"–इस (सूत्र) के द्वारा ककार से प्रारम्भ होने वाले (वर्णों) की व्यञ्जन संज्ञा की जा चुकी है। अब (इस सूत्र से) बतलाया जाता है कि उस (व्यञ्जन) का उच्चारण–काल आधी मात्रा है। जैसे—प्राङ्, प्रत्यङ्। दोनों ङकार आधी–आधी मात्रा वाले हैं।

अ०—"व्यञ्जनं कादि" इत्युक्तम्। तदर्धमात्रसंज्ञं स्यात्। यथा—प्राङ्, प्रत्यङ् ॥ ५९ ॥

तदर्धमणु । ६० ॥

सू० अ० इस (=आधी मात्रा) का आधा अणु (कहलाता है)।

उ०—(तदर्धम् =) अर्धमात्रार्धम्; (अणु =) अणुसंज्ञम्; भवति। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्–"मात्रार्धमात्राणुमात्रा वर्णापत्तीनाम्" (४।१४९) इति ॥६०॥

उ० अ०—(तदर्धम् = उसका आधा =) आधी मात्रा का आधा (=चौथाई मात्रा); (अणु =) अणु संज्ञक; होती है। संज्ञा करने में प्रयोजन—"अन्य वर्णों के स्थान पर आने वाले वर्णों का काल मात्रा, अर्धमात्रा अथवा अणुमात्रा होता है"।

अ०—व्यञ्जनादर्धमात्रमणुसंज्ञं स्यात्। संज्ञाप्रयोजनम्—"मात्रार्धमात्राणुमात्रा वर्णापत्तीनाम्" इति ॥ ६० ॥

परमाण्वर्धाणुमात्रा ॥ ६१ ॥

सू० अ०—आधी अणु-मात्रा परमाणु (कहलाती है)।

उ०—अर्धाणमात्रा परमाणसंज्ञा भवति ॥ ६१ ॥

उ० अ०—अर्धाणमात्रा = आधी अणु-मात्रा; परमाणु संज्ञक होती हैं।

अ०—अर्धाणुमात्रा परमाणुसंज्ञा स्यात् ॥ ६१ ॥

स्थाने ॥ ६२ ॥

सू० अ०—(उच्चारण) स्थान में (इसे अधिकृत जानना चाहिए)।

उ०—अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः स्थाने इत्येवं तद्वेदितव्यम्। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ६२ ॥

उ० अ०—वर्णों के आधार को स्थान शब्द से कहा जाता है। इसके आगे जिसे कहेंगे उसे 'स्थान में' जानना चाहिए। यह अधिकार-सूत्र है।

अ०—अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तत् स्थाने इति वेदितव्यम्। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ६२ ॥

ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतौ प्रतीयात् ॥ ६३ ॥

सू० अ०—ह्रस्व (स्वर) का ग्रहण होने पर दीर्घ और प्लुत (स्वरों) को (भी) जानना चाहिए।

उ०—(ह्रस्वग्रहणे =) ह्रस्वस्य वर्णस्य ग्रहणे; दीर्घप्लुतावपि वर्णौ गृहीतौ द्रष्टव्यौ। परिभाषेयं स्थानाधिकारार्था ॥ ६३ ॥

उ० अ०—(ह्रस्वग्रहणे =) ह्रस्व वर्ण का ग्रहण होने पर; दीर्घप्लुतौ= दीर्घ और प्लुत; वर्णों को भी ग्रहण किया हुआ समझना चाहिए। स्थान के अधिकार के लिए यह परिभाषा है।

अ०—अत्र शास्त्रे ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतावपि ग्राह्यौ। परिभाषासूत्रमेतत् ॥ ६३ ॥

प्रथमग्रहणे वर्गम् ॥ ६४ ॥

सू० अ०—(वर्ग के) प्रथम (वर्ण) का ग्रहण होने पर वर्ग को (जानना चाहिए)।

उ०—वर्गस्य; (प्रथमग्रहणे =) प्रथमवर्णग्रहणे; वर्गं जानीयात्। परिभाषेयम् ॥ ६४ ॥

उ० अ०—वर्ग के; (प्रथमग्रहणे =) प्रथम वर्ण का ग्रहण होने पर; वर्गम् = वर्ग को; जानना चाहिए । यह परिभाषा है ।

अ०—वर्गस्य प्रथमाक्षरग्रहणे सम्पूर्णो वर्गः प्रत्येतव्यः । परिभाषेयम् ॥ ६४ ॥

स्थाने इत्युक्तम् । तद्विवृणोति—

ॠ ᳵकौ जिह्वामूले ॥ ६५ ॥

सू० अ०—ऋ ॠ, ऋ३, ᳵक और कवर्ग जिह्वामूल (स्थान) में (उच्चारित होते हैं) ।

उ०—(ॠᳵकौ =) ऋ ॠ ऋ३ इति त्रयः, जिह्वामूलीयः, कवर्गः; इत्येते नववर्णा जिह्वामूलस्थानाः ॥ ६५ ॥

उ० अ०—(ॠᳵकौ =) ऋ, ॠ, ऋ३—ये तीन, जिह्वामूलीय (ᳵक), कवर्ग—ये नौ वर्ण; (जिह्वामूले =) जिह्वामूल स्थान वाले हैं ।

अ०—ऋ ॠ ऋ३, कवर्गः, जिह्वामूलीयश्च, जिह्वामूलस्थानाः स्युः ॥ ६५ ॥

इचशेयास्तालौ ॥ ६६ ॥

सू० अ०—इ ई ई३, चवर्ग, शकार, एकार और यकार तालु (स्थान) में (उच्चारित होते हैं) ।

उ०—(इचशेयाः =) इ ई ई३ इति त्रयः, चवर्गः, शकारः, एकारः, यकारः; इत्येते एकादशवर्णाः; (तालौ =) तालुस्थानाः ॥ ६६ ॥

उ० अ०—(इचशेयाः=) इ, ई, ई३–ये तीन, चवर्ग, शकार, एकार, यकार–ये ग्यारह वर्ण; (तालौ =) तालु स्थान वाले हैं ।

अ०—"ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतौ प्रतीयात्" इत्युक्तत्वात् प्रकृते इकारग्रहणं दीर्घप्लुतयोरपि ग्राहकम् । तेन इ ई ई३ इति त्रयो वर्णाः, चवर्गः, शकारः, एकारः यकारश्च, तालुस्थानाः स्युः ॥ ६६ ॥

षटौ मूर्धनि ॥ ६७ ॥

सू० अ०—षकार और टवर्ग मूर्धा (स्थान) में (उच्चारित होते हैं) ।

उ०—(षटौ =) षकारः टवर्गः; इत्येते षड्वर्णाः; (मूर्धनि =) मूर्धन्याः; द्रष्टव्याः ॥ ६७ ॥

उ० अ०—(षटौ =) षकार और टवर्ग—इन छः वर्णों को; (मूर्धनि =) मूर्धन्य; समझना चाहिए।

अ०—षकारः टवर्गः इति षड्वर्णा मूर्धन्यस्थानाः स्युः ॥ ६७ ॥

रो दन्तमूले ॥ ६८ ॥

सू० अ०—रेफ दन्तमूल (स्थान) में (उच्चारित होता है)।

उ०—(रः =) रेफः; (दन्तमूले=) दन्तमूलस्थानः; प्रत्येतव्यः ॥ ६८ ॥

उ० अ०—(रः =) रेफ को; (दन्तमूले =) दन्तमूल स्थान वाला; जानना चाहिए।

अ०—रेफो दन्तमूलस्थानः स्यात् ॥ ६८ ॥

लृलसिता दन्ते ॥ ६९ ॥

सू० अ०—लृ लॄ लॄ३, लकार, सकार और तवर्ग दन्त (स्थान) में (उच्चारित होते हैं)।

उ०—(लृलसिताः =) लृ लॄ लॄ३ एते त्रयः, लकारः, सकारः, तवर्गः; इत्येते दशवर्णाः; (दन्ते =) दन्त्याः ॥ ६९ ॥

उ० अ०—(लृलसिताः =) लृ, लॄ लॄ३—ये तीन, लकार, सकार, तवर्ग—ये दस वर्ण; (दन्ते =) दन्त स्थान वाले (= दन्त्य) हैं।

अ०—लृ लॄ लॄ३ लकारः सकारः तवर्गश्च दन्तस्थानाः स्युः ॥ ६९ ॥

उवोᳶपपा ओष्ठे ॥ ७० ॥

सू० अ०—उ ऊ ऊ३, वकार, ओकार, उपध्मानीय और पवर्ग ओष्ठ (स्थान) में (उच्चारित होते हैं)।

उ०—(उवोᳶपपाः =) उ ऊ ऊ३ एते त्रयः, वकारः, ओकारः, उपध्मानीयः, एते एकादशवर्णाः; (ओष्ठे =) ओष्ठ्याः ॥ ७० ॥

उ० अ०—(उवोᳶपपाः =) उ, ऊ, ऊ३—ये तीन, वकार, ओकार, उपध्मानीय (ᳶप), पवर्ग—ये ग्यारह वर्ण; (ओष्ठे =) ओष्ठ स्थान वाले हैं।

अ०—उ ऊ ऊ३, वकारः, ओकारः, पवर्गश्च, उपध्मानीयश्च, एते ओष्ठस्थानाः स्युः ॥ ७० ॥

अहविसर्जनीयाः कण्ठे ॥ ७१ ॥

सू० अ०—अ आ आ३, हकार और विसर्जनीय कण्ठ (स्थान) में (उच्चारित होते हैं)।

उ०—(अहविसर्जनीयाः =) अकारो मात्रिको द्विमात्रिकस्त्रिमात्रिक इत्येते त्रयः, हकारविसर्जनीयौ, इत्येते पञ्चवर्णाः; (कण्ठे=) कण्ठ्याः; प्रत्येतव्याः ॥ ७१ ॥

उ० अ०—(अहविसर्जनीयाः =) एक मात्रा वाला अकार, दो मात्राओं वाला (आ) और तीन मात्राओं वाला (आ३)—ये तीन, हकार और विसर्जनीय—इन पाँच वर्णों को; (कण्ठे =) कण्ठ स्थान वाला; जानना चाहिए।

अ०—अ आ आ३, हकारः, विसर्गश्च, एते कण्ठस्थानाः स्युः ॥ ७१ ॥

सवर्णवच्च ॥ ७२ ॥

सू० अ०—(अ को आ, आ३ के) सवर्ण के समान (समझना चाहिए) (अथवा-अ, आ, आ ३ सवर्ण के समान कार्य को प्राप्त करते हैं)।

उ०—"अहविसर्जनीयाः कण्ठे" (१।७१) इति अकारस्य मात्रिकस्य द्विमात्रिकस्य त्रिमात्रिकस्य च कण्ठस्थानता उक्ता। तथा-"कण्ठ्या मध्येन" (१।८४) इति समानकरणता त्रयाणामपि। आस्यप्रयत्नस्तु भिद्यते। कोऽसावास्यप्रयत्नो नाम? संवृतता विवृतता च, अस्पृष्टता स्पृष्टता च, ईषत्स्पृष्टता अर्धस्पृष्टता च, इत्यास्यप्रयत्नः। तद्यथा-संवृतास्यप्रयत्न अकारः, विवृतास्यप्रयत्ना इतरे स्वराः। यथा-अस्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्वराः स्पृष्टास्यप्रयत्नाः स्पर्शाः। तथा ईषत्स्पृष्टास्यप्रयत्ना अन्तस्थाः अर्धस्पृष्टास्यप्रयत्ना ऊष्माण अनुस्वारश्च। अयमास्यप्रयत्नः शिक्षाविद्भिरुक्त इह गृह्यते। अतोऽकारस्य मात्रिकस्य संवृतास्यप्रयत्नस्य इतरयोश्च विवृतास्यप्रयत्नयोर्द्विमात्रिकत्रिमात्रिकयोः सह सावर्ण्यं तुल्यं न सम्भवतीति तदर्थमिदमारभ्यते-**सवर्णवच्च** कार्यं भवति, सवर्णदीर्घत्वं भवतीत्यर्थः। तद्यथा-"सोमा भूयो भर" "मा त्वा अग्निः = मा त्वाग्निर्ध्वनयीत्" (वा० २५।३७)। एवमन्यत्रापि सवर्णवत्कार्यं द्रष्टव्यम् ॥ ७२ ॥

उ० अ०—"अ आ आ३, हकार और विसर्जनीय कण्ठ (स्थान) में (उच्चारित होते हैं)"-इस (सूत्र) से एक मात्रा वाले अकार, दो मात्राओं वाले (आ) और तीन मात्राओं वाले (आ३) की कण्ठस्थानता कही गई है। उसी प्रकार "कण्ठ में उच्चारित होने वाले (हनु के) मध्य से (उच्चारित) होते हैं" इस (सूत्र) से तीनों (अ, आ, आ३) की समानकरणता भी (कही गई है)। आभ्यन्तर प्रयत्न (मुखप्रयत्न) तो भिन्न-भिन्न है। (प्रश्न) यह आभ्यन्तर प्रयत्न है क्या वस्तु? (उत्तर) संवृतता और विवृतता, अस्पृष्टता और स्पृष्टता, ईषत्स्पृष्टता और अर्धस्पृष्टता—यह आभ्यन्तर प्रयत्न है। जैसे-अकार का आभ्यन्तर प्रयत्न संवृत है, अन्य स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। जैसे-स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न अस्पृष्ट है, स्पर्श

(वर्णों) का आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है। उसी प्रकार अन्तःस्थ (वर्णों) का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट है और ऊष्म (वर्णों) और अनुस्वार का आभ्यन्तर प्रयत्न अर्धस्पृष्ट है। शिक्षावेत्ताओं के द्वारा कहे गये इस आभ्यन्तर प्रयत्न का यहाँ ग्रहण कर लिया गया है। इसलिए संवृत आभ्यन्तर प्रयत्न वाले एकमात्रिक अकार का तथा विवृत आभ्यन्तर प्रयत्न वाले अन्य दो द्विमात्रिक (= आ) और त्रिमात्रिक (आ३) का एक दूसरे के साथ समानरूपेण सावर्ण्य नहीं होता है, इसलिए उस (सावर्ण्य) के लिए यह (सूत्र) आरम्भ किया गया है—**सवर्णवच्च** = सवर्ण के समान; कार्य होता है, सवर्णदीर्घत्व होता है - यह अर्थ है। जैसे—"सोमा भूयो भर", "मा त्वा अग्निः = मा त्वाग्निर्ध्वनयीत्"। इस प्रकार अन्यत्र भी सवर्ण के समान कार्य को समझना चाहिए।

अ०—संवृतप्रयत्न अकारः विवृतप्रयत्नयोर्दीर्घप्लुतयोः अवर्णयोः सवर्णवत् स्यात्। स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतप्रयत्नमूष्मणां स्वराणां च। दीर्घप्लुतयोरवर्णयोः विवृतत्वम्। संवृतं ह्रस्वस्येति भिन्नप्रयत्नत्वेन दीर्घादीनां सावर्ण्याभावात् वचनेन सावर्ण्यमभिहितम्। अतिदेशप्रयोजनं तु "सोमा भूयो भर" इत्यादौ ह्रस्वस्य दीर्घपरे सवर्णदीर्घत्वं द्रष्टव्यम् ॥ ७२ ॥

ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठयोरुत्तरा ॥ ७३ ॥

सू० अ०—ऐकार और औकार की पूर्ववर्ती (= प्रथम) मात्रा कण्ठ में उच्चारित होती है। परवर्ती (= द्वितीय) मात्रा (क्रमशः) तालु और होठों में (उच्चारित होती है)।

उ०—(**ऐकारौकारयोः =**) ऐकारस्य औकारस्य च; **कण्ठ्या पूर्वा मात्रा**—अकारमात्रा उभयोरपि पूर्वा। उत्तरा प्रथमस्य तालुस्थाना एकार इत्यर्थः। तद्यथा—अ ए = ऐ इति। द्वितीयस्योत्तरा ओष्ठस्थाना ओकार इत्यर्थः। तद्यथा—अ ओं = औ इति। अत्र केचिदाहुः—अकारस्यार्धमात्रा एकारस्याध्यर्धा ऐकारे। अकारस्यार्धमात्रा ओकारस्याध्यर्धा औकारे इति। तथा चोक्तम्—

"अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य ऐकारौकारयोर्भवेत्" इति।

अनेनैव क्रमेण एकारौकारौ व्याख्यातौ ॥ ७३ ॥

उ० अ०—(**ऐकारौकारयोः =**) ऐकार और औकार की; **कण्ठ्या पूर्वा मात्रा** = पूर्ववर्ती (= प्रथम) मात्रा कण्ठ में उच्चारित होने वाली है—दोनों (= ऐकार और औकार) की ही पूर्ववर्ती (= प्रथम) मात्रा अकार की है। प्रथम (= ऐकार) की परवर्ती (= द्वितीय) (मात्रा) तालु स्थान में उच्चारित होने वाली है, एकार है—यह अर्थ है। जैसे—अ ए = ऐ। द्वितीय (= औकार) की

परवर्ती (= द्वितीय) (मात्रा) ओष्ठ स्थान में उच्चारित होने वाली है, ओकार है–यह अर्थ है। जैसे—अ ओ औ। इस विषय में कतिपय आचार्य कहते हैं-ऐकार में अकार की आधी मात्रा है और एकार की डेढ़ (मात्रा) है। औकार में अकार की आधी मात्रा है और ओकार की डेढ़ (मात्रा है)। वैसा कहा भी कहा गया है— "ऐकार और औकार में कण्ठ्य (= अकार) की तो आधी मात्रा है।" इसी क्रम से एकार और ओकार की (भी) व्याख्या हो गई।

अ०—ऐकारस्य च औकारस्य च पूर्वा अकारमात्रा कण्ठ्या कण्ठस्थाना प्रथमस्य, उत्तरा एकाररूपा तालुस्थाना। द्वितीयस्योत्तरा ओकाररूपा ओष्ठस्थाना। अत्र केचिदाहुः-अकारस्यार्धमात्रा, एकारस्य ओकारस्य च अध्यर्धमात्रा ऐकारौकाराविति।

"अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य द्वयोरध्यर्धमात्रता।" इति वचनात्।

अध्यर्धमात्रा सार्धमात्रेत्यर्थः॥ ७३॥

यमानुस्वारनासिक्यानां नासिके॥ ७४॥

सू० अ—यम, अनुस्वार और नासिक्य का (उच्चारण-स्थान) नासिका है।

उ०—(यमानुस्वारनासिक्यानाम् =) चत्वारो यमाः, अनुस्वारनासिक्यौ चेति षड्वर्णाः, (नासिके =) नासिकास्थाना इति॥ ७४॥

उ० अ०—(यमानुस्वारनासिक्यानाम् =) चार यम, अनुस्वार और नासिक्य—ये छः वर्ण; (नासिके =) नासिका स्थान वाले हैं।

अ०—चत्वारो यमाः, अनुस्वारानुनासिक्यौ, एते नासिकास्थानाः स्युः॥ ७४॥

मुखनासिकाकरणोऽनुनासिकः॥ ७५॥

सू० अ०—मुख और नासिका से उच्चारित होने वाला (वर्ण) अनुनासिक (कहलाता है)।

उ०—मुखसहितया नासिकया क्रियत इति मुखनासिकाकरणः। मुखनासिका-करणो; वर्णः; (अनुनासिकः =) अनुनासिकसंज्ञः; भवति। जातावेकवचनम्। स्वराणामयं वैकल्पिको धर्मः, अन्तस्थानां रेफवर्जितानां च वाचनिकश्चायं धर्मः। तद्यथा "अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" (३।१३०) यथा—"महाँ इन्द्रः" (वा० २६।१०)। "उन्नयामि स्वाँ अहम्" (वा० ११।८२)। "ये त्वा वनस्पतीँ रनु" (वा० १३।७) "अग्ने क्रत्वा क्रतूँ रनु" (वा० १६।४०)। अन्तस्थासु भवति। वक्ष्यति "अन्तस्थामन्तःस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्" (४।१०)। "सयँ्यौमि" (वा० १।२२) "सवँ्वपामि" (वा० १।२१) इति। तलँ्लोकम्पुण्यं प्रज्ञेषम्" (वा० २०।२५)। इत उत्तरं करणाधिकारो भविष्यति॥७५॥

उ० अ०—मुख सहित नासिका से उच्चारित होता है = मुखनासिकाकरण: । मुखनासिकाकरण:=मुख और नासिका से उच्चारित होने वाला वर्ण; (अनुनासिक:=) अनुनासिक संज्ञक; होता है। (यहाँ) जाति में एक वचन है। स्वरों का यह वैकल्पिक धर्म है, किन्तु रेफव्यतिरिक्त अन्तःस्थ (वर्णों) का यह असंदिग्ध (स्पष्टरूपेण उल्लिखित) धर्म है।[क] जैसे -- "अन्तस्थामन्तस्था (४।१०) सूत्र के पूर्व तक उपधा स्वर को अनुनासिक होने का अधिकार किया जाता है"। जैसे—"महाँ इन्द्रः"। "उन्नयामि स्वाँ अहम्"। "ये त्वा वनस्पतीँ रनु"। "अग्ने क्रत्वा क्रतूँ रनु"। अन्तःस्थ (वर्णों) में होता है। (सूत्रकार) कहेंगे-"अन्तस्थ (वर्ण) बाद में होने पर (मकार) परवर्ती (अन्तस्थ वर्ण) के समान उच्चारणस्थान वाला अनुनासिक अन्तस्थ (हो जाता है) "सयँ्यौमि" सवँ्वपामि" "तलँ लोकम्पुण्यं प्रज्ञेषम्"। यहाँ से बाद में करण का अधिकार होगा।

अ०--मुखसहितया नासिकया क्रियते उच्चार्यत इति मुखनासिकाकरण:, सोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। स्वराणां वैकल्पिकोऽयं धर्मः, रेफवर्जितानामन्तस्थानां वाचनिकोऽयं धर्म इति विवेकः। तं यज्ञं सवँ्वपामीति", "तलँ्लोकम्" ॥ ७५ ॥

इत ऊर्ध्वं करणमुच्यते--

दन्त्या जिह्वाग्रकरणाः ॥ ७६ ॥

सू० अ०—दन्त्य (वर्णों) का सक्रिय उच्चारणावय (करण) जिह्वा का अग्र भाग है।

उ०—दन्त्याः; (जिह्वाग्रकरणाः =) जिह्वाग्रेण क्रियन्ते; तद्यथा तथेति ॥ ७६ ॥

उ० अ०—दन्त्याः = दन्त्य (वर्ण); (जिह्वाग्रकरणाः =) जिह्वा के अग्रभाग से (उच्चारित) किये जाते हैं। जैसे–त, थ इत्यादि।

(क) ३।१३१ में यह विधान किया गया है कि ४।१० से पूर्व तक उपधा स्वर के अनुनासिक होने का अधिकार चलता है। १।१३३ में यह विधान किया है कि औपशवि आचार्य के अनुसार नकार के बाद में व्यञ्जन होने पर उपधा और नकार के मध्य में अनुस्वार का आगम हो जाता है। इस प्रकार उपधा स्वर के अनुनासिक होने के विषय में विकल्प है। ४।१० में यह विधान किया गया है कि अन्तःस्थ वर्ण बाद में होने पर मकार परवर्ती अन्तःस्थ के समान उच्चारण-स्थान वाला अनुनासिक अन्तःस्थ हो जाता है। इस वचन (विधान) के अनुसार मकार निश्चित रूप से अनुनासिक अन्तःस्थ होता है। इसके अनुनासिक होने में कोई विकल्प नहीं है।

रश्च ॥ ७७ ॥

सू० अ०—र (का सक्रिय उच्चारणावयव) भी (जिह्वा का अग्रभाग है) ।

उ०—(रश्च =) रेफश्च; जिह्वाग्रेण क्रियते अन्यस्थानोऽपि ॥ ७७ ॥

उ० अ०—(रश्च =) रेफ भी; जिह्वा के अग्रभाग से उच्चारित किया जाता है, अन्य (= दन्तमूल) स्थान वाला होने पर भी ।

मूर्धन्याः प्रतिवेष्ट्याग्रम् ॥ ७८ ॥

सू० अ०—मूर्धन्य (वर्ण) (जिह्वा के) अग्रभाग को मोड़कर (उच्चारित किये जाते हैं) ।

उ०—मूर्धन्याः षकारटवर्गौ एतौ अग्रम् प्रतिवेष्ट्य जिह्वाग्रेण क्रियन्ते ॥७८॥

उ० अ०—मूर्धन्याः = मूर्धा पर उच्चारित होने वाले वर्ण=षकार और टवर्ग ये दोनों; (अग्रम् =) जिह्वा के अग्रभाग को; प्रतिवेष्ट्य = मोड़कर; उच्चारित किए जाते हैं ।

अ०— मूर्धन्याः षकारादयः प्रतिवेष्ट्य जिह्वाग्रकरणाः स्युः ॥ ७८ ॥

तालुस्थाना मध्येन ॥ ७९ ॥

सू० अ०—तालु स्थान वाले (वर्ण) (जिह्वा के) मध्य (भाग) से (उच्चारित किए जाते हैं) ।

उ०—तालुस्थाना इचशेयाः । एते जिह्वामध्येन क्रियन्ते ॥ ७९ ॥

उ० अ०—तालुस्थानाः = तालु स्थान वाले = इ ई ई३, चवर्ग, शकार एकार और यकार। ये (मध्येन =) जिह्वा के मध्य (भाग) से; उच्चारित किये जाते हैं ।

अ०—जिह्वेत्यनुवर्त्तते । तालुस्थाना इकारादयः जिह्वामध्यकरणाः स्युः ॥७९॥

समानस्थानकरणा नासिक्यौष्ठ्याः ॥ ८० ॥

सू० अ०—नासिक्य और ओष्ठ्य (वर्णों) का उच्चारण-स्थान और सक्रिय उच्चारणावयव एक (समान) ही हैं ।

उ०—हुंकारो नासिक्यः, स च नासिकास्थान "उवोपोपध्मा ओष्ठे" (१।७०) इत्योष्ठस्थानाः । एतेषां यदेव स्थानं तदेव करणम् ॥ ८० ॥

उ० अ०—हुंकार नासिक्य है और वह नासिका स्थान वाला है। "उ ऊ ऊ ३, वकार, ओकार, उपध्मानीय और पवर्ग ओष्ठ (स्थान) में (उच्चारित होते हैं)"—ये ओष्ठ स्थान वाले हैं। इनका जो उच्चारण–स्थान है वही सक्रिय उच्चारणावयव (करण) है।

अ०—हुँकारो नासिक्यः, ओष्ठ्या उकारादयश्च समानस्थानकरणाः स्युः। एतेषां यदेव स्थानं तदेव करणमित्यर्थः ॥ ८० ॥

वो दन्ताग्रैः ॥ ८१ ॥

सू० अ०—वकार दाँतों के अग्र (भागों) से (उच्चारित होता है)।

उ०–(वः =) वकारस्तु; ओष्ठ्योऽपि दन्ताग्रैः क्रियते ॥ ८१ ॥

उ० अ०—ओष्ठ स्थान वाला होने पर भी; (वः =) वकार; दन्ताग्रैः = दाँतों के अग्र भागों से; उच्चारित किया जाता है।

अ०—वकार ओष्ठ्योऽपि दन्ताग्रकरणः स्यात् ॥ ८१ ॥

नासिकामूलेन यमाः ॥ ८२ ॥

सू० अ०—यम नासिका के मूल से (उच्चारित होते हैं)।

उ०—यमाश्चत्वारो नासिकामूलेन क्रियन्ते। यथा—"यज्ञः", (वा० ८।४); "याँश्च", "रुक्मः" (वा० १२।१) इति ॥ ८२ ॥

उ० अ०—चार; (यमाः =) यम (वर्ण); नासिकामुलेन = नासिका के मूल से; उच्चारित किये जाते हैं। जैसे—यज्ञः; याँश्च, रुक्मम् ॥

अ०—यमाः नसिकामूलकरणाः स्युः। यथा—"यज्ञः", "याँश्च", "रुक्मम्" इत्यादि ॥ ८२ ॥

जिह्वामूलीयानुस्वारा हनुमूलेन ॥ ८३ ॥

सू० अ०—जिह्वा-मूल स्थान वाले (वर्ण) और अनुस्वार हनुमूल (कोमल तालु) से (उच्चारित होते हैं)।

उ०—(जिह्वामूलीयानुस्वाराः=) जिह्वामूलस्थाना अनुस्वारश्च; हनुमूलेन क्रियन्ते। यथा—"ऋक्सामयोः", (वा० ४।९) "अंशुना ते अंशुः" (वा० २०।२७)॥८३॥

उ० अ०—(जिह्वामूलीयानुस्वाराः) जिह्वा-मूल स्थान वाले (वर्ण) और अनुस्वारः; हनुमूलेन =हनुमूल (कोमल तालु) से; उच्चारित किये जाते हैं। जैसे—"ऋक्सामयोः", "अं शुना ते अंशुः ॥

अ०—जिह्वामूलीयादयः हनुमूलकरणाः स्युः ॥ ८३ ॥

कण्ठ्या मध्येन ॥ ८४ ॥

सू॰ अ॰—कण्ठ में उच्चारित होने वाले हनुमध्य से (उच्चारित होते हैं) ।

उ॰—कण्ठ्या वर्णा मध्येन हन्वोरेव क्रियन्ते । यथा—"अहः" (वा॰ ३७।२१) इति ॥ ८४ ॥

उ॰ अ॰—**कण्ठ्याः** = कण्ठ से उच्चारित होने वाले; वर्ण हनु के; **मध्येन**= मध्य (भाग) से; उच्चारित किए जाते हैं । जैसे—"अहः" ।

अ॰—अकारादयो हनुमध्यकरणाः स्युः ॥ ८४ ॥

प्रथमोत्तमाः पदान्तीया अचञौ ॥ ८५ ॥

सू॰ अ॰—चकार और ञकार को छोड़कर (प्रत्येक वर्ग के) प्रथम और अन्तिम (वर्ण) पद के अन्त में आते हैं । (अथवा चकार और ञकार से अन्य प्रथम और अन्तिम वर्ण पदान्तीय संज्ञक हैं) ।

उ॰—एवं तावदधस्तनेन वर्णानां स्थानानि करणानि चोक्तानि । आस्यप्रयत्नस्तु शिक्षान्तराद् गृह्यते सवर्णसंज्ञाङ्गभूतत्वात् । अधुना पदान्तीयवर्णनिरूपणायाह **प्रथमोत्तमाः पदान्तीया** भवन्ति; (**अचञौ**=) चकारञकारौ वर्जयित्वा । प्रथमा यथा—प्राक्, अपाक्, विराट्, सम्राट्, यत्, तत्, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् । उत्तमा यथा-प्राङ्, प्रत्यङ्, त्रीन्, समुद्रान्, तम्, यज्ञम् ॥ ८५ ॥

उ॰ अ॰—इस प्रकार पूर्ववर्ती (सूत्रों) के द्वारा वर्णों के उच्चारण-स्थान और सक्रिय उच्चारणावयव कहे गये हैं । आभ्यन्तर प्रयत्न तो सवर्ण संज्ञा का अङ्ग होने के कारण, अन्य शिक्षा से ग्रहण कर लिया जाता है ।[क] अब पद के अन्त में आने वाले वर्णों के निरूपण के लिए (सूत्रकार) कहते हैं–**प्रथमोत्तमाः**=(वर्गों के) प्रथम और अन्तिम (वर्ण); **पदान्तीयाः** = पद के अन्त में आते हैं; (**अचञौ** =) चकार और ञकार को छोड़कर । प्रथम जैसे–प्राक्, अपाक्, विराट्, सम्राट, यत्, तत्, त्रिष्टुप्; अनुष्टुप् । अन्तिम जैसे—प्राङ्, प्रत्यङ्, त्रीन्, समुद्रान्, तम्, यज्ञम् ।

(क) १।४३ में स्थान, करण और आभ्यन्तर प्रयत्न की समानता होने पर सवर्ण संज्ञा का विधान किया गया है । सवर्ण संज्ञा का उपयोग सूत्रकार ने दीर्घ आदि संधियों के विधान में किया है । आभ्यन्तर प्रयत्न के ज्ञान के बिना वर्णो की सवर्णता का निर्णय नहीं किया जा सकता और आभ्यन्तर प्रयत्न का विधान सूत्रकार ने नहीं किया है । अत एव भाष्यकार कह रहे हैं कि सवर्ण संज्ञा का अङ्ग होने के कारण आभ्यन्तर प्रयत्न का ग्रहण अन्य शिक्षा से कर लिया जाता है ।

अ०—एवं वर्णानां स्थानं करणं चोक्त्वा अधुना पदान्तीयवर्णानाह–वर्ग-प्रथमोत्तमाः पदान्तीयसंज्ञाः स्युः चकारञकारौ वर्जयित्वा। प्रथमा यथा–प्राक्, अपाक्, विराट्, यत्, अनुष्टुप् इत्यादि। उत्तमा यथा–प्राङ्, प्रत्यङ्, त्रीन्, समुद्रान्, तम् यज्ञम् ॥

विसर्जनीयः ॥ ८६ ॥

सू० अ० –विसर्जनीय (भी पद के अन्त में आता है)।

उ०—विसर्जनीयः पदान्तीयो भवति। यथा–अग्निः, घर्मः ॥ ८६ ॥

उ० अ०—विसर्जनीय पद के अन्त में आता है। जैसे–अग्निः, धर्मः।

अ०—विसर्जनीयोऽपि पदान्तसंज्ञः स्यात्। अग्निः, घर्मः। "विष्णोः क्रमोऽसि" (वा० १२।५) "ततः खनेम" (वा० ११।२२) ॥ ८६ ॥

स्वराश्च लृकारवर्जम् ॥ ८७ ॥

सू० अ०—लृकार को छोड़कर (अन्य) स्वर भी (पद के अन्त में आते हैं)।

उ०—स्वराश्च पदान्तीया भवन्ति; **(लृकारवर्जम्)** लृकारं वर्जयित्वा। यथा–द्वीप्याय, नीप्याय, अश्विना, मित्रावरुणा, स्रुचि, इन्द्राग्नी, मधु, अनु, वृषण्वसू, चमू, द्वे विरूपे, पृथिव्यै, भूम्यै, इन्दो, अश्विनौ, एतानि स्वरान्तान्युदाहरणानि ॥ ८७ ॥

उ० अ०—स्वराश्च=स्वर (वर्ण) भी; पद के अन्त में आते हैं;(**लृकार-वर्जम्** = लृकार को छोड़कर। जैसे—द्वीप्याय, नीप्याय, अश्विना, मित्रावरुणा, स्रुचि, इन्द्राग्नी, मधु, अनु, वृषण्वसू, चमू, द्वे, विरूपे, पृथिव्यै, भूम्यै, इन्दो, अश्विनौ–ये स्वर में अन्त होने वाले उदाहरण हैं।

अ०—लृकारवर्जाः स्वराः अपि एतत्संज्ञाः स्युः। यथा–ज्येष्ठाय, कनिष्ठाय, अश्विना, मित्रावरुणा, अभि, इन्द्राग्नी, मधु, वृषण्वसू, द्वे विरूपे, पृथिव्यै, अश्विनौ ॥८७॥

णकारर्काराववग्रहे ॥ ८८ ॥

सू० अ०—णकार और ऋकार सावग्रह पद के पूर्व-पद (अवग्रह) (के अन्त में ही आते हैं)।

उ०—"प्रथमोत्तमाः पदान्तीयाः" (१।८५) इत्यनेन णकारः पदान्तीयः प्राप्तः। "स्वराश्च लृकारवर्जम् (१।८७) इत्यनेन ऋकारश्च पदान्तीयः प्राप्तः। अतः (णकारर्कारौ=) तावुभौ; पदान्तीयावापद्येते अवग्रह एव स्थाप्येते। यथा–"पूषण्वान्, वृषण्वसू, पितृसदनाः, पितृसदनम् ॥ ८८ ॥

उ० अ०—"(वर्गों के) प्रथम और अन्तिम (वर्ण) पद के अन्त में आते हैं"—इस (सूत्र) से णकार पदान्तीय (पद के अन्त में आने वाले वर्ण) के रूप में प्राप्त होता है। "लृकार को छोड़कर (अन्य) स्वर (पद के अन्त में आते हैं)"—इस (सूत्र) से ऋकार भी पदान्तीय के रूप में प्राप्त होता है। इस लए वे दोनों (णकारर्कारौ = णकार और ऋकार) पदान्तीय के रूप में प्राप्त होते हैं, किन्तु (प्रस्तुत सूत्र के द्वारा); अवग्रहे = सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्त में; ही स्थापित (व्यवस्थित) कर दिये जाते हैं। जैसे—पूषण्ऽवान्, वृषण्ऽवसू, पितृऽसदनाः, पितृऽसदनम्।

अ०—णकारऋकारौ पदमध्ये पदान्तीयसंज्ञौ स्तः। "स्वराश्च लृकारवर्जम्" "प्रथमोत्तमाः पदान्तीयाः" इति ऋकारणकारयोः पदान्तीयत्वे प्राप्तेऽपि पुनर्वचनमवग्रहे यथा स्यादिति। यथा—पूषण्वान्, वृषण्वसू, पितृषदनाः ॥ ८८ ॥

अनुनासिकाश्चोत्तमाः ॥ ८९ ॥

सू० अ०—(वर्गों के) अन्तिम (वर्ण) नासिका से भी उच्चारित होते हैं (अथवा वर्गों के अन्तिम वर्ण अनुनासिक संज्ञक भी हैं)।

उ०—(उत्तमाः =) वर्गोत्तमाः = ङञणनमाः; अनुनासिका भवन्ति। चकारात् स्वस्वस्थानाद्यपरित्यागद्वारेण। नासिकास्थानं द्वितीयमेषामित्यर्थः। वर्ण-स्वरूपज्ञापनार्थमिदम्, संज्ञार्थमित्यपरे ॥ ८९ ॥

उ० अ०—(उत्तमाः =) वर्गों के अन्तिम (वर्ण) = ङ, ञ; ण, न, म; अनुनासिकाः = नासिका से उच्चारित; होते हैं। (सूत्रोक्त) चकार से (सूचित होता है कि) अपने-अपने स्थान आदि का परित्याग न करते हुए (ये नासिका से उच्चारित होते हैं)। नासिका इनका द्वितीय स्थान है—यह अर्थ है। यह (सूत्र) (अन्तिम) वर्णों के स्वरूप को वतलाने के लिए है, दूसरे आचार्य (कहते हैं कि यह सूत्र) संज्ञा करने के लिए है।

अ०—वर्गान्ता ङञणनमाः अनुनासिकसंज्ञाः स्युः। चशब्दात् स्वस्थानादि-पूर्वसंज्ञाद्यपरित्यागेन ॥ ८९ ॥

स्पर्शान्तस्य स्थानकरणविमोक्षः ॥ ९० ॥

सू० अ०—स्पर्श में अन्त होने वाले (पद) के उच्चारणस्थान और सक्रिय उच्चारणावयव (करण) का उन्मोचन (परित्याग) करना चाहिए।

उ०—स्पर्शान्तस्य पदस्य स्थानकरणविमोक्षः कर्त्तव्यः। अन्येन प्रयत्नेनान्यत् पदमारब्धव्यम्। अन्यथा पदादेर्द्वित्वं भवति। तद्यथा—"तत् नः = तन्नो मित्रो वरुणः" (वा० २१।१३), "सम् यौमि = सयँ यौमीदमग्नेः (वा० ३३।३८) " ॥९०॥

उ० अ०—स्पर्शान्तस्य = स्पर्श में समास होने वाले पद के, **स्थानकरण-विमोक्षः** = उच्चारण-स्थान और सक्रिय उच्चारणावयव का उन्मोचन (परित्याग); करना चाहिए। अन्य प्रयत्न से अन्य (परवर्ती) पद को प्रारम्भ करना चाहिए। ऐसा न करने पर पदादि का द्वित्व होता है। जैसे—"तत् नः = तन्नो मित्रो वरुणः", "सम् यौमि = सयँ्यौमीदमग्ने:"।

अ०—स्पर्शान्तस्य पदस्य नासिकाकरणयोः परित्यागः स्यात् पदस्यान्यप्रयत्नारम्यत्वात्। अन्यथा पूर्वपदादेर्द्वित्वम्। पदानां स्थानकरणविमोक्षः स्यात्। यथा—"तत् नः = तन्नो मित्रः", "सम् यौमि = सयँ्यौमि" ॥ ९० ॥

अवसाने च ॥ ९१ ॥

सू० अ०—अवसान में भी (उन्मोचन करना चाहिए)।

उ०—समाप्तौ च अर्धर्चादौ स्वरान्तानामपि पदानां स्थानकरणविमोक्षः कर्त्तव्यः। यथा—"संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्" (वा० १।२१), "शुक्रन्दुदुह्रे अह्नयः"। ९१ ॥

उ० अ०—(अवसाने च =) समाप्ति में भी; अर्धर्च के आदि में स्वर में समास होने वाले पदों के उच्चारण-स्थान और सक्रिय उच्चारणावयव (करण) का उन्मोचन (परित्याग) करना चाहिए। जैसे—"संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्", "शुक्रं दुदुह्रे अह्नयः"।

अ०—समाप्तौ अर्धर्चादौ पदानां स्वरान्तानामपि पदानां स्थानकरणविमोक्षः स्यात्। यथा—"संमधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्", "शुक्रं दुदुह्रे अह्नयः" ॥ ९१ ॥

प्रगृह्यम् ॥ ९२ ॥

सू० अ०—(अब) प्रगृह्य संज्ञक (स्वरों का विधान किया जायेगा)।

उ०—प्रगृह्यमित्ययमधिकारः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः प्रगृह्यमिति तद्वेदितव्यम्। प्रगृह्यसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"प्रगृह्यं स्वरे" (४।८८) इत्यादि ॥ ९२ ॥

उ० अ०—प्रगृह्य—यह अधिकार है। इसके बाद में जिसे कहेंगे उसे प्रगृह्य जानना चाहिए। प्रगृह्य संज्ञा का प्रयोजन—"स्वर बाद में होने पर प्रगृह्य (प्रकृतिभाव से रहता है)" इत्यादि ॥

अ०—इत ऊर्ध्वं यदनुक्रमिष्यामः तत् प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। अधिकारसूत्रमेतत्। प्रयोजनम्—"प्रगृह्यं स्वरे" इत्यादि ॥ ९२ ॥

एकारेकारोकारा द्विवचनान्ताः ॥ ६३ ॥

सू० अ०—द्विवचन के अन्त में स्थित एकार, ईकार और ऊकार (प्रगृह्य होते हैं)।

उ०—(एकारेकारोकाराः =) एकार ईकार ऊकार एते; (द्विवचनान्ताः =) द्विवचनप्रतिपादकाः सन्तः; प्रगृह्यसंज्ञा भवन्ति। यथा एकारस्य भवति—"द्वे इति", "शीर्षे इति"। यथा ईकारान्तस्य भवति—"उर्वी इति", "पृथ्वी इति"। यथा ऊकारान्तस्य भवति "अध्वर्यू इति", "बाहू इति" ॥ ६३ ॥

उ० अ०—(एकारेकारोकाराः =) एकार, ईकार और ऊकार ये; (द्विवचनान्ताः =) द्विवचन के प्रतिपादक होने पर; प्रगृह्य होते हैं। एकार की (प्रगृह्य संज्ञा) होती है जैसे "द्वे इति", "शीर्षे इति"। ईकार की प्रगृह्य संज्ञा) होती है जैसे—"उर्वी इति", "पृथ्वी इति"। ऊकार की (प्रगृह्य संज्ञा) होती है जैसे—"अध्वर्यू इति", "बाहू इति"।

अ०—एकारान्तम् ईकारान्तम् ऊकारान्तम् च द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। सञ्ज्ञाप्रयोजनमुत्तरत्र भविष्यति। अन्तश्शब्दो भिन्नक्रमो व्याख्येयः। अन्यथा—"कुमार्योरगारम् = कुमार्यगारम्" इत्यत्रापि संज्ञाप्राप्त्याऽसन्धिः प्रसज्येत। एतस्य वैदिकमात्रविषयत्वाद्यथाश्रितं व्याख्येयम। प्रयोजनम्—"प्रकृतिभावात्" इति। यथा—"द्वे इति", "हरी इति', "अध्वर्यू इति" ॥ ६३ ॥

ओकारश्च पदान्तेऽनवग्रहः ॥ ६४ ॥

सू० अ०—पद के अन्त में स्थित, किन्तु सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्त में न स्थित, ओकार भी (प्रगृह्य होता है)।

उ०—ओकारश्च पदान्ते वर्त्तमानः; (अनवग्रहः =) अवग्रहवर्जितः; प्रगृह्यसंज्ञो भवति। यथा—"अध्वर्यो अद्रिभिः" (वा० २०।३१) "चित्रभानो इति = इन्द्रायाहि चित्रभानो सुताः" (वा० २०।८७)। अनवग्रह इति किम् ? "गोव्यच्छमिति गो-व्यच्छम्" (वा० ३०।१८), "गोघातमिति गो-घातम्" (वा० ३०।१८) ॥ ६४ ॥

उ० अ०—पदान्ते = पद के अन्त में वर्तमान; ओकारश्च = ओकार भी; (अनवग्रहः =) सावग्रह पद के पूर्व-पद (के अन्त) को छोड़कर, प्रगृह्य संज्ञक होता है। जैसे—"अध्वर्यो अद्रिभिः", "चित्रभानो इति" = "इन्द्रायाहि चित्रभानो सुताः"। 'सावग्रह पद के पूर्व-पद को छोड़कर'-यह क्यों (कहा) ? "गोव्यच्छमिति गो-(क)व्यच्छम्", "गोघातमिति गो-(क)घातम्"।

(क) दोनों स्थलों में सावग्रह पद के अन्त में स्थित होने के कारण गो का ओकार प्रगृह्य नहीं है।

अ०—ओकारश्च पदान्ते वर्त्तमानोऽवग्रहवर्जितः प्रगृह्यं स्यात्। ओ यथा—"चित्रभानो इति", "अध्वर्यो अद्रिभिः"। अनवग्रह इति किम्? "गविष्टा इति गो इष्टौ"। अत्राप्रगृह्यत्वात् अवादेशः। अत्रान्यो विशेषः "प्रगृह्य स्वरे" इति चतुर्थाध्याये वक्ष्यते॥ ९४॥

उकारोऽपृक्तः॥ ९५॥

सू० अ०· व्यञ्जन से न मिला हुआ (अर्थात् स्वतन्त्र पद होने पर) उकार (प्रगृह्य होता है)।

उ०—उकारोऽपृक्तः प्रगृह्यसञ्ज्ञो भवति। "उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम्" (४।९४) इति वक्ष्यति। एतेनेत्थं रूपं भवति। यथा—'ऊँ मन्वेतवा उ", "न वा उ एतत्" (वा० २३।१६)। अपृक्त इति किम्? "नु इन्द्र = योजा न्विन्द्र ते" (वा० ३।५१)॥ ९५॥

उ० अ०—उकारोऽपृक्तः = व्यञ्जन से न मिला हुआ अर्थात् स्वतन्त्र पद के रूप में विद्यमान उकार; प्रगृह्यसंज्ञक होता है। "अपृक्त उकार दीर्घ और अनुनासिक हो जाता है" यह (सूत्रकार) कहेंगे। इससे यह रूप होता है। जैसे—"ऊँ मन्वेतवा उ", "न वा उ एतत्" (न वै ऊँ इत्यूँ-प० पा०)। स्वतन्त्र पद के रूप में विद्यमान होने पर—यह क्यों (कहा)? "नु इन्द्र=योजा न्विन्द्र ते"।[क]

अ० – अपृक्त उकारोऽपि प्रगृह्यं स्यात्। यथा—"न वा उ एतत्", "अस्मां उ देवाः"। प्रयोजनम्—"उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम्" इति वक्ष्यति। अपृक्त इति किम्? "नु इन्द्र = न्विन्द्र"॥ ९५॥

चमू अस्मे त्वे॥ ९६॥

सू० अ०—चमू, अस्मे, त्वे (प्रगृह्य होते हैं)।

उ० – चमू अस्मे त्वे एतानि पदानि प्रगृह्यसंज्ञकानि भवन्ति। यथा—"चमू इति चमू = सोममिन्द्र चमूसुतम्", "अस्मे इत्यस्मे = इन्द्रो अस्मे आरात्", "त्वे इति त्वे = वन्धुस्त्वे शयः"॥ ९६॥

उ० अ०—चमू, अस्मे, त्वे—ये पद प्रगृह्य संज्ञक होते हैं। जैसे—"चमू इति चमू = सोममिन्द्र चमूसुतम्", "अस्मे इत्यस्मे = इन्द्रो अस्मे आरात्", "त्वे इति त्वे= वन्धुस्त्वे शयः"।

(क) नकार से मिला हुआ होने के कारण (= स्वतन्त्र पद न होने के कारण) यहाँ उकार अपृक्त नहीं है। अतः यह अनुनासिक, दीर्घ और प्रगृह्य नहीं है।

अ०—एतानि पदानि प्रगृह्यसंज्ञानि स्युः। अद्विवचनार्थोऽयमारम्भः। यथा—"चमू इति = सोममिन्द्र चमूसुतम्"। अत्र चमूशब्दः सप्तम्यर्थतः। "अस्मे इति", "त्वे इति" ॥ ९६ ॥

मे उदात्तम् ॥ ९७ ॥

सू० अ०—उदात्त 'मे' (पद) (प्रगृह्य होता है)।

उ०—मे इत्येतत्पदमुदात्तं चेत्प्रगृह्यसंज्ञं भवति। यथा—मे इति मे=मे रायो मा वयम्" (वा० ४।२२)। उदात्त इति किम्? "इमम्मे वरुण" (वा० २१।१) ॥९७॥

उ० अ०—मे-यह पद यदि उदात्त हो तो प्रगृह्यसंज्ञक होता है। जैसे-"मे इति मे = मे रायो मा वयम्"। उदात्त-यह क्यों (कहा)? "इमम्मे वरुण"।

अ०—मे इत्येतत्पदमुदात्तं चेत् प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। "मे इति मे"। उदात्तमिति किम्? "इमं मे वरुण" ॥ ९७ ॥

अमी पदम् ॥ ९८ ॥

सू० अ०—अमी पद होने पर (प्रगृह्य होता है)।

उ०—अमी इत्येतत् पदं चेत् प्रगृह्यसंज्ञं भवति। यथा-"अमी इत्यमी = एष वोऽमी राजा" (वा० ३४।४३), "ये वामी रोचने दिवः" (वा० १३।१८)। पदमिति किम्? पदावयवस्य मा भूत्। "अमीषाञ्चित्तम्" (वा० १७।४४) ॥ ९८ ॥

उ० अ०—अमी-यह यदि पद हो तो प्रगृह्यसंज्ञक होता है। जैसे-"अमी इत्यमी = एष वोऽमी राजा", "ये वामी रोचने दिवः"। पद-यह क्यों (कहा)? पद के अवयव के रूप में विद्यमान (अमी प्रगृह्य) न हो। "अमीषाञ्चित्तम्"।[क]

अ०—अमी इत्येतत्पदं प्रगृह्यं स्यात्। यथा-"अमी इति = अमी अन्यः"। पदग्रहणं पदावयवस्य मा भूदिति। यथा-"अमीषां चित्तम्" ॥ ९८ ॥

स्वरोऽक्षरम् ॥ ९९ ॥

सू० अ०—स्वर अक्षर (संज्ञक होता है)।

उ०—स्वरः; (अक्षरम् =) अक्षरसंज्ञः; भवति। यथा—अइति इइति। अक्षरसंज्ञायाः प्रयोजनम्-"प्रागुवर्णादक्षराणामेकीभावः" (४।१३२) इति वक्ष्यति। तथा चोक्तम्—

"सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्" (ऋ० प्रा० १८।३२) इति ॥९९॥

(क) यहाँ अमी पद नहीं अपितु अमीषाम् पद का अवयव है। अतः यह प्रगृह्य नहीं है।

उ० अ०—स्वरः = स्वर (वर्ण); (अक्षरम् =) अक्षर संज्ञक; होता है। जैसे–अ, इ। अक्षर संज्ञा का प्रयोजन—"उवर्ण से उपलक्षित सूत्र (४।१३५) से पूर्ववर्ती विधानों में स्वर-वर्णों के एकीभाव (को अधिकृत जानना चाहिए)" यह (सूत्रकार) कहेंगे। वैसा कहा भी गया है—"व्यञ्जन-सहित अथवा अनुस्वार-सहित अथवा शुद्ध भी स्वर (वर्ण) अक्षर (–संज्ञक होता है)"।

अ०—स्वरोऽक्षरसंज्ञः स्यात्। संज्ञाप्रयोजनम्–"प्रागुवर्णादक्षराणामेकीभावः" इत्यादि ॥ ९९ ॥

सहाद्यैर्व्यञ्जनैः ॥ १०० ॥

सू० अ०—पूर्ववर्ती व्यञ्जनों के सहित (स्वर वर्ण अक्षर होता है)।

उ०—आद्यैर्व्यञ्जनैः; (सह=) सहितः; स्वरोऽक्षरं प्रत्येतव्यम्। यथा-"मो", ओकारः मकारसहितोऽक्षरं प्रत्येतव्यम्। यथा–"द्रु अन्नः = द्रवन्नः" (वा०११।७०)। उकारो दकाररेफसहितोऽक्षरम् ॥ १०० ॥

उ० अ०—(आद्यैर्व्यञ्जनैः =) पूर्ववर्ती व्यञ्जनों के; (सह =) सहित; स्वर को अक्षर जानना चाहिए। जैसे–"मो"–यहाँ मकारसहित ओकार को अक्षर जानना चाहिए। जैसे–"द्रु अन्नः = द्रवन्नः"। (द्रु में) दकार और रेफ के सहित उकार अक्षर है।

अ०—आद्यैर्व्यञ्जनैः सहितः स्वरः अक्षरं स्यात्। "सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वापि स्वरोऽक्षरम्"। इति। यथा–मो इत्यत्र ओकारमकारावक्षरं स्यात् ॥१००॥

उत्तरैश्चावसितैः ॥ १०१ ॥

सू० अ०—अवसान में स्थित परवर्ती व्यञ्जनों के सहित भी (स्वर वर्ण अक्षर होता है)।

उ०—आद्यैर्व्यञ्जनैः उत्तरैश्च; (अवसितैः) अवसानगतैः; स्वरोऽक्षरम्। यथा–"वाक्" (वा० ५।३३) वकारककारसहित आकारोऽक्षरम्। प्राङ् पकाररेफङ-कारसहित आकारोऽक्षरम्। एवं तावद्यद्येकः स्वरो भवति तदधस्तनान्युपरितनानि च व्यञ्जनानि तदङ्गानि भवन्तीत्येतत् प्रतिपादितम् ॥ १०१ ॥

अधुना स्वरयोर्मध्ये द्विप्रभृतीनां व्यञ्जनानामङ्गत्वनिरूपणायाह—

उ० अ०—पूर्ववर्ती व्यञ्जनों; च = और; (अवसितैः =) अवसान में स्थित; उत्तरैः = परवर्ती (व्यञ्जनों) के सहित; स्वर अक्षर होता है जैसे–वाक् वकार और ककार के सहित आकार अक्षर है। प्राङ्–पकार, रेफ और ङकार के

सहित आकार अक्षर है। इस प्रकार यदि एक स्वर होता हैं तब उससे पूर्ववर्ती और परवर्ती व्यञ्जन उस (स्वर) के अङ्ग होते हैं—यह (इस सूत्र में) प्रतिपादित किया गया है।

अब दो स्वरों के मध्य में विद्यमान दो इत्यादि (= दो अथवा दो से अधिक) व्यञ्जनों के अङ्गत्व निरूपण के लिये (सूत्रकार) कहते हैं—

संयोगादिः पूर्वस्य ॥ १०२ ॥

सू० अ०—संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का प्रथम (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर) का (अङ्ग होता है)।

उ०—(संयोगादिः =) संयोगादिभूतो वर्णः; पूर्वस्य स्वरस्याङ्गं भवति। यथा—अश्श्वः (= अश्-श्वः) (वा० १५।६२) द्वौ शकारौ वकारश्च संयोगः। तत्र "संयोगादिः पूर्वस्य" इति कृत्वा पूर्वः शकारः पूर्वस्य स्वरस्याङ्गम्। उत्तरशकारवकारावुत्तरस्य स्वरस्याङ्गम्। यथा—हव्व्यम् (= हव्-व्यम्) द्वौ वकारौ यकारश्च संयोगः। तत्रैको वकारः "संयोगादिः पूर्वस्य" इति कृत्वा पूर्वस्याङ्गम्, वकारयकारावुत्तरस्य ॥ १०२ ॥

उ० अ०—(संयोगादिः =) संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का प्रथम वर्ण; पूर्वस्य = पूर्ववर्ती; स्वर का अङ्ग होता हैं। जैसे—अश्श्वः (अश्-श्वः) दो शकार और वकार संयुक्त व्यञ्जन (संयोग) हैं। "संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर) का (अङ्ग होता है")—इस (सूत्र) के अनुसार उन (दो शकारों और वकार) में से पहला शकार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है। दूसरा शकार और वकार परवर्ती स्वर के अङ्ग हैं। जैसे—हव्व्यम्—(हव्-व्यम्) दो वकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। "संयुक्त व्यञ्जनों का प्रथम (व्यञ्जन) पूर्ववर्ती (स्वर) का (अङ्ग होता है)"—इस (सूत्र) के अनुसार उनमें से एक (= प्रथम) वकार पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग हैं, (द्वितीय) वकार और यकार परवर्ती (स्वर के अङ्ग हैं)।

अ०—संयोगस्यादिभूतो वर्णः पूर्वस्याङ्गं स्यात्। यथा—"अश्श्वस्तूपरः" इत्यत्र द्वौ शकारौ वकारश्च संयोगसंज्ञः स्यात्। तत्र "संयोगादिः पूर्वस्य" इत्युक्तेः पूर्वः शकारः पूर्वस्याङ्गम्, शकारवकारावुत्तरस्याङ्गम् ॥ १०२ ॥

यमश्च ॥ १०३ ॥

सू० अ०—यम भी (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है)।

उ०—यमः पूर्वस्याङ्गं भवति । चशब्दात् पूर्ववर्णसहितः । यथा—"रुक्क्मम्" (वा० १५।२५) । ककारद्वययममकाराः संयोगः । तत्र ककारयमौ पूर्वस्य, मकार उत्तरस्य ॥ १०३ ॥

उ० अ०—यम पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होता है। (सूत्रोक्त) च (शब्द से सूचित होता है कि यम) पूर्ववर्ती वर्ण (व्यञ्जन) के सहित (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है) । जैसे—"रुक्क्मम्"—दो ककार, यम और मकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से ककार और यम पूर्ववर्ती (स्वर) के (अङ्ग हैं), मकार परवर्ती (स्वर) का अङ्ग है।

अ०—पूर्वाङ्गं स्यात् । चशब्दात् पूर्ववर्णसहितः । यथा—"तं यज्ञम्" इत्यत्र ॥ १०३ ॥

क्रमजं च ॥ १०४ ॥

सू० अ०—द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है) ।

उ०—क्रमाज्जातं क्रमजम् । यत् संयोगादेः परस्य वर्णस्य द्विरुक्त्या जायते तत् क्रमजमित्युच्यते । यथा—"पार्श्श्व्यम्" (वा० २५।५) रेफो द्वौ शकारौ वकारो यकारश्च संयोगः । तत्र रेफः संयोगादिः क्रमजश्च प्रथमः शकारः पूर्वाङ्गम्, द्वितीयः शकारो वकारो यकारश्चोत्तराङ्गम् । "वर्ष्ष्याय" (वा० १६।३८) रेफो द्वौ षकारौ यकारश्च संयोगः । तत्र रेफः संयोगादिः पूर्वषकारः क्रमजः, एतौ पूर्वाङ्गम्, अपरः षकारो यकारश्चोत्तराङ्गम् ॥ १०४ ॥

उ० अ०—द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न = **क्रमजम्** । (संयोग) के प्रथम (व्यञ्जन) से परवर्ती वर्ण की द्विरुक्ति (द्वित्व) से जो उत्पन्न होता है वह क्रमज कहलाता है। जैसे "पार्श्श्व्यम्" रेफ, दो शकार, वकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से संयोग का प्रथम (व्यञ्जन) रेफ और द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न होने वाला प्रथम शकार पूर्ववर्ती (स्वर) के अङ्ग हैं, द्वितीय शकार, वकार और यकार परवर्ती (स्वर) के अङ्ग हैं। "वर्ष्ष्याय" रेफ, दो षकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से रेफ संयोग का प्रथम (व्यञ्जन) है, पहला षकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है—ये दोनों (रेफ और प्रथम षकार) पूर्ववर्ती (स्वर) के अङ्ग हैं, दूसरा षकार और यकार परवर्ती (स्वर) के अङ्ग हैं।

अ०—क्रमाज्जातं क्रमजम् । यत्संयोगादेः परस्य वर्णस्य द्विरुक्त्या जायते तत् क्रमजमित्युच्यते । यथा—"अन्तः पार्श्श्व्यम्" इत्यत्र रेफः शकारद्वयं वकारो यकारश्च

संयोगः। तत्र रेफः संयोगादिः, क्रमजश्च प्रथमः शकारः; एतौ पूर्वाङ्गम्; द्वितीयशकारः वकारयकारौ चोत्तराङ्गम्। प्रयोजनमुत्तरत्र भविष्यति स्वरविचारे॥ १०४॥

तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे॥ १०५॥

सू० अ०—उस (द्वित्व से उत्पन्न वर्ण) से परवर्ती (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, स्पर्श बाद में होने पर)।

उ०—तस्मात् क्रमजाद्यदुत्तरं व्यञ्जनं तत्पूर्वाङ्गं भवति स्पर्शे परभूते। यथा—"पाष्ण्र्या" (वा० २५।४०) रेफषकारौ द्वौ णकारौ यकारश्च संयोगः। तत्र रेफः संयोगादिरिति कृत्वा, षकारः क्रमजमिति कृत्वा, "तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे" इति कृत्वा पूर्वणकारश्च, एते पूर्वाङ्गम् द्वितीयणकारो यकारश्चोत्तरस्य स्वरस्याङ्गम्॥ १०५॥

उ० अ०—तस्मात् = उससे = द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न वर्ण से; जो; **उत्तरम्** = परवर्ती; व्यञ्जन (होता है) वह पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होता है; **स्पर्शे** = स्पर्श बाद में होने पर। जैसे—"पाष्ण्र्या" रेफ, षकार, दो णकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन (संयोग) हैं। उनमें से रेफ संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का प्रथम (व्यञ्जन) होने के कारण; षकार द्वित्व से उत्पन्न होने के कारण और प्रथम णकार "द्वित्व से उत्पन्न वर्ण से परवर्ती व्यञ्जन भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, स्पर्श बाद में होने पर" इस (विधान) के कारण—ये पूर्ववर्ती (स्वर) के अङ्ग हैं। द्वितीय णकार और यकार परवर्ती स्वर के अङ्ग हैं।[क]

(क) भाष्यकार उवट द्वारा प्रस्तुत किया गया पाष्ण्र्या यह उदाहरण युक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि क्रम (द्वित्व) से उत्पन्न वर्ण क्रमज कहा जाता है किन्तु उदाहरण में षकार क्रमज नहीं है—यहाँ केवल एक षकार है। वस्तुतः प्रथम णकार क्रमज है। प्रथम णकार ही द्वित्व से उत्पन्न है, षकार नहीं। क्रमज होने के कारण प्रथम णकार के पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होने की प्राप्ति १।१०४ से ही है। क्रमज अर्थात् प्रथम णकार से परवर्ती व्यञ्जन (=द्वितीय णकार) भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग इस सूत्र से नहीं होता है क्योंकि इसके बाद में स्पर्श नहीं, अपितु यकार है। अतः पाष्ण्र्या में प्रस्तुत सूत्र नहीं लगता है। ऋ० प्रा० १।२६ के भाष्य में भाष्यकार उवट ने प्रस्तुत पद को इस रूप में उद्धृत किया है—पाष्ष्ण्र्या। पद के इस रूप में प्रस्तुत सूत्र १।१०५ की भी सङ्गति बैठ जाती है। इसमें रेफ, दो षकार, णकार तथा यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। संयोग का प्रथम वर्ण रेफ १।१०२ से तथा क्रमज (प्रथम षकार) १।१०४ से पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं। क्रमज से परवर्ती व्यञ्जन (द्वितीय षकार) भी, स्पर्श (णकार) बाद में होने के कारण, प्रस्तुत विधान १।१०५ के अनुसार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग हो

अ०—तस्मात् क्रमजात् उत्तरं व्यञ्जनं पूर्वाङ्गं स्यात् स्पर्शे परे। यथा—"पार्ष्ण्यां" इत्यत्र रेफषकारौ द्वौ णकारौ यकारश्च संयोगः, तत्र रेफस्य संयोगादित्वात् पूर्वाङ्गत्वम्; प्रथमषकारः क्रमज इति कृत्वा पूर्वाङ्गमेव; "तस्माच्चोत्तरं स्पर्शे" इति कृत्वा पूर्वणकारः पूर्वाङ्गम्। द्वितीयणकारो यकारश्च उत्तराङ्गं भवति ॥ १०५ ॥

अवसितं च ॥ १०६ ॥

सू० अ०—अवसान में स्थित (व्यञ्जन) भी (पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है)।

उ० –(अवसितम् =) अवसानगतम्; पूर्वाङ्गं भवति। यथा—वाक्। (वा० ५।३३) ककारोऽवसितः। ऊर्क् (वा० ४।१०) अत्र रेफककारयोः संयोगः। रेफः संयोगादिः, ककारोऽवसितः एतौ पूर्वस्य स्वरस्याङ्गम्। पूर्वाङ्गपराङ्गचिन्तायाः प्रयोजनमाह ॥ १०६ ॥

उ० अ० –(अवसितम् =) अवसान में स्थित (व्यञ्जन); (च = भी) पूर्ववर्ती (स्वर) का अङ्ग होता है। जैसे—वाक्। ककार अवसान में स्थित है। ऊर्क्—यहाँ रेफ और ककार संयुक्त व्यञ्जन हैं। रेफ संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का प्रथम (व्यञ्जन) है, ककार अवसान में स्थित है—ये दोनों पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं। (सूत्रकार) पूर्वाङ्गपराङ्गविचार का प्रयोजन कहते हैं—

अ०—अवसानगतं व्यञ्जनं पूर्वाङ्गं स्यात्। यथा—वाक्। ककारोऽवसितः पूर्वाङ्गम्। ऊर्क्। अत्र रेफः ककारश्च पूर्वाङ्गम् ॥ १०६ ॥

पूर्वाङ्गपराङ्गचिन्तायाः प्रयोजनमाह—

व्यञ्जनं स्वरेण सस्वरम् ॥ १०७ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन (जिस स्वर-वर्ण का अङ्ग होता है उस) स्वर (वर्ण) के समान स्वर वाला (हो जाता है)।

उ०—व्यञ्जनं यद्यस्य स्वरस्याङ्गं तत्तेनैव स्वरेण; (सस्वरम् =) समानस्वरम्; भवति। अधस्तनान्येवोदाहरणानि। तथा चोक्तम्—

"स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ॥" (या० शि० ११८) इति ॥

जायेगा। णकार तथा यकार परवर्ती स्वर के अङ्ग होंगे। उल्लेखनीय है कि मुद्रित वा० सं० में इस पद का रूप पार्ष्ण्यां है। तथा वा० सं० के पद-पाठ में इस पद का रूप पार्ष्ण्यां है।

"अथ शिक्षाविहिताः" (१।२९) इत्युपक्रम्य "उरःकण्ठभ्रूमध्यानि" (१।३०) प्रातस्सवनमाध्यन्दिनसवनतृतीयसवनेषु यथाक्रमं स्थानानि भवन्तीति प्रतिपादितम्। तत एकैकस्मिन् स्थाने वर्णेषूच्चार्यमाणेषु त्रयो विकाराः शरीरस्य भवन्ति पर्यायेण ते प्रतिपादिता एव "आयाममार्दवाभिघाताः" (१।३०) इत्यनेन सूत्रेण। अधुना तेषु शरीरविकारेषु सत्सु ये स्वरा निष्पद्यन्ते तन्निरूपणायाह ॥ १०७ ॥

उ० अ०—जो व्यञ्जन जिस स्वर का अङ्ग (होता है) वह (व्यञ्जन) उसी; **स्वरेण**=स्वर से (के); (**सस्वरम्** =) समान स्वर वाला; होता है। पूर्वोक्त ही उदाहरण (इस सूत्र के भी उदाहरण) हैं। वैसा कहा भी गया है—स्वर (वर्ण) उदात्त (होता है), स्वर (वर्ण) अनुदात्त (होता है), स्वर (वर्ण) स्वरित भी (होता है), तीनों स्वर (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) स्वर-प्रधान हैं (अर्थात् स्वर-वर्णों पर आश्रित हैं)। व्यञ्जन (जिस स्वर वर्ण का अङ्ग होता है) उस (स्वर वर्ण) के समान स्वर वाला (हो जाता है)।

"अब शिक्षा में विहित (उच्चारण-स्थान, करण और आभ्यन्तर प्रयत्न) कहे जाते हैं)" इस (सूत्र) से प्रारम्भ करके यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रातस्सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन में क्रमशः छाती, कण्ठ और भ्रूमध्य स्थान होते हैं। तदनन्तर एक-एक (= प्रत्येक) स्थान में वर्णों का उच्चारण किये जाने पर शरीर के (जो) तीन विकार होते हैं उन (विकारों) का प्रतिपादन "आयाम, मार्दव और अभिघात (शरीर के ये तीन विकार होते हैं)" इस सूत्र से किया ही गया है। अब उन शरीर-विकारों के होने पर जो स्वर निष्पन्न होते हैं उन (स्वरों) के निरूपण के लिए (सूत्रकार) कहते हैं—

अ०—व्यञ्जनं यस्य स्वरस्याङ्गं तेन समानस्वरं स्यात्। अधस्तनान्येवोदाहरणानि। उक्तं च—

> "स्वरः उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च।
> स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ॥"

इति। त्रयः स्वराः समाहृता इति त्रैस्वर्यमित्यर्थः।

आयाममार्दवाभिघाता इति शरीरस्य त्रयो विकारा उक्ताः। अधुना तेषु विकारेषु सत्सु ये स्वरा निष्पद्यंते तानाह ॥ १०७ ॥

उच्चैरुदात्तः ॥ १०८ ॥

सू० अ०—उच्च ध्वनि से (उच्चारित स्वर) 'उदात्त' (कहलाता है)।

उ०—(उच्चैः =) आयामेन = ऊर्ध्वंगमनेन गात्राणाम्; यः स्वरो निष्पद्यते

सः; (उदात्तः=) उदात्तसंज्ञः; भवति । यथा-"अग्ना३इ" (वा० ८।१०), "लाजी३न्" (वा० २२।७)। उदात्तप्रदेशाः "उदात्तवानुदात्तः" (४।१३४) इत्येवमादयः ॥१०८॥

उ० अ० - (उच्चैः =) आयाम से = गात्रों के ऊर्ध्वगमन से; जो स्वर निष्पन्न होता है वह; (उदात्तः =) उदात्तसंज्ञक; होता है। जैसे—"अग्ना३इ", "लाजी३न्"। उदात्त (संज्ञा के प्रयोग) के स्थल "उदात्त वाला (एकीभाव) उदात्त (होता है)" इत्यादि।

अ०—उच्चैः गात्राणामूर्ध्वगमनेन यः स्वरो निष्पद्यते स उदात्तसंज्ञः स्यात्। यथा-"लाजी३न्", "शाची३न्"। उदात्तप्रदेशाः "उदात्तवानुदात्तः" इत्येवमादयः।१०८।

नीचैरनुदात्तः ॥ १०९ ।

सू० अ०—नीची ध्वनि से (उच्चारित स्वर) अनुदात्त (कहलाता है)।

उ०—नीचैः = मार्दवेण = अधोगमनेन गात्राणाम्; यः स्वरो निष्पद्यते सः; (अनुदात्तः=) अनुदात्तसंज्ञः; भवति। यथा-"आ॒र्षे॒य ऋ॒षी॒णा॒म्" (वा० २१।६१)। अनुदात्तप्रदेशाः "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" (४।१३७) इत्येवमादयः ॥ १०९ ॥

उ० अ०—नीचैः = मार्दव से = गात्रों के अधोगमन से; जो स्वर निष्पन्न होता है वह; (अनुदात्तः=) अनुदात्तसंज्ञक; होता है। जैसे—"आ॒र्षे॒य ऋ॒षी॒णा॒म्"। अनुदात्त (संज्ञा के प्रयोग) के स्थल—"उदात्त से भी परवर्ती अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)" इत्यादि।

अ०—नीचैः गात्राणामधोगमनेन यः स्वरो निष्पद्यते सोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात्। यथा—"ऋषे आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीत" इति। अनुदात्तप्रदेशाः "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" इत्यादयः ॥ १०९ ॥

उभयवान्त्स्वरितः ॥ ११० ॥

सू० अ०—दोनों (प्रयत्नों से उच्चारित होने) वाला (स्वर) स्वरित (कहलाता है)।

उ०—उदात्तस्योर्ध्वगमनं गात्राणां प्रयत्नः, अनुदात्तस्याधोगमनं गात्राणां प्रयत्नः। (उभयवान् =) आभ्यां प्रयत्नाभ्यां समाहारीभूताभ्याम्; यः स्वर उच्चार्यते सः; (स्वरितः =) स्वरितसंज्ञ; भवति। यथा-"धा॒न्य॑मसि" (वा० १।२०), स्थो॒ वै॒ष्ण॒व्यौ" (वा० १।१२)" ॥ ११० ॥

उ० अ०—गात्रों का ऊर्ध्वगमन उदात्त का प्रयत्न है, गात्रों का अधोगमन अनुदात्त का प्रयत्न है। (उभयवान् =) एकत्र मिले हुए इन दो प्रयत्नों से; जो स्वर उच्चारित होता है वह; (स्वरितः =) स्वरितसंज्ञक; होता है। जैसे—"धा॒न्य॑मसि", "स्थो॒ वै॒ष्ण॒व्यौ"।

अ०—उदात्तानुदात्तोभयप्रयत्ननिष्पाद्यः स्वरितसंज्ञः स्यात्। यथा धातुद्वयेन त्रपुसीसादि निष्पद्यते तथोभयप्रयत्ननिर्वर्त्यः स्वरितस्वरो भिन्न एव। यथा—"धान्यम्", "वैष्णव्यौ स्थः" ॥ ११० ॥

एकपदे नीचपूर्वः सयवो जात्यः ॥ १११ ॥

सू० अ०—एक पद में यकार और वकार से समन्वित जिस (स्वरित) के पूर्व में अनुदात्त होता है वह जात्य (स्वरित) (कहलाता है)।

उ०—(एकपदे =) एकस्मिन् पदे; नीचपूर्वः = अनुदात्तपूर्वः; (सयवः=) यकारेण वकारेण सहितः; जात्यः स्वरः प्रत्येतव्यः। नीचपूर्व इति सम्भवद्विशेषणम्। अपूर्वोऽपि भवति। नीचपूर्वो यथा—"कुन्या इव" (वा० १७.९७) "धान्यमसि" (वा० १.२०)। अपूर्वो यथा—"स्वर्द्वेषु" (वा० १८।६४) ॥ १११ ॥

उ० अ०—(एकपदे =) एक पद में; नीचपूर्वः=अनुदात्त है पूर्व में जिसके वह; और जो; (सयवः=) यकार और वकार के सहित है; उसे; जात्यः = जात्य (स्वरित) स्वर; जानना चाहिए। 'अनुदात्त है पूर्व में जिसके'—यह विशेषण (पूर्व में स्वर) होने पर (लागू होता है)। (जात्य स्वरित) अपूर्व भी होता है। अनुदात्तपूर्व जैसे—"कुन्या इव", "धान्यमसि"। अपूर्व जैसे—"स्वर्द्वेषु"।

अ०—नीचशब्दः अनुदात्तवाची। एकस्मिन् पदे नीचपूर्वः अनुदात्तपूर्वः यकारेण वकारेण वा सहितः स्वरितः जात्यस्वरसंज्ञः स्यात्। यथा—"धान्यम्", "कन्या इव", "तन्वम्"। नीचपूर्व इति सम्भवद्विशेषणम्। तेनानीचपूर्वोऽपि जात्यः स्यात्। यथा—"स्वः" ॥ १११ ॥

उदात्तादयः परे सप्त ॥ ११२ ॥

सू० अ०—(जात्य स्वरित से) परवर्ती सात (स्वरितों) के आदि में उदात्त होता है।

उ०—उदात्तादयः परे सप्त स्वराः प्रत्येतव्याः। यथा—अभिनिहितक्षैप्र-प्रश्लिष्टतैरोव्यञ्जनतैरोविरामपादवृत्तताथाभाव्याः ॥ ११२ ॥

उ० अ०—परे = (जात्य स्वरित से) परवर्ती; सप्त = सात (स्वरितों) को; उदात्तादयः = उदात्त है आदि में जिनके ऐसा; जानना चाहिए। जैसे—अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त, ताथाभाव्य।[क]

(क) तात्पर्य यह है कि इन सात स्वरितों में सन्धि से पहले पूर्ववर्ती अंश उदात्त रहता है।

अ०—उदात्त आदिः येषां स्वरितानां ते उदात्तादयः परे अन्ये सप्तस्वराः वेदितव्याः । ते च अभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टतैरोव्यञ्जनतैरोविरामपादवृत्ततथाभाव्याः ।११२।

क्रमेण तेषां लक्षणमाह—

त्रयो नीचस्वरपराः ॥ ११३ ॥

सू० अ०—तीन (स्वरितों) में परवर्ती अंश अनुदात्त होता है ।

उ०—त्रयो नीचस्वरपरा ज्ञेयाः अभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाः ॥ ११३ ॥

उ० अ०—त्रयः = तीन (स्वरितों) को; नीचस्वरपराः = अनुदात्त (नीच) स्वर है बाद में जिनके ऐसा; जानना चाहिए । (जैसे)—अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट ।[क]

अ०—अभिनिहतक्षैप्रप्रश्लिष्टा एते त्रयो नीचस्वरपरा ज्ञेयाः ॥ ११३ ॥

एतेषामवान्तरविशेषमाह—

एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः ॥ ११४ ॥

सू०अ०—जब (उदात्त) एकार और ओकार से परवर्ती (अनुदात्त) अकार लुप्त हो जाता है, तब अभिनिहित (संज्ञक स्वरित निष्पन्न होता है) ।

उ० – (एदोद्भ्याम् =) एकारौकाराभ्यामुदात्ताभ्याम्; अकारः अनुदात्तो यत्र; लुक् = लुप्यते; तत्राभिनिहितः स्वरो भवति । यथा एकारस्य भवति—"ते अप्सरसाम् = ते'ऽप्सरसाम्" (वा० २४।३७), "ते अवन्तु = ते'ऽवन्त्वस्मान्" (वा० १६।५८)। ओकारस्य भवति यथा—"वेदः असि = वेदो'ऽसि" (वा० २।२१), "तुथः असि = तुथो'ऽसि" (वा० ५।३१) ॥ ११४ ॥

उ०अ०—जहाँ पर; (एदोद्भ्याम् =) उदात्त एकार और ओकार से बाद में स्थित; अनुदात्त अकार; लुक्=लुप्त हो जाता है; वहाँ पर; (अभिनिहितः=) अभिनिहित (संज्ञक) (स्वरित) स्वर; होता है । जैसे एकार का होता है—"ते अप्सरसाम् = "ते'ऽप्सरसाम्" । "ते अवन्तु = ते'ऽवन्त्वस्मान्" । ओकार का होता है जैसे—"वेदः असि = वेदो'ऽसि", तुथः असि = "तुथो'ऽसि" ।

(क) तात्पर्य यह है कि जात्य स्वरित को छोड़कर अन्य सात स्वरितों (अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम, पादवृत्त, तथाभाव्य) में पूर्वांश उदात्त होता है । इनमें से तीन स्वरितों (अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट) में परवर्ती अंश अनुदात्त होता है ।

अ०—एकारौकाराभ्यामुदात्ताभ्यां पर अकारः यत्र लुप्यते तत्र अभिनिहतस्वरः स्यात्। यथा—"ते अप्सरसाम् = तेऽप्सरसाम्", "ते अवन्तु = तेऽवन्तु", "वेदः असि = वेदोऽसि", तुथः असि = "तुथोऽसि" ॥ ११४ ॥

युवर्णौ यवौ क्षैप्रः ॥ ११५ ॥

सू० अ०—जब (उदात्त) इवर्ण (इ, ई) और उवर्ण (उ, ऊ) (क्रमशः) यकार और वकार (हो जाते हैं) तब क्षैप्र (संज्ञक) स्वरित निष्पन्न हो जाता है।

उ०—इश्च उश्च यू, युवर्णौ उदात्तावनुदात्तस्वरोदयौ; (यवौ =) यकार-वकाराभ्यां यथासंख्येन युक्तौ; यदा तदा; (क्षैप्रः=) क्षैप्रसंज्ञः; स्वरो भवति। इवर्णस्य यथा—'त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकं यजामहे" (वा० ३।६०"), वाजी अर्वन् = "वाज्यर्वन्" (वा० ११।४४)। उवर्णस्य यथा—नु इन्द्र = "योजा न्विन्द्र ते हरी।" (वा० ३।५१)। द्रु अन्नः = "द्रुवन्नः सर्पिः" (वा० ११।७८)॥ ११५ ॥

उ० अ०—इ और उ = यू; युवर्णौ = इवर्ण और उवर्ण, अनुदात्त स्वर हैं बाद में जिनके ऐसे उदात्त (इवर्ण और उवर्ण) जब क्रमशः; (यवौ =) यकार और वकार से युक्त हो जाते हैं (अर्थात् जब इवर्ण के स्थान पर यकार और उवर्ण के स्थान पर वकार आ जाता है); तब; (क्षैप्रः =) क्षैप्र संज्ञक; (स्वरित) स्वर होता है। इवर्ण का जैसे—"त्रि अम्बकम्=त्र्यम्बकं यजामहे", "वाजी अर्वन् = वाज्यर्वन्"। उवर्ण का जैसे—"नु इन्द्र = योजा न्विन्द्र ते हरी", "द्रु अन्नः = द्रुवन्नः सर्पिः"।

अ०—इवर्णोवर्णौ उदातावनुदात्तस्वरोदयौ यकारवकाराभ्यां यथासङ्ख्येन युक्तौ यदा तदा क्षैप्रसंज्ञः स्वरितः स्यात्। यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकम्", वाजी अर्वन्= वाज्यर्वन्", "नु इन्द्र = न्विन्द्र", "द्रु अन्नः = द्रुवन्नः" "अप्सु अप्सु जाः = अप्स्वप्सुजाः" ॥ ११५ ॥

इवर्ण उभयतोह्रस्वः प्रश्लिष्टः ॥ ११६ ॥

सू० अ०—दोनों ओर ह्रस्व (रूप में विद्यमान) इवर्ण (जब मिलकर ईकार हो जाते हैं तब) प्रश्लिष्ट (संज्ञक) स्वरित स्वर निष्पन्न होता है)।

उ०—(इवर्ण उभयतोह्रस्वः =) पूर्वो ह्रस्व इकार उदात्तः परश्च ह्रस्व इकारोऽनुदात्तस्तयोः; परस्परप्रश्लिष्टे प्रश्लिष्टः स्वरो भवति। यथा—"अभि

इन्धताम् = अभी॑न्धताम्" (वा० ११।६१), "स्रुचि इव = स्रुची॑व घृतम्" (वा० २०।७०) ॥ ११६ ॥

उ० अ०—(**इवर्ण उभयतोह्रस्वः =**) पूर्ववर्ती (= पदान्त) ह्रस्व इकार उदात्त हो और परवर्ती (= पदादि) ह्रस्व इकार अनुदात्त हो तो; उनके परस्पर मिलकर एक हो जाने पर **प्रश्लिष्ट** (स्वरित) स्वर होता है। जैसे–"अभि इन्धताम् = अभी॑न्धताम्", "स्रुचि इव = स्रुची व घृतम्"।

अ०—ह्रस्व इकारः पूर्व उदात्तः, परश्च इकारोऽनुदात्तः, तयोः परस्परप्रश्लेषे सति प्रश्लिष्टसंज्ञः स्वरः स्यात्। यथा–"अभि इन्धताम् = अभीन्धताम्", "स्रुचि इव = स्रुचीव"। उदात्तपूर्व इति किम्? "चम्वी इव = चम्वीव" ॥ ११६ ॥

स्वरो व्यञ्जनयुतस्तैरोव्यञ्जनः ॥ ११७ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन से युक्त स्वर तैरोव्यञ्जन (संज्ञक स्वरित होता है)।

उ०—उदात्तात् पूर्वस्मात् परो यः स्वरो व्यञ्जनयुतः सः (**तैरोव्यञ्जनः=**) तैरोव्यञ्जनसंज्ञकः; स्वरो भवति। यथा–"इडे॑। रन्ते॑। हव्ये॑। काम्ये॑" (वा० ८।४३) ॥ ११७ ॥

उ० अ०—पूर्ववर्ती उदात्त से बाद में स्थित जो **स्वर**; (**व्यञ्जनयुतः =**) व्यञ्जन से युक्त; होता है वह; (**तैरोव्यञ्जनः =**) तैरोव्यञ्जन संज्ञक (स्वरित) स्वर; होता है। जैसे–"इडे॑। रन्ते॑। हव्ये॑। काम्ये॑"।

अ०— उदात्तात्परो यः स्वरः व्यञ्जनयुतः स तैरोव्यञ्जनसंज्ञः स्यात्। यथा–"हव्ये काम्ये इडे रन्ते चन्द्रे ज्योते अदिते सरस्वति" इत्यादि ॥ ११७ ॥

उदवग्रहस्तैरोविरामः ॥ ११८ ॥

सू० अ०—सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम अक्षर उदात्त हो तो तैरोविराम (संज्ञक स्वरित स्वर निष्पन्न होता है)।

उ०—(**उदवग्रहः =**) उदात्तावग्रहः; (**तैरोविरामः =**) तैरोविराम-संज्ञकः; स्वरो भवति। अयं च समस्तपदेषु भवति अवग्रहवचनात्। अवग्रहाभावे तु तैरोव्यञ्जन एव। यथा—"गोप॑ताविति गो-प॑तौ" (वा० १।१), "यज्ञप॑तिमिति यज्ञ-प॑तिम्" (वा० ६।११) ॥

उ० अ०—(**उदवग्रहः =**) सावग्रह पद के पूर्व-पद का अन्तिम अक्षर उदात्त हो तो; (**तैरोविरामः =**) तैरोविराम संज्ञक (स्वरित) स्वर; होता है।

और यह समस्त पदों में ही होता है, (सूत्र में) पूर्व-पद (अवग्रह) का कथन होने से। पूर्व-पद (अवग्रह) का अभाव होने पर तो तैरोव्यञ्जन ही होता है। जैसे—"गोप॑ता॒विति॒ गो-प॑तौ", "य॒ज्ञप॑ति॒मिति॑ य॒ज्ञ-प॑तिम्"।

अ०—उच्चशब्द उदात्तवाची। उदात्तोऽवग्रहः तत उत्तरः तैरोविरामसंज्ञः स्यात्। अयं च पदकाल एव भवति अवग्रहवचनात्। अवग्रहाभावे तु तैरोव्यञ्जन एव। यथा—"गोपता इति गो-पतौ"। "यज्ञपतिमिति यज्ञ—पतिम्"॥ ११८॥

विवृत्तिलक्षणः पादवृत्तः॥ ११९॥

सू० अ०—विवृत्ति-विशिष्ट (विवृत्ति से समन्वित) (स्वरित) पादवृत (संज्ञक होता है)।

उ० स्वरयोरनन्तरयोरन्तरं विवृत्तिरुच्यते, तया लक्ष्यत इति **विवृत्तिलक्षणः।** सः; (**पादवृत्तः** =) पादवृत्तसंज्ञः; स्वरो भवति। विवृत्या व्यवहित इत्यर्थः। यथा—"ध्रु॒वा अ॑सद॒न्नृ॒तस्य॑" (वा० २।६)। "का ई॒म् = का ई॑मरे पिशङ्गिला" (वा० २३।५५)॥ ११९॥

उ० अ०—दो अव्यवहित स्वरों का मध्यवर्ती (काल) व्यवधान विवृत्ति कहलाता है। उसके द्वारा जो लक्षित (निर्दिष्ट, समन्वित) होता है वह=**विवृत्तिलक्षणः।** वह; (पादवृत्तः =) पादवृत्त संज्ञक; (स्वरित) स्वर होता है। विवृत्ति से व्यवहित—यह अर्थ है। जैसे—"ध्रु॒वा अ॑सद॒न्नृ॒तस्य॑"। "का ई॒म् = का ई॑मरे पिशङ्गिला"।

अ०—स्वरयोरनन्तरयोरन्तरं विवृत्तिरुच्यते। विवृत्या लक्ष्यत इति विवृत्तिलक्षणः। विवृत्या सहित इत्यर्थः। स पादवृत्तसंज्ञः स्वरः स्यात्॥ ११९॥

उदाद्यन्तो न्यवग्रहस्ताथाभाव्यः॥ १२०॥

सू० अ०—सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्त में स्थित वह अनुदात्त अक्षर, जिसके पूर्व में उदात्त हो और बाद में उदात्त हो, ताथाभाव्य (कहलाता है)।

उ०—(**उदाद्यन्तः** =) उदात्तादिरुदात्तान्तः; (**न्यवग्रहः** =) नीचावग्रहः; (**ताथाभाव्यः**=) ताथाभाव्यसंज्ञः; स्वरो भवति। यथा—"तनू॑नप्त्र॒ इति॒ तनू-न॑प्त्रे॑" (वा० ५।५)। "तनू॒नपा॒दिति॒ तनू—नपा॑त्" (वा० २११३) अयं तु स्वरितानां मध्ये पठ्यते। नत्विह माध्यन्दिनानां स्वरित उपलभ्यते। उदात्तानुदात्तौ तु पृथग्भूतावुपलभ्येते। स्वरितत्वं दात्तानुदात्तयोरेकीभावे सति भवति। तस्मिंश्च तिर्यग्गमनं गात्राणां भवति। न च तदिह किञ्चिदुपलभ्यते। अतो माध्यन्दिनानां पदकाले ताथाभाव्यसंज्ञकः कम्पो भवति। तथा चोक्तमाध्यन्दिनमतानुसारिभिः—

"अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित् ।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ।।" (व०प्र०शि०७१)

इति । यस्तु ताथाभाव्यस्य स्वरितानां मध्ये पाठः, अयमन्येषामाचार्याणां मतेन । तेषां हि मते न तनूशब्दः संहितावद्भवति । अतोऽसौ स्वरितो भवति । तदभिप्रायेण स्वरितानां मध्ये पाठः । अयमपि चोपरिष्टाद्वक्ष्यति—"निहितमुदात्तस्वरितपरम्" (४।१३८), "अनवग्रहे" (४।१३९)। "स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते" (४।१४०) इति तदभिप्रायेण वक्ष्यति।

एवमुदात्तानुदात्तस्वरितलक्षणविधानानन्तरं हस्तलक्षणमाह—।। १२० ।।

उ० अ०—(न्यवग्रहः =) सावग्रह पद के पूर्व-पद के अन्त में स्थित वह अनुदात्त अक्षर; (उदाद्यन्तः =) जिसके पूर्व में उदात्त हो और बाद में उदात्त हो; (ताथाभाव्यः =) ताथाभाव्यसंज्ञक; स्वर होता है। जैसे—"तनू नप्त्र इति तनू-नप्त्रे"। "तनू नपादिति तनू-नपात्"। इस (ताथाभाव्य) का स्वरितों के मध्य में पाठ हुआ है। किन्तु यहाँ पर माध्यन्दिन शाखा में स्वरित प्राप्त नहीं होता है। उदात्त और अनुदात्त पृथक्-पृथक् उपलब्ध होते हैं। और स्वरित उदात्त और अनुदात्त के एक होने पर (निष्पन्न होता है)। उस (= स्वरित) में गात्रों का तिर्यग्गमन होता है। और वह कुछ भी यहाँ उपलब्ध नहीं होता है। इसलिए माध्यन्दिन संहिता के पद-पाठ में ताथाभाव्य संज्ञक कम्प होता है। माध्यन्दिन शाखा के मत का अनुसरण करने वाले औज्जिहायनक ने वैसा कहा भी है—

"जब कहीं दो उदात्तों के मध्य में अनुदात्त अवग्रह (=पूर्व-पद का अन्तिम अक्षर) (होता है वहाँ) ताथाभाव्य (संज्ञक) कम्प होता है। तनूनप्त्रे—इसका उदाहरण है"। (प्रस्तुत प्रातिशाख्य में) स्वरितों के मध्य में जो यह ताथाभाव्य का (विधान, उल्लेख) (किया गया है) वह अन्य आचार्यों के मत से (किया गया है)। उन (आचार्यों) के मत में तनू शब्द संहिता के समान नहीं होता है। इसलिए यह स्वरित होता है। इस अभिप्राय से स्वरितों के मध्य में पाठ (किया गया है)। यह (सूत्रकार) भी इसी अभिप्राय से आगे कहेंगे—"उदात्त बाद में होने पर और स्वरित बाद में होने पर (वह स्वरित) अनुदात्त (हो जाता है)", "(४।१३८ में उक्त अनुदात्तत्व) पृथक्करण (अवग्रह) न होने पर (होता है)"। "(कतिपय आचार्यों का कहना है कि उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर) स्वरित का अन्तिम भाग अनुदात्त हो जाता है" यह उनके अभिप्राय से कहेंगे।

इस प्रकार उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के स्वरूप का विधान करने के अनन्तर (सूत्रकार) हस्त का स्वरूप बतलाते हैं—

अ०— ꣡ ꣡ ꣡ यथा—"तनूनप्त्र इति तनू–नप्त्रे"। "तनूनपादिति तनू–नपात्" । यद्यप्यय न स्वरितः तथापि गात्राणां कम्पेन निष्पन्नत्वात् स्वरितमध्ये ज्ञेयः । तदुक्तं याज्ञवल्क्यशिक्षायां औज्जिहायनकैर्माध्यन्दिनमतानुसारिभिः—

"अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित् ।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ।।"

इति । यद्वा आपस्तम्बादीनामत्र पदकाले स्वरितपाठात् तदभिप्रायमिदं प्रसङ्गादुक्तमित्यवधेयम् ।। १२० ।।

हस्तेन ते ।। १२१ ।।

सू० अ०—हस्त के द्वारा वे (पूर्वोक्त उदात्त आदि स्वर) (प्रदर्शित किए जाते हैं) ।

उ०—अनेन प्रकारेण हस्तेन ते स्वराः प्रदर्श्यन्ते । तत्रोदात्ते ऊर्ध्वगमनं हस्तस्य, अनुदात्तेऽधोगमनं हस्तस्य । एतत्सर्वेषामाचार्याणां मतेन स्थितम् । स्वरिते तु विप्रतिपद्यन्ते । तत्प्रकाशनार्थमिदमाह - ।। १२१ ।।

उ० अ०—इस प्रकार से; हस्तेन = हस्त के द्वारा; ते = वे; स्वर प्रदर्शित किये जाते हैं । उनमें से उदात्त (के उच्चारण) में हस्त का ऊर्ध्वगमन (होता है), अनुदात्त (के उच्चारण) में हस्त का अधोगमन । यह सभी आचार्यों के मत से निश्चित है । स्वरित के विषय में तो (आचार्यों में) मत-वैभिन्य है । उसको बतलाने के लिए (सूत्रकार) यह कहते हैं—

अ०—ते पूर्वोक्ता उदात्तादयः स्वरा हस्तेन प्रदर्शनीयाः । तत्र ऊर्ध्वगमनं हस्तस्योदात्ते, अनुदात्तेऽधोगमनम्, स्वरिते तिर्यग्गमनम् । उक्तं हि—

"ऋचो यजूंषि सामानि हस्तहीनानि यः पठेत् ।
अनर्हो ब्राह्मणस्तावत् यावत्स्वारं न विन्दति ।।"

यद्वा—

"उदात्ते तर्जनी स्पृश्याऽनुदात्ते तु कनिष्ठिका ।
स्वरितेऽनामिका स्पृश्या प्रचये मध्यमा तथा ।।" इति ।

स्वरिते विशेषमाह—।। १२१ ।।

चत्वारस्तिर्यक्स्वरिताः ।। १२२ ।।

सू० अ०—चार स्वरित (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट) (हाथ को) तिरछा करके (प्रदर्शित किये जाते हैं) ।

उ०—जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा एते **चत्वारः स्वरिताः तिर्यग्घस्तं** कृत्वा स्वरणीयाः; पितृदानवद्धस्तं कृत्वेत्यर्थः ॥ १२२ ॥

उ० अ०—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ये; **चत्वारः** = चार (**स्वरिताः** = स्वरित); हाथ को; **तिर्यक्** = तिरछा; करके प्रदर्शित किये जाने चाहिए; पितृ–पिण्ड-प्रदान के समय की हस्त–मुद्रा के समान हाथ को करके—यह अर्थ है।

अ०—जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाश्चत्वारस्तिर्यग्घस्तं कृत्वा प्रदर्शनीयाः, पितृदानवद्धस्तं कृत्वेत्यर्थः। तिर्यग्घस्तकरणं माध्यन्दिनीयानामेव। सूत्रकारस्य बहुशाखोपरि तन्त्रेण प्रवृत्तत्वात् ॥ १२२ ॥

काण्वानां विशेषमाह—

अनुदात्तं चेत् पूर्वं तिर्यङ् निहत्य काण्वस्य ॥ १२३ ॥

सू० अ०—आचार्य काण्व के अनुसार यदि अनुदात्त पूर्व में हो तभी (जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट के उच्चारण में हाथ को) तिरछा किया जाता है।

उ०—एतेषां चतुर्णां जात्यादि नाम्; (**चेत्** =) यदि; **अनुदात्तं पूर्वं** भवति तदा **तिर्यग्घस्तं** कृत्वा स्वरयितव्याः; **काण्वस्य** = काण्वाचार्यस्य मतेन। उदात्तपूर्वे अपूर्वे च न भवति। अनुदात्तपूर्वो यथा–"वैष्णव्यौ" (वा० १।१२)। "धान्यमसि" (वा० १।२०)। "स्तुपोऽसि" (वा० २।२)। "वेदोऽसि" (वा० २।२१)। "अभ्यर्षत" (वा० १७।९८)। "योजान्विन्द्र ते"। (वा० ३।५१) 'अभीन्धताम्मुखे" (वा० ११।६१)। स्रुचीव घृतम्" (वा० २०।७९) एतेषु तिर्यग्घस्तः क्रियते। उदात्तपूर्वेष्वपूर्वेषु च जात्यादिषु तैरोव्यञ्जनवद्धस्तः क्रियते। उदात्तपूर्वो भवति यथा–"पञ्चदशो व्योमा" (वा० १४।२३)। "कतिधा व्यकल्पयन्' (वा० ३१।१०)। अपूर्वो भवति यथा–"त्र्यम्बकम्" (वा० ३।६०)। "द्रवन्नः सर्पिरासुतिः" (वा० ११।७०) ॥ १२३ ॥

उ० अ०—इन जात्य इत्यादि चार (स्वरितों) के; **पूर्वम्** = पहले; **चेत्** = यदि; **अनुदात्तम्** = अनुदात्त (स्वर); होता है; तब हाथ को; **तिर्यक्** = तिरछा; करके उच्चारण करना चाहिए; (**काण्वस्य** =) काण्व आचार्य के मत से। उदात्त पूर्व में होने पर अथवा कोई भी स्वर पूर्व में न होने पर ऐसा (= तिर्यक्-हस्त) नहीं होता है। अनुदात्त पूर्व में होने पर जैसे –"वैष्णव्यौ" "धान्यमसि", "स्तुपोऽसि", "वेदोऽसि, "अभ्यर्षत", "योजान्विन्द्र ते", "अभीन्धताम्मुखे", "स्रुचीवघृतम्"—इन (स्वरितों) में हाथ को तिरछा किया जाता है। उदात्तपूर्व और अपूर्व जात्यादि (स्वरितों) में तैरोव्यञ्जन की

भाँति हाथ किया जाता है। उदात्त पूर्व में होने पर जैसे –"पञ्चदशो व्योमा", "कतिधा व्यकल्पयन्"। अपूर्व होने पर जैसे—"त्र्यम्बकम्"। "द्रवन्नः सर्पिरासुतिः"।

अ०—एतेषां चतुर्णां जात्यादीनां यद्यनुदात्तं पूर्वं भवति तदैव तिर्यग्घस्तं कृत्वा स्वराः प्रदर्शनीयाः स्युः काण्वाचार्यमतेन। यथा–"वैष्णव्यौ"। "धान्यम्"। "तुथोऽसि" "वेदोऽसि"। "अभ्यर्षत"। "योजा न्विन्द्र"। "अभीन्धताम्"। "स्रुचीव" एतेषु तिर्यग्घस्तः कार्यः। अनुदात्तं चेत् पूर्वमिति किम् ? "पञ्चदशो व्योमा सप्तदशः"। "कतिधा व्यकल्पयन्"। "त्र्यम्बकम्"। "द्रवन्नः"॥ १२३॥

ऋजुन्निहत्य प्रणिहन्यते उदात्ते॥ १२४।

सू० अ०—उदात्त बाद में होने पर हाथ को सीधे नीचा करके तदनन्तर प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाया जाता है।

उ०—**ऋजुन्निहत्य** हस्तमनुदात्तवत् ततः; (**प्रणिहन्यते** =) प्रकर्षेण निहन्यते =नीचीक्रियते। जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाः। **उदात्ते** परभूते। यथा–"भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव" (वा० ३।५) "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्" (वा० १।१०)। "यासद्विश्वन्यत्रिणम्" (वा० १७।१६)। "स्रुचीवेति" (वा० २०।७९)। उदात्त इति कस्मात् ? "धान्यमसि धिनुहि देवान्" (वा० १।२०)। "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ" (वा० १।१२)॥ १२४॥

उ० अ०—हाथ को अनुदात्त के उच्चारण के समान; **ऋजुन्निहत्य**=सीधे नीचे ले जाकर; तदनन्तर; **प्रणिहन्यते** = प्रकृष्ट रूप से नीचे ले जाया जाता है = नीचे किया जाता है। **उदात्ते**=उदात्त बाद में होने पर; जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट (के उच्चारण में उपर्युक्त प्रकार से हस्त-प्रदर्शन किया जाता है)। जैसे—"भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव" देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्" "यासद्विश्वन्यत्रिणम्"। स्रुचीवेति"। उदात्त बाद में होने पर यह क्यों कहा ? "धान्यमसि धिनुहि देवान्"। "पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ"।

अ०—जात्यादिचत्वार उदात्ते परभूते सति हस्तं ऋजुं कृत्वा प्रदर्शनीयाः। ऋजुत्वं च मनुष्यदानवद्धस्तस्य। यथा–"भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव"। "देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोः"। "यासद्विश्वन्यत्रिणम्"। अत्रापि काण्वस्येत्यनुवृत्तिः। तेनापस्तम्बादीनामिदं न। उदात्ते पर इति किम् ? "धान्यमसि"। "वैष्णव्यौ"॥ १२४॥

तीक्ष्णोऽभिनिहितः परम्परं मृदुस्त्वन्यः॥ १२५॥

सू० अ०—अभिनिहित तीक्ष्ण (होता है) तथा अन्य (स्वरित) क्रमशः मृदु (होते हैं)।

उ०—तीक्ष्ण उच्चारणतः; हस्तेन चाभिनिहितः स्वरो भवति । ततोऽन्यः (मृदुः =) मृदुप्रयत्नः; भवति । किमविशेषेणेत्याह—परस्परंशब्दोऽव्ययम् । पूर्वमपेक्ष्य परः परमपेक्ष्य पर इत्येवम् । यथा अभिनिहितमपेक्ष्य क्षैप्रः क्षैप्रमपेक्ष्य प्रश्लिष्टः । क्षैप्रे जात्यस्यान्तर्भावो द्रष्टव्यः । तथा चोक्तम्—

"सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहितः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम् ।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ ॥
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते ।
पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत् स्वारबलाबलम् ॥ इति ॥

(व० प्र० शि० १०२-१०३) इति ।

उ० अ०—उच्चारण की दृष्टि से और हाथ की दृष्टि से; अभिनिहितः = अभिनिहित स्वरित; तीक्ष्णः = तीक्ष्ण प्रयत्न वाला; स्वर होता है । उससे अन्य (स्वरित); (मृदुः =) मृदु प्रयत्न वाले; होते हैं । क्या बिना किसी विशेष के (अर्थात्–अभिनिहित से अतिरिक्त क्या सभी स्वरित समान रूप से मृदु प्रयत्न वाले हैं) ? इसका उत्तर देते हैं-परस्परम-यह शब्द अव्यय है । पूर्व की अपेक्षा परवर्ती, परवर्ती की अपेक्षा (उससे) परवर्ती–इस प्रकार (जानना चाहिए) । जैसे–अभिनिहित की अपेक्षा क्षैप्र, क्षैप्र की अपेक्षा प्रश्लिष्ट (मृदुतर होता है) । क्षैप्र (स्वरित) में जात्य (स्वरित) का अन्तर्भाव समझना चाहिए । वैसा कहा भी गया है– "अभिनिहित सबसे अधिक तीक्ष्ण प्रयत्न वाला होता है । उसके बाद में प्रश्लिष्ट (का स्थान है) (अर्थात् प्रश्लिष्ट अभिनिहित की अपेक्षा मृदु प्रयत्न वाला होता है) । तदनन्तर जात्य और क्षैप्र ये दोनों स्वरित मृदुतर प्रयत्न वाले माने गये हैं । तैरोव्यञ्जन (स्वरित) को उनसे मृदुतर कहा जाता है । पादवृत्त स्वरित मृदुतम प्रयत्न वाला होता है । यह स्वरित स्वरों का बलाबल है ।" उदाहरण कहे ही जा चुके हैं ।

अ०—तीक्ष्ण उच्चारणतो हस्तस्य अभिनिहतस्वरः स्यात् । ततोऽन्यो मृदुप्रयत्नः स्यात् । परंपरशब्दोऽव्ययम् । पूर्वं पूर्वमपेक्ष्य पर इत्यर्थः । यथा अभिनिहतमपेक्ष्य क्षैप्रः । उक्तं च—

"सर्वतीक्ष्णोऽभिनिहतः प्रश्लिष्टस्तदनन्तरम् ।
ततो मृदुतरौ स्वारौ जात्यक्षैप्रावुभौ स्मृतौ ॥
ततो मृदुतरः स्वारस्तैरोव्यञ्जन उच्यते ।
पादवृत्तो मृदुतमस्त्वेतत् स्वारबलाबलम् ॥"

उक्तान्येवोदाहरणानि ॥ १२५ ॥

तस्यादित उदात्तं स्वरार्धमात्रम् ॥ १२६ ॥

सू० अ०—उस (स्वरित) के आदि में स्वर का आधा भाग उदात्त (होता है)।

उ०—(**तस्य** =) स्वरितस्य स्वरस्य; (**आदितः** =) आदौ; **उदात्तं** ज्ञातव्यम् । तच्च; (**स्वरार्धमात्रम्** =) स्वरार्धमात्राकालम् । यद्येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरस्तथाप्यर्धमुदात्तं परमनुदात्तम् । अयं तु स्वरिते उदात्तानुदात्तप्रविभागो द्रष्टव्यः । स्वरितशब्देनोदात्तानुदात्तं निर्वर्त्य पृथक्श्रुति स्वरान्तरमभिधीयते । यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरस्य कांस्यस्योत्पत्तिः, यथा च गुडदध्नोरेकीभावे मार्जिकोत्पत्तिः, एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तिः ॥ १२६ ॥

उ० अ०—(**तस्य** = उसके =) स्वरित स्वर के; (**आदितः** =) प्रारम्भ में; **उदात्तम्** = उदात्त (स्वर) जानना चाहिए । और वह (उदात्त); (**स्वरार्धमात्रम्** =) उतने काल (तक उच्चारित होने) वाला (होता है) जितना (सम्बद्ध) स्वर का आधा भाग है। चाहे (स्वरित) स्वर एक मात्रा वाला हो, चाहे दो मात्रा वाला हो, चाहे तीन मात्रा वाला हो तथापि (सर्वत्र उसका) आधा भाग उदात्त (होता है) और परवर्ती (आधा भाग) अनुदात्त (होता है)। स्वरित शब्द के द्वारा उदात्त और अनुदात्त को छोड़कर उनसे अन्य स्वर का कथन होता है, जिसका उच्चारण (इन दोनों से) भिन्न प्रकार से होता है। जिस प्रकार त्रपु (सीसा) और ताम्र का संयोग होने पर कांस्य (कांसा नाम की नवीन धातु) की उत्पत्ति होती है, और जिस प्रकार गुड़ और दही का योग होने पर मार्जिका (नामक अन्य वस्तु) की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उदात्त और अनुदात्त का संयोग होने पर स्वरित (नामक भिन्न स्वर) की उत्पत्ति होती है।

अ०—तस्य स्वरितस्यादावुदात्तं ज्ञेयम् । तच्चार्धमात्राकालम् । यद्येकमात्रो यदि द्विमात्रो यदि त्रिमात्रः स्वरितस्तथापि स्वरितस्यादावर्धमुदात्तम् । अयं विभागः स्वरित एव । तस्यैवोदात्तानुदात्तोभयप्रयत्ननिष्पन्नत्वात् । स्वरितस्वर एव उदात्तानुदात्ते निवृत्य पृथक्स्वरो भवति । यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे धात्वन्तरं कांस्यं भवति । यथा "धान्यम्" इत्यत्र पूर्वार्धमात्रा उदात्तः, उत्तरानुदात्ता सार्धा । "कन्या" इत्यत्रापि पूर्वा अर्धमात्रा, अपरा अध्यर्धमात्रा । एवं प्लुतेऽपि ॥ १२६ ॥

सप्त ॥ १२७ ॥

सू० अ०—(साम-मन्त्रों में) सात (स्वर प्रयुक्त होते हैं)।

उ०—सामसु सप्त स्वरानाहुः षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादान् । ननु यजुर्वेदलक्षणप्रक्रमे एवमुदात्तानुदात्तसंयोगे स्वरितोत्पत्तौ कः सामलक्षणप्रसङ्गः ?

उच्यते—अग्नौ यजुर्वेदे अध्वर्योः सामगानं विहितम्—"नान्योऽध्वर्योर्गायेदिष्टका वा एता विचितो ह स्याद्यदन्योऽध्वर्योर्गायेत्" (श० ब्रा० ९।१।२) इति शातपथे सञ्चितिकाण्डे। अतोऽध्वर्युकर्तृकमिति कृत्वा कश्चिल्लक्षणांशः कृतः सामसु। अपरे त्वाहुः—जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टतैरोव्यञ्जनतैरोविरामपादवृत्ताः सप्त स्वरा अत्रावधार्यन्ते। ताथाभाव्यस्तु वाजसनेयिनां निवार्यते ॥ १२७ ॥

उ० अ०—साम-मन्त्रों में (आचार्य); सप्त = सात; स्वर बतलाते हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निपाद। (प्रश्न) यजुर्वेद के लक्षण पर विचार करने के समय में इस प्रकार उदात्त और अनुदात्त का संयोग होने पर स्वरित की उत्पत्ति (के विधान के प्रसङ्ग) में—साम के लक्षण का क्या प्रसङ्ग है? बतलाते हैं—यजुर्वेद में अग्निचयन के प्रसङ्ग में अध्वर्यु के हेतु साम-गान विहित है—"अध्वर्यु से अन्य कोई न गाये। क्योंकि यह साम ईंटे हैं। कोई अन्य गायेगा तो यह वेदी ठीक नहीं होगी। इसलिए अध्वर्यु से अन्य कोई न गाये"-यह शतपथ के सञ्चिति-काण्ड में है। इसलिए (सामगान) अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है—इस बात को ध्यान में रखकर लक्षण का कुछ अंश साम-मन्त्रों के विषय में किया गया है। दूसरे (आचार्य) तो कहते हैं—जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र, प्रश्लिष्ट, तैरोव्यञ्जन, तैरोविराम और पादवृत्त—ये सात स्वर यहाँ पर (वाजसनेयी संहिता के हेतु) निश्चित किये जाते हैं। वाजसनेयी शाखा के हेतु ताथाभाव्य का तो निवारण किया जाता है।

अ०—सामसु सप्त स्वराः स्युः। ते च षड्जऋषभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाः। ननु यजुर्वेदलक्षणप्रक्रमे कः सामवेदलक्षणस्य प्रसङ्ग इति चेत्? शृणु—चयने यजुर्वेदे अध्वर्योस्सामगानं विहितम्। "नान्योऽध्वर्योर्गायेदिष्टका वा एताः" इति। यद्वा स्वरितस्वरस्य सप्त भेदा जात्यादय एवात्रोच्यन्त इति। ताथाभाव्यस्तु वाजसनेयिनां निवार्यते ॥ १२७ ॥

त्रीन् ॥ १२८ ॥

सू० अ० – (यजुर्वेद में) तीन (स्वर प्रयुक्त होते हैं)।

उ०—उदात्तानुदात्तस्वरितान् यजुर्वेदे त्रीन् स्वरानाहुः। तथा च उक्ता एव सन्तोऽनूद्यन्त एवेदानीमपवादार्थम् ॥ १२८ ॥

उ० अ०—यजुर्वेद में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन; त्रीन् = तीन; स्वरों को (आचार्य) बतलाते हैं। इन (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) को यद्यपि पहले कहा जा चुका है, तथापि (दूसरे मतों के) निराकरण के लिए अब इनको दूसरी बार कहा जा रहा है।

अ०—यजुर्वेदे उदात्तानुदात्तस्वरितस्वरास्त्रय एवेत्येके मन्यन्ते ॥ १२८ ॥

द्वौ ॥ १२६ ॥

सू० अ०—(शतपथ ब्राह्मण में) दो (स्वर प्रयुक्त होते हैं) ।

उ०—किमविशेषेण यजुर्वेदे त्रीन् स्वरानाहुः । नेत्युच्यते । द्वौ स्वरावुदात्तानुदात्तौ भाषिकलक्षितौ शतपथब्राह्मणे आहुः । पारिशेष्यान्मन्त्रेषु त्रैस्वर्यम् ॥ १२९ ॥

उ० अ०—क्या विना किसी विशेष के यजुर्वेद में तीन स्वरों को बतलाते हैं । नहीं, बतलाते हैं । शतपथ ब्राह्मण में भाषिक संज्ञक; द्वौ = दो; स्वरों-उदात्त और अनुदात्त को बतलाते हैं । अवशिष्ट होने से मन्त्रों में तीन स्वर हैं ।

अ०—उदात्तानुदात्तलक्षणौ द्वावेव स्वरौ यजुर्वेद इत्यन्ये । यद्वा मन्त्रे त्रीन्, शतपथब्राह्मणे भाषिकलक्षणे उदात्तानुदात्तौ द्वावेव स्वरौ ॥ १२६ ॥

एकम् ॥ १३० ॥

सू० अ०—(यज्ञों में) एक (स्वर प्रयुक्त होता है) ।

उ०—तानलक्षणमेकं स्वरमाहुर्यज्ञकर्मणि ॥ १३० ॥

उ० अ०—यज्ञ कर्म में एकश्रुति (तान) संज्ञक; एकम् = एक; स्वर (आचार्य) बतलाते हैं ।

अ०—तानस्वरलक्षणमेकमेव स्वरं मन्यन्ते केचित् यद्वा यज्ञकर्मणि तानलक्षणमेकं स्वरमाहुः ॥ १३० ॥

एवमविशेषेण यज्ञकर्मण्येकस्वरप्राप्तौ विशेषमाह यज्ञकर्मणि—

सामजपन्यूङ्खवर्जम् ॥ १३१ ॥

सू० अ०—साम, जप और न्यूङ्ख को छोड़कर (यज्ञ-कर्म में एकश्रुति होती है) ।

उ०—प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामशब्देनोच्यते; "विश्वेदेवाः शृणुत" इति जपः; न्यूंखो बह्वृचि प्रसिद्धः । (सामजपन्यूङ्खवर्जम् =) एतानि वर्जयित्वा; यज्ञकर्मण्येकः स्वरो भवति तानलक्षणः ॥ १३१ ॥

उ० अ०—गाया जाने वाला मन्त्र-वाक्य साम शब्द से कहा जाता है । "विश्वेदेवाः शृणुत"-यह जप है । न्यूङ्ख ऋग्वेद में प्रसिद्ध है । इन (साम, जप और न्यूङ्ख) को छोड़कर; यज्ञ-कर्म में एकश्रुति (तान) संज्ञक एक स्वर होता है ।

अ०—प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामशब्देनोच्यते । "विश्वेदेवाः शृणुत" इत्यादिजपविधिप्राप्तो जपः । न्यूङ्खस्तु आश्वलायनाचार्येण श्रौतसूत्रे अष्टमाध्याये "चतुर्थेऽहनि०"

इति सलक्षण उक्तः। तथाहि—"चतुर्थेऽहनि प्रातरनुवाकप्रतिपाद्योर्ध्वाडानूङ्खो, द्वितीयं स्वरमोङ्कारं त्रिमात्रमुदात्तं त्रिस्तस्य तस्य चोपरिष्टात् अपरिमितान्यं च वार्धौकराननुदात्तानुत्तमस्य तु ओ (ओ) न् पूर्वमक्षरं निहन्यते"। न्यूङ्खमाने तदपि निर्देशनायोदाहरिष्यामः—"आपो नु ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ओ"। तेषु प्रथम—सप्तम—त्रयोदशास्त्रय उदात्तास्त्रिमात्राः। इतरे द्वादशानुदात्ता अर्धौकारा द्रष्टव्याः। अन्त्यस्त्वनुदात्तस्त्रिमात्र इति विवेकः। एतानि सामजपन्यूङ्खानि वर्जयित्वाऽन्यत्र तानस्वरो यज्ञकर्मणि स्यात्॥ १३१॥

प्रावचनो वा यजुषि ॥ १३२ ॥

सू० अ०—अथवा यजुर्वेद में प्रावचन स्वर (तीन स्वरों) का (प्रयोग करना चाहिए)।

उ०—प्रवचनशब्देनार्षपाठ उच्यते। तत्र भवः स्वरः **प्रावचनः**, स च **यजुषि** भवति। **वा** तान इति विकल्पः। स च त्रैस्वर्यलक्षण एव भवति। "प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु" (४।१८) इत्यनेनैकस्मात् पर आर्ष इति॥ १३२॥

उ० अ०—प्रवचन शब्द के द्वारा आर्षपाठ को कहा जाता है। वहाँ (=प्रवचन में) होने वाला स्वर = **प्रावचनः**। वह भी; **यजुषि** = यजुर्वेद (यजुर्मन्त्रों) में; होता है। **वा** = अथवा तान होता है—यह विकल्प है। और वह (प्रावचन स्वर) तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) रूप वाला होता है।[क] "पद-पाठ में प्रगृह्य (संज्ञक पद) इति के द्वारा व्यवहित हो जाता है" इत्यादि (सूत्रों से विहित पद-पाठ) से अन्य आर्ष-पाठ (संहिता-पाठ) है।

अ०—प्रवचनशब्देनार्षपाठ उच्यते, तत्र भवः स्वरः प्रावचनः, स वा यजुर्वेदे स्यात्। स च त्रैस्वर्यलक्षण एव। तानो वा यज्ञकर्मणीति विकल्पः।

एवं स्वरमुक्त्वा परिभाषामाह—॥ १३२॥

तमिति विकारः ॥ १३३ ॥

सू० अ०—द्वितीया विभक्ति के द्वारा (निर्दिष्ट को) विकार (जानना चाहिए)।

उ०—तमित्युत्सृष्टसर्वनामिका-द्वितीयाविभक्तिर्गृह्यते। द्वितीयया यो निर्दिश्यते **विकारः** प्रत्येतव्यः। यथा—"अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" (४।१) इति मकारोऽनु-

---

(क) उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों को प्रावचन स्वर कहा जाता है। प्रवचन अर्थात् अध्यापन कर्म में प्रयुक्त होने वाले तीन स्वर ही प्रावचन स्वर हैं। यज्ञकर्म में एकश्रुति (तान) स्वर के विकल्प में प्रावचन स्वर का विधान किया गया है।

स्वारविकारमापद्यते। "भाविभ्यः सः षं समानपदे" (३।५६) इति सकारः षकार-विकारमापद्यते ॥ १३३ ॥

उ० अ०—तम – इसके द्वारा सर्वनाम को छोड़कर (केवल) द्वितीया विभक्ति का ग्रहण होता है। द्वितीया (विभक्ति) के द्वारा जो निर्दिष्ट होता है उसे **विकार** जानना चाहिए। जैसे—"रेफ और ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर मकार अनुस्वार (हो जाता है)"[क]—इस (सूत्र) से मकार अनुस्वार रूप विकार को प्राप्त होता है। "एक पद में अकण्ठ्य स्वर (=भावी = अ, आ से भिन्न स्वर) से बाद में स्थित सकार षकार (हो जाता है)" इस (सूत्र) से सकार षकार रूप विकार को प्राप्त होता है।

अ०—अस्मिन् शास्त्रे द्वितीयया यो निर्दिश्यते स विकारः स्यात्। यथा—"अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" इत्यादि ॥ १३३ ॥

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ॥ १३४ ॥

सू० अ०—सप्तमी के द्वारा निर्दिष्ट होने पर पूर्ववर्ती के (कार्य को जानना चाहिए)।

उ०—तस्मिन्निति सप्तम्यन्तं परिगृह्यते। सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वस्य कार्यं वेदितव्यम्। पूर्वस्य पदान्तस्य विधिः प्रत्येतव्यः। यथा–"ककारपकारयोः सकारम्" (३।२१) इति। "तथयोः सम्" (३।१३५) इति ॥ १३४ ॥

उ० अ० – 'तस्मिन्'–इससे सप्तम्यन्त (पद) का ग्रहण होता है। सप्तमी के द्वारा; **निर्दिष्टे** = निर्दिष्ट होने पर; **पूर्वस्य** = पूर्ववर्ती के; कार्य को जानना चाहिए। पूर्ववर्ती पदान्त का विधान समझना चाहिए। जैसे–"ककार और पकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)"[ख] "तकार और थकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)"।

(क) तात्पर्य यह है कि प्रातिशाख्य के सूत्रों में विकार को प्राप्त करने वाले वर्णों को प्रथमा विभक्ति में रखा गया है और विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाले वर्णों को द्वितीया विभक्ति में रखा गया है। यहाँ विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण मकार प्रथमा विभक्ति में रखा गया है तथा विकारात्मक परिणाम के रूप में आने वाला वर्ण अनुस्वार द्वितीया विभक्ति में रखा गया है।

(ख) तात्पर्य यह है कि सूत्र में जब सप्तमी विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट वर्ण या पद उत्तरवर्ती रहता है तब विकार उससे अव्यवहित पूर्व को होता है। इस सूत्र के अनुसार सप्तमी विभक्ति में निर्दिष्ट ककार और पकार बाद में रहते पूर्ववर्ती विसर्जनीय सकार हो जाता है।

अ०—सप्तम्या निर्दिष्टे पूर्वपदान्तस्य विधिर्ज्ञातव्यः। यथा-"तथयोस्सम्" इत्यादि सप्तम्या निर्देशे कृते सति पूर्वोत्तरपदयोरन्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वपदस्य विधिः-"शर्मास्य-वधूतम्" इति। अव्यवहितस्येति किम्? "महित्रीणाम्" इत्यादि ॥ १३४ ॥

तस्मादित्युत्तरस्यादेः ॥ १३५ ॥

सू० अ०—पञ्चमी के द्वारा (निर्दिष्ट) से परवर्ती (पद) के आदि के (कार्य को जानना चाहिए)।

उ०—**तस्मादिति** पञ्चमीनिर्दिष्टात्; (**उत्तरस्यादेः =**) परस्य कार्यं वेदितव्यम्। यथा-"ओकारात्सु" (३।६१), "परेश्च सिञ्चतेः" (३।६४) ॥ १३५ ॥

उ० अ०—**तस्मादिति** = पञ्चमी के द्वारा निर्दिष्ट (पद) से; (**उत्तर-स्यादेः =**) परवर्ती के (आदि के) कार्य को; जानना चाहिए। जैसे-"ओकार से परवर्ती सु (का सकार षकार हो जाता है)"; "परि से परवर्ती सिञ्च् का (सकार षकार हो जाता है)" ॥

अ०—तस्मादिति पञ्चमीनिर्देशेन परस्यादेः कार्यं स्यात्। यथा—"ओकारात्सु" ॥ १३५ ॥

षष्ठी स्थानेयोगा ॥ १३६ ॥

सू० अ०—(सूत्रगत) षष्ठी विभक्ति के द्वारा निर्दिष्ट को कार्य होता है।

उ०—(**षष्ठी =**) षष्ठीविभक्तिः; (**स्थानेयोगा =**) स्थानेयोगिनी; वेदितव्या। षष्ठ्यन्तस्य कार्यं भवतीत्यर्थः। यथा-"यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" (४।१३७), "ऐकारौकारयोः कण्ठ्या पूर्वा मात्रा ताल्वोष्ठ्योरुत्तरा" (१।७३) इति ॥ १३६ ॥

उ० अ०—(**षष्ठी =**) षष्ठी विभक्ति को; (**स्थाने योगा =**) अपने स्थान में कार्य प्राप्त करने वाली; जानना चाहिए। षष्ठ्यन्त को कार्य होता है—यह अर्थ है। जैसे-"दो स्वरों के मध्य में स्थित होने पर पदान्तीय यकार और वकार का लोप हो जाता है",[क] "ऐ और औ में पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य की तथा परवर्ती मात्रा क्रमशः तालु और ओष्ठ स्थानीय वर्णों की होती है।"

अ०—षष्ठीविभक्तिः स्थानेयोगिनी, तत्र षष्ठ्यन्तस्य कार्यं स्यात्। यथा-"यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति ॥ १३६ ॥

(क) सूत्र में यकार और वकार को षष्ठी विभक्ति में निर्दिष्ट किया गया है। अतः सूत्र में विहित कार्य (लोप) यकार और वकार का ही होता है।

तेनेत्यागमः ॥ १३७ ॥

सू० अ०—तृतीया विभक्ति के द्वारा (निर्दिष्ट को) आगम (जानना चाहिए) ।

उ०—तेनेति तृतीयाग्रहणम् । तृतीयया यो निर्दिश्यते स आगमः प्रत्येतव्यः । यथा–"ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे" (४।१५), "प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु" (४।१८) इति ।। १३७ ॥

उ० अ०—'तेन'–इससे तृतीया का ग्रहण (होता है) । (तेनेति =) तृतीया के द्वारा जो निर्दिष्ट होता है उसे; आगम जानना चाहिये । जैसे–"सकार बाद में होने पर ङकार और नकार (क्रमशः) ककार और तकार से (व्यवहित हो जाते हैं)",[क] "पदों में (= पद-पाठ में) चर्चा बाद में होने पर प्रगृह्य (संज्ञक पद) इति (शब्द) से (व्यवहित हो जाता है)" ॥

अ०—तृतीयया यो निर्दिश्यते स आगम इति ज्ञातव्यः । यथा–"ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे" इति ॥ १३७ ॥

अन्तरेण पर्वणी ॥ १३८ ॥

सू० अ०—दो पदों (पर्व) के मध्य में (आगम होता है) ।

उ०–पर्वशब्देन पदमुच्यते । (पर्वणी =) पदयोः; (अन्तरेण =) मध्ये; आगमो भवति । यथा–"प्राङ् सोमः = प्राङ्क्सोमः" (वा०१०।३१) । "प्रत्यङ् सोमः=प्रत्यङ्क्सोमः" (वा० १९।३) । "त्रीन् समुद्रान्=त्रीन्त्समुद्रान् (वा०१३।३२)। "अस्मान् सीते = अस्मान्त्सीते" (वा०१२।७०) ॥ १३८ ॥

उ० अ०—पर्व शब्द के द्वारा पद को कहा जाता है । (पर्वणी =) दो पदों के; (अन्तरेण =) मध्य में; आगम होता है । जैसे–"प्राङ् सोमः = प्राङ्क्सोमः" । [ख] "प्रत्यङ् सोमः = प्रत्यङ्क्सोमः" । "त्रीन् समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान्" । "अस्मान् सीते = "अस्मान्त्सीते" ।

अ०—पर्वशब्देन पदमुच्यते । आगमः पदयोर्मध्ये स्यात् । यथा–"प्राङ् सोमः= "प्राङ्क्सोमः" । "त्रीन् समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान्" ॥ १३८ ॥

(क) सूत्रगत तृतीया विभक्ति के द्वारा आगम का निर्देश होता है । आगम के रूप में विहित ककार और तकार को प्रस्तुत सूत्र में तृतीया विभक्ति में रखा गया है ।

(ख) ४।१५ में विहित आगम (ककार) ङकार और सकार के मध्य में हुआ है ।

पर एकस्मात् ॥ १३९ ॥

सू० अ०—एक (पद) से (विहित आगम उस पद के) पश्चात् होता है।

उ०—एकस्य पदस्य मध्ये य आगमो विधीयते स परो भवति। यथा–"द्वे इति द्वे" (वा० १७।६१)। "शीर्षे इति शीर्षे" (वा० १७।६१)। "प्रगृह्यं चर्चाया-मितिना पदेषु' (४।१८) इत्यनेन एकस्मात् पदात् पर इतिकार आगमो विधीयत इति ॥ १३९ ॥

उ० अ०—(एकस्मात् =) एक पद के मध्य में; जो आगम विहित होता है वह; **परः** = बाद में; होता है। जैसे–"द्वे इति द्वे"। "शीर्षे इति शीर्षे"। "पद पाठ में चर्चा वाद में होने पर प्रगृह संज्ञक पद इति शब्द से व्यवहित हो जाता है" [क] इस (सूत्र) से एक पद के वाद में इति शब्द रूप आगम का विधान किया जाता है।

अ०—यत्रैकस्य पदस्य आगमो विधीयते तत्र परः स्यात्। "द्वे इति द्वे"। "शीर्षे इति शीर्षे"। अत्र "प्रगृह्यं चर्चायामितिमा पदेषु" इति इतिशब्दो विधीयते। स च एकस्मात्पदात्परो भवति ॥ १३९ ॥

उभयोर्विकारः ॥ १४० ॥

सू० अ०—दोनों (= पदान्त और पदादि) का विकार होता है।

उ०—द्वितीयया निर्दिष्टो विकार इत्यधस्तादुक्तम्। स उभयोर्भवति अन्तरेण पर्वणी च पदान्तपदाद्योरित्यर्थः। एकस्य वा वर्णस्य निर्दिश्यते। यथा–"आ इदम् = एदम्" (वा० ४।१)। "इह ऊर्जम्=इहोर्जन्दधातन" (वा० १९।६३)। एकवर्णस्य भवति यथा–"मो सु नः = मोषूण इन्द्रात्र" (वा० ३।४६)। "सु साव = सुषाव सोमम्" (वा० १९।२) ॥ १४० ॥

उ० अ०—द्वितीया से निर्दिष्ट को विकार (जानना चाहिए)–यह पहले (=१।१२३ में) कहा गया है। वह (विकार); **उभयोः** = दोनों का; होता है = दो पदों के मध्य में (होता है)= पदान्त और पदादि का होता है–यह अर्थ है। अथवा एक वर्ण का निर्दिष्ट होता है। जैसे–"आ इदम् = एदम्"। इह ऊर्जम् = "इहोर्जम्"। एक वर्ण का होता है जैसे–"मो सु नः=मो षू ण इन्द्रात्र"। "सु साव=सु षाव सोमम्"।

(क) ४।१८ में प्रगृह्य पद में इति रूप आगम का विधान किया गया है।

अ०—विकार उभयोर्भवति पूर्वपरयोः स्यादित्यर्थः । यथा—"आ इदम्=एदम्" । "इह ऊर्जम् = इहोर्जम्" । उभयोरिति सम्भवाभिप्रायेण । तेन कुत्रचिदेकस्यापि भवति । यथा—"मो सु नः = मोषुणः" । "सु सात्र = सुषात्र सोमम्" ।। १४० ।।

वर्णस्यादर्शनं लोपः ।। १४१ ।।

सू० अ०—वर्ण की अनुपलब्धि लोप (कहलाती है) ।

उ०—दृशिरुपलब्धिवचनः । अनुपलब्धिरदर्शनं **वर्णस्य लोप** इत्युच्यते । वक्ष्यति "लोपं धौ" (४।३६) इति । यथा—"अयक्ष्माः मा = अयक्ष्मा मावस्ते नः" । "सत्याः नः = सत्या नः सन्त्वाशिषः" (वा०२।१०) ।। १४१ ।।

उ० अ०— दृश् (धातु) उपलब्धि का वाचक है । **वर्णस्य अदर्शनम्** = (वर्ण की) अनुपलब्धि; लोप कहलाती है । (सूत्रकार) कहेंगे—"धि (संज्ञक व्यञ्जन) बाद में होने पर (अरिफित विसर्जनीय) का लोप (हो जाता है)" । जैसे—"अयक्ष्माः मा=अयक्ष्मा मावस्ते नः" । "सत्याः नः = सत्या नः सन्त्वाशिषः" ।

अ०—दृशिधातुरुपलब्धिवचनः । अनुपलब्धिरदर्शनं वर्णस्य लोपसंज्ञं स्यात् । यथा—"अयक्ष्माः मा = अयक्ष्मा मा", "सत्याः नः सन्तु = सत्या नस्सन्तु" । "रेफं स्वरधौ" इति विसर्जनीयलोप इति ।। १४१ ।।

विकारी यथासन्नम् ।। १४२ ।।

सू० अ०—विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण (विकारी) समीपता के अनुसार (विकार को प्राप्त होता है) ।

उ०—विकारोऽस्यास्तीति विकारी । **विकारी** वर्णोऽवचने **यथासन्नं** यो य आसन्नस्तं तमापद्यते । वक्ष्यति—"स्वरे भाव्यन्तस्थाम्" (४।४९) यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकम्" (वा० ३।६०) । "द्रु अन्नः = द्रुवन्नः" (वा० ११।७०) । वचनादन्यदपि भवति । यथा—"अनसो वाही सकारो डकारम्" (३।४७) इति वचनात् सकारस्य डकारः—अनड्वान् । परिभाषासूत्रमेतत् ।। १४२ ।।

उ० अ०—इसका विकार होता है अतः यह विकारी है । **विकारी** = विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण; (कोई विशेष) उल्लेख (कथन) न होने पर; **यथासन्नम्**= समीपता के अनुसार = जो-जो समीपवर्ती है उस-उस को प्राप्त होता है । (सूत्रकार) कहेंगे—"स्वर बाद में होने पर भावी अन्तःस्थ को प्राप्त करता है" । जैसे—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकम्" ।[क] "द्रु अन्नः = द्रुवन्नः" । (विशेष) कथन से अन्य

(क) तात्पर्य यह है कि जहाँ सूत्र में यह निर्दिष्ट नहीं होता है कि यह वर्ण इस वर्ण को प्राप्त होता है वहाँ विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण उच्चारण-स्थान इत्यादि की

(असमीपवर्ती) भी हो जाता है। जैसे—"वाह् बाद में होने पर अनस् का सकार डकार (हो जाता है)" इस कथन से सकार का डकार होता है—अनड्वान्। यह परिभाषा—सूत्र है।

अ०—विकारोऽस्यास्तीति विकारी। विकारी वर्णः वचने यो य आसन्नस्तं तमाप्नोति। यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकम्"। "द्रु अन्नः=द्र्वन्नः"। अत्र वक्ष्यति—"स्वरे भाव्यन्तस्थाम्" इति। चर्चा तु अन्यद्रूपमापद्यते—"अनसो वाहौ सकारो डकारम्" इति। अनड्वान्। अनः वहतीति विग्रहः। वचनादन्यतो डकारः॥ १४२॥

सङ्ख्यातानामनूद्देशो यथासङ्ख्यम्॥ १४३॥

सू० अ०—समान संख्या वाले (पदों अथवा वर्णों) का परवर्ती उल्लेख संख्या के अनुसार (होता है)।

उ०—(संख्यातानामनूद्देशः=) समानसङ्ख्यानां यः पश्चादुद्देशः; स यथासङ्ख्यं भवति। यस्य या सङ्ख्या प्रथमस्य प्रथमः द्वितीयस्य द्वितीयः तृतीयस्य तृतीय इत्यर्थः। वक्ष्यति—"सदो द्यौर्नमस्कृतं पिता पथेषु" (३।३४)। यथा—"सदः कृतम् = सदस्कृतम्" (वा० १९।१८)। "द्यौः पिता = द्यौष्पितोप माम्" (वा० २।११)। "नमः पथे = शर्म सप्रथा नमस्पथे" (वा० १८।५८)। परिभाषासूत्रमेतत्॥ १४३॥

उ० अ०—(संख्यातानामनूद्देशः =) समान संख्या वाले (पदों अथवा वर्णों) का जो पश्चाद्वर्ती उल्लेख (होता है) वह; यथासंख्यम् = संख्या के अनुसार; होता है। जिसकी जो संख्या = प्रथम का प्रथम, द्वितीय का द्वितीय, तृतीय का तृतीय—यह अर्थ है। (सूत्रकार) कहेंगे—"कृतम्, पिता और पथ पद बाद में होने पर सदः, द्यौः और नमः पदों का विसर्जनीय सकार हो जाता है।"[क]......। यह परिभाषा-सूत्र है।

दृष्टि से अपने समीपवर्ती वर्ण को प्राप्त करता है। जैसे—४।४६ में यह विधान है कि स्वर परे रहते भावी वर्ण अन्तःस्थ हो जाता है। यहाँ यह निर्दिष्ट नहीं किया गया है कि अमुक भावी अमुक अन्तःस्थ हो जाता है। भावी अपना समीपवर्ती अन्तःस्थ होता है। उदाहरण—त्रि + अम्बकम् = त्र्यम्बकम्—इ और य् का उच्चारण-स्थान एक है। अतः इ य् को प्राप्त करता है, व् इत्यादि अन्तःस्थ को नहीं।

(क) तात्पर्य यह है कि किसी सूत्र के एक अंश में उल्लिखित पदों अथवा वर्णों की संख्या उसी सूत्र के दूसरे अंश में उल्लिखित पदों अथवा वर्णों की संख्या के समान हो तो वहाँ पूर्ववर्ती अंश के प्रथम का परवर्ती अंश के प्रथम के साथ तथा द्वितीय का द्वितीय के साथ'''सम्बन्ध होता है। जैसे—३।३४ में पूर्व में उल्लिखित

अ०—समानसङ्ख्यानामादेशादयो यथासङ्ख्यं स्युः। यथा—"सदो द्यौर्नमस्कृतं पितापथेषु" सकार इति। "सदस्कृतम्"। "द्यौष्पिता"। "नमस्पथे"॥ १४३॥

सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः सन्निकृष्टस्य ॥ १४४ ॥

सू० अ०—समीपवर्ती तथा दूरवर्ती (उदाहरणों) में से समीपवर्ती (उदाहरण) का (ग्रहण करना चाहिए)।

उ०—यत्रोदाहरणसंशयः तत्रेयं परिभाषोच्यते। **सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोरु**-दाहरणयोः **सन्निकृष्टस्यै**वोदाहरणस्य कार्यं प्रत्येतव्यम्, न तु विप्रकृष्टस्य। यथा—"असि शिवा सुषदा" (२।४०) इत्येवमादिषु परभूतेषु असिशब्द आद्युदात्त उक्तः। तत्र सन्देहः, किं "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा" (वा०१।२७) इत्यत्रासिशब्द आद्युदात्तो भवति, उत "स्योनासि सुषदा" (वा० १०।२६) इति। उभयो-रप्यसिशब्दयोः सुषदाशब्दः परभूतः। तत्रानेनावधारणं क्रियते। यत्रान्यत्रापि सन्नि-कृष्टानि पदानि भवन्ति तत्र कार्यं भवति। तद्यथा—"असि शिवा सुषदा पयस्वती" (२।४०) इत्यत्र पयस्वतीसन्निधानात् "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा" इत्ययमेवाद्युदात्तो भवति न तु "स्योना सुषदा" इति, विप्रकृष्टत्वात्॥ १४४॥

उ० अ०—जहाँ उदाहरण के विषय में संशय हो वहाँ के हेतु यह परिभाषा कही जाती है। **सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोः** = समीपवर्ती और दूरवर्ती उदाहरणों के मध्य में; **सन्निकृष्टस्य** = समीपवर्ती ही उदाहरण का; कार्य जानना चाहिए, दूरवर्ती (उदाहरण) का नहीं। जैसे—शिवा, सुषदा इत्यादि बाद में होने पर असि शब्द को आद्युदात्त कहा गया है। वहाँ सन्देह (होता है)—क्या "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा"—यहाँ 'असि' शब्द आद्युदात्त होता है, अथवा "स्योनासि सुषदा" (यहाँ असि शब्द आद्युदात्त है)? दोनों ही 'असि' शब्दों के बाद में 'सुषदा' शब्द स्थित है। वहाँ पर इस (सूत्र) से निर्णय किया जाता है। जहाँ पर अन्य भी समीपवर्ती पद होते हैं वहाँ कार्य होता है। जैसे—"शिवा, सुषदा, पयस्वती" बाद में होने पर असि (आद्युदात्त होता है)" यहाँ पयस्वती के समीपवर्ती होने से "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा" यहाँ पर ही (असि) आद्युदात्त होता है,

---

पदों की संख्या तीन (सदः, द्यौः, नमः) है और बाद में उल्लिखित पदों की संख्या भी तीन (कृतम्, पिता, पथ) हैं। इसका फल यह है कि कृतम् बाद में होने पर सदः का विसर्जनीय, पिता बाद में होने पर द्यौः का विसर्जनीय और पथ बाद में होने पर नमः का विसर्जनीय सकार होता है।

"स्योनासि सुषदा" यहाँ (असि आद्युदात्त) नहीं होता है, दूरवर्ती होने के कारण।[क]

अ०—यत्रोदाहरणसंशयः तत्रेयं परिभाषा उच्यते। सन्निहितदूरस्थयोर्मध्ये सन्निहितस्य कार्यं स्यात्, न तु विप्रकृष्टस्य। यथा—"असि शिवा सुषदा" इत्येवमादिषु परेषु असिशब्द आद्युदात्तः। तत्र सन्देहः किमु "सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा चासि" इत्यत्र असिशब्द आद्युदात्तः, उत "स्योनासि सुषदासि" इत्यत्र "योनिरसि" इत्यसिशब्दोऽपि। उभयोरप्यसिशब्दयोः सुषदाशब्दः परभूतोऽस्तीति सन्देहः। तत्रावधार्यते—सन्निहितपदे कार्यं स्यादिति। सन्निहितम् "सुक्ष्मा चासि" इत्यादि। "असि शिवा सुषदा पयस्वती" इत्यादिसूत्रे पयस्वतीशब्दसमभिव्याहारात्। न तु "स्योनासि सुषदासि" इत्यादावसीति, विप्रकर्षात्। अत एव तत्र सर्वानुदात्तं पदम्। यद्वा "शिवा चासि स्योना चासि सुषदा" इत्यत्रैव नियम्यते. यथा अत्र सुषदाशब्दात् पूर्वमसिशब्दद्वयं श्रूयते। तत्र यस्य सुषदाशब्दः साक्षात्परभूतः स एवाद्युदात्तः, न तु पूर्वोऽसिशब्दः, स्योनाशब्देन व्यवहितत्वात्। एवमन्यत्रापि योज्यम् ॥ १४४ ॥

पूर्वोत्तरयोरुत्तरस्य ॥ १४५ ॥

सू० अ०—(जब कोई कार्य) पूर्ववर्ती और परवर्ती (दोनों स्थलों में एक साथ लागू होता है) तब परवर्ती (स्थल में कार्य होता है)।

उ०—यत्र; पूर्वोत्तरयोः = पूर्वस्योत्तरस्य च; युगपत् कार्यं प्राप्नोति तत्रोत्तरस्यैव भवति न तु पूर्वस्य। मृग्यमुदाहरणम्। "आ च शास्वा चं" (वा० २१।६१)।

(क) जब सूत्रोक्त कोई विधान दो स्थलों पर लागू होता है और उनमें से किसी एक के लिए निर्णायक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तब उनमें से किस स्थल पर विधान लगेगा? इसके निर्णय के लिए प्रस्तुत सूत्र बतलाता है कि सूत्रगत अन्य पदों के समीपवर्ती स्थल का वहाँ ग्रहण करना चाहिए। जैसे—२।४० में विधान किया गया है कि सुषदा पद से पूर्ववर्ती असि पद आद्युदात्त होता है। सुषदा पद से पूर्ववर्ती असि पद संहिता में दो स्थलों पर उपलब्ध होता है। प्रथम स्थल—सुक्ष्मा चासि शिवा चासि स्योना चासि सुषदा (१।२७); द्वितीय स्थल—स्योनासि सुषदा (१०।२६)। इन दो स्थलों में से २।४० का लक्ष्य स्थल कौन सा है? इसका निर्णय प्रस्तुत सूत्र से किया जाता है। २।४० में पयस्वती पद का उल्लेख है। पयस्वती पद की समीपता होने के कारण १।२७ का सुषदा से पूर्ववर्ती असि पद आद्युदात्त है। १०।२६ का असि पद सुषदा से पूर्ववर्ती होने पर भी आद्युदात्त नहीं है, क्योंकि यह पयस्वती पद से दूरवर्ती है।

अत्र स्वरिताकार उदात्तः। तत्र युगपत्कार्यमुभयोः सन्धावुदात्त एव। स्वरविषयकं चैतत्सूत्रम् ॥ १४५ ॥

उ० अ०—जहाँ; (पूर्वोत्तरयोः =) पूर्ववर्ती और परवर्ती (स्थलों) में; एक साथ कार्य प्राप्त होता है वहाँ; (उत्तरस्य =) परवर्ती का; ही (कार्य) होता है, पूर्ववर्ती का नहीं। (इस परिभाषा-सूत्र का) उदाहरण खोजना चाहिए। "आ च शास्वा च"। यहाँ स्वरित अकार उदात्त हो गया है। दोनों में एक साथ कार्य प्राप्त होने पर संधि के उपरान्त उदात्त ही होता है।[क] यह सूत्र भी स्वर-विषयक है।

अ०—यत्र पूर्वस्योत्तरस्य च युगपत्कार्यं प्राप्नोति तत्र उत्तरस्यैव न तु पूर्वस्य। यथा—"आ च शास्वा च" ॥ १४५ ॥

द्विरुक्तमाम्रेडितं पदम् ॥ १४६ ॥

सू० अ०—दो बार कहा गया पद आम्रेडित (कहलाता है)।

उ०—(द्विरुक्तम् =) द्विरभ्यस्तम्; पदम्; (आम्रेडितम्=) आम्रेडित-संज्ञम्; भवति। यथा—"यज्ञायज्ञा वो अग्नये" (वा० २७४२)। तत्र आम्रेडित-संज्ञायाः प्रयोजनम् —"आम्रेडिते चोत्तरः" (६।३) इत्यादि ॥ १४६ ॥

उ० अ०—(द्विरुक्तम =) दो बार कहा गया; पदम्=पद; (आम्रेडितम्=) आम्रेडित संज्ञक; होता है। जैसे—"यज्ञायज्ञा वो अग्नये"। (यहाँ यज्ञा दो बार कहा गया है, अतः यज्ञायज्ञा आम्रेडित पद है)। आम्रेडित संज्ञा का प्रयोजन—"द्विरुक्त (आम्रेडित पद) में परवर्ती (उपसर्ग अनुदात्त होता है)" इत्यादि।

अ०—द्विरुक्तं पदमाम्रेडितसंज्ञं स्यात्। यथा—"यज्ञायज्ञा वो अग्नये"। प्रयोजनम्—"आम्रेडिते चोत्तरः" इति स्वरचिन्तायां भविष्यति ॥ १४६ ॥

(क) (आ। च। शास्वं। आ। च। प० पा०) ४।१३१ के अनुसार शास्वं का स्वरित (अकार) परवर्ती उदात्त (आकार) को स्वरित बनाना चाहता है और ४।१३२ के अनुसार परवर्ती उदात्त (आकार) पूर्ववर्ती स्वरित (अकार) को उदात्त बनाना चाहता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार परवर्ती ही का कार्य होता है जिससे स्वरित और उदात्त की संधि में संधिज स्वर (आकार) उदात्त होता है। वस्तुतः यह उदाहरण १।१५९ से ही सिद्ध हो जाता है। अतः यह उदाहरण पूर्णतया ठीक प्रतीत नहीं होता है। यही कारण है कि भाष्यकार ने इस उदाहरण को प्रस्तुत करने से पहले ही कह दिया है कि इस सूत्र का उदाहरण खोजना चाहिए।

संहितं स्थितोपस्थितम् ॥ १४७ ॥

सू० अ०—(मध्य में स्थित इति से) मिला हुआ (द्विरुक्त पद) स्थितोपस्थित (कहलाता है) ।

उ०—इत उत्तरं पदसंहिता वर्त्तिष्यते । द्विरुक्तमित्यनुवर्ततें । द्विरुक्तं यत्पदम्; (**संहितम =**) इतिकरणेन मध्यस्थितेन आद्यन्तसंहितेन पूर्वमादिसंहितमुत्तरपदमन्त-संहितम्; (**स्थितोपस्थितम् =**) स्थितोपस्थितसंज्ञम्; भवति । यथा—"द्वे इति द्वे" (वा० १७।६१), "शीर्षे इति शीर्षे" (वा० १७।६१), "पुनरिति पुनः" (वा० ४।१५), "वह्नितममितिवह्नि–तमम्" (वा० १।८), "सस्नितममिति सस्नि–तमम्" (वा० १।८), "पप्रितममिति पप्रि–तमम्" (वा० १।८)। तथा चोक्तम्—

"उपस्थितं सेतिकारं केवलं तु पदं स्थितम् ।
तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते ॥" (ऋ० प्रा० १०।१२–१४)

अस्यार्थः—इतिकरणसहितमुपस्थितसंज्ञं पदं भवति । केवलमितिकरणरहितं स्थितसंज्ञं भवति । यत्र पदान्तपदादी इतिकरणेन संहितावाह तत् स्थितोपस्थितपदमुच्यते । स्थितोपस्थितप्रदेशः–"पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य" (४।१९०) इति ॥

स्थितोपस्थितस्यैव सावग्रहस्य स्वरविशेषविधानार्थमाह—

उ० अ०—इसके आगे पद पाठ का प्रतिपादन किया जायेगा । 'दो बार कहा गया'–इसको (१।१४६ से) अनुवृत्ति हो रही है । दो बार कहा गया जो पद; (**संहितम् =**) मध्य में स्थित इति शब्द से (मिला हुआ होता है)–(जिस इति के) आदि (प्रथम वर्ण) और अन्त (अन्तिम वर्ण) मिले हुए होते हैं = (दो बार कहे गए पद का) पूर्व (पद) (इति शब्द के) आदि से मिला हुआ होता है और उत्तर पद (इति के) अन्त से मिला हुआ होता है, वह; (**स्थितोपस्थितम् =**) स्थितोपस्थित संज्ञक; होता है । वैसा कहा भी गया है—"इति शब्द सहित पद को उपस्थित कहते हैं । केवल पद को तो स्थित कहते हैं । जहाँ वक्ता दोनों (स्थित और उपस्थित) को मिलाकर उच्चारण करता है वह स्थितोपस्थित कहा जाता है । इसका यह अर्थ है–इति शब्द सहित पद उपस्थित संज्ञक होता है । केवल इति शब्द रहित (पद) स्थित संज्ञक होता है । जहाँ (वक्ता) पदान्त और पदादि को इति शब्द से मिला हुआ उच्चारित करता है वह पद स्थितोपस्थित कहलाता है । स्थितोपस्थित का स्थल—"अवग्रह-योग्य पूर्वपद का स्थितोपस्थित पाठ उत्तर-पद के सन्धान के अनन्तर करना चाहिए" । सावग्रह स्थितोपस्थित के स्वर-विशेष के विधान के लिए कहते हैं—

अ०—इत उत्तरं पदसंहिता उच्यते। द्विरुक्तमिति पदमनुवर्त्तते। द्विरुक्तं पदमितिकरणेन मध्यस्थितेन सहितं सेतिकरणम्। "द्वे इति द्वे"। "शीर्षे इति शीर्षे"। तथा चोक्तम्—

"उपस्थितं सेतिकारं केवलं तु पदं स्थितम्।
तत् स्थितोपस्थितं नाम यत्रोभे आह संहिते॥"

अस्यार्थः—इतिकरणसहितं पदं उपस्थितसंज्ञं स्यात्। केवलमितिकरणरहितं पदं स्थितसंज्ञं स्यात्। तत्र प्रथमं ऋग्वेदिनामेव, द्वे इति तेषां पाठात्। इतरत्तु सर्वेषाम्। प्रयोजनं तु—"पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य" इति भविष्यतीति॥ स्थितोपस्थितस्यैव विशेषमाह—

संहितावदग्रहः स्वरविधौ परं च सर्वं चेदनुदात्तम्॥ १४८॥

सू० अ०—स्वर के विषय में पूर्व-पद संहिता के समान (स्वर प्राप्त करता है) और उत्तर-पद भी (संहिता के समान स्वर प्राप्त करता है), यदि वह सर्वानुदात्त हो।

उ०—अवग्रहशब्देन सावग्रहस्य पदस्य पूर्वपदमभिधीयते। अवग्रहः; स्वरविधौ = स्वरचिन्तायाम्; **संहितावत्** स्वरं लभते। इतिकरणेन सह सन्धौ तस्मिंश्च सावग्रहे पदे द्वे भवतः। तत्र पूर्वपदं तावदितिकरणेन सह सन्धौ सहितावत् स्वरं लभते। **परं च** = अवग्रहात् परं पदं संहितावत् स्वरं लभते; (**चेत्** =) यदि; **तत्सर्वमनुदात्तं** भवति। यदि तत्र किञ्चिदक्षरमुदात्तं वा स्वरितं वा भवति, तदा स्वकीयया प्रकृत्या भवति। यथा—"वह्नि॑तम॒मिति॒ वह्नि॑—तमम्" (वा० १।८), "गृ॒ह॒प॒त इति॑ गृह—पते", "प्र॒जाव॑ती॒रिति॑ प्र॒जा—व॑तीः" (वा० १।१)। परं च सर्वं चेदनुदात्तमिति कस्मात्? "ऊ॒र्ण॒सू॒त्रेणेत्यू॑र्णा—सू॒त्रेण" (वा० १९।८०), "वि॒रु॒रु॒चुरिति वि—रु॒रु॒चुः" (वा० ३।१५), "द्रो॒ण॒क॒ल॒श इति॑ द्रोण—क॒ल॒शः" (१८।२१)—उदात्तोदाहरणम्। "रा॒ज॒स्व॒ इति॑ रा॒ज॒—स्वः" (वा० १०।६)—स्वरितपदोदाहरणम्। स्वरविधाविति किम्? वर्णविधौ संहितावन्न भवति। महद्भ्यः इति॒ महत्—भ्यः", "तिष्ठ॑द्भ्य इति॒ तिष्ठ॑त्—भ्यः" (वा० १६।२३), "धाव॑द्भ्य॒ इति॒ धाव॑त्—भ्यः" (वा० १६ २३)॥ १४८॥

उ० अ०—अवग्रह शब्द के द्वारा सावग्रह पद के पूर्व-पद का अभिधान होता है। **स्वरविधौ** = स्वर के विवेचन में (अर्थात् जहाँ तक स्वर के लागू होने का सम्बन्ध है); **अवग्रहः** = सावग्रह पद का पूर्व-पद; **संहितावत्** = संहिता के समान; स्वर प्राप्त करता है। इति शब्द के साथ संधि होने पर, उस सावग्रह पद में दो (पद)

होते हैं। उनमें से पूर्व-पद, इति शब्द के साथ संधि होने पर, संहिता के समान स्वर प्राप्त करता है। **परं च** = पूर्व-पद से परवर्ती पद; संहिता के समान स्वर प्राप्त करता है; (**चेत्** =) यदि; वह (परवर्ती पद) (**सर्वमनुदात्तम्** =) सर्वानुदात्त; होता है। यदि उस (परवर्ती पद) में कोई अक्षर उदात्त अथवा स्वरित होता है, तब (वह परवर्ती पद) अपनी प्रकृति से रहता है। जैसे—"वह्नितममिति वह्नि—तमम्"।[क] "गृहपत इति गृह—पते"। "प्रजावतीरिति प्रजावतीः"। यदि परवर्ती (पद) सर्वानुदात्त हो–यह किस (कारण) से (कहा) ? "ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा–सूत्रेण"। विरुरुचुरिति–रुरुचुः"।[ख] "द्रोणकलश इति द्रोण—कलशः"। ये उदात्त के उदाहरण हैं। "राजस्व इति राज-स्वः"। यह स्वरित पद का उदाहरण है। स्वर के लागू होने के विषय में यह क्यों (कहा) ? वर्ण के विधान में संहिता के समान नहीं होता है। "महद्भ्य इति महत्-भ्यः"। "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्–भ्यः'। "धावद्भ्य इति धावत्–भ्यः"।[ग]

अ०—अवग्रहशब्देन सावग्रहपदस्य पूर्वपदमभिधीयते। अवग्रहः स्वरचिन्तायां संहितावत् स्वरं लभते। इतिकरणेन सह सन्धौ तस्मिंश्च सावग्रहे पदे द्वे द्वे पदे स्तः। तत्र पूर्वपदं इतिकरणेन सहितं संहितास्वरं स्यात्। अवग्रहात् परमपि पदं संहितास्वरमेव यदि चेत् तत्सर्वमनुदात्तं भवति। यदि तत्र किञ्चिदक्षरम् उदात्तं वा भवति तदा स्वकीयया प्रकृत्या भवति। यथा—"वह्नितममिति वह्नि-तमम्", "गृहपत इति गृह—पते", "प्रजापतिरिति प्रजा—पतिः"। परं च सर्वं चेदनुदात्तं किम् ? "ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा—सूत्रेण", "विरुरुचुरिति वि–रुरुचुः", "द्रोणकलश इति द्रोण–कलशः"। इति उदात्तोदाहरणानि। "राजस्व

(क) इति के बाद में स्थित वह्नितमम्–इस सावग्रह पद के पूर्व-पद तथा उत्तर-पद–क्रमशः वह्नि तथा तमम् हैं। पूर्व-पद वह्नि की इति के साथ स्वर की दृष्टि से संधि है। अतः इति का ति स्वरित न होकर वह्नि के उदात्त के प्रभाव से अनुदात्त है। उत्तर-पद 'तमम्' सर्वानुदात्त है। अतः यह भी संहिता के समान स्वर प्राप्त करता है। यही कारण है कि वह्नि के स्वरित इकार के कारण तमम् प्रचय स्वर को प्राप्त करता है। अन्य उदाहरण भी ऐसे ही समझे जा सकते हैं।

(ख) विरुरुचुः का उत्तर-पद सर्वानुदात्त न होकर अन्तोदात्त है। अतः इति के बाद में स्थित उत्तर-पद रुरुचुः संहिता के समान स्वर को प्राप्त नहीं करता है। यही कारण है कि रुरुचुः अपने प्रकृति-स्वर में स्थित है अर्थात् पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से प्रथम रु प्रचय नहीं हुआ है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी समझे जा सकते हैं।

(ग) वर्ण-विचार की दृष्टि से इति के बाद में स्थित पूर्व-पद तथा उत्तर-पद संहिता के समान कार्य प्राप्त नहीं करते हैं। यही कारण है कि इन तीनों स्थलों में तकार दकार नहीं हुआ है।

इति राज-स्वः" इति स्वरितोदाहरणम्। अवग्रह इति किम्? "सुसावेति सुसाव", "अहोरात्रे इत्यहोरात्रे"। स्वरविधात्रिति किम्? वर्णविधौ संहितावन्न भवति। "महद्भ्य इति महत्-भ्यः", "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्-भ्यः"। अत्र दत्वं नेत्यर्थः ॥१४८॥

इतिपरस्तिर्यङ् नीचोऽन्तोदात्ते मध्योदात्ते पर्वणि काण्वस्य वा ॥१४९॥

सू० अ०—काण्व के मत से अन्तोदात्त अथवा मध्योदात्त पद बाद में होने पर इति से परवर्ती (पूर्व-पद) अनुदात्त (उच्चारित होता है)।

उ०—इतिपरस्तिर्यङ्नीचो भवति अनुदात्तो भवतीत्यर्थः, अन्तोदात्ते मध्योदात्ते वा; (पर्वणि =) पदे; वाशब्दो भिन्नक्रमो विकल्पार्थः काण्वस्याचार्यस्य मतेन। "ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा-सूत्रेण" (वा० १९।८०)। "द्रोणकलश इति द्रोणकलशः" (वा० १८।२१) ॥ १७१ ॥

उ० अ०—इतिपरः = इति (शब्द) से परवर्ती (पूर्व-पद); तिर्यङ्नीचः = तिरछा नीचा; होता है, अनुदात्त होता है-यह अर्थ है। अन्तोदात्ते मध्योदात्ते वा (पर्वणि) = अन्तोदात्त अथवा मध्योदात्त पद बाद में होने पर। वा शब्द विकल्प के लिए है और भिन्न क्रम में है (अर्थात् अन्तोदात्ते मध्योदात्ते वा-इस प्रकार क्रम है); काण्वस्य = काण्व आचार्य के मत से। ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा-सूत्रेण। द्रोण-कलश इति द्रोण-कलशः।[क]

अ०—इतिशब्दात् परः इतिशब्दपरः तिर्यङ्नीचः स्यात् अनुदात्तः स्यादित्यर्थः। अन्तोदात्ते मध्योदात्ते वा पदे परे वाशब्दो विकल्पे काण्वाचार्यमतेन। यथा—"द्रोणकलश इति द्रोण-कलशः", "ऊर्णासूत्रेणेत्यूर्णा-सूत्रेण" ॥ १४९ ॥

उदात्तमयोऽन्यत्र नीच एव ॥ १५० ॥

सू० अ०—अन्य स्थलों में अनुदात्त (नीच) (काण्व के मत से) प्रचय (उदात्तमय) हो जाता है॥

उ०—काण्वस्येति वर्त्तते। अन्तोदात्तमध्योदात्तयोः पर्वणोरन्यत्र इतिकरणात् परो नीच उदात्तमय एव भवति, प्रचित एव भवतीत्यर्थः। यथा—"सोमगोपा इति सोम-गोपाः" (वा० १२।२२; का० १३।२।५)। "सस्नितममिति सस्नि-तमम्

(क) यहाँ इति के बाद में द्रोण पूर्व-पद है और द्रोण के बाद में कलशः उत्तर-पद है जो अन्तोदात्त है। काण्व आचार्य के मत से पूर्व-पद द्रोण अनुदात्त उच्चारित होता है।

(वा० १।८; का० १।३।५)"। "पप्रिंतम्मिति पप्रिं–तमम्" (वा० १।८; का० १।३।५) ॥ १५० ॥

उ० अ०—काण्व के मत से—इसकी अनुवृत्ति हो रही है। (अन्यत्र =) अन्तोदात्त और मध्योदात्त पदों से अन्यत्र; इति शब्द से परवर्ती; (नीचः =) अनुदात्त; (उदात्तमयः =) उदात्तमय; (एव =) ही; होता है, प्रचय (प्रचित) ही होता है—यह अर्थ है। जैसे—"सोमगोपा इति सोम–गोपाः"। "सस्निंतमम्मिति सस्निं-तमम्"। "पप्रिंतमम्मिति पप्रिं–तमम्"।[क]

अ०—काण्वस्य मतेनेति वर्त्तते। अन्यत्र अन्त्योदात्तमध्योदात्तपदानि वर्जयित्वा अस्मिन् पदे इतिकरणात्परः नीचः उदात्तमयः स्यात्, प्रचित एव भवतीत्यर्थः। यथा—"सोमगोपा इति सोम-गोपाः"। "सस्नितममिति सस्नि–तमम्"। "पप्रितममिति पप्रि–तमम्"। काण्वस्येति किम्? आपस्तम्वादेर्मा भूदिति। तेषां तदनुदात्तमेव ॥ १५० ॥

एकवर्णः पदमपृक्तम् ॥ १५१ ॥

सू० अ०—एक वर्ण वाला पद अपृक्त (कहलाता है)।

उ०—(एकवर्णः =) एकवर्णस्य; (अपृक्तम् =) अपृक्तसंज्ञा; विधीयते; (पदम् =) पदस्य। यथा—"आ" (वा० १।१)। "उ" (वा० ७।४१)। अपृक्तसंज्ञायाः प्रयोजनम्—"अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः" (४।१८४) ॥ १५१ ॥

उ० अ०—(एकवर्णः पदम् =) एक वर्ण वाले पद की; (अपृक्तम् =) अपृक्त संज्ञा; का विधान किया जा रहा है। जैसे—"आ"। "उ"। अपृक्त संज्ञा का प्रयोजन—"अपृक्त पद को मध्य में रखकर तीन पदों का सन्धान होता है जो त्रिक्रम है।"

अ०—एकवर्णात्मकं पदम् अपृक्तसंज्ञं स्यात्। "आ सुव"। "उद्गु तिष्ठ"। "आ प्यायध्वम्"। संज्ञाप्रयोजनम्—"अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः" इत्यादि ॥ १५१ ॥

स एवादिरन्तश्च ॥ १५२ ॥

सू० अ०—वह (= पदात्मक एक वर्ण) ही (पद का) आदि और (पद का) अन्त है।

उ०—स एवैको वर्णः पदसंज्ञः सन्; (आदिरन्तश्च =) पदादिसम्बन्धीनि पदान्तसम्बन्धीनि; च कार्याणि लभते। यथा—"इन्द्र आ इहि = इन्द्रेहि" (वा० ३३।२५) ॥ १५२ ॥

(क) इन उदाहरणों में उत्तर-पद न तो अन्तोदात्त हैं और न मध्योदात्त। अत एव काण्व के मत से इति से बाद में जितने अनुदात्त अक्षर हैं वे प्रचय हो गए हैं।

उ० अ०—स एव=वही; एक वर्ण पद संज्ञक होता हुआ; (अ.दिरन्तश्च=) पदादि के और पदान्त के कार्यों को प्राप्त करता है।[क] जैसे—"इन्द्र आ इहि=इन्द्रेहि"।[ख]

अ०—स एको वर्णः अपृक्तः पदसंज्ञः पदादिसम्बद्धं पदान्तसम्बद्धं च कार्यं प्राप्नोति। यथा—"इन्द्र आ इहि = इन्द्रेहि"। अत्र पदादिकार्यं एकरूपत्वं पदान्तकार्यं पररूपत्वम् ॥ १५२ ॥

अवग्रहः पदान्तवत् ॥ १५३ ॥

सू० अ०—सावग्रह पद का पूर्व-पद (अवग्रह) पदान्त के समान (कार्य प्राप्त करता है)।

उ०—अवग्रहशब्देन पूर्वपदमिहाभिधीयते। अवग्रहः; (पदान्तवत् =) पदान्तसम्बन्धीनि; कार्याणि लभते वर्णविधौ। स्वरविधौ तु अधस्तादुक्तम् "संहितावद-वग्रहः स्वरविधौ" (१।१४८) इति। यथा—"भरद्वाज इति भरत्—वाजः" (वा० ३।५०)। "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्-भ्यः" (वा० १६।२३) ॥ १५३ ॥

उ० अ०—अवग्रह शब्द से यहाँ (सावग्रह पद के) पूर्व—पद का अभिधान होता है। अवग्रहः = सावग्रह पद का पूर्व—पद; (पदान्तवत =) पदान्त से सम्बद्ध; कार्यों को प्राप्त करता है, वर्ण-विधान में। स्वर-विधान में तो पहले कहा गया है-"स्वर के विषय में पूर्व-पद संहिता के समान (स्वर प्राप्त करता है)"। जैसे—"भरद्वाज इति भरत्—वाजः"[ग]; "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्-भ्यः"।

(क) संहिता पदान्त को पदादि से मिलाती है। जहाँ पर एक वर्ण वाला ही पद होता है वहाँ उस वर्ण को उस पद का आदि माना जाय या अन्त माना जाय—इस प्रश्न के समाधान के लिए प्रस्तुत सूत्र का निर्माण हुआ है। इस सूत्र के अनुसार वह वर्ण पदान्त का कार्य भी करता है और पदादि का भी।

(ख) प्रस्तुत उदाहरण में एक वर्ण वाला पद आ है। इस आ को पदान्त भी माना जाता है और पदादि भी। यह आ पदादि का कार्य करके इन्द्र के अ के साथ मिलकर आ बनता है जिससे यह रूप निष्पन्न होता है—इन्द्रा। इहि। मिलने के अनन्तर भी पदान्त का कार्य करता हुआ यह 'आ' इहि के इ के साथ मिलकर 'ए' बन जाता है। तब इन्द्रेहि रूप बन जाता है।

(ग) भरत् सावग्रह पद (भरद्वाज) का पूर्व—पद है। भरत् पदान्त के समान कार्य प्राप्त करता है। इति के पूर्व में परवर्ती वकार के कारण तकार ४।११८ से दकार हो जाता है। इति के बाद में स्थित भरत् की वाजः के साथ संहिता नहीं है। अतः वह तकाररूप में रहता है। उल्लेखनीय है कि वर्गों के प्रथम वर्ण ही १।८५ के अनुसार पदान्त होते हैं, वर्गों के तृतीय वर्ण नहीं।

अ० – अवग्रहशब्देन समासपूर्वपदमभिधीयते। अवग्रहः पूर्वपदं पदान्तसम्बद्धं कार्यं लभते वर्णविधौ। स्वरसन्धौ तूक्तम्—"संहितावदवग्रहः स्वरविधौ" इति। यथा–"भरद्वाज इति भरत्–वाजः", "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्–भ्यः", दस्य तत्वं कार्यम् ॥१५३॥

न त्वितिकरणम् ॥ १५४ ॥

सू० अ० - किंतु (सावग्रह पद के पूर्व-पद के बाद में) इति शब्द नहीं (आता है)।

उ०—"अवग्रहः पदान्तवत्" (१।१५३) इत्युपदेशात् इतिकरणमपि प्राप्नोति। तन्निषिध्यते। यथा—"अन्तःश्लेष इत्यन्तः–श्लेषः" (वा० १३।२५)। "रिफितं च संहितायामनिरुक्तम्" (४।१९) इत्यनेनेतिकरणमपि प्राप्नोति। तन्निषिध्यते ॥१५४॥

उ० अ०—"सावग्रह पद का पूर्व-पद पदान्त के समान (कार्य प्राप्त करता है)"–इस विधान से इति शब्द भी प्राप्त होता है। उस (इति शब्द) का निषेध किया जा रहा है। जैसे—"अन्तःश्लेष इत्यन्तः–श्लेषः"। "संहिता-पाठ में जिसका (रेफ स्वरूप) ज्ञात (स्पष्ट) नहीं हुआ है वह रिफित (पद) भी (इति के द्वारा व्यवहित हो जाता है)"–इस (सूत्र) से इति शब्द भी प्राप्त होता है। उस (इति शब्द) का निषेध किया जा रहा है।[क]

अ०—अवग्रहपदस्य पदान्तत्वेन इतिकरणं प्राप्तं पदकाले तन्निषिध्यते। यथा–"अन्तः-श्लेष इत्यन्तः–श्लेषः"। "रिफितं च संहितायामनिरुक्तम्" इतीतिकरणप्राप्तिः ॥१५४॥

पूर्वेणोत्तरः संहितः ॥ १५५ ॥

सू० अ०—पूर्ववर्ती (= पदान्त) के साथ जब परवर्ती (= पदादि) को मिलाया जाता है (तब वह संहिता कहलाती है)।

उ०—इत उत्तरं संहितोच्यते। पूर्वेण पदान्तेन उत्तरः पदादिः; (संहितः=) संहिता यदा क्रियते; स्वरतो वर्णतश्च तदा द्विपदसंहितोच्यते। यथा–"इषे त्वा त्वोर्जे" (वा० १।१)। क्रमसंहितेयम् ॥ १५५ ॥

उ० अ०—इसके आगे संहिता को कहते हैं। पूर्वेण = पूर्ववर्ती के साथ = पदान्त के साथ; उत्तरः = परवर्ती = पदादि को; जब स्वर की दृष्टि से और वर्ण की

(क) यहाँ अन्तः सावग्रह पद का पूर्व-पद है और सर्वानुदात्त है। १।१६२ के अनुसार यह अन्तः पद रिफित है तथा सं० पा० में इसका रेफ-स्वरूप स्पष्ट भी नहीं है। अतः ४।१९ से अन्तः को इतिकरण की प्राप्ति होती है। प्रस्तुत सूत्र से इतिकरण का निषेध हो जाता है जिससे अन्तरित्यन्तः–यह प० पा० नहीं होता है।

दृष्टि से; संहितः = मिलाया जाता है; तव (वह) द्विपदसंहिता कहलाती है। जैसे—"इषे त्वा। त्वोर्जे"। यह क्रम-पाठ है।

अ०—इत उत्तरं द्विपदसंहितोच्यते। यथा—"इषे त्वा त्वोर्जे ऊर्जे त्वा"। क्रमसंहितेयम्। उत्तरं पदस्य द्वित्वादि ॥ १५५ ॥

पदविच्छेदोऽसंहितः ॥ १५६ ॥

सू० अ०—पदों का पृथक्करण असंहित (कहलाता है)।

उ०—पदे पदे विच्छेदः पदविच्छेदः। पदविच्छेदो यदा क्रियते तदा असंहितः पाठः। यथा—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा" (वा० १।१) ॥ १५६ ॥

उ० अ०— पद-पद (प्रत्येक पद) में विच्छेद = पदविच्छेद। पदविच्छेदः = पदों का पृथक्करण; जब किया जाता है तब वह; असंहितः = असंहित पाठ (= पद—पाठ) (होता है)। जैसे—"इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा"।

अ०—पदे पदे विच्छेदः पदविच्छेदः। स + + ÷ [द्विक्त्रिय] संहितोच्यते। पूर्वेण पदान्तेन उत्तरः पदादिः संहिता न क्रियते। तदा असंहितः पदपाठो ज्ञेयः। यथा—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा" ॥ १५६ ॥

एकपदद्विपदत्रिपदचतुष्पदानेकपदाः पादाः ॥ १५७ ॥

सू० अ०—(वैदिक ऋचाओं में) पाद एक पद, दो पद, तीन पद, चार पद और अनेक पद वाले (होते हैं)।

उ०—एकं पदं यस्मिन् पादे स एकपदः पादः, सा च पदसंहितोच्यते छन्दसः पादपरिज्ञानार्थम्। एकपदः पादो यथा—"हृदिस्पृशम्" (वा० १५।४४)। द्विपदः पादो यथा—"क्रतोः भद्रस्य = क्रतोर्भद्रस्य" (वा० १५।४५)। त्रिपदः पादो यथा—"अग्ने तम् अद्य = अग्ने तमद्य" (वा० १५।४४)। चतुष्पदः पादो यथा—"अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः" (वा० १५।४६)। अनेकपदः पादो यथा—"विधूमम् अग्ने अरुषम् मियेध्य = विधूममग्ने अरुषम्मियेध्य" (वा० ११।३७) ॥ १५७ ॥

उ० अ०—एक पद है जिस पाद में वह एक पद वाला पाद है। और इसे पद-संहिता कहते हैं। छन्दः के पादों के ज्ञान लिए (यह कहा जा रहा है)। एक पद वाला पाद जैसे—"हृदिस्पृशम्"। दो पदों वाला पाद जैसे—"क्रतोः भद्रस्य = क्रतोर्भद्रस्य"। तीन पदों वाला पाद जैसे—"अग्ने तम् अद्य = अग्ने तमद्य"। चार पदों वाला पाद जैसे—"अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः"। अनेक पदों वाला पाद जैसे—"विधूमम् अग्ने अरुषम् मियेध्य = विधूममग्ने अरुषम्मियेध्य"।

अ०—एकं पदं यस्मिन् सः एकपदः पादः स्यात् । एवं द्विपदादिः । एकपदः पादः यथा—"हृदिस्पृशम्" । द्विपदो यथा—"क्रतोर्भद्रस्य" । त्रिपदो यथा—"अग्ने तमद्य" । चतुष्पदो यथा—"अग्ने विश्वेभिः सुमना अनीकैः" । अनेकपदो यथा—"विधूममग्ने अरुषं मियेध्य" इयं पादसंहिता छन्दसः पादपरिज्ञानाध्यापनादिप्रयोजनमुच्यते ॥ १५७ ॥

वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता ॥ १५८ ॥

सू० अ०—(यजुषों में) एक श्वास में उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल संहिता है ।

उ०—एवं तावत् पादसंहिता ऋक्षु कर्त्तव्या, यजुष्षु त्वयं विधिः । (**वर्णानामेकप्राणयोगः** =) वर्णानामेकोच्छ्वासोच्चारणयोगः; पदे वा वाक्ये विश्रामः सा च प्राणसंहिता । यत्र भूयांसि पदानि अतिक्रम्यावसानं भवति न त्वेकेन प्राणेन तान्व्याप्तुं शक्यन्ते तत्रायं विधिः । यथा—"त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणान्नपादवृणीतायं यजमानः" (वा० २१।६१) । यत्र त्ववसानं शक्यते व्याप्तुं तत्रावसान एव विरतिः कर्त्तव्या । यथा—"इन्द्रो विश्वस्य राजति" (वा० ३६।८) ॥ १५८ ॥

उ० अ०—इस प्रकार ऋचाओं में पादों की संहिता करनी चाहिये । यजुषों के विषय में तो यह विधान है; (**वर्णानामेकप्राणयोगः** =) एक श्वास से जिनका उच्चारण होता है उन वर्णों का मेल (**संहिता है**) । पद के बाद में अथवा वाक्य के बाद में विश्राम (किया जाता है) और वह प्राणसंहिता है । जहाँ पर बहुत से पदों का अतिक्रमण करके अवसान होता है और एक साँस के द्वारा (अवसान तक) नहीं पहुँचा जा सकता है वहाँ के लिए यह विधान है । जैसे—"त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानः" । जहाँ पर अवसान तक पहुँचा जा सकता है वहाँ अवसान पर ही विश्राम करना चाहिये । जैसे—"इन्द्रो विश्वस्य राजति" ।

अ०—पूर्वसूत्रेण पादसंहिता कार्येत्युक्तम् । यजुष्षु त्वयं विधिः, तत्र पादनियमाभावात् । वर्णानामेकोच्छ्वासयोगपदे वाक्ये तत्र यजुष्वयं विधिः । यथा—"त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीतायं यजमानः" । यत्र त्ववसानं शक्येत व्याप्तुं तत्रावसाने विरतिः कार्या । यथा—"इन्द्रो विश्वस्य राजति" इति ॥ १५८ ॥

विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपे ॥ १५९ ॥

सू० अ०—तुल्य बल वाले सूत्रों का विरोध (विप्रतिषेध) होने पर परवर्ती (सूत्र) बलवान् (होता है), लोप के स्थलों को छोड़कर ।

उ०—शास्त्रद्वयमन्यत्र चरितार्थमेकस्मिन्नर्थे सङ्गच्छते यत्र स तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेध उक्तः, तत्रोत्तरं शास्त्रं बलवद् भवति लोपं वर्जयित्वा। लोपे तु यतो लोपस्तदेव शास्त्रं बलवद् भवति। यथा—"स्वरितवान्स्वरितः" (४।१३३) इत्यस्यावकाशः अनुदात्तस्वरितसन्धौ स्वरितो भवति। यथा—स्वाहा॑ अवक्रन्दाय॑ = "स्वाह॑वक्रन्दाय॑" (वा० २२।७)। तथा च वक्ष्यति—"उदात्तवानुदात्तः" (४।१३४)। अस्यावकाशः उदात्तानुदात्तसन्धौ उदात्तो भवति। यथा—"सुक्ष्मा च असि॑ = सुक्ष्मा चासि॑" (वा० १।२७)। स्वरितोदात्तसन्धौ परत्वादुदात्त एव भवति। यथा—"सुप्वा॑ इति॑ = सुप्वेति॑" (वा० १।३)। "राथ्या॑ इन्द्र॑वत्या = राथ्येन्द्र॑वत्या" (वा० ३।१०)। अलोप इति किम्? "स्य एष च" (३।१७) इत्यनेन शास्त्रेण स्यशब्दस्य विसर्जनीयो व्यञ्जने परतो लुप्यते। यथा—"एषः। स्यः। वाजी" (वा० ९।१४)। एतच्च पूर्वं शास्त्रम्। अतोऽन्यद्भवति। "रेफे लुप्यते दीर्घं चोपधा" (४।३६) इत्यनेन शास्त्रेण रेफे परभूते लुप्यते विसर्जनीयः, उपधा च दीर्घमापद्यते। एतच्च परं शास्त्रम्। ततो लोपस्य बलीयस्त्वाल्लोप एव भवति नोपधादीर्घत्वम्। यथा—"एषः स्यः राथ्यः = एष स्य राथ्यो वृषा" (वा० २३।१३)। "एषः छागः=एष छागः (वा० २५।२६)। विसर्जनीयलोपः। "चछयोः शम्" (३।७) इति न शकारः॥ १५९॥

उ० अ०—अन्यत्र (भिन्न-भिन्न स्थलों में) चरितार्थ दो सूत्र जहाँ एक स्थल (लक्ष्य) पर एक साथ प्राप्त होते हैं उस तुल्य बल (वाले सूत्रों के) विरोध को विप्रतिषेध कहा गया है। वहाँ पर परवर्ती सूत्र बलवान् होता है; (**अलोपे** =) लोप को छोड़कर। लोप के विषय में तो जहाँ से भी लोप हो (अर्थात् चाहे पूर्ववर्ती सूत्र से हो अथवा परवर्ती सूत्र से हो) वही सूत्र बलवान् होता है।[क] जैसे—"स्वरित वाला (एकीभाव) स्वरित (होता है)"। इस (सूत्र) का उदाहरण (अवकाश) अनुदात्त और स्वरित की संधि होने पर स्वरित होता है। जैसे—स्वाहा॑ अवक्रन्दाय॑ = स्वाह॑वक्रन्दाय॑। वैसे ही (सूत्रकार) कहेंगे—"उदात्त वाला (एकीभाव) उदात्त होता है"

(क) विप्रतिषेध = तुल्यबलविरोध = अन्य भिन्न-भिन्न स्थलों में चरितार्थ (सफल = सावकाश) दो विधानों की एक स्थल में एक साथ प्रवृत्ति। प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि दो समान बल वाले विधानों की एक स्थल में एक साथ प्रवृत्ति होने पर उनमें से जो पूर्व सूत्र-पाठ क्रम से उत्तरवर्ती हो वही बलवान् होता है। बलवान् होने के कारण सम्बद्ध स्थल में उत्तरवर्ती विधान का ही कार्य होगा। पूर्ववर्ती विधान दुर्बल होने के कारण बाधित हो जायेगा। किन्तु लोपविषयक विधान पूर्ववर्ती होने पर भी प्रवृत्त होता है। अर्थात् लोप-विधान की प्रवृत्ति में उत्तरवर्ती विधान भी बाधित हो जाता है।

इस (सूत्र) का उदाहरण (अवकाश) उदात्त और अनुदात्त की संधि होने पर उदात्त होता है। जैसे—सुक्ष्मा च असि = सुक्ष्मा चासि। स्वरित और उदात्त की संधि होने पर परवर्ती होने से उदात्त ही होता है। जैसे—सुप्त्वा इति = सुप्त्वेति। रात्र्या इन्द्रवत्या = रात्र्येन्द्रवत्या।[क] लोप को छोड़कर—यह (क्यों) कहा ? "स्यः और एषः" इस सूत्र से स्यः शब्द का विसर्जनीय, व्यञ्जन बाद में होने पर, लुप्त होता है। जैसे—एषः। स्यः। वाजी। और यह पूर्ववर्ती सूत्र है। इससे अन्य (सूत्र) है। "रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है और उपान्त्य वर्ण (उपधा) दीर्घ हो जाता है!" इस सूत्र से रेफ बाद में होने पर विसर्जनीय लुप्त हो जाता है और पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है। और यह परवर्ती सूत्र है। तदनन्तर लोप के अधिक बलवान् होने से लोप ही होता है, पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ नहीं होता है। जैसे—एषः स्यः राथ्यः = एष स्य राथ्यो वृषा। एषः छागः = एष छागः—यहाँ विसर्जनीय का लोप हो गया है। "चकार और छकार बाद में होने पर विसर्जनीय शकार हो जाता है।" इस (सूत्र) से (विसर्जनीय) शकार नहीं हुआ है।[ख]

अ०—शास्त्रद्वयमन्यत्र चरितार्थं सत् यत्रैकस्मिन्नुदाहरणे सङ्गच्छते स तुल्यबलविरोधः विप्रतिषेधः। तत्र उत्तरं बलवत्तु स्याल्लोपं वर्जयित्वा। लोपे तु लोप-

---

(क) यहाँ पदान्त (रात्र्या का आकार) स्वरित है तथा पदादि (इन्द्रवत्या का इकार) उदात्त है। प० पा० से सं० पा० बनाने पर ५।५ के अनुसार एकादेश होने पर रात्र्येन्द्रवत्या रूप की निष्पत्ति होती है। स्वरों (accents) की संधि में दो सूत्र प्राप्त हैं—४।१३१ तथा ४।१३२। ४।१३१ के अनुसार स्वरित वाले एकीभाव में एकादेश स्वरित होता है और यह सूत्र अन्यत्र (स्वाहा अवक्रन्दाय = स्वाहावक्रन्दाय इत्यादि स्थलों में) चरितार्थ है। ४।१३२ के अनुसार उदात्त वाले एकीभाव में एकादेश उदात्त होता है और यह सूत्र अन्यत्र (सुक्ष्मा च असि = सूक्ष्मा चासि इत्यादि स्थलों में) चरितार्थ है। प्रस्तुत स्थल में कौन-सा सूत्र लागू होगा—४।१३१ अथवा ४।१३२ यह शङ्का होती है। इसका निर्णय प्रस्तुत सूत्र से होता है। उत्तरवर्ती होने के कारण यहाँ ४।१३२ लागू होगा जिससे स्वरित और उदात्त के एकीभाव में परिणाम उदात्त होता है। इससे यह रूप निष्पन्न हो जाता है—रात्र्येन्द्रवत्या।

(ख) पूर्ववर्ती की अपेक्षा उत्तरवर्ती को बलवान् घोषित करने वाला प्रस्तुत परिभाषा सूत्र लोप के सन्दर्भ में लागू नहीं होता है। समान बल वाले दो विधानों में यदि पूर्ववर्ती सूत्र लोप का विधान करता है तो उसकी अपेक्षा परवर्ती सूत्र बलवान् नहीं होगा। पूर्ववर्ती विधान के अनुसार वहाँ लोप ही होगा, जैसा कि भाष्योक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है।

विधायकं पूर्वशास्त्रं बलवत्। यथा—"स्वरितवान् स्वरितः" इत्यवकाशः स्वरितानुदात्तसन्धौ। यथा—"स्वाहा अवक्रन्दाय = स्वाहावक्रन्दाय"। "उदात्तवानुदात्तः" इत्यवकाशस्तु उदात्तानुदात्तसन्धौ। यथा—"सुष्मा च असि = सुष्मा चासि"। एवमन्यत्र सावकाशमिदं द्वयं यत्र युगपत्प्राप्नोति तत्र स्वरितोदात्तसन्धौ परत्वादुदात्त एव स्यात्। यथा—राव्या इन्द्रवत्या = "राव्येन्द्रवत्या"। लोपे तु "स्य एष च" इत्यनेन पूर्वशास्त्रेण स्यशब्दात्परः विसर्गस्य लोपो विधीयते। स एव बलवत् स्यात् नोत्तरः। "रेफे लुप्यते दीर्घं चोपधा" इति रेफे परभूते विसर्जनीयलोपः। उपधादीर्घः। ततो बलीयस्त्वाल्लोपस्य नोपधादीर्घत्वम्। यथा—"एष स्य राथ्यः"। तथा—"एष च्छागः"। विसर्जनीयलोपः पूर्वोऽपि। तथा एष च्छाग इत्यत्र विसर्जनीयलोप एव। "चछयोः शम्" इति न शकार उत्तरोऽपि ॥ १५९ ॥

विसर्जनीयो रिफितः ॥ १६० ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में) विसर्जनीय रिफित (संज्ञक) है।

उ०—इत उत्तरमकारोपध आकारोपधश्च **विसर्जनीयः; (रिफितः =)** रिफितसंज्ञः; भवति। वक्ष्यति—"करनुदात्तम्" (१।१६१)। यथा—"अच्छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः" (वा० २५।४३)। संज्ञाकरणे प्रयोजनम्—"भाव्युपधश्च रिद्विसर्जनीयः (४।३५) इति। "करिति कः" (वा० २५।४३) ॥ १६० ॥

उ० अ०—इसके आगे (विहित) अकार के बाद में विद्यमान और आकार के बाद में विद्यमान **विसर्जनीय; (रिफितः =)** रिफित संज्ञक होता है। (सूत्रकार) कहेंगे—"(अनुदात्त होने पर कः) (रिफित संज्ञक होता है)"। जैसे—"छिद्रा गात्राण्यसिना मिथू कः"। संज्ञा करने में प्रयोजन—"अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय) और रिफित विसर्जनीय (परवर्ती सूत्रों में इन दोनों को समझना चाहिए)"। "करिति कः"।

अ०—इत ऊर्ध्वं अकारोपध आकारोपधश्च विसर्जनीयो रिफितसंज्ञो वेदितव्यः। अधिकारसूत्रमेवैतत्। प्रयोजनम्—"भाव्युपधश्च रिद्विसर्जनीयः" इत्यादि ॥ १६० ॥

करनुदात्तम् ॥ १६१ ॥

सू० अ०—अनुदात्त होने पर कः (पद रिफित संज्ञक होता है।)।

उ०—**(करनुदात्तम् =)** करित्येतत्पदमनुदात्तम्; चेद्रिफितसंज्ञं भवति। यथा—"महि पार्थः पूर्व्यं सध्र्यक्कः" (वा० ३३।५९) अनुदात्तमिति किम्? "को अस्य वेद भुवनस्य नाभिम्" (वा०२३।५९) ॥ १६१ ॥

उ० अ०—कः-यह पद यदि अनुदात्त हो तो रिफित संज्ञक होता है। जैसे—"महि पार्थः पूर्व्यं सध्र्यक्कः"। अनुदात्त—यह क्यों (कहा)? "को अस्य वेद भुवनस्य नाभिम्"।

अ०—करित्येतत् पदं अनुदात्तं चेत्तदा रिफितसंज्ञं स्यात्। यथा—"महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः"। अनुदात्तमिति किम्? "को अस्य वेद"॥ १६१॥

अन्तरनाद्युदात्तम् ॥ १६२ ॥

सू० अ०—आद्युदात्त न होने पर अन्तः (पद रिफित संज्ञक होता है)

उ०—अन्तरित्येतत्पदं रिफितसंज्ञं भवति; (अनाद्युदात्तम् =) आद्युदात्तं चेन्न; भवति। "अन्तरित्यन्तः = अन्तस्ते द्याव पृथिवी" (वा० ७।५)। अनाद्युदात्तमिति किम्? "समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च" (वा० १७।२)। "इयं वेदिः परो अन्तः" (वा० २३।६२)॥ १६२॥

उ० अ०—अन्तः—यह पद यदि; (अनाद्युदात्तम् =) आद्युदात्त न हो तो; रिफित संज्ञक होता है। अन्तरित्यन्तः = अन्तस्ते द्यावापृथिवी"। आद्युदात्त न होने पर—यह क्यों (कहा)? "समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च"। "इयं वेदिः परो अन्तः"।

अ०—अन्तरित्येतत्पद रिफितसंज्ञं स्यात् आद्युदात्तं चेन्न भवति। "अन्तस्ते द्यावापृथिवी"। अनाद्युदात्तमिति किम्? "समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्च"। "इयं वेदिः परो अन्तः"॥ १६२॥

अहरभकारपरम् ॥ १६३ ॥

सू० अ०—भकार बाद में न हो तो अहः (पद रिफित संज्ञक होता है)।

उ०—अहरित्येतत्पदं रिफितसंज्ञं भवति; (अभकारपरम् =) भकारपरं चेन्न; भवति। यथा—"प्रवयाह्लाहर्जिन्व" (वा० १५।६), "अहरहरित्यहः—अहः = अहरहरप्रयावम्" (वा० ११।७५)। अभकारपरमिति किम्? "तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः" (वा० ६।१५)। "द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तम्" (वा० ३५।१)॥ १६३॥

उ० अ०—अहः—यह पद रिफित संज्ञक होता है; यदि (अभकारपरम्=) (अहः = के) बाद में भकार न हो। जैसे—"प्रवयाह्लाहर्जिन्वा"। "अहरहरित्यहः—अहः अहरहरप्रयावम्"। भकार बाद में न हो -यह क्यों (कहा)? "तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः"। "द्युभिरहोभिरक्तुभिर्व्यक्तम्"।

अ०—अहरित्येतत्पदं रिफितसंज्ञं स्याद् भकारपरं चेन्न भवति। यथा—"प्रवयाह्लाहर्जिन्व"। "अहरहरप्रयावम्" अत्र रिफितसंज्ञाप्रयोजनं रेफे द्विरूपं च। "अहरहरित्यहः—अहः"। अभकारपरं किम्? "तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः"। द्युभिरहोभिः"।

आववरिति समानर्चि ॥ १६४ ॥

सू० अ०—एक ऋचा में (स्थित होने पर) आवः और वः (रिफित संज्ञक होते हैं) ।

उ०—आवः वः इत्येते पदे रिफिते भवतः उभे अपि; (समानर्चि =) एकस्यामृचि; यदि भवतः । यथा—"आवरित्यावः । विसीमतः सुरुचो वेन आवः । वरिति वः । सतश्च योनिमसतश्च विवः" (वा० १३।३) । समानर्चीति किम् ? "आ वो देवास ईमहे" (वा० ४।५) । "नमो वः किरिकेभ्यः" (वा० १६।४६) । "अस्मे वो अस्त्विन्द्रियम्" (वा० ९।२२) ॥ १६४ ॥

उ० अ०—आवः और वः—ये दो पद रिफित होते हैं, यदि दोनों ही; (समानर्चि =) एक ऋचा में; होते हैं । जैसे—"आवरित्यावः । विसीमतः सुरुचो वेन आवः । वरिति वः । सतश्च योनिमसतश्च विवः" । एक ऋचा में (स्थित होने पर)—यह क्यों (कहा) ? "आ वो देवास ईमहे" । "नमो वः किरिकेभ्यः" । "अस्मे वो अस्त्विन्द्रियम्" ॥

अ०—आवः, वः इति पदद्वयं रिफितसंज्ञं स्यात् द्वयमपि यद्येकस्यां ऋचि भवति । यथा—"आवरित्यावः । सुरुचो वेन आवः । वरिति वः । सतश्च योनिमसतश्च विवः" । समानर्चीति किम् ? "आ वो देवास ईमहे" । "नमो वः किरिकेभ्यो देवानाम्" । "अस्मे वः" ॥ १६४ ॥

स्तोतर्वस्तः सनुतरभावार्द्वाः ॥ १६५ ॥

सू० अ०—स्तोतः, वस्तः, सनुतः, अभाः, वाः और द्वाः (रिफित संज्ञक होते हैं) ।

उ०—स्तोतः, वस्तः, सनुतः, अभाः, वाः, द्वाः एतानि पदानि रिफित-संज्ञकानि भवन्ति । यथा—"एतं स्तोतरनेन" (वा० २३।७) । "दोषावस्तर्धिया वयम्" (वा० ३।२२) । "आराच्चिद्द्वेषः सनुतर्युयोतु" (वा० २०।५२) । "अग्निं स्वे योनावभारुखा" (वा० १२।६१) । "इदमहन्तसं वार्वर्हिर्धा" (वा० ५।११) । "द्वार्भ्यः स्वाहा" (वा० ३०।१०) ॥ १६५ ॥

उ० अ०—स्तोतः, वस्तः, सनुतः, अभाः, वाः, द्वाः—ये पद रिफित संज्ञक होते हैं... ।

अ०—एतान्यपि षट् रिफितसंज्ञकानि स्युः । यथा—"एतं स्तोतरनेन" । "दोषावस्तर्धिया" । "आराच्चिद्द्वेषस्सनुतर्युयोतु" । "अग्निं स्वे योनावभारुषा" । "तसं वार्वर्हिर्धा" । "द्वार्भ्यः स्वाहा" ॥ १६५ ॥

स्वः पदमनरणे ॥ १६६ ॥

सू० अ०—अरण (शब्द) बाद में न हो तो स्वः पद (रिफित संज्ञक होता है)।

उ०—स्वग्त्येितत्पदं रिफितसंज्ञं भवति; (अनरणे=) अरणशब्दो यदि परो न; भवति । यथा—"स्वः न = स्वर्ण घर्मः" (वा० १८।५०) । "स्वः अभि विक्ख्येषम् = स्वरभि विक्ख्येषम्" (वा० १।११) । पदमिति किम् ? पदावयवस्य रिफितसंज्ञा मा भूत् । "राजस्व इति राज—स्वः = सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः" (वा० १०।६) । अनरण इति किम् ? "स्वाय चारणाय च" (वा० २६।२) । "पदादिश्चाजित्परः" (१।६७) इति वक्ष्यति । तस्यायं पुरस्तादपवादः ॥ १६६ ॥

उ० अ०—(स्वः पदम् =) स्वः—यह पद; रिफित संज्ञक होता है; (अनरणे =) यदि अरण शब्द बाद में नहीं; होता है । जैसे—"स्वः न=स्वर्ण घर्मः" "स्वः अभि विक्ख्येषम् = स्वरभि विक्ख्येषम्"। (स्वः) पद—यह क्यों (कहा) ? पद के अङ्गभूत (स्वः) की रिफित संज्ञा न हो जाये । "राजस्व इति राज — स्वः । सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः" । अरण (शब्द) बाद में न होने पर—यह क्यों (कहा) ? "स्वाय चारणाय च" । "जित् (संज्ञक वर्ण) बाद में न हो तो पद के आदि में विद्यमान (स्वः भी) (रिफित संज्ञक होता है)" यह (सूत्रकार) आगे कहेंगे । उसका यह पहले अपवाद है ।

अ०—स्व इत्येतत्पदं रिफितसंज्ञं स्यादरणशब्दो यदि परो न भवति । "स्वः न स्वर्ण घर्मः" । "स्वरभि विख्येषम्" । पदग्रहणं पदावयवे रिफितसंज्ञं मा भूदिति । यथा—"राजस्व इति राज—स्वः" । अनरण इति किम् ? "स्वाय चारणाय च" । उत्तरस्य सूत्रस्यापवादोऽयम् ॥ १६६ ॥

पदादिश्चाजित्परः ॥ १६७ ॥

सू० अ०—जित् (संज्ञक वर्ण) बाद में न हो तो पद के आदि में विद्यमान (स्वः) भी (रिफित संज्ञक होता है)।

उ०—पदादिश्च यदि स्वश्शब्दो भवति तदा रिफितसंज्ञो भवति; (अजित्परः=) जित्परश्चेन्न; स्यात् । "द्वौ द्वौ प्रथमौ जित्" (१।५०), "ऊष्माणश्च ह्वर्जम्" (१।५१) जिदित्युक्तम् । "स्वर्ग्यायेति स्वः—ग्याय = स्वर्ग्याय शक्त्या" (वा० ११।२) । पदादिरिति किम् ? "स्वाहा राजस्वः" (वा० १०।६) । अजित्परमिति किम् ? "स्वर्षाम्" (वा० ३४।२०) । पदसंहितोदाहरणम् ॥ १६७ ॥

उ० अ०—यदि स्वः शब्द; (**पदादिश्च** =) पद के आदि में भी विद्यमान होता है; तब रिफित संज्ञक होता है; (**अजित्परः** =) यदि (स्वः के) बाद में जित् (संज्ञक वर्ण) न हो । "(वर्गों के) प्रथम दो-दो (वर्ण) जित् (कहलाते हैं)," "हकार को छोड़कर (अन्य) ऊष्मन् भी जित् कहलाते हैं" यह कहा जा चुका है। "स्वर्ग्यायेति स्वः—ग्याय = स्वर्ग्याय शक्त्या" । पदादि–यह क्यों (कहा) ? "स्वाहा राजस्वः" । जित् (वर्ण) बाद में न होने पर—यह क्यों (कहा) ? "स्वर्षाम् । (स्वःसामिति स्वः—साम्)" । यह पद-पाठ का उदाहरण है ।

अ०—पदादिः स्वशब्दः रिफितसंज्ञः स्याद्यदि जित्परो न स्यात् । "द्वौ द्वौ प्रथमौ जित्", "ऊष्माणश्च हवर्जम्" इत्युक्तम् । यथा—"स्वर्ग्यायेति स्वः–ग्याय" । पदादिः किम् ? "स्वाहा । राजस्वः" इति । अजित्पर इति किम् ? "स्वर्षाम् । स्वःसामिति स्वः-साम्" ॥ १६७ ॥

ह्वाः सवितः पुनस्त्वष्टर्नेष्टरकर्होतर्मातः प्रातर्जामातरजीगः प्रणेतरिति च ॥ १६८ ॥

सू० अ०—ह्वाः, सवितः, पुनः, त्वष्टः, नेष्टः, अकः, होतः, मातः, प्रातः, जामातः, अजीगः, प्रणेतः—इन (पदों) का भी (विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है) ।

उ०—ह्वाः, सवितः, पुनः, त्वष्टः, नेष्टः, अकः, होतः, मातः, प्रातः, जामातः; अजीगः, प्रणेतः, एतेषां पदानां विसर्जनीयो रिफितसंज्ञो भवति । यथा–"मा ह्वार्मा ते" (वा० १।२) । "देव । सवितरिति सवितः" (वा० ९।१)। "पुनर्मनः" (वा० ४।१५) । "देव त्वष्टर्भूरि ते" (वा० ६।२०)। "ग्नावो नेष्टः पिब" (वा० २६।२१)। "सरस्वति तमिह धातवेऽकः" (वा० ३८।५) । "सोमं होतर्यज" (वा० २३।६४) । "पृथिवि मातर्मा मा हिंसीः" (वा० १०।२३) । "इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः" (वा० २०।२९) । "त्वष्टुर्जामातरद्भुत" (वा० २७।३४) । "आदिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः" (वा० २३।१८) । "भग प्रणेतर्भग सत्यराधः" (वा० ३४।३६) ॥ १६८ ॥

उ० अ०—**ह्वाः, सवितः**'''**प्रणेतः**—इन पदों का विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है।

अ०—ह्वाः, सवितः, पुनः, त्वष्टः, नेष्टः, अकः, होतः, मातः, प्रातः, जामातः, अजीगः, प्रणेतः, एषां द्वादशपदानां विसर्गः रिफितसंज्ञः स्यात् । उदाहरणानि यथा—"ह्वार्मा ते यज्ञपतिः" । "देव । सवितरिति सवितः" । "पुनर्मनः" । "देवत्वष्टर्भूरि ते" । "ग्नावो नेष्टः पिब" । इदं माध्यन्दिनीयानामुदाहरणम् । "सरस्वति तमिह धातवेऽकः" । "सोमं होतर्यज" । "पृथिवि मातर्मा मा" । "इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः" । "त्वष्टुर्जामातरद्भुत" । "आदिद्ग्रसिष्ठ ओषधीरजीगः" । "भग प्रणेतर्भग सत्यराधः" । इदमपि

माध्यन्दिनीयानामुदाहरणम् । ह्वास्सवितरिति . पदमात्रग्रहणात् यत्र यत्रैतान्युपलभ्यन्ते तत्राप्येवमेव ि फित्संज्ञा द्रष्टव्या ॥ १६८ ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ १६६ ॥

सू० अ०—(यह शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा) अधिक महत्त्वपूर्ण है, (अत एव इस शास्त्र के अध्ययन करने वालों की) वृद्धि (होती है) ।

उ०—वृद्धमिदं शास्त्रमन्यानि शास्त्राण्यपेक्ष्य, शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चास्मिन् शास्त्रे उभयं यतः प्रक्रियते । अत एव हेतोः शिष्याणामेतच्छास्त्रश्राविणां वृद्धिर्भवति ॥ १६९ ॥

इत्यानन्दपुरवास्तव्यश्रीवज्रटसुतोव्वटकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

उ० अ०—अन्य शास्त्रों की अपेक्षा यह शास्त्र; **वृद्धम्** = अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इस शास्त्र में शिक्षा में विहित (नियमों) का और व्याकरण में विहित (नियमों) का प्रतिपादन किया गया है। इस कारण इस शास्त्र के सुनने वाले (अध्ययन करने वाले) शिष्यों की वृद्धि होती है ।

वाजसनेयिप्रातिशाख्य का प्रथम अध्याय समाप्त ।

अ०—वृद्धमिदं शास्त्रं अन्यशास्त्रापेक्षया, यतः शिक्षाविहितं व्याकरणविहितं चोभयमस्मिन् शास्त्रेऽभिधीयते । अतएव हेतोः एतत्पठतां शिष्याणां वृद्धिः ज्ञानाभिवृद्धिर्भवतीति ॥ १६६ ॥

श्रीमत्प्रथमाख्यनागदेवभट्टात्मजेन विरचिते कात्यायन-

प्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम् ॥ १ ॥

सू० अ०—स्वरित (= आदिस्वरित, मध्यस्वरित, अन्तस्वरित तथा सर्वस्वरित पदों) को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है।

उ०—संज्ञाः परिभाषाश्च प्रथमाध्याये शास्त्रसंव्यवहारार्थमुक्ताः। इदानीं "स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः" (१।१) इति प्रतिज्ञातौ स्वरसंस्कारावारभ्येते। तत्र च प्रथमं स्वरः प्रतिज्ञात इत्यतः स्वर एव प्रथममारभ्यते। (स्वरितवर्जम =) एकं स्वरितं प्रथमं वर्जयित्वा; एकोदात्तं पदं भवति। सर्वस्मिन्नेव पदे एकमक्षरं स्वरितमुदात्तं च भवति, अन्यान्यक्षराण्यनुदात्तानीति सूत्रार्थः। तत्र स्वरितस्य चत्वारो भेदा भवन्ति। तद्यथा-आदिस्वरितमध्यस्वरितान्तस्वरितसर्वस्वरितानि पदानि भवन्ति। आदिस्वरितं यथा—"व्युंसकेशायेति व्युंस-केशाय" (वा० १६।२९)। मध्यस्वरितं यथा—"मनुष्याणाम्" (वा० ६।६)। "स्वर्ग्याय" (वा० ११।२)। अन्तस्वरितं यथा—"वैष्णव्यौ" (वा० १।१२)। "धान्यम्" (वा० १।२०)। सर्वस्वरितं यथा—"स्वः" (वा० ३।५)। उदात्तस्य चत्वारो भेदा भवन्ति। तद्यथा-आद्युदात्तमध्योदात्तान्तोदात्तसर्वोदात्तानि पदानि भवन्ति। आद्युदात्तं यथा—"अश्वः" (वा० २४।१)। "स्वाहा" (वा० ४।६)। मध्योदात्तं यथा-"त्रितायं" (वा० १।२३)। "द्वितायं" (वा० १।२३)। अन्तोदात्तं यथा—'इषे' (वा० १४।२२)। "ऊर्जे" (वा०१४।२२)। "रय्यै" (वा० १४।२२)। सर्वोदात्तं यथा—"प्र तत्" (वा० ५।२०)। एता अष्टौ पदभक्तयोऽनेन सूत्रेणोक्ताः। द्व्युदात्तत्र्युदात्तसर्वोदात्तानि वक्ष्यति। एवमेता एकादश पदभक्तयो भवन्ति सर्ववेदेषु ॥ १ ॥

उ० अ०—प्रातिशाख्य (शास्त्र) में प्रयोग करने के लिए संज्ञाओं तथा परिभाषाओं को प्रथम अध्याय में कहा गया है। अब "वेद के विषय में स्वर और संस्कार का नियम कहा जायेगा" इस (सूत्र) के द्वारा प्रस्तुत (प्रस्तावित) स्वर और संस्कार (सूत्रकार के द्वारा) प्रारम्भ किए जाते हैं। और वहाँ (१।१ में) पहले स्वर को प्रस्तुत (प्रस्तावित) किया गया है, इसलिए (अब सूत्रकार के द्वारा) स्वर को ही पहले प्रारम्भ किया जाता है। (स्वरितवर्जम् =) पहले एक स्वरित को छोड़कर; एकोदात्तं पदम् = एक उदात्त वाला पद; होता है। सम्पूर्ण पद में एक अक्षर स्वरित अथवा उदात्त होता है, अन्य अक्षर अनुदात्त (होते हैं)—यह सूत्र का अर्थ है। उनमें से स्वरित (पद) के चार भेद होते हैं। जैसे—आदिस्वरित, मध्यस्वरित,

अन्तस्वरित तथा सर्वस्वरित पद होते हैं। आदिस्वरित जैसे—व्युंसकेशायेति व्युंस-केशाय"। मध्यस्वरित जैसे—"मनुष्याणाम्"। "स्वर्ग्याय"। अन्तस्वरित जैसे—"वैष्णव्यो"। "धान्यम्"। सर्वस्वरित जैसे—"स्वः"। उदात्त (पद) के (भी) चार भेद होते हैं। जैसे-आद्युदात्त; मध्योदात्त, अन्तोदात्त तथा सर्वोदात्त पद होते हैं। आद्युदात्त जैसे—"अश्वः"। "स्वाहा"। मध्योदात्त जैसे—"त्रिताय"। "द्विताय"। अन्तोदात्त जैसे—"इषे"। "ऊर्जे"। "रय्यै"। सर्वोदात्त जैसे—"प्र तत्"। ये आठ पदप्रकार (पदों के प्रकार, पदों के भेद) इस सूत्र से कहे गए हैं। द्व्युदात्त, त्र्युदात्त तथा सर्वोदात्त (पदों) को (सूत्रकार) आगे कहेंगे। इस प्रकार सब वेदों में ये ग्यारह पदप्रकार (पदों के प्रकार, पदों के भेद) होते हैं।

अ०—हरिः ओम्। संज्ञाः परिभाषाश्च प्रथमाध्यायेऽभिहिताः। द्वितीयाध्याये तु "स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः" इति पूर्वं प्रतिज्ञातौ स्वरसंस्कारावारभ्येते। तत्र प्रथमं स्वरप्रतिज्ञानात् स एवाभिधीयते। एकं स्वरितं वर्जयित्वा पदं एकोदात्तं स्यात्। सर्वस्मिन्नेव पदे एकमक्षरं स्वरितं वा उदात्तं वा भवति। तं त्यक्त्वा अन्यान्यक्षराणि अनुदात्तानीति सूत्रार्थः। तत्र स्वरितं चतुर्धा भिद्यते-आदिस्वरितं मध्यस्वरितम् अन्त्य-स्वरितं सर्वस्वरितं पदमिति। आदिस्वरितं यथा—"व्युप्तकेशाय"। मध्यस्वरितं यथा—"मनुष्याणाम्"। अन्त्यस्वरितं यथा—"वैष्णव्यो"। सर्वस्वरितं यथा—"स्वः"। उदात्त-मप्युक्तभेदेन चतुर्धा भिद्यते। तत्र आद्युदात्तं यथा—"अश्वः", "स्वाहा"। मध्योदात्तं यथा—"त्रिताय", "द्विताय"। अन्त्योदात्तं यथा—"इषे", ऊर्जे"। सर्वोदात्तं यथा—"प्र", "नु"। एते अष्टौ पदप्रकाराः अनेन सूत्रेणोक्ताः। द्व्युदात्तत्र्युदात्तसर्वानुदात्तानि तु वक्ष्यति। एवमुक्तैस्सह एकादशभेदा पदभक्तयो भवन्ति सर्ववेदेषु ॥ १ ॥

अनुदात्तम् ॥ २ ॥

सू० अ०—(स्वरित और उदात्त से अवशिष्ट अक्षर) अनुदात्त (होते हैं) (अथवा-अधोलिखित अनुदात्त होते हैं)।

उ०—स्वरितादक्षरादुदात्ताद्वा यदवशिष्टं तदनुदात्तं भवति। उक्तान्येवोदा-हरणानि। अधिकारार्थमेतत् ॥ २ ॥

उ० अ०—स्वरित अक्षर से अथवा उदात्त (अक्षर) से जो अवशिष्ट (अक्षर) है वह अनुदात्त होता है। उदाहरण (२।१ के भाष्य में) कहे ही जा चुके हैं। यह (सूत्र) अधिकार के लिए है।

अ०—स्वरितादक्षरादुदात्ताद्वा अवशिष्टं पदेऽनुदात्तं स्यात्। उक्तान्येवोदा-हरणानि। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ २ ॥

नो नौ मे मदर्थे त्रिद्व्येकेषु ॥ ३ ॥

सू० अ०—नः, नौ और मे (अनुदात्त होते हैं), यदि ये अस्मद् (शब्द) के अर्थ में हों और (क्रमशः) वहुवचन, द्विवचन और एकवचन में (प्रयुक्त हों) ।

उ०—अनुदात्तमित्यनुवर्त्तते । नः नौ मे एतानि मदर्थे वर्तमानानि अस्मदर्थं यदि ब्रुवन्ति; (त्रिद्व्येकेषु =) बहुवचनद्विवचनैकवचनाभिधायकानि च यदि भवन्ति; तथा यथासङ्ख्यं वर्तमानानि अनुदात्तानि भवन्ति । नः यथा—"शन्न इन्द्राग्नी" (वा० ३६।११) । "स्वस्ति न इन्द्रः" (वा० २५।१९) । नौ यथा—"अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" (वा० २।२७) । मे यथा—"इमा मे अग्न इष्टका धेनवः" (वा० १७।२) । "इमं मे वरुण" (वा० २१।१) ॥ ३ ॥

उ० अ०—अनुदात्त की अनुवृत्ति (२।२ से) हो रही है । नः, नौ, मे-ये (पद); मदर्थे = मत् अर्थ में विद्यमान होने पर = यदि अस्मत् के अर्थ को कहते हैं (= यदि ये पद उत्तम पुरुष के वाचक हों), और यदि; (त्रिद्व्येकेषु =) वहुवचन, द्विवचन और एकवचन को कहने वाले होते हैं = क्रमशः उस प्रकार (बहुवचन, द्विवचन, एकवचन में) विद्यमान होने पर; अनुदात्त होते हैं । नः जैसे—"शं नं इन्द्राग्नी" । "स्वस्ति न इन्द्रः" । नौ जैसे—"अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" । मे जैसे—"इमा मे अग्न इष्टका धेनवः" । "इमं मे वरुण" ।

अ०—एतानि पदानि अस्मदर्थानि क्रमेण बहुवचनद्विवचनैकवचनाभिधायकानि अनुदात्तानि स्युः । नः यथा—"शन्न इन्द्राग्नी भवताम्" इत्यादि । नौ यथा—"सह नौ व्रतपते" । मे यथा—"इमा मे अग्न इष्टका धेनवः" । नो नौ मे इतीयतापि सूत्रेण कार्यसिद्धौ यत् "मदर्थे त्रिद्व्येकेषु" इति तत् अतिस्पष्टार्थमेव व्यावर्त्याभावादिति ज्ञेयम् । उत्तरसूत्रानुवृत्यर्थं वेति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

मा च ॥ ४ ॥

सू० अ०—मा (पद) भी (अनुदात्त होता है) ।

उ०—मा इत्येतच्च पदमनुदात्तं भवति । अस्मदर्थे चेद्वर्तते । यथा—"आ मा गन्ताम्पितरा मातरा च" (वा० ९।१९) । मदर्थ इति किम् ? "मापो मौषधीर्हिंसीः" (वा०६।२२) ॥ ४ ॥

उ० अ०—मा-यह पद; च = भी; अनुदात्त होता है । यदि अस्मत् (= उत्तम पुरुष के) अर्थ में विद्यमान हो । जैसे—"आ मा गन्ताम्पितरा मातरा च" । मत् अर्थ में-यह क्यों (कहा) "मापो मौषधीर्हिंसीः" ।

अ०—मा इत्येतत्पदं मदर्थे वर्तमानं अनुदात्तं स्यात् । यथा—"आ मा गन्ताम् पितरा मातरा" । मदर्थे किम् ? निषेधार्थकस्य मा भूदिति । "मापो मौषधीर्हिंसीः" ॥४॥

वो वान्ते त्वदर्थे ॥ ५ ॥

सू० अ०—वः, वाम् और ते (अनुदात्त होते हैं) यदि ये युष्मद् (शब्द) के अर्थ में हों (और क्रमशः बहुवचन, द्विवचन और एकवचन में प्रयुक्त हों) ।

उ०—वः वां ते एतानि पदानि; (त्वदर्थे =) युष्मदर्थे; वर्तमानानि बहुवचन-द्विवचनैकवचनेषु यथासङ्ख्यं वर्तमानानि अनुदात्तानि भवन्ति । वः यथा—"तं वो दस्मम्" (वा० २६।११) । "आ वो देवास ईमहे" (वा० ४।५) । वां यथा—अयं वां मित्रावरुणा सुतः" (वा० ७।९) । "या वां कशा मधुमती" (वा० ७।११) ते यथा—"एष ते रुद्र भागः" (वा० ३।५७) । "अयं ते योनिः" (वा० ३।१४) ॥ ५ ॥

उ० अ०—वः, वाम्, ते ये पद; (त्वदर्थे =) युष्मद् (= मध्यम पुरुष) के अर्थ में वर्तमान हों और क्रमशः बहुवचन, द्विवचन और एकवचन में वर्तमान हों तो अनुदात्त होते हैं । वः जैसे—"तं वो दस्मम्" । "आ वो देवास ईमहे" । वां जैसे—"अयं वां मित्रावरुणा सुतः" । "या वां कशा मधुमती" । ते जैसे—"एष ते रुद्र भागः" । "अयं ते योनिः" ।

अ०—त्रीणि पदानि युष्मदर्थकानि बहुवचनद्विवचनैकवचनान्यनुदात्तानि स्युः । "मा च" इति सूत्रेण व्यवधानेऽपि मण्डूकप्लुतिन्यायेन त्रिद्व्येकेष्विति पदमनुवर्त्तते । क्रमेणोदाहरणानि—"तं वो गृह्णाम्युत्तमम्" । "आ वो देवास ईमहे" । "अयं वां मित्रावरुणा" । "या वां कशा" । "एष ते रुद्र भागः" । "अयं ते योनिः" । युष्मदर्थ-कानोति किम् ? "ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु" ॥ ५ ॥

त्वा च ॥ ६ ॥

सू० अ०—त्वा (पद) भी (अनुदात्त होता है) ।

उ०—त्वा इत्येतच्च पदं युष्मदर्थे वर्त्तमानमनुदात्तं भवति । यथा—"मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिः" (वा० २५।३७) "तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः" (वा० ३।२६) । नो नौ म इति यथाश्रुतेन सिद्धे यन्मदर्थं इति त्रिद्व्येकेष्विति च वदति तच्छिष्यव्युत्पादनार्थम् । मा इत्येतस्य तु पदस्य मदर्थ इति विशेषणं कर्त्तव्यम् । प्रति-षेधार्थीयस्यापि सम्भवात् । वो वां ते त्वा एतेषां च पदानां त्वदर्थ इति विशेषणं शिष्य-व्युत्पादनार्थमेव, अन्यार्थस्याव्यभिचारात् ॥ ६ ॥

उ० अ०—त्वा यह पद; च = भी, युष्मत् (= मध्यम पुरुष) के अर्थ में वर्तमान होने पर अनुदात्त होता है। जैसे—मा त्वाग्निर्ध्वनयीद्धूमगन्धिः"। "तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः"। "नः, नौ, मे"—इतने कथन से (कार्य) सिद्ध होने पर (सूत्रकार) जो "मत् (= उत्तम पुरुष) के अर्थ में" और "बहुवचन, द्विवचन और एकवचन में" कहते हैं वह शिष्यों को अति स्पष्ट रूप से समझाने के लिए (कहते हैं)। 'मा' इस पद का तो "मत् (उत्तम पुरुष) के अर्थ में" यह विशेषण करना चाहिए, क्योंकि प्रतिषेध अर्थ वाला भी (मा पद) विद्यमान है। वः, वाम्, ते, त्वा इन पदों का भी "त्वत् (= मध्यम पुरुष) के अर्थ में" यह विशेषण शिष्यों को अति स्पष्ट रूप से समझाने के लिए ही है, क्योंकि (इस विशेषण के द्वारा) अन्य अर्थ की व्यावृत्ति नहीं होती है।

अ०—त्वेति पदं युष्मदर्थकं अनुदात्तं स्यात्। यथा—"मा त्वाग्निः"। "तन्त्वा शोचिष्ठ दीदिवः"। त्वेति किम्? "त्वामद्य" ॥ ६ ॥

पूर्ववानन्वादेशः ॥ ७ ॥

सू० अ०—पूर्ववर्ती (पदार्थ) का निर्देश करने वाला सर्वनाम पद (अनुदात्त होता है)।

उ०—पूर्वैः पदैः प्रज्ञापितस्यार्थस्य यत्पश्चात् अस्मै एषाम् अस्मिन्नित्यादि सर्वनामपदं तस्यैवार्थस्याभिधायकं भवति तदनुदेशशब्देनोच्यते। तदनुदात्तं भवति। अस्मै यथा—"भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै" (वा० ११।७४)। एषां यथा—"इहेहैषां कृणुहि भोजनानि" (वा० १०।३२)। अस्मिन् यथा—"आस्मिन् हव्या जुहोतन (वा० ३।१)। पूर्ववानिति किम्? "सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणे" (वा० ७।२१)। "आसां प्रजानामेषां पशूनाम्" (वा० १६।४७) ॥ ७ ॥

उ० अ०—पूर्ववर्ती पदों के द्वारा बतलाये गए पदार्थ (वस्तु) का जो बाद में अस्मै, एषाम्, अस्मिन् इत्यादि सर्वनाम पद उसी पदार्थ का कथन (निर्देश) करने वाला होता है वह अनुदेश शब्द के द्वारा कहा जाता है। वह (= पूर्ववर्ती पदार्थ का निर्देश करने वाला सर्वनाम पद) अनुदात्त होता है। अस्मै जैसे—"भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै"। एषाम् जैसे—'इहेहैषां कृणुहि भोजनानि" ।...।

अ०—पूर्वैः पदैः प्रज्ञापितस्यार्थस्य यत्पश्चादस्मिन् अस्मै एषाम् इत्यादि सर्वनामपदं तस्यैवार्थस्य वाचकं भवति तदनुदेशशब्देनाभिधीयते। तदनुदात्तं स्यात्। यथा—"अश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै"। "इहेहैषां कृणुहि भोजनानि"। "आस्मिन् हव्या जुहोतन"। तत्र पूर्वपदैर्ज्ञापितत्वं अर्थपर्यालोचनया ज्ञेयम्। पूर्ववानिति किम्? "सोमः पवते सोमः पवतेऽस्मै ब्रह्मणे"। "आसां प्रजानामेषां पशूनाम्"। अत्र पूर्वपदज्ञापितार्थस्याभिधायकत्वाभावात् न सर्वानुदात्तम् ॥ ७ ॥

असि ॥ ८ ॥

सू० अ०—असि (पद अनुदात्त होता है) ।

उ०—असीत्येतत्पदमनुदात्तं भवति । "कृष्णोऽस्याखरेष्ठः (वा० २।१) । "वेदिरसि बर्हिषे" (वा० २।१) । आख्यातमसिशब्दः, तस्य वक्ष्यमाणोऽनुदात्तस्वरः प्राप्त एव । इह यद्ग्रहणं तदाख्यातपदानभिज्ञस्यापि ज्ञानार्थम् ॥ ८ ॥

उ० अ०—असि–यह पद अनुदात्त होता है । "कृष्णोऽस्याखरेष्ठः" । "वेदिरसि बर्हिषे" । असि शब्द आख्यात है, आगे (६।१ में) कहा जाने वाला (आख्यात का) अनुदात्त स्वर उस (असि) को प्राप्त है ही । यहाँ जो (असि का पृथक् रूप से) ग्रहण किया गया है वह आख्यात पद को न जानने वाले भी (व्यक्ति) के ज्ञान के लिए है ।

अ०—असीति पदमनुदात्तं स्यात् । यथा–"वेदोऽसि" । "कृष्णोऽसि" । असिशब्द आख्यातः । तस्य आख्यातत्वेन वक्ष्यमाणस्वरः प्राप्त एव । इह पृथक् यत् ग्रहणं तदाख्यातपदानभिज्ञज्ञापनार्थम् । तद्वा असीति शब्दस्यानेकस्वरदर्शनात् सामान्यतः अनुदात्तत्वज्ञापनाय पृथक्करणमित्यवधेयम् ॥ ८ ॥

यथा गृभोभुवोऽग्निभ्यः ॥ ९ ॥

सू० अ०—गृभः, भुवः और अग्नि से बाद में स्थित यथा (शब्द अनुदात्त होता है) ।

उ०—यथाशब्दः; (गृभोभुवोऽग्निभ्यः=) गृभोभुवोऽग्निशब्देभ्यः; परोऽनुदात्तो भवति । गृभः यथा–"पुरा जीवगृभो यथा" (वा० १२।८५) । भुवः यथा–"सत्यस्याक्षिभुवो यथा" (२३।२६) । अग्निर्यथा–"भ्राजन्तो अग्नयो यथा" (वा०८।४०) । एतेभ्यः किम् ? "यथा नो वस्यसस्करत्" (वा० ३।५८) ॥ ९ ॥

उ० अ०—(गृभोभुवोऽग्निभ्यः =) गृभः, भुवः और अग्नि शब्दों से बाद में स्थित; यथा शब्द अनुदात्त होता है ।....।

अ०—एभ्यः परः यथाशब्दः अनुदातः स्यात् । क्रमेणोदाहरणानि–"पुरा जीवगृभो यथा" । "सत्यस्याक्षिभुवो यथा" । "भ्राजन्तो अग्नयो यथा" । गृभोभुवोऽग्निभ्य इति किम् ? "यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात्" इत्यादि ॥ ९ ॥

गिर्वणः ॥ १० ॥

सू० अ०—गिर्वणः (पद अनुदात्त होता है) ।

उ०—**गिर्वण** इत्येतत्पदमनुदात्तं भवति। "परि त्वा गिर्वणो गिरः" (वा० ५।२६) एतच्चामन्त्रितत्वादेवानुदात्तं प्राप्तम्। यत्पुनरुच्यते तदामन्त्रितानभिज्ञस्यापि प्रत्ययार्थम् ॥ १० ॥

उ० अ०—**गिर्वणः**—यह पद अनुदात्त होता है। "परि त्वा गिर्वणो गिरः"। और इस (गिर्वणः) को आमन्त्रित होने से ही अनुदात्त प्राप्त है। (सूत्रकार के द्वारा) जो दूसरी बार कहा गया है वह आमन्त्रित (पद) को न जानने वाले भी (व्यक्ति) के ज्ञान के लिए है।

अ०—एतत्पदमनुदात्तं स्यात्। यथा-"परि त्वा गिर्वणो गिरः"। इदमप्यामन्त्रितत्वादेवानुदात्तं प्राप्तम्। यत्पुनरुच्यते तदामन्त्रितपदानभिज्ञप्रज्ञापनार्थम् ॥ १० ॥

अग्ने घृतेनेति च ॥ ११ ॥

सू० अ०—अग्ने से बाद में स्थित घृतेन (पद) भी (अनुदात्त होता है)।

उ०—अग्नेपूर्वं घृतेनेत्येतत्पदमनुदात्तं भवति। यथा-"अग्ने घृतेनाहुत" (वा०१७।५०)। अग्नेपूर्वमिति किम्? "अङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि" (वा० ३।३) ॥११॥

उ० अ०—अग्ने है पूर्व में जिसके ऐसा घृतेन—यह पद (च = भी) अनुदात्त होता है। जैसे-"अग्ने घृतेनाहुत"। अग्ने है पूर्व में जिसके-यह क्यों (कहा)? "अङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि"।

अ०—अग्नेपूर्वं घृतेनेति पदमनुदात्तं स्यात्। "अग्ने घृतेनाहुत"। अग्नेपूर्वमिति किम्? "अङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि" ॥ ११ ॥

प्रचिकितश्च ॥ १२ ॥

सू० अ०—प्र के बाद में स्थित चिकितः (पद) भी (अनुदात्त होता है)।

उ०—प्रपूर्वं **चिकित** इत्येतत्पदमनुदात्तं भवति। यथा-"त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा" (वा० १९।५२)। प्रपूर्वमिति किम्? अन्यपदपूर्वमनुदात्तं न भवति। एतदप्यामन्त्रितत्वादेवानुदात्तं मन्दधीप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते ॥ १२ ॥

उ० अ०—प्र है पूर्व में जिसके ऐसा **चिकितः**—यह पद अनुदात्त होता है। जैसे-"त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा"। प्र है पूर्व में जिसके-यह क्यों (कहा)? अन्य पद है पूर्व में जिसके वह (चिकितः पद) अनुदात्त नहीं होता है। यह (चिकितः) भी आमन्त्रित होने से ही अनुदात्त हो जाता है. (किन्तु) मन्द बुद्धि वाले (व्यक्ति) के लिए (सूत्रकार के द्वारा दूसरी बार) कहा गया है।

अ०—प्रपूर्वः चिकितशब्द अनुदात्तः स्यात्। यथा—"त्वं सोम प्रचिकितो मनीषा"। प्रपूर्वमिति किम्? "आ च वह मित्रमहश्चिकित्वात्"। एतदप्यामन्त्रितत्वात् अनुदात्तम्। सिद्धे पृथक्सूत्रकरणं मन्दधीप्रज्ञापनार्थमिति केचित्। वस्तुतस्तु प्रचिकितः प्रकृष्टचेतनावांस्त्वं इति युष्मदो विशेषणत्वेन स्वरान्तरे प्राप्ते इदं सूत्रम्॥ १२॥

एनोऽपापे॥ १३॥

सू० अ०—पाप का वाचक न होने पर एनः (पद अनुदात्त होता है)।

उ०—एन इत्येतत्पदमपापे वाच्येऽनुदात्तं भवति। अविशिष्टं चैतत्प्रातिपदिकमात्रं सर्वलिङ्गं गृह्यते। पुल्लिङ्गं भवति यथा—"उदे॑नमुत्त॒रान्न॒य" (वा० १७।५०)। स्त्रीलिङ्गं भवति यथा—"मैना॒न्तप॑सा॒ मार्चिषा॒भिशो॑चीः" (वा० १२।१५)। नपुंसकलिङ्गं भवति यथा—"मा॒तेव॑ पु॒त्रं वि॑भृ॒ताप्स्वे॑नत्" (वा० १२।३५)। अपाप इति किम्? "दे॒वकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि" (वा० ८।१३)। "यदेन॑श्चकृ॒मा व॒यम्" (वा० ३।४५)॥ १३॥

उ० अ०—अपापे = पाप अर्थ में न होने पर; **एनः**—यह पद अनुदात्त होता है। इस (एन) का बिना किसी विशेषता के प्रातिपदिकमात्र के रूप में सब लिङ्गों में ग्रहण होता है। पुल्लिङ्ग होता है जैसे—"उदे॑नमुत्त॒रां न॒य"। स्त्रीलिङ्ग होता है जैसे—"मैना॒ं तप॑सा॒ मार्चिषा॒भिशो॑चीः"। नपुंसकलिङ्ग होता है जैसे—"मा॒तेव॑ पु॒त्रं वि॑भृ॒ताप्स्वे॑नत्"। पाप अर्थ में न होने पर—यह क्यों (कहा)? "दे॒वकृ॑त॒स्यैन॑सोऽव॒यज॑नमसि"। "यदेन॑श्चकृ॒मा व॒यम्।"

अ०—एन इत्येतत्पदं अपापवाचि अनुदात्तं स्यात्। अविशेषाच्चैतत् सर्वलिङ्गं गृह्यते। तत्र पुल्लिङ्गे यथा—"उदेनमुत्तरा नयाग्ने"। "मैनं हिंसीः"। स्त्रीलिङ्गे यथा—"मैनां तपसा"। नपुंसके यथा—"मातेव पुत्रं विभृताप्स्वेनत्"। अपाप इति किम्? "यदेनश्चकृमा वयम्"॥ १३॥

इहपूर्वं श्रुतम्॥ १४॥

सू० अ०—इह से बाद में स्थित श्रुतम् (पद अनुदात्त होता है)।

उ०—इहपूर्वं श्रुतमित्येतदनुदात्तं भवति। यथा—"ममे॒द॒ह श्रु॒त॑ हव॑म्" (वा० ७।९)। इहपूर्वमिति किम्? "श्रु॒तं मे॑ मित्रावरु॒णा हवे॒मा" (वा० २१।९)। एतदाख्यातत्वादनुदात्तं मन्दधीप्रतिपत्त्यर्थमुच्यते॥ १४॥

उ० अ०—इहपूर्वम् = इह है पूर्व में जिसके ऐसा **श्रुतम्**—यह पद अनुदात्त होता है। जैसे—"ममेदि॒ह श्रु॒त॑ हव॑म्"। इह है पूर्व में जिसके—यह क्यों (कहा)? "श्रु॒तं मे॒ मित्रावरु॒णा हवे॒मा"। आख्यात होने के कारण यह (६।१ से) अनुदात्त है,

(किन्तु) मन्द बुद्धि वाले (व्यक्ति) के ज्ञान के लिए (सूत्रकार के द्वारा यहाँ दूसरी बार) कहा गया है।

अ०—इहपूर्वं श्रु॒तमिति पदमनुदात्तं भवति। विशिष्टप्रयोजनमन्यत्र निवृत्तिः। यथा—"ममेदिह श्रु॒तं हवम्"। इहपूर्वमिति किम् ? "आ मा जने श्रवयतं युवाना श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेम"। श्रु॒तं शृणुतमित्यर्थः। एतद्व्याख्यातत्वात् अनुदात्तं तथापि मन्दधी-प्रतिपत्यर्थं तथा गृहीतम् ॥ १४ ॥

मन्ये पदपूर्वं सर्वत्र ॥ १५ ॥

सू० अ०—(कोई भी) पद पूर्व में होने पर मन्ये सर्वत्र (अनुदात्त होता है)।

उ०—मन्ये इत्येतत्पद पदपूर्वम् अनुदात्तं भवति सर्वत्र। यथा—"अ॒ग्नि होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तम्" (वा० १५।४७)। आख्यातत्वादाख्यातवद्यद्योगादिभिः स्वरविकारो यः प्राप्तः सोऽनेन सर्वत्रग्रहणेन निषिध्यते, अपदपूर्वस्य स्थाप्यते ॥ १५ ॥

उ० अ०—मन्ये—यह पद; पदपूर्वम् = पद पूर्व में होने पर; सर्वत्र = सभी अवस्थाओं में; अनुदात्त होता है। जैसे—"अ॒ग्नि होता॑रं मन्ये॒ दास्व॑न्तम्"। आख्यात होने से आख्यात की भाँति यत् (शब्द) के योग आदि से जो स्वर-विकार प्राप्त होता है, वह इस सर्वत्र शब्द से निषिद्ध कर दिया गया है। (सूत्र में पद-पूर्व का ग्रहण करके सूत्रकार ने) पद नहीं है पूर्व में जिसके ऐसे (मन्ये पद के स्वर-विकार) को बनाये रखा है।

अ०—पदं पूर्वं यस्य तत् पदपूर्वम्। मन्ये इति पदम् अनुदात्तं स्यात् सर्वत्र संहितायाम्। "अग्निं होतारं मन्ये"। यच्छब्दयोगादिभिर्यत् निषिद्धं तस्य प्रतिप्रसवार्थं सर्वत्रग्रहणमिति द्रष्टव्यम्। पदपूर्वं किम् ? "मन्ये त्वा जातवेदसम्" ॥ १५ ॥

वाचकमुचित्समस्मात् घहस्मत्व ईम्मर्या अरेस्विन्निपाताश्चेत् ॥१६॥

सू० अ०—वा, च, कम्, उ, चित्, समस्मात्, घ, ह, स्म, त्वः, ईम्, मर्याः, अरे, स्वित् (अनुदात्त होते हैं), यदि (ये पद) निपात हों।

उ०—वा, च, कम्, उ, चित्, समस्मात्, घ, ह, स्म, त्वः, ईम्, मर्याः, अरे, स्वित्—एतानि पदानि अनुदात्तानि भवन्ति; (चेत् =) यदि; (निपाताः =) निपातानि; भवन्ति। असत्ववचनानि भवन्तीत्यर्थः। वा यथा—"वातो॑ वा॒ मनो॑ वा" (वा० ९।७)। च यथा—"अ॒ग्निश्च॑ पृथि॒वी च॒ सन्न॑ते" (वा० २६।१)। कं यथा—"इ॒मा नु क॒ं भुव॑ना सीषधा॒म" (वा० २५।४६)। उ यथा—"य उ॒ संभू॑त्यां र॒ताः"

(वा० ४०।१९)। चिद्यथा—"उताप॑वक्का हृद॑याविध॑श्चित्" (वा० ८।२३)। समस्माद्यथा—"उरुष्या णो॑ अघायतः स॑मस्मात्" (वा० ३।२६)। घ यथा—"आ घा ये अग्निमिन्धते" (वा० ७।३२)। ह यथा—"दधे ह गर्भ॑मृत्वियम्"। (वा० २३।६३)। स्म यथा—"अस्ति हि ष्मा॑ ते शुष्मिन्नवयाः" (वा० ३।४६)। त्वो यथा—"पीय॑ति त्वो अनु॑ त्वो गृणाति" (वा० १२।४२)। ईं यथा—"का ई॑मरे पिशङ्गिला" (वा० २३।५५)। मर्याः यथा—"आविर्म॑र्या आवित्तो अग्निर्गृ॑हप॑तिः" (वा० १०।९)। अरे यथा—"अजारे॑ पिशङ्गिला" (वा० २३।५६)। स्विद्यथा—"अधः स्वि॑दासा३दुपरि॑ स्विदासी३त्" (वा० ३३।७४)। निपाता इति किम्? "चिर्दसि मनोसि॑" (वा० ४।१९)॥ १६॥

उ० अ०—वा, च, कम्, उ, चित्, समस्मात्, घ, ह, स्म, त्वः, ईम्, मर्याः, अरे, स्वित्—ये पद अनुदात्त होते हैं; (निपाताश्चेत् =) यदि (ये पद) निपात होते है। (यदि ये पद) द्रव्य के वाचक नहीं होते हैं—यह अर्थ है....।

अ०—एतानि चतुर्दश पदानि अनुदात्तानि स्युः यदि निपातानि असत्ववचनानि। निपातसंज्ञा तु चादयोऽसत्वे इति पाणिनीयसूत्रात् ज्ञेया। यथाक्रमेणोदाहरणानि—"वातो वा मनो वा"। "हृदो वा मनसो वा चक्षुषो वा"। "वाजश्च पृथिवी च"। "इमा नु कं भुवना"। "य उ सम्भूत्यां रताः"। "हृदयाविधश्चित्"। "ऊरुष्यो णो अघायतस्समस्मात्"। "आ घा ये अग्निमिन्धते"। "दधे ह गर्भमृत्वियम्"। देवैरस्ति हि ष्मा ते"। "पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति"। "का ईमरे"। "आविर्मर्या आवित्तः"। "अजारे"। "का स्विदासीत्"। "अधस्विदासीदुपरि स्विदासीत्"। निपाता इति किम्? "चिदसि तया" ॥ १६॥

पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थेऽपादादौ ॥ १७॥

सू० अ०—(कोई भी) पद पूर्व में हो तो सम्बोधन पद (आमन्त्रित) (अनुदात्त होता है), यदि (वह आमन्त्रित पद) अनेक पदार्थों का वाचक न हो और पाद के प्रारम्भ में न हो।

उ०—पदपूर्वमामन्त्रितं यत्पदं तदनुदात्तं भवति; (अनानार्थे =) यदि तन्नानाभूतस्यार्थस्याभिधायकं न भवति; यदि तत् द्विवचनबहुवचने नारभ्यत इत्यर्थः। (अपादादौ =) यदि च पादादौ न भवति। पदपूर्वं भवति यथा—"त्वम॑ग्ने व्रतपा अ॑सि" (वा० ४।१६)। "वयं सो॑म व्रते तव॑" (वा० ३।५६)। अनानार्थ इति किम्? मित्रस्य॑ मा चक्षु॑षेक्षध्वमग्न॑यः" (वा० ५।३४)। "आदित्यानां॑ पत्वान्वि॑हि। देवा॑:" (वा० २२।१९)। अपादादाविति किम्? "या वां॑ कशा मधु॑मत्यश्वि॑ना" (वा० ७।११)। "संस॑मिद्यु॑वसे वृषन्नग्ने॑" (वा० १५।३०)॥ १७॥

उ० अ०—**पदपूर्वमामन्त्रितम्** = पद है पूर्व में जिसके ऐसा सम्बोधन (आमन्त्रित); जो पद (होता है) वह अनुदात्त होता है; (**अनानार्थे** = अनेक पदार्थों का वाचक न होने पर =) यदि वह (पद) अनेक पदार्थों का अभिधायक (अभिधान करने वाला) नहीं होता है = यदि वह (पद) द्विवचन और बहुवचन में प्रयुक्त नहीं होता है—यह अर्थ है। और यदि; (**अपादादौ** =) पाद के आदि में नहीं होता है। पद पूर्व में होने पर होता है जैसे—"त्वमग्ने व्रतपा असि"। "वयं सोम व्रते तव"। अनेक पदार्थों का वाचक न होने पर—यह क्यों (कहा)? "मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वमग्नयः"। "आदित्यानां पत्वान्विहि। देवाः"। पाद के प्रारम्भ में न होने पर-यह क्यों (कहा)? "या वां कशा मधुमत्यश्विना"। "संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने"॥ १७॥

अ०—पदं पूर्वं यस्येति विग्रहे पदपूर्वमपादादौ वर्तमानमामन्त्रितपदं अनुदात्तं स्यात्। यद्यनेकार्थं न भवति, यदि तत्प्रभृति अन्यद्वाक्यं नारभ्यते।......अत्रायं भावः—पदपूर्वत्वमनानार्थत्वं अपादादित्वं चेति त्रीणि विशेषणानि आमन्त्रितस्य दृश्यन्ते। तत्र पदादित्वरूपं विशेषणं ऋचामन्त्रितस्यानियताक्षराया ऋचः पादबद्धत्वेनेतद्व्यावृत्ति-सम्भवात्। अनानार्थत्वरूपविशेषणमुभयगतामन्त्रितस्य अनियताक्षरयजुषः पादबद्धत्वा-भावेनापादादित्वव्यावृत्यसम्भवेऽपि नानार्थत्वव्यावृत्तिसम्भवात्। अत्र अनानार्थत्वं नाम वाक्यस्यादावेव विद्यमानत्वं विवक्षितमर्थान्तराभावात्। पादादित्वरूपविशेषण तु द्वयोरपि सम्बध्यते। तत्र उदाहरणम्—"त्वमग्ने व्रतपा असि", "वयं सोम व्रते तव"। "उभा वामिन्द्राग्नी", "अस्यां उ देवाः"। पदपूर्वं किम्? "अग्ने नय", "इन्द्राग्नो आयतम्", "आपो हि ष्ठा" अपादादौ किम्? "संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वानि", यजुरुदाहरणं। यथा—"धृष्टिरस्यपाग्ने। आप्यायध्वमध्निया:", "नमो वः पितरः शुष्माय" इत्यादि। अनानार्थं किम्? "मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्"। अत्र सर्वाणि भूतानीत्यसम्बन्धप्रथमाविभक्तौ च समानरूपत्वान्नानार्थता। आमन्त्रितं पदपूर्वमिति किम्? "अग्ने नय सुपथा राये", "अग्नेऽदब्धायो", "अग्ने व्रतपते"। अपदादाविति किम्? "अग्ने विश्वान्यर्थ आ"॥ १७॥

तेनानन्तरा षष्ठ्येकपदवत्॥ १८॥

सू० अ०—उस (आमन्त्रित पद) से अव्यवहित षष्ठी उस आमन्त्रित पद के सहित) एक पद के समान (मानी जाती है)।

उ०—**तेनामन्त्रितेन; अनन्तरा** = अव्यवहिता; **षष्ठ्येकपदवद्भवति**। आनन्तर्यं चेह देशकृतमर्थकृतं च गृह्यते। देशकृतं पुरस्तादुपरिष्टाद्वा षष्ठ्यन्तं पदमामन्त्रि-तस्य। अर्थकृतमेकार्थीभावः। एतदुक्तं भवति—यदि तत् षष्ठ्यन्तमामन्त्रितस्य विशेषणं भवति तदैकपदवत्स्वरो भवति। एतदुक्तं भवति—यदि षष्ठ्यन्तं वाक्यादौ पादादौ वा

न भवति पदपूर्वं भवति तदा तदप्यनुदात्तं भवति। अतोऽन्यथात्वे आद्युदात्तं भवति। यथा—अपान्नपात्—"देवी॑रापो अपान्नपात्" (वा० ६।२७)। यथा ऋषीणान्नपात्—"ऋषीणान्नपादवृणीत (वा० २१।६१)। "विश्वासां भुवां पते" (वा०।३७।१८)। "उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते" (वा० ३४।५६)। अपादादविति किम् ? "ब्रह्म॑णस्पते त्वमस्य" (वा० ३४।५८) इत्यत्र एकपदवदित्युपदेशादाद्युदात्तत्वं षष्ठ्यन्तस्य भवति। तथा—"ऊर्जो॑ नपाज्जातवेदः" (वा० १२।१०८) इत्यत्र ऊर्क् शब्दस्य षष्ठ्यन्तस्य "तेनानन्तरा षष्ठ्येकपदवत्" इत्यनेन सूत्रेणामन्त्रितस्यानन्तरा षष्ठ्येकपदवत् स्वरं लभते इत्येतदुक्तं भवति। अधुना आमन्त्रितेन सह षष्ठ्या यत्रैकार्थीभावो न भवति तत्रत्युदाहरणभूतं सूत्रं शिष्यभ्रान्तिव्युदासार्थं स्वयमेव सूत्रकारः पठति ॥ १८ ॥

उ० अ०—**तेन** = उस सम्बोधन (आमन्त्रित) से; (**अनन्तरा** =) अव्यवहित; **षष्ठी** = षष्ठ्यन्त पद; **एकपदवत्** = एक पद के समान; होता है। और यहाँ देशकृत (स्थानकृत, स्थान पर आधृत, स्थान से सम्बद्ध) और अर्थकृत अव्यवधान (आनन्तर्य) का ग्रहण होता है। सम्बोधन (आमन्त्रित) के पहले अथवा बाद में षष्ठ्यन्त पद देशकृत (अव्यवधान) हैं। एकार्थीभाव (एक अभिप्राय को बतलाना) अर्थकृत (अव्यवधान) है। इसका यह तात्पर्य है—यदि वह षष्ठ्यन्त (पद) आमन्त्रित (पद) का विशेषण होता है तब एक पद के समान स्वर होता है। इसका यह तात्पर्य है—यदि षष्ठ्यन्त (पद) वाक्य के प्रारम्भ में अथवा पाद के प्रारम्भ में नहीं होता है (और) उसके पूर्व में कोई पद होता है तब वह (षष्ठ्यन्त पद) भी अनुदात्त होता है। इससे अन्य प्रकार से होने पर आद्युदात्त होता है। जैसे—अपान्नपात्—"देवी॑रापो अपान्नपात्"। जैसे—ऋषीणान्नपात्—(त्वामद्य ऋ॑प आर्षेय) ऋषीणान्नपादवृणीत। "विश्वासां भुवां पते"। उत्ति॑ष्ठ ब्रह्मणस्पते"। पाद के प्रारम्भ में न होने पर—यह क्यों (कहा) ? "ब्रह्म॑णस्पते त्वमस्य"—यहाँ पर "एक पद के समान'—इस उपदेश से षष्ठ्यन्त (ब्रह्मणः) का आद्युदात्तत्व होता है। उसी प्रकार "ऊर्जो॑ नपाज्जातवेदः"—यहाँ पर ऊर्क् शब्द के षष्ठ्यन्त रूप (ऊर्जः का आद्युदात्तत्व होता है)। "उससे अव्यवहित षष्ठी एक पद के समान"—इस सूत्र से यह कहा गया है कि आमन्त्रित से अव्यवहित षष्ठी एक पद के समान स्वर प्राप्त करती है। अब—आमन्त्रित के साथ षष्ठी का जहाँ एकार्थीभाव नहीं होता है उस प्रत्युदाहरणभूत सूत्र को शिष्यों की भ्रान्ति के निवारण के लिए स्वयं ही सूत्रकार पढ़ते (=कहते) हैं।

अ०—तेन आमन्त्रितेन अव्यवहिता षष्ठी। षष्ठ्यन्तं पदमेकपदवत् स्यात्। अव्यवधानं चेह देशकृतं अर्थकृतं च ग्राह्यम्। तत्र देशकृतं पूर्वकृतं परकृतं वा ज्ञेयम्। अर्थकृतं त्वेकार्थरूपम्। एतदुक्तं भवति। यदि तत् षष्ठ्यन्तमामन्त्रितस्य विशेषणं भवति तदैकपदवत्स्वरो भवति। यदि षष्ठ्यन्तं वाक्यादौ पादादौ वर्त्तमानं न भवति तदा

अनुदात्तं भवतीत्यर्थः। अतोऽन्यथात्वे आद्युदात्तं भवति। यथा—अपान्नपात्—"देवीरापो अपान्नपात्"। ऋषीणां नपात्—"ऋषीणां नपादवृणीत"। भुवां पते—"विश्वासां भुवां पते"। ब्रह्मणः पते—"उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते"। वाक्यपादाद्यावर्त्तनं किम्?""अपां नपात्—"अग्नेरनीकमप आविवेशा अपां नपात्"। "ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता"। एकपदवदित्युपदेशादन्यत्राद्युदात्तत्वं षष्ठ्या भवति। "ऊर्जो नपात्"। प्रत्युदाहरणमेतत्। इत्यादिदेशकृतार्थकृतानन्तर्योदाहरणम्। अधुना आमन्त्रितेन सह षष्ठ्या देशकृतानन्तर्यसत्वेऽपि यत्रैकार्थभावः न भवति तत्प्रत्युदाहरणभूतं सूत्रं शिष्याणां शीघ्रबोधार्थं स्वयमेवाह कात्यायनः—

न पृथिविदेवयजन्योषध्या देवभूरेः पवित्रपते पवित्रपूतस्यापान्नपान्नृणान्नृपते सोमाग्नेः सोमेन्द्रस्य सोमसुवीर्यस्य सोम विश्वेषां देवानां प्रजापते यस्य यस्य देवाग्ने तवाग्ने वाजस्याग्ने वरुणस्यापो अस्माकम् ॥ १९ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में एक पद के समान स्वर) नहीं (होता है)—पृथिवि देवयजन्योषध्याः, देवभूरेः, पवित्रपते पवित्रपूतस्य, अपां नपात्, नृणां नपते, सोमाग्नेः, सोमेन्द्रस्य, सोम सुवीर्यस्य, सोम विश्वेषां देवानाम्, प्रजापते यस्य, यस्य देव, अग्ने तव, अग्ने वाजस्य, अग्ने वरुणस्य, आपो अस्माकम्।

उ०—पृथिवि देवयजन्योषध्याः देव भूरेः पवित्रपते पवित्रपूतस्य अपान्नपात् नृणान्नृपते सोमाग्नेः सोमेन्द्रस्य सोमसुवीर्यस्य सोम विश्वेषां देवानां प्रजापते यस्य यस्य देव अग्ने तव अग्ने वाजस्य अग्ने वरुणस्य आपो अस्माकम्। एतेषामामन्त्रितानां यानन्तरा षष्ठी सानेकार्थीभावान्नैकपदवत्स्वरं लभते। पृथिवि देवयजनि यथा—"पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते" (वा० १।२५)। देव भूरेर्यथा—"वामस्य हि क्षयस्य देव भूरेः" (वा० ८।६)। पवित्रपते पवित्रपूतस्य यथा—"तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य" (वा० ४।४)। अपान्नपाद्यथा—"अपान्नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम्" (वा०८।२४)। नृणान्नृपते यथा—"त्वं नृणान्नृपते जायसे शुचिः" (वा० ११।२७)। सोमाग्नेर्यथा—"उशिक् त्वं देव सोमाग्नेः" (वा० ८।५०)। सोमेन्द्रस्य यथा—"वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य" (वा० ८।५०)। सोम सुवीर्यस्य यथा—"अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य" (वा० ७।१४)। सोम विश्वेषां देवानां यथा—"अस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषां देवानाम्" (वा० ८।५०)। प्रजापते यस्य यथा—"स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य" (वा० १८।४४)। यस्य देव यथा—"यस्य देव दधिषे

पूर्वपेयम्" (वा० ७।७)। अग्ने तव यथा—"अग्ने तव श्रवो वयः" (वा०१२।१०६)। अग्ने वाजस्य यथा—"अग्ने वाजस्य गोमतः" (वा० १५।३५) । अग्ने वरुणस्य यथा—"त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्" (वा० २१।३) । आपो अस्माकं यथा—"आपो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः" (वा० ४।१२) । एवमादीन्यन्यान्यपि प्रत्युदाहरणानि द्रष्टव्यानि । यथा—"यस्यौषधीः प्रसर्पथ" (वा० १२।८६) ॥ १६ ॥

उ० अ०—पृथिवि देवयजन्योषध्याः··· आपो अस्माकम्—इन आमन्त्रित (पदों) की जो अव्यवहित षष्ठी है वह, एकार्थीभाव का अभाव होने से, एक पद के समान स्वर प्राप्त नहीं करती है···। इस प्रकार के अन्य भी प्रत्युदाहरणों को देख लेना चाहिए। जैसे—"यस्यौषधीः प्रसर्पथ"।

अ०—एतेषां पदानां विशेषणाभावादित्यर्थः। आमन्त्रितानां या अनन्तरा षष्ठी सानेकार्थीभावान्नैकपदवत् स्वरं लभते। क्रमेणोदाहरणानि। "पृथिवि देवयजन्योषध्यास्ते मूलम्"। "वामस्य हि क्षयस्य देवभूरेः"। "तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य"। "अपां नपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम्"। "त्वं नृणां नृपते जायसे शुचिः"। "उशिक्त्वं देव सोमाग्नेः"। "वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य"। "अच्छिन्नस्य ते देवसोम सुवीर्यस्य"। "अस्मत्सखा त्वं देव सोम विश्वेषाम्"। "स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य"। "यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम्"। "अग्ने तव श्रवो वयः"। "त्वं नो अग्ने तव"। "अग्ने वाजस्य गोमतः"। "त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्"। "यूयमापो अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः"। अत्र सर्वत्र ओषध्या इत्यादि षष्ठ्यन्तं पदं स्वसन्निहितामन्त्रितपदस्य विशेषणत्वाभावान्न सर्वत्रानुदात्तमिति भावः। आमन्त्रितस्य विशेषणाभावात्तु तदन्वयो द्रष्टव्यः। एवमन्यदपि प्रत्युदाहरणं द्रष्टव्यम्। सूत्रोक्तस्योपलक्षणत्वात्। यथा—"यस्यौषधीः प्रसर्पथ" इति ॥ १६ ॥

सुमङ्गल सत्यराजन्विकिरिद्र विलोहित दरिद्रनीललोहित श्रेयस्कर भूयस्कराम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके शरव्ये ब्रह्मसंशिते मरुतः अश्विना यव्ये गव्ये द्यावापृथिवी उरोऽग्ना३इ पत्नीवँल्लाजी३ञ्छाची३न्मीढुष्टम शिवतम सहस्राक्ष शतेषुधे वसुपते वसुदावन् ॥ २० ॥

सू० अ०—(अधोलिखित आमन्त्रित अनुदात्त नहीं होते हैं) सुमङ्गल सत्यराजन्, विकिरिद्र विलोहित, दरिद्र नीललोहित, श्रेयस्कर भूयस्कर, अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके, शरव्ये, ब्रह्मसंशिते, मरुतो अश्विना, यव्ये गव्ये, द्यावापृथिवी उरो, अग्ना३इ पत्नीवन्, लाजी३न् शाची३न्, मीढुष्टम शिवतम, सहस्राक्ष शतेषुधे, वसुपते वसुदावन्।

उ०—**सुमङ्गल सत्यराजन, विकिरिद्र विलोहित, दरिद्र नीललोहित, श्रेयस्कर भूयस्कर, अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके, शरव्ये ब्रह्मसंशिते, मरुतो अश्विना, यव्ये गव्ये, द्यावापृथिवी उरो, अग्ना३इ पत्नीवन्, लाजी३न्, शाची३न्, मीढुष्टम शिवतम, सहस्राक्ष शतेषुधे, वसुपते वसुदावन्**, एतान्यामन्त्रितानि नानुदात्तानि भवन्ति। पदपूर्वमित्यस्यापवादः। सुमङ्गल सत्यराजन्यथा—"सुश्लो॑क सुम॑ङ्गल सत्य॑राजन्" (वा० २०।४)। विकिरिद्र विलोहित यथा—"विकिरिद्र विलो॑हित नम॑स्ते" (वा० १६।५२)। दरिद्र नीललोहित यथा—"अन्ध॑सस्पते दरि॑द्र नील॑लोहित" (वा० १६।४७)। अत्र सुमङ्गलविकिरिद्रशब्दस्य पादादित्वादाद्युदात्तत्वं सिद्धमेवेति तद्विशेषणार्थं द्वितीयपदस्योच्यते। एवं सर्वत्रैतज्जातीयकेषु द्विपदेषु प्रयोजनं द्रष्टव्यम्। श्रेयस्कर भूयस्कर यथा—"बहु॑कार श्रे॑यस्कर भूय॑स्कर" (वा० १०।२८)। अम्बेऽम्बिके यथा—"अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा॑ नयति कश्चन" (वा० २३।१८)। शरव्ये ब्रह्मसंशिते यथा—"परा॑पत शर॑व्ये ब्रह्म॑संशिते" (वा० १७।४५)। मरुतो अश्विना यथा—"इता मरुतो अश्वि॑ना" (वा० ३३।४७)। यव्ये गव्ये यथा—"यव्ये गव्यं॑ एतदन्न॑मत्त देवाः" (वा० २३।८)। द्यावापृथिवी उरो यथा—"द्याव॑पृथिवी उरो॑ अन्तरिक्ष" (वा० ४।७)। अग्ना३इ पत्नीवन्यथा—"अग्ना३इ पत्नी॑वन् सजूः" (वा० ८।१०)। लाजी३न् शाची३न् यथा—"भूर्भुवः स्व॑र्लाजी३ञ्छाची३न्" (वा० २३।८)। मीढुष्टम शिवतम यथा—"मीढु॑ष्टम शिव॑तम शिवो नः॑" (वा० १६।५१)। सहस्राक्ष शतेषुधे यथा—"धनुष्टं॑ सह॑स्राक्ष शते॑षुधे" (वा० १६।१३)। वसुपते वसुदावन् यथा—"मघवा वसु॑पते वसु॑दावन्" (वा० १७।४३)॥ २०॥

उ० अ०—**सुमङ्गल, सत्यराजन......वसुपते वसुदावन्**—ये आमन्त्रित (पद) अनुदात्त नहीं होते हैं। पद पूर्व में होने पर (आमन्त्रित पद अनुदात्त होता है)—इसका अपवाद है। सुमङ्गल सत्यराजन् जैसे—"सुश्लो॑क सुम॑ङ्गल सत्य॑राजन्"। विकिरिद्र विलोहित जैसे—विकि॑रिद्र विलो॑हित नम॑स्ते"। दरिद्र नीललोहित जैसे—"अन्ध॑सस्पते दरि॑द्र नील॑लोहित"। यहाँ पाद के आदि में होने से सुमङ्गल और विकिरिद्र शब्द का आद्युदात्तत्व सिद्ध ही है। द्वितीय पद (सत्यराजन् तथा विलोहित) के विशेषण के लिए उन (सुमङ्गल तथा विकिरिद्र) को (सूत्रकार ने सूत्र में) कहा है। इस प्रकार सर्वत्र इस प्रकार के द्विपदों में प्रयोजन को समझना चाहिए.......।

अ०—सुमङ्गलेत्यादीन्येकोनत्रिंशत्पदानि आमन्त्रितान्याद्युदात्तानि स्युः, नानुदात्तानि। पदपूर्वमामन्त्रितस्यापवादः। उदाहरणानि क्रमेण यथा—"सुश्लोक सुमङ्गल सत्यराजन्"। "विकिरिद्र" इत्यस्य पदादित्वादाद्युदात्तं सिद्धमेव विशेषणार्थं ग्रहणम्। द्वितीयस्य-पदस्य एवम्। अन्यत्राप्येवंजातीयकोदाहरणेषु द्रष्टव्यम्। "विकिरिद्र विलोहित"। "दरिद्रनीललोहित"। "प्रियङ्कर श्रेयस्कर भूयस्कर"। "अम्बे अम्बिके अम्बालिके।"

"शरव्ये ब्रह्मसंशिते"। "इतो मरुता अश्विना"। "यव्ये गव्ये"। "द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष"। "अग्ना३इ पत्नीवन्" इति माध्यान्दिनीयानामुदाहरणम्। अत्र काण्वानां "द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष"। "अग्ने वाक्पत्नी" इति पाठः। तत्रोरुशब्दस्य गुणाभावेऽपि सम्बोधनान्तत्वम्। तथा "अग्ने वाक्पत्नी" इत्यत्रापि। अत्र उभयसूत्रस्योपलक्षणत्वात्। आद्यानुदात्तत्वम् यथा–"द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष"। "अग्ने वाक्पत्नी"। "भूर्भुवस्वर्लाजी३न्छाची३न्"। सम्बोधनमेतत्। "मीळ्हुष्टम शिवतम शिवो नः"। "त्वं सहस्राक्ष शतेषुधे"। "मघवा वसुपते वसुदावन्" इति॥ २०॥

इडोत्तराणि नव स्वानोत्तराणि षडग्न्युत्तराणि चत्वारि भगोत्तराणि चेन्द्रोत्तरमेकं सिनीवाल्युत्तरं च प्रजापतये ब्रह्मन्निति च॥ २१॥

सू० अ०–इडा से परवर्ती नौ (आमन्त्रित पद), स्वान से परवर्ती छः, अग्नि से परवर्ती चार, भग से परवर्ती भी (चार पद), इन्द्र से परवर्ती एक, सिनीवालि से परवर्ती भी (एक पद) और प्रजापतये से परवर्ती ब्रह्मन् (अनुदात्त नहीं होते हैं, आद्युदात्त होते हैं)।

उ०—इडोत्तराणि नवामन्त्रितानि पदानि आद्युदात्तानि भवन्ति। यथा–"इडे। रन्ते। हव्ये। काम्ये। चन्द्रे। ज्योते। अदिते। सरस्वति। महि। विश्रुति"। (वा० ८।४३) स्वानोत्तराणि षडामन्त्रितानि पदान्याद्युदात्तानि भवन्ति। यथा–"स्वान। भ्राज। अङ्घारे। बम्भारे। हस्त। सुहस्त। कृशानो" (वा० ४।२७)। अग्न्युत्तराणि चत्वार्यामन्त्रितानि पदान्याद्युदात्तानि भवन्ति। यथा–"अग्ने। इन्द्र। वरुण। मित्र। देवाः" (वा० ३३।४८)। भगोत्तराणि च चशब्दाच्चत्वार्येवामन्त्रितानि आद्युदात्तानि भवन्ति। यथा—"भग। प्रणेतः। भग। सत्यराधः। भग" (वा० ३४।३६) इन्द्रोत्तरमेकं पदमाद्युदात्तं भवति। यथा—इन्द्र। गोमन् (वा० २६।४)। सिनीवाल्युत्तरं च। चशब्दादेकमेवामन्त्रितमाद्युदात्तं भवति। यथा–सिनीवालि। पृथुष्टुके (वा० ३४।१०)। प्रजापतये ब्रह्मन्निति च। अत्र ब्रह्मन्नित्यामन्त्रितमाद्युदात्तं भवति। यथा–"प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वम्" (वा० २२।४)॥२१॥

उ० अ०—इडोत्तराणि = इडा से बाद में स्थित; नव = नौ; आमन्त्रित पद आद्युदात्त होते हैं। जैसे–"इडे। रन्ते। हव्ये। काम्ये। चन्द्रे। ज्योते। अदिते। सरस्वति। महि। विश्रुति"। स्वानोत्तराणि स्वान से बाद में स्थित; षट् = छः; आमन्त्रित पद आद्युदात्त होते हैं। जैसे–"स्वान। भ्राज। अङ्घारे। बम्भारे। हस्त। सुहस्त। कृशानो"। अग्न्युत्तराणि = अग्नि से बाद में स्थित; चत्वारि = चार; आमन्त्रित पद आद्युदात्त होते हैं। जैसे—"अग्ने। इन्द्र। वरुण। मित्र। देवाः"। **भगोत्तराणि च** = भग से बाद में स्थित भी। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता

है कि) चार ही आमन्त्रित आद्युदात्त होते हैं। जैसे--"भग। प्रणेतः। भग। सत्यराधः। भग"। **इन्द्रोत्तरमेकम्** = इन्द्र से बाद में स्थित एक; पद आद्युदात्त होता है। जैसे-"इन्द्र। गोमन्"। **सिनीवाल्युत्तरं च** = सिनीवालि से बाद में स्थित भी। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) एक ही आमन्त्रित (पद) आद्युदात्त होता है। जैसे—"सिनीवालि। पृथुष्टुके"। **प्रजापतये ब्रह्मन्निति च** = प्रजापतये से परवर्ती ब्रह्मन् भी। यहाँ ब्रह्मन्-यह आमन्त्रित (पद) आद्युदात्त होता है। जैसे—"प्रजापतये ब्रह्मन्नश्वम्"।

अ०—इडोत्तराणि नवामन्त्रितपदानि। इडोत्तराणि इति माध्यन्दिनशाखाभिप्रायेणोक्तम् काण्वशाखिनाम् हव्योत्तराणि द्रष्टव्यम्, सूचकत्वेनोपलक्षणत्वात् सूत्रस्य। न वेति [संखण] शब्देन ज्ञापितत्वात्। तेन हव्योत्तराणि नवामन्त्रितपदानि स्वानोत्तराणि षडामन्त्रितानि, अग्न्युत्तराणि चत्वारि, चशब्दात् भगोत्तराण्यपि चत्वारि, इन्द्रोत्तरमेकम्, सिनीवाल्युत्तरं चैकम्, प्रजापतये ब्रह्मन्निति चैकम्, एतानि सर्वाण्याद्युदात्तानि स्युः। यथा—क्रमेणोदाहरणानि—इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योते अदिते सरस्वति महि विश्रुतीति। स्वान भ्राज अङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानो इति। अग्ने इन्द्र वरुण मित्र देवाः। भग प्रणेतः भग सत्यराधः भग। एतानि माध्यन्दिनीयोदाहरणानि। इन्द्र गोमन्। सिनीवालि पृथुष्टुके। प्रजापतये ब्रह्मन्। केचित् ब्रह्मन्नित्यत्र आद्युदात्तत्वं सूचितमिति वदन्ति। तन्न, नेदमामन्त्रितम् किन्तु सप्तम्यन्तम्। "निशब्दो बहुलम्" इति तद्रूपसम्भवात्। ब्रह्मणः ब्रह्मविषये "ब्रह्मवर्चसी जायताम्" इत्यर्थसम्भवात्। "आ राष्ट्रे राजन्यः" इत्युत्तरवाक्याच्चेति ज्ञेयम्। हव्याद्यादिपदानि पादाद्यमन्त्रितत्वात् आद्युदात्तानि ॥ २१ ॥

भूतिराद्युदात्तम् ॥ २२ ॥

सू० अ०—भूति (पद) आद्युदात्त (होता है)।

उ०—अनुदात्ताधिकारो निवृत्तः। इत उत्तरमाद्युदात्ताधिकारः प्रवृत्तः। भूतिरित्येतत्पदमाद्युदात्तं भवति यथा—"भूत्यै जागरणम्" (वा० ३०।१७)। नमो भूत्यै येदम्" (वा० १२।६५)। भूतिरिति किम् ? "भूतं च मे भविष्यच्च मे" (वा० १८।११) ॥ २२ ॥

उ० अ०—अनुदात्त के अधिकार की निवृत्ति हो गई है। इससे आगे आद्युदात्त का अधिकार चलता है। भूति-यह पद आद्युदात्त होता है। जैसे-"भूत्यै जागरणम्"। "नमो भूत्यै येदम्"। भूति-यह क्यों (कहा) ? भूतं च मे भविष्यच्च मे"।

अ०—अनुदात्ताधिकारो निवृत्तः। इत उत्तरमाद्युदात्ताधिकारः प्रस्तूयते। तत्र भूतिरिति पदं आद्युदात्तम्। यथा—"भूत्यै जागरणम्"। "नमो भूत्यै"। भूतिः किम् ? "भूतं च मे भविष्यच्च मे"॥ २२ ॥

कदा नरिष्येमपूर्वम् ॥ २३ ॥

सू० अ०—न रिष्येम पूर्व में हो तो कदा (आद्युदात्त होता है)।

उ०—कदेत्येतत्पदमाद्युदात्तं भवति, नरिष्येमपूर्वं चेद्भवति। यथा—"न रिष्येम कदाचन" (वा० ३४।४१)। नरिष्येमपूर्वमिति किम् ? "कदाचन स्तरीरसि" (वा० ३।३४) ॥ २३ ॥

उ० अ०—कदा—यह पद आद्युदात्त होता है यदि; **नरिष्येमपूर्वम्**=पूर्व में न रिष्येम; होता है। जैसे—"न रिंष्येम कदाचन"। न रिष्येम पूर्व में हो—यह क्यों (कहा) ? "कदाचन स्तरीरसि"।

अ०—कदापदमाद्युदात्तं स्यात् नरिष्येमपूर्वं चेद्भवति। यथा—"न रिष्येम कदाचन"। नरिष्येमपूर्वमिति किम् ? "कदाचन स्तरीरसि" ॥ २३ ॥

आमन्त्रितं च ॥ २४ ॥

सू० अ०—आमन्त्रित (पद) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—आमन्त्रितमाद्युदात्तं भवति यस्यामन्त्रितस्याधस्तात् स्वरो न विहितः। कस्य चाधस्तात् स्वरो न विहितः ? पदपूर्वं यन्न भवति, पादादौ वाक्यादौ च यद्भवति तदाद्युदात्तं भवति। अपदपूर्वं भवति यथा—"अग्ने गृहपते" (वा० ३।३९)। वाक्यादौ भवति यथा—"अग्नयः सगराः" (वा० ५।३४)। "देवा आशापालाः" (वा० २२।१९)। पादादौ भवति यथा—"या वाङ्कशा मधुमत्यश्विना" (वा० ७।११)। "विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्ने" (वा० ३३।१०)। सुमङ्गलादि तु निपातितमेव ॥ २४ ॥

उ० अ०—जिस आमन्त्रित (पद) के स्वर का पहले विधान नहीं किया गया है वह **आमन्त्रित (पद) (च = भी)** आद्युदात्त होता है। (प्रश्न) किस आमन्त्रित के स्वर का पहले विधान नहीं किया गया है ? जिसके पूर्व में कोई पद नहीं होता है (और) जो पाद के प्रारम्भ में अथवा वाक्य के प्रारम्भ में होता है वह (आमन्त्रित) आद्युदात्त होता है। पूर्व में पद न होने पर (आद्युदात्त) होता है जैसे—"अग्ने गृहपते"। वाक्य के आदि में (आद्युदात्त) होता है जैसे—"अग्नयः सगराः"। "देवा आशापालाः"। पाद के आदि में (आद्युदात्त) होता है—"या वां कशा मधुमत्यश्विना"। "विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्ने"। (अश्विना और अग्ने पाद के आदि में स्थित है)। सुमङ्गल इत्यादि तो निपातन से (आद्युदात्त होते हैं)—यह पहले कहा ही जा चुका है।

अ०—अपदपूर्वमामन्त्रितं पादादौ वाक्यादौ विद्यमानमाद्युदात्तं यत् पदपूर्वं न भवति। पादादौ वाक्यादौ विद्यमानं चेत् भवतीत्यर्थः। यथा—"अग्ने गृहपते"। अपदपूर्वस्योदाहरणमिदम्। वाक्यादौ यथा—"अग्नयस्सगराः"। "देवा आशापालाः"। पादादौ

यथा—"या वां कशा मधुमती"। "अश्विना सूनृतावति"। "अवतत्य धनुष्ट्वम्"। "सहस्राक्ष शतेषुधे"। "विश्वेभिः सोम्यम् मधु"। "अग्न इन्द्रेण वायुना"। सुश्लोकादिनिपातमेव ॥ २४ ॥

कृष्णो मृगसंयोगे ॥ २५ ॥

सू० अ०—मृग का वाचक होने पर कृष्ण (शब्द आद्युदात्त होता है)।

उ०—कृष्णशब्दः; (मृगसंयोगे =) मृगवचनः; आद्युदात्तो भवति। यथा—"कृष्णोऽस्याखरेष्ठः" (वा० २।१)। "कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः" (वा० २४।३६)। मृगसंयोग इति किम्? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः" (वा० २४।४०)। अत्र कृष्णशब्दो वर्णवचनः वर्णविशेषाभिमतत्वात् ॥ २५ ॥

उ० अ०—कृष्ण शब्द; (मृगसंयोगे =) मृग का वाचक होने पर; आद्युदात्त होता है। जैसे—"कृष्णोऽस्याखरेष्ठः"। "कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः"। मृग का वाचक होने पर—यह क्यों (कहा)? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः"। यहाँ पर कृष्ण शब्द वर्ण (रंग) का वाचक है, क्योंकि (यहाँ) वर्ण—विशेष (काला रंग) अभीष्ट है।

अ०—कृष्णशब्दः मृगवाच्याद्युदात्तं स्यात्। "कृष्णोऽस्याखरेष्ठः"। "कृष्णो रात्र्यै"। मृगसंयोग इति किम्? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः"। तथा—"कृष्णवारुणाः"। कृष्णशब्दोऽयं वर्णवाची ॥ २५ ॥

व्ययवाँश्चान्तः ॥ २६ ॥

सू० अ०—विकारी अन्तः (शब्द) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—अन्तःशब्दो द्विविधः व्ययवानव्ययवाँश्च। यस्य विभक्त्यादिभिर्विकारो न क्रियते सोऽव्ययवान्। तथा चोक्तम्—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥"

इति। यस्य पुनर्विभक्त्यादिभिर्विकारः क्रियते स व्ययवान्। स चाद्युदात्तो भवति। यथा—"समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च" (वा० १७।२)। "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः" (वा० २३।६२)। व्ययवानिति किम्? "अन्तर्यच्छ मघवन्" (वा० ७।४) ॥२६॥

उ० अ०—अन्तः शब्द दो प्रकार का होता है—व्ययवान् और अव्ययवान्। जिसमें विभक्ति आदि के द्वारा विकार नहीं किया जाता है वह अव्ययवान् है। वैसा कहा भी गया है—"जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में समान (एक

जैसा) रहता है और विकार (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं करता है वह अव्यय होता है।" किन्तु जिसमें विभक्ति आदि के द्वारा विकार (परिवर्तन) किया जाता है वह व्ययवान् है। (व्ययवान् अन्तः = विकार को प्राप्त करने वाला अन्तः पद =) वह; च = भी; आद्युदात्त होता है। जैसे-"समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च"। "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः"। विकार को प्राप्त करने वाला-यह क्यों (कहा) ? "अन्तर्यच्छ मघवन्" (यहाँ अन्तः अव्यय है, अतः आद्युदात्त नहीं है)।

अ०—अन्तशब्दः द्विविधः व्ययवानव्ययवांश्चेति। यस्य विभक्त्यादिभिर्विकारः स व्ययवान् अनेवम्भूतः अव्ययवान्। उक्तं च—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्" ॥ इति।

तत्र विकारवानाद्युदात्तः स्यात्। यथा-"समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्च"। "इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयम्"। अयं अन्तशब्दोऽकारान्तः रामशब्दवत्। अन्तः-अन्तौ-अन्ताः। विकारवान् व्ययवानिति किम् ? "अन्तर्यच्छ मघवन्"। "अस्वरन्तरमृतम्"। "अन्तः प्रातरिति" अन्तः अव्ययवान् ॥ २६ ॥

परः प्रधाने ॥ २७ ॥

सू० अ०—प्रधान (अर्थ) में पर शब्द (आद्युदात्त होता है)।

उ०—परशब्दः; (प्रधाने =) प्रधानवचनः = अपरिमितवचन; आद्युदात्तो भवति। यथा-"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति" (वा० ८।३६)। "इयं वेदिः परः" (वा० २३।६२)। प्रधान इति किम् ? "परो दिवा पर एना पृथिव्याः" (वा० १७।२९) ॥ २७ ॥

उ० अ०—पर शब्द; (प्रधाने =) प्रधान का वाचक हो तो = अपरिमित का वाचक हो तो; वह आद्युदात्त होता है। जैसे-"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति"। "इयं वेदिः परः"। प्रधान का वाचक होने पर-यह क्यों (कहा) ? "परो दिवा पर एना पृथिव्याः"।

अ०—प्रधानवचनः परशब्दः आद्युदात्तः स्यात्। यथा-"यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति"। "इयं वेदिः परो अन्तः"। प्रधान इति किम् ? "परो दिवा पर एना पृथिव्याः"। अयं परशब्दः अन्यार्थः ॥ २७ ॥

मात्रा च परिमाणे ॥ २८ ॥

सू० अ०—परिमाण (अर्थ) में मात्रा भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—मात्राशब्दश्च; (परिमाणे =) परिमाणवचनः, आद्युदात्तो भवति। यथा—"कस्य मात्रा न विद्यते" (वा० २३।४७)। "गोस्तु मात्रा न विद्यते" (वा० २३।४८)। परिमाण इति किम्? "त्रिभूर्मात्रा प्रभूः पित्रा" (वा०२२।१६) अत्र मातृशब्दस्य सम्बन्धिवचनस्य तृतीयान्तस्यैतद्रूपं भवति। अतः परिमाणवाची न भवति ॥ २८ ॥

उ० अ०—मात्रा शब्द; च = भी; (परिमाणे =) परिमाण का वाचक होने पर; आद्युदात्त होता है। जैसे—"कस्य मात्रा न विद्यते"। "गोस्तु मात्रा न विद्यते"। परिमाण अर्थ में यह क्यों (कहा)? "विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रा"। यहाँ सम्बन्धिवाचक (माता अर्थ वाले) मातृ शब्द के तृतीयान्त का यह रूप है। इसलिए परिमाणवाचक नहीं है।

अ०—परिमाणवाची मात्राशब्दः आद्युदात्तः स्यात्। "कस्य मात्रा न विद्यते"। "गोस्तु मात्रा न विद्यते"। परिमाण इति किम्? "विभूर्मात्रा प्रभूः पित्रा"। अयं मात्राशब्दस्तृतीयान्तः जनन्यर्थकः ॥ २८ ॥

दक्षिणा च ॥ २९ ॥

सू० अ०—दक्षिणा (शब्द) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—दक्षिणाशब्दश्चाद्युदात्तो भवति। यथा—"तस्य दक्षिणा अप्सरसः" (वा० १८।४२)। "दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः" (वा० १७।४०) ॥ २९ ॥

उ० अ०—दक्षिणा शब्द; च = भी; आद्युदात्त होता है। जैसे—"तस्य दक्षिणा अप्सरसः"। "दक्षिणा यज्ञं पुर एतु सोमः" ॥

अ०—दक्षिणाशब्दोऽप्याद्युदात्तः स्यात्। अत्र स्त्रीत्वाद्यविवक्षितम्। तेन सर्वलिङ्गः सर्वप्रत्ययान्तश्च विवक्षितः। यथा—"दक्षिणा यज्ञः"। "तस्य दक्षिणा अप्सरसस्तवानाम"। "दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्"। "सन्दक्षिणयोरुचक्षसा"। "द्यावा-पृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वम्" ॥ २९ ॥

न दश विश्वकर्मा निषद्येन्द्रस्य पातु सदः सद्भ्येषु ॥ ३० ॥

सू० अ०—दश, विश्वकर्मा, निषद्य, इन्द्रस्य, पातु, सदः और सद्भ्यः बाद में होने पर (दक्षिणा आद्युदात्त) नहीं (होता है)।

उ०—दश, विश्वकर्मा, निषद्य, इन्द्रस्य, पातु, सदः; सद्भ्यः, एतेषु परभूतेषु दक्षिणाशब्द आद्युदात्तो न भवति। दश यथा—"दश दक्षिणा दश प्रतीचीः" (वा० १६।६४)। विश्वकर्मा यथा—"अयं दक्षिणा विश्वकर्मा" (वा० १३।५५)।

निषद्य यथा–"आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य" (वा० १६।६२)। इन्द्रस्य यथा—"पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्याधिपत्ये" (वा० ३७।१२)। पातु यथा–"मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु" (वा० ५।११)। सदः यथा—"यमनेत्रा दक्षिणासदः" (वा० ९।३६)। सद्भ्यः यथा–"यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः" (वा० ९।३५)।

उ० अ०—(दश⋯सद्भ्येषु =) दश, विश्वकर्मा, निषद्य, इन्द्रस्य, पातु, सदः, सद्भ्यः—ये बाद में होने पर; दक्षिणा शब्द आद्युदात्त; न=नहीं; होता है।⋯।

अ०—दशादिसप्तसु परेषु दक्षिणाशब्दः आद्युदात्तो न भवति। पूर्वापवादः। "प्राचीदश दक्षिणा दश"। "अयं दक्षिणा विश्वकर्मा"। "आच्या जानु दक्षिणतो निपद्य"। "पुत्रवती दक्षिणत इन्द्रस्य"। "पितृभिर्दक्षिणतः पातु"। "यमनेत्रा दक्षिणासदः"। "यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्भ्यः" ॥ ३० ॥

कर्णः स्वाङ्गे ॥ ३१ ॥

सू० अ०—शरीर के अङ्ग (अर्थ) में कर्ण (आद्युदात्त होता है)।

उ०—कर्णशब्दः; (स्वाङ्गे =) स्वाङ्गाभिधायी; आद्युदात्तो भवति। यथा–"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" (वा० २५।२१)। "श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेन" (वा० २५।२)। स्वाङ्ग इति किम्? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः" (वा० २४।४०) ॥ ३१ ॥

उ० अ०—(स्वाङ्गे =) शरीर के अङ्ग का अभिधान करने वाला; कर्ण शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः"। "श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेन"। शरीर का अङ्ग (अर्थ) में यह क्यों (कहा)? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः" ॥ ३१ ॥

अ०—स्वाङ्गवाची कर्णशब्दः आद्युदात्तः स्यात्। यथा–"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः"। "कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेन"। स्वाङ्ग इति किम्? "श्वा कृष्णः कर्णो गर्दभः"। अयं कर्णशब्दः न स्वाङ्गवचनः, किन्तु पशुजातिवाचकः ॥ ३१ ॥

महो नपुंसके ॥ ३२ ॥

सू० अ०—नपुंसक (लिङ्ग) में (विद्यमान) महः (आद्युदात्त होता है)।

उ०—महश्शब्दः; (नपुंसके=) नपुंसकाभिधायो; आद्युदात्तो भवति। यथा–"महस्थ महो वो भक्षीय" (वा० ३।२०)। नपुंसक इति किम्? "महो देवाय तदृतं सपर्यत" (वा० ४।३५)। "महो अग्नेः समिधानस्य शर्मणि (वा० ३३।१७) ॥३२॥

उ० अ०—(नपुंसके =) नपुंसक का अभिधान करने वाला; महः शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—"महस्थ महो वो भक्षीय"। नपुंसक (लिङ्ग) में-यह क्यों (कहा) ? "महो देवाय तदृतं सपर्यत"। "महो अग्नेः समिधानस्य शर्मणि"।

अ०—महश्शब्दः क्लीववाची आद्युदात्तः स्यात्। "महस्थ महो वो भक्षीय"। नपुंसक इति किम् ? "महो देवाय तदृतं सपर्यत"। "महो अग्नेस्समिधानस्य"। उत्सववाची अयं पुल्लिङ्गः ॥ ३२ ॥

श्रवश्च ॥ ३३ ॥

सू० अ०—श्रवः (शब्द) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—श्रवश्शब्दो नपुंसकवाच्याद्युदात्तो भवति। यथा—"अग्ने तव श्रवो वयः" (वा० १२।१०६)। नपुंसक इति किम् ? "श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे" (वा० १८।१) ॥ ३३ ॥

उ० अ०—नपुंसक-वाचक श्रवः शब्द (च = भी) आद्युदात्त होता है। जैसे—"अग्ने तव श्रवो वयः"। नपुंसक (वाचक)—यह क्यों (कहा) ? "श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे"।

अ०—श्रवश्शब्दः नपुंसकलिङ्गः आद्युदात्तः स्यात्। यथा—"अग्ने तव श्रवः"। नपुंसक इति किम् ? "श्रवश्च मे श्रुतिश्च मे" ॥ ३३ ॥

अन्धो वीर्ये ॥ ३४ ॥

सू० अ०—शक्ति (अर्थ) में अन्धः (शब्द) (आद्युदात्त होता है)।

उ०—अन्धशब्दः; (वीर्य्ये =) वीर्यवचनः; आद्युदात्तो भवति। यथा—"अन्धस्थान्धो वो भक्षीय" (वा० ३।२०)। वीर्य इति किम् ? "स्वप्नायान्धमधर्माय" (वा० ३०।१०)। "अन्धन्तमः प्रविशन्ति" (वा० ४०।६) ॥ ३४ ॥

उ० अ०—(वीर्ये =) शक्ति का वाचक होने पर; अन्धः शब्द आद्युदात्त होता है।...।

अ०—वीर्यवाच्यन्धशब्द आद्युदात्तः स्यात्। "अन्धस्थान्धो वो भक्षीय"। वीर्य इति किम् ? "अन्धं तमः प्रविशन्ति"। अयमन्धशब्दः निबिडवाची, पूर्वस्तु वीर्यहेतुः अन्नवाची। "स्वप्नायान्धम्"। अयमन्धशब्दः नेत्रविकलवचनः ॥ ३४ ॥

एता वर्णे ॥ ३५ ॥

सू० अ०—वर्ण (रंग) (अर्थ) में एता (आद्युदात्त होता है)।

उ०—एताशब्दः, (वर्णे =) वर्णवचनः; आद्युदात्तो भवति। यथा—"एता ऐन्द्राग्नाः" (वा० २४।८)। वर्ण इति किम्? "एता मे अग्न इष्टकाः" (वा० १७।२) ॥ ३५ ॥

उ० अ० – (वर्णे =) वर्ण का वाचक होने पर; एता शब्द आद्युदात्त होता है।…।

अ०—वर्णवाची एताशब्दः आद्युदात्तः स्यात्। एता चित्रवर्णा इत्यर्थः। "चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे" इत्यमरः। वर्ण इति किम्? "एता मे अग्ना इष्टकाः"। अयमेताशब्दः पूर्वपरामर्शनार्थः ॥ ३५ ॥

रोहितश्च केवलः ॥ ३६ ॥

सू० अ०—समास में स्थित न होने पर रोहित (शब्द) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—रोहितशब्दश्च वर्णवचनः; केवलः = असमासस्थः, आद्युदात्तो भवति यथा—"रोहितो धूम्ररोहितः" (वा० २४।२)। वर्णवाचीति किम्? "रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका" (वा० २४।३७)। केवल इति किम्? "धूम्ररोहितः कर्कन्धुरोहितः" (वा० २४।२)॥ ३६ ॥

उ० अ०—केवलः = समास में स्थित न होने पर; वर्ण–वाचक रोहित शब्द; च = भी; आद्युदात्त होता है।…।

अ०—असमासस्थो वर्णवाची रोहितशब्दः आद्युदात्तः स्यात्। "रोहितो धूम्ररोहितः"। वर्णवाचीति किम्? "रोहित्कुण्डृणाची गोलत्तिका"। अयं रोहितशब्द कृष्णमृगविशेषवाची। केवल इति किम्? "धूम्रश्चासौ रोहितश्च धूम्ररोहितः" इति समस्तोऽयम् ॥ ३६ ॥

यन्त्री राट् ॥ ३७ ॥

सू० अ०—राट् बाद में होने पर यन्त्री (शब्द आद्युदात्त होता है)।

उ०—यन्त्रीशब्द आद्युदात्तो भवति, राट्परश्चेद्भवति। यथा—"यन्त्री राट्" (वा० १४।२२)। राट्पर इति किम्? "यन्त्र्यसि यमनी" (वा० १४।२२)॥३७॥

उ० अ०—यदि राट् बाद में होता है तो यन्त्री शब्द आद्युदात्त होता है।…।

अ०—यन्त्रीशब्दः आद्युदात्तः स्यात् राट्शब्दे परे। यथा—"यन्त्री राट्"। राट्पर इति किम्? "यन्त्र्यसि यमनी" ॥ ३७ ॥

ओषधीरनामन्त्रिते । ३८ ॥

सू० अ०—आमन्त्रित न होने पर ओषधीः (शब्द आद्युदात्त होता है) ।

उ०—ओषधीशब्दः; (अनामन्त्रिते =) अनामन्त्रितविषयः; आद्युदात्तो भवति । यथा—"या ओषधीः पूर्वा जाताः" (वा० १२।७५) । अनामन्त्रित इति किम् ? "यस्यौषधीः प्रसर्पथ" (वा० १२।८६) ॥ ३८ ॥

उ० अ०—(अनामन्त्रिते =) आमन्त्रित के क्षेत्र को छोड़कर अन्यत्र; **ओषधी** शब्द आद्युदात्त होता है।.....।

अ०—अनामन्त्रित ओषधीशब्द आद्युदात्तः स्यात् । यथा—"या ओषधीः पूर्वा जाताः" । अनामन्त्रित इति किम् ? "यस्यौषधीः प्रसर्पथ" । हे ओषध्य इत्यर्थः ।

सर्व विश्व मानुषाशाः स्वाहा वाजः पयो नमः ॥ ३९ ॥

सू० अ०—सर्व, विश्व, मानुषा, आशाः, स्वाहा, वाजः, पयः और नमः (आद्युदात्त होते हैं) ।

उ०—सर्व, विश्व, मानुषा, आशाः, स्वाहा, वाजः, पयः, नमः । एतानि पदान्याद्युदात्तानि भवन्ति । सर्व यथा—"सर्वे निमेषा जज्ञिरे" (वा० ३२।२) । विश्व यथा—"यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" (वा० ३२।८) । मानुषा यथा—"दैव्यं मानुषा युगा" (वा० १२।१११) आशा यथा—"विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्मानुषीर्भियः' (वा० २७।७) स्वाहा यथा -"हिङ्काराय स्वाहा" (वा० २२।७) । वाजः यथा—"वाजश्च मे" (वा० १८।१) । पयः यथा—"पयः पृथिव्याम्" (वा० १८।३६) नमः यथा—"नमो हिरण्यबाहवे" (वा० १६।१७) ॥

उ० अ०—सर्व···नमः-ये पद आद्युदात्त होते हैं।.....।

अ०—सर्वआदीन्याद्युदात्तानि स्युः । अविशेषात् सर्वलिङ्गानि गृह्यन्ते । क्रमेणोदाहरणानि—"सर्वे निमेषा जज्ञिरे" । "पुरुष एवेदं सर्वम्" । "विश्वे अद्य" । "यत्र विश्वम्" । "दैव्यं मानुषा युगा" । "विश्वा आशाः प्रमुञ्चन् मानुषीर्भियः" । "हिङ्काराय स्वाहा" । "हिङ्कृताय स्वाहा" । "वाजश्च मे" । "पयः पृथिव्याम्" । "नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च" । "नमो हिरण्यबाहवे" । "नमस्तुत्या च" । "तेभ्यो नमः" ॥३९॥

असि शिवा सुषदा पयस्वती यत्ते मधुमतीर्वर्चस्वानोजिष्ठो भ्राजिष्ठः शुष्मिणी भद्रवाच्याय वन्द्यो मेध्यो यमादित्यस्त्रितः सोमेन स्वसेत्येतेषु ॥ ४० ॥

सू० अ०—शिवा, सुषदा, पयस्वती, यत्ते, मधुमतीः, वर्चस्वान्, ओजिष्ठः, भ्राजिष्ठः, शुष्मिणी, भद्रवाच्याय, वन्द्यः, मेध्यः, यमः, आदित्यः

त्रितः, सोमेन और स्वसा—ये बाद में होने पर असि (आद्युदात्त होता है) ।

उ०—शिवा, सुषदा, पयस्वती, यत्ते, मधुमतीः, वर्चस्वान्, ओजिष्ठः, भ्राजिष्ठः, शुष्मिणी, भद्रवाच्याय, वन्द्यः, मेध्यः, यमः, आदित्यः, त्रितः, सोमेन, स्वसा। असीत्यधस्तादनुदात्त उक्तः। स एतेषु परभूतेषु आद्युदात्तो भवति। शिवा यथा—"सुक्ष्मा चासि शिवा" (वा० १।२७) सुषदा यथा-"स्योना चासि सुषदा" (वा० १।२७)। पयस्वती यथा-"ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च"। (वा० १।२७)। यत्ते यथा—"योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्ते" (वा० ५।९)। मधुमतीर्यथा—"येषां भागोऽसि मधुमतीः" (वा० ७।१)। वर्चस्वान्यथा—"त्वं देवेष्वसि वर्चस्वान्" (वा० ८।३८)। ओजिष्ठः यथा—"त्वं देवेष्वस्योजिष्ठः" (वा० ८।३९)। भ्राजिष्ठः यथा—"त्वं देवेष्वसि भ्राजिष्ठः (वा० ८।४०)। शुष्मिणी यथा—"सुरा त्वमसि शुष्मिणी" (वा० १९।७) भद्रवाच्याय यथा—"होतरसि भद्रवाच्याय" (वा० २१।६१)। वन्द्यः यथा-"इड्यश्चासि वन्द्यः" (वा० २९।३)। मेध्यः यथा-"आशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते" (वा० २९।३)। यमः यथा-"असि यमः" (वा० २९।१४)। आदित्यः यथा-"अस्यादित्यो अर्वन्" (वा० २९।१४)। त्रितः यथा-"असि त्रितो गुह्येन" (वा० २९।१४)। सोमेन यथा-"असि सोमेन" (वा० २९।१४)। स्वसा यथा—"या देवानामसि स्वसा" (वा० ३४।१०) ॥ ४० ॥

उ० अ०—शिवा...स्वसा। असि को पहले अनुदात्त कहा गया है। एतेषु= ये (शब्द) बाद में होने पर; वह (= असि पद) आद्युदात्त होता है।...।

अ०—असीति सूत्रेणासिशब्दः पूर्वमनुदात्तोऽभिहितः। तस्यायमपवादः। असि-शब्दः शिवादिसप्तदशसु परभूतेषु आद्युदात्तः स्यात्, यथाक्रमेणोदाहरणानि—"सुक्ष्मा चासि शिवा चासि"। "स्योना चासि सुषदा चासि"। "ऊर्जस्वती चासि पयस्वती च"। "योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्ते"। "येषां भागोऽसि मधुमतीर्न इषस्कृधि"। "त्वं देवेष्वसि"। "वर्चस्वानहम्"। "ओजस्वांस्त्वं देवेष्वसि"। "ओजस्वानहम्"। "भ्राजस्वांस्त्वं देवेष्वसि"। "भ्राजस्वानहम्"। "सुरा त्वमसि शुष्मिणी सोमः"। "होतरसि"। "भद्रवाच्याय प्रेषितः"। "ईड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन्"। "आशुश्चासि मेध्यश्च सप्ते"। "असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्"। "असि त्रितो गुह्येन"। "असि सोमेन समया"। "या देवानामसि स्वसा"। एतेष्वेव किम्? "गर्भो अस्योषधीनाम्"। "चिदसि तया"। "रयिमान् पुष्टिमानसि"। "शिवाः कृत्वा" ॥ ४० ॥

अनदारत्नधाभ्यां च ॥ ४१ ॥

सू० अ०—धनदा और रत्नधा से परवर्ती (असि पद) भी (आद्युदात्त होता है)।

उ०—धनदारत्नधाभ्यां परोऽसिशब्द आद्युदात्तो भवति। धनदा यथा—"त्वं हि धनदा असि" (वा० ९।२८)। रत्नधा यथा—"त्वं हि रत्नधा असि" (वा० २६।२१) ॥ ४१ ॥

उ० अ०—(धनदारत्नधाभ्याम् =) धनदा और रत्नधा से; परवर्ती असि शब्द; (च = भी) आद्युदात्त होता है। धनदा जैसे—"त्वं हि धनदा असि"। रत्नधा जैसे—"त्वं हि रत्नधा असि"।

अ०—आभ्यां परोऽसिशब्द आद्युदात्तः स्यात्। "त्वं हि धनदा असि"। माध्मन्दिनीयानामुदाहरणमेतत् ॥ ४१ ॥

रायोऽपोषे ॥ ४२ ॥

सू० अ०—पोष बाद में न होने पर रायः (आद्युदात्त होता है)।

उ०—राय इत्येतत्पदमपोषे परे चाद्युदात्तं भवति। यथा—"त्वे रायो मे रायः" (वा० ४।२२)। अपोष इति किम्? "मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म" (वा० ४।२२) ॥ ४२ ॥

उ० अ०—अपोषे = पोष बाद में न होने पर; रायः—यह पद आद्युदात्त होता है।...।

अ०—राय इत्येतत् पदम् आद्युदात्तं स्यात् पोषशब्दश्चेत् परो न भवति। "त्वे रायो अस्मे रायः"। रैशब्द इत्यनुक्त्वा राय इति प्रत्ययविशेषान्तस्य ग्रहणं किम्? "राया वयम्"। "रायेऽनु यं जज्ञतू रोदसि"। अपोष इति किम्? "मा वयं रायस्पोषेण" ॥ ४२ ॥

न भागमीशिषयोः ॥ ४३ ॥

सू० अ०—भागम् और ईशिषे बाद में होने पर (रायः पद आद्युदात्त) नहीं (होता है)।

उ०—राय इत्येतत्पदं भागमीशिषयोः परयोराद्युदात्तं न भवति। भागं यथा—"रायो भागम्" (वा० ३४।२३)। ईशिषे यथा—"राय ईशिषे" (वा० १७।७१) ॥ ४३ ॥

उ० अ०—भागमीशिषयोः = भागम् और ईशिषे बाद में होने पर; रायः—यह पद आद्युदात्त; न = नहीं; होता है।...।

अ०—राय इति पदं भागमीशिषयोः परतः आद्युदात्तो न स्यात्। पूर्वापवादः। "रायो भागं सहसावन्"। "त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे" ॥ ४३ ॥

त्रिधा बद्धहितयोः ॥ ४४ ॥

सू० अ०—बद्ध और हित बाद में होने पर त्रिधा (शब्द आद्युदात्त होता है)।

उ०—त्रिधाशब्दो बद्धहितयोः परयोराद्युदात्तो भवति। बद्धो यथा—"त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति" (वा० १७।९१)। हितं यथा—"त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानम्" (वा०१७।९२) ॥ ४४ ॥

उ० अ०—बद्धहितयोः = बद्ध और हित बाद में होने पर; त्रिधा शब्द आद्युदात्त होता है।...।

अ०—त्रिधा बद्धहितयोः परतः आद्युदात्तः स्यात्। "त्रिधा बद्धो वृषभः"। "त्रिधा हितं पणिभिः"। एतयोः किम्? "त्रेधा निदधे पदम्" ॥ ४४ ॥

सुकृतम्भूते ॥ ४५ ॥

सू० अ०—भूतकाल (अर्थ) में सुकृत (शब्द आद्युदात्त होता है)।

उ०—सुकृतशब्दः; (भूते =) भूताभिधायी; आद्युदात्तो भवति। यथा—"उरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्" (वा० ७।३९)। भूत इति किम्? "सूक्तं च मे सुकृतं च मे" (वा० १८।५) ॥ ४५ ॥

उ० अ०—(भूते =) भूतकाल का अभिधायक (वाचक); सुकृत शब्द आद्युदात्त होता है। जैसे—"उरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत्"। भूतकाल (अर्थ) में—यह क्यों (कहा)? "सूक्तं च मे सुकृतं च मे"।

अ०—सुकृतमित्येतत्पदमाद्युदात्तं स्यात्, यदि भूतवचनम्। यथा—"सुकृतः कर्तृभिर्भूत्"। सुकृतशब्दोऽयं भूताभिधायी। भूत इति किम्? "सूक्तं च मे सुकृतं च मे"। अयं न प्राणिवाचकः? किन्तु पुण्याभिधायकः ॥ ४५ ॥

द्विरुदात्तानि ॥ ४६ ॥

सू० अ०—(अब) द्विरुदात्त (दो उदात्त वाले) (पदों को कहा जायेगा)।

उ०—द्विरुदात्तं येषु तानि पदानि (= द्विरुदात्तानि)। वक्ष्यन्त इति सूत्रशेषः। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ४६ ॥

उ० अ०—(द्विरुदात्तानि =) दो उदात्त हैं जिन (पदों) में वे पद। (सूत्र-पूर्ति के लिए) सूत्र में 'कहे जायेंगे'—यह जोड़ना चाहिए। यह अधिकारसूत्र है।

अ०—द्विरुदात्तौ येषु पदेषु तानि पदानि द्विरुदात्तानि। वक्ष्यन्त इति सूत्रशेषः। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ४६ ॥

बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंसस्तनूनप्त्रे तनूनपान्नक्तोषासोषासानक्ता द्यावापृथिवो द्यावाक्षामा क्रतूदक्षाभ्यामेतवा अन्वेतवा इति च ॥ ४७ ॥

सू० अ०—बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, तनूनप्त्रे, तनूनपात्, नक्तोषासा, उषासानक्ता, द्यावापृथिवी, द्यावाक्षामा, क्रतूदक्षाभ्याम्, एतवै और अन्वेतवै (द्विरुदात्त हैं)।

उ०—बृहस्पतिः (वा० १७।४०), वनस्पतिः (वा० २०।४५), नराशंसः (वा० २०।३७); तनूनप्त्रे (वा० ५।५), तनूनपात् (वा० २०।३७), नक्तोषासा (वा० १२।२), उषासानक्ता, (वा० २०.४१), द्यावापृथिवी (वा० १७।२०), द्यावाक्षामा (वा० १२।२)। क्रतू दक्षाभ्याम् (वा० ७।२७), एतवै (वा० १७।६७), अन्वेतवै (वा० ८।२३), एतानि पदानि द्विरुदात्तानि भवन्ति। अदेवताद्वन्द्वार्थम् आरम्भः। प्रचुराण्येवोदाहरणानि ॥ ४७ ॥

उ० अ०—बृहस्पतिः……अन्वेतवै—ये पद द्विरुदात्त (दो उदात्तों वाले) होते हैं। जो देवताद्वन्द्व नहीं हैं उनके लिए (यह सूत्र) आरम्भ (किया गया है)। उदाहरण वहुत हैं।

अ०—वृहस्पतिरित्यादिद्वादशपदानि द्विरुदात्तानि स्युः। अविशेपात् सर्वविभक्त्यन्तानि। अदेवताद्वन्द्वार्थोऽयमारम्भः। क्रमेणोदाहरणानि—"प्राश्नामि वृहस्पतेर्मुखेन"। "इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिः"। "वनस्पतिरवसृष्टो न पाशैः"। "नराशंसः प्रति"। "तनूनप्त्रे शाक्वराय"। "तनूनपात् प्रतियज्ञस्य धाम"। "तनूनपाच्छुचिव्रतः"। "नक्तोपासा समनसा"। "उषासानक्ता वृहती बृहन्तम्"। "वृच आस यतो द्यावापृथिवी"। "द्यावाक्षामा रुक्मः"। "क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदाः"। "कन्या इव वहतुमेतवा न"। न तनूनपात् पथे। तनूनपाच्छब्दः द्विरुदात्तः। स च पथशब्दे परे न द्विरुदात्तः स्यात्। यथा—"तनूनपात्पथ ऋतस्य" ॥ ४७ ॥

देवताद्वन्द्वानि चानामन्त्रितानि ॥ ४८ ॥

सू० अ०—सम्बोधन (आमन्त्रित) न होने पर देवताद्वन्द्व (देवताओं के नामों से बने हुए द्वन्द्व समास) भी (द्विरुदात्त होते हैं)।

उ०—देवताद्वन्द्वानि च द्विरुदात्तानि भवन्ति आमन्त्रितानि वर्जयित्वा। यथा—"अग्नीपोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि" (वा० १।१०)। "मित्रावरुणाभ्यां त्वा" (वा० ७।२३)। देवताद्वन्द्वानीति किम्? "ऋक्सामयोः शिल्पे" (वा० ४।९)। "दीक्षातपसोस्तनूरसि" (वा० ४।२)। अनामन्त्रितानीति किम्? "तान्धे नु मित्रावरुणा" (वा० ७।१०)। चशब्दादधस्तनसूत्रविहितान्यनामन्त्रितानि द्विरुदात्तानि

भवन्ति । आमन्त्रितानि त्वामन्त्रितस्वरं लभन्ते । यथा—"बृहस्पते अति यदर्यो अर्हात्" (वा० २६।३)। "तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्" (वा० २६।२६) ॥ ४८ ॥

उ० अ०—(अनामन्त्रितानि =) सम्बोधन-पदों को छोड़कर अन्यत्र; **देवताद्वन्द्वानि** = देवताओं के नामों से निष्पन्न द्वन्द्व समास; **च** = भी; द्विरुदात्त होते हैं। जैसे—"अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि"। "मित्रावरुणाभ्यां त्वा"। देवताद्वन्द्व (देवताओं के नामों से बने हुए द्वन्द्व समास)—यह क्यों (कहा)? "ऋक्सामयोः शिल्पे"। "दीक्षातपसोस्तनूरसि"। सम्बोधन पदों को छोड़कर अन्यत्र—यह क्यों (कहा)? "तां धेनुं मित्रावरुणा"। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) पूर्ववर्ती सूत्र (२।४७) में विहित (पद) सम्बोधन न होने पर द्विरुदात्त होते हैं। सम्बोधन-पद तो सम्बोधन-पद के स्वर को प्राप्त करते हैं। जैसे—"बृहस्पते अति यदर्यो अर्हात्"। "तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्"।

अ०—देवताद्वन्द्वानि द्विरुदात्तानि स्युः आमन्त्रितं वर्जयित्वा। "अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि"। "मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवा युवं गृह्णामि"। देवताद्वन्द्वानीति किम्? "ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः"। नायं देवताद्वन्द्वः ऋक्सामशब्दयोर्वेदार्थकत्वात्। तथा—"दीक्षातपसोस्तनूरसि"। अनामन्त्रितानि किम्? "तां धेनुं मित्रावरुणा"। अधस्तन-सूत्रविहितान्यप्यनामन्त्रितान्येव द्विरुदात्तानीति द्रष्टव्यम्। यथा—"बृहस्पते अति" "तनून-पात्पथः"। एतद्द्वयमाद्युदात्तम्। "वनस्पतेऽव"। क्वचित्पुस्तके न तनूनपात् पथ इति सूत्रं नोपलभ्यते। तस्मिन् पक्षे आमन्त्रितत्वादेव "तनूनपात्पथ ऋतस्य" इत्यत्र द्विरु-दात्ताभावः सिद्धः ॥ ४८ ॥

इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती इति त्रीणि ॥ ४९ ॥

सू० अ०—इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् और इन्द्राबृहस्पती में तीन (अक्षर उदात्त होते हैं)।

उ०—**इन्द्राबृहस्पतिभ्यामिन्द्राबृहस्पती** इत्येतयोः पदयोः त्रीण्यक्षराण्यु-दात्तानि भवन्ति। इन्द्राबृहस्पतिभ्यां यथा—"इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्य" (वा० ७।२३)। इन्द्राबृहस्पती यथा—"इन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्याम्" (वा० २५।६) ॥४९॥

उ० अ०—**इन्द्राबृहस्पतिभ्याम्** और **इन्द्राबृहस्पती**—इन दो पदों में; **त्रीणि** = तीन; अक्षर उदात्त होते हैं। इन्द्राबृहस्पतिभ्याम् जैसे—"इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्य"। इन्द्राबृहस्पती जैसे—"इन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्याम्" ॥ ४९ ॥

अ०—अनयोः त्रीण्यक्षराणि उदात्तानि स्युः। "इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवा युवं गृह्णामि"। "इन्द्राबृहस्पती ऊरुभ्याम्" ॥ ४९ ॥

सर्वमग्ना३इ लाजी३ञ्छाची३निति त्रिमात्राणि च ॥ ५० ॥

सू० अ०—अग्ना३इ, लाजी३न् और शाची३न् सर्वोदात्त (होते हैं) और (इनमें तीन अक्षर) तीन-तीन मात्राओं वाले (होते हैं)।

उ०—अग्ना३इ लाजी३न् शाची३न् एतानि पदानि सर्वोदात्तानि भवन्ति त्रिमात्राणि च त्रीण्यक्षराण्येतेषु पदेषु भवन्ति। यथा—"अग्ना३इ" (वा० ८।१०)। इह आकारस्त्रिमात्रः। "लाजी३न्" (वा० २३।८)। इहेकारः। "शाची३न्" (वा० २३।८)। इहेकारः ॥ ५० ॥

उ० अ०—अग्ना३इ, लाजी३न्, शाची३न्—ये पद; (सर्वम् =) सर्वोदात्त; होते हैं; च = और; इन पदों में तीन अक्षर; त्रिमात्राणि = तीन मात्राओं वाले; होते हैं। जैसे—"अग्ना३इ"। यहाँ आकार तीन मात्राओं वाला है। "लाजी३न्"। यहाँ ईकार (तीन मात्राओं वाला है)। "शाची३न्"—यहाँ (भी) ईकार (तीन मात्राओं वाला है)।

अ०—एतानि सर्वोदात्तानि स्युः। तेषु त्रीण्यक्षराणि त्रिमात्राणि च स्युः। यथा—"अग्ना३इ" इत्यत्र आकारः "लाजी३न् शाची३न" इत्यत्र इकारश्च त्रिमात्रः, स चोदात्तः, तत्पूर्वोऽप्युदात्त इत्यर्थः ॥ ५० ॥

प्रणवश्च ॥ ५१ ॥

सू० अ०—ओ३म् भी (सर्वोदात्त तथा तीन मात्राओं वाला होता है)।

उ०—प्रणवश्च सर्वोदात्तो भवति त्रिमात्रश्च। यथा—"ओ३म् खं ब्रह्म" (वा० ४०।१७) ॥ ५१ ॥

उ० अ०—प्रणवश्च = ओ३म् भी; सर्वोदात्त होता है और तीन मात्राओं वाला भी (होता है)। जैसे—"ओ३म् खं ब्रह्म"।

अ०—प्रणवः सर्वोदात्तः स्यात्। त्रिमात्रश्च। "ओ३म् क्रतो स्मर" ॥ ५१ ॥

विवेशा३ इति चानुदात्तम् ॥ ५२ ॥

सू० अ०—विवेशा३ (पद) अनुदात्त भी (होता है)।

उ०—विवेशा३ इत्येतत्पदम्; (अनुदात्तम् =) सर्वानुदात्तम्; भवति अन्त्यमक्षरं चास्य त्रिमात्रं भवति। यथा—"तेषु विश्वं भुवनमाविवेशा३" । (वा० २३।४९)। इहाकारस्त्रिमात्रः। अनुदात्तमिति किम्? "विश्वं भुवनमाविवेश" (वा० २३।५०) ॥ ५२ ॥

उ० अ०—विवेशा३—यह पद; (अनुदात्तम् =) सर्वानुदात्त; होता है और इसका अन्तिम अक्षर तीन मात्राओं वाला होता है। जैसे—"तेषु विश्वं भुवनमाविवेशा३"। यहाँ आकार तीन मात्राओं वाला है। अनुदात्त यह क्यों (कहा) ? "विश्वं भुवनमाविवेश"।

अ०—एतत्सर्वानुदात्तं तस्यान्त्याक्षरं त्रिमात्रं च स्यात्। "तेषु विश्वं भुवनमाविवेशा३"। अत्र अन्तिमसूत्रात् पूर्वमिति पदमपकृष्य विवेशेति पदस्य विशेषणं कार्यम्। तेन "केष्वन्तः पुरुष आविवेश" इत्यस्य च न त्रिमात्रत्वम्। तथा "अवराम् आविवेश" इत्यादेः केवलस्य प्रदेशान्तरस्यापि न त्रिमात्रत्वम्। अनुदात्तं किम्? "येषु विश्वं भुवनमाविवेश"। अत्र यद्वृत्तयोगात् न सर्वानुदात्तत्वम्। न विधेयम्। "आख्यातमामन्त्रिवत्" इत्यनेनैव सिद्धम्। त्रिमात्रमेव विधेयम् ॥ ५२ ॥

आसी३दिति चोत्तरं विचारे ॥ ५३ ॥

सू० अ०—विचार (अर्थ) में विद्यमान दूसरा आसी३त् (सर्वानुदात्त होता है) और (इसका अन्तिम अक्षर तीन मात्राओं वाला होता है)।

उ०—आसी३दित्येतत्पदं विचारे वर्त्तमानमुत्तरं सर्वानुदात्तं भवति। तस्य चान्त्यमक्षरं त्रिमात्रं भवति। यथा—"उपरि स्विदासी३त्" (वा० ३३।७४)। इहेकारस्त्रिमात्रः। विचार इति किम्? "का स्विदासीत्" (वा० २३।११) ॥ ५३ ॥

उ० अ०—(उत्तरम् =) दूसरा; आसी३त्—यह पद; विचारे = विचार अर्थ में वर्तमान होने पर; सर्वानुदात्त होता है और उसका अन्तिम अक्षर तीन मात्राओं वाला होता है। जैसे—"उपरिस्विदासी३त्"। यहाँ ईकार तीन मात्राओं वाला है। विचार (अर्थ) में—यह क्यों (कहा) ? "का स्विदासीत्"।

अ०—विचारार्थकं आसीदिति पदं सर्वानुदात्तं त्रिमात्रं च स्यात्। "उपरि स्विदासी३त्"। उत्तरमिति किम्? पूर्वस्यानुदात्तत्वं मा भूदिति। तत्र विशेषमाह—

पूर्वमन्तोदात्तम् ॥ ५४ ॥

सू० अ०—पहला (आसी३त् पद) अन्तोदात्त (होता है)।

उ०—आसीदित्येतत्पदं पूर्वं विचारे वर्त्तमानमन्तोदात्तं भवति। त्रिमात्रं चास्यान्त्यमक्षरं भवति। यथा—"अधः स्विदासी३त्" (वा० ३३।७४)। इहेकारस्त्रिमात्रः ॥ ५४ ॥

उ० अ०—पूर्वम् = पहला; आसी३त्—यह पद विचार अर्थ में वर्तमान होने पर अन्तोदात्त होता है। और इसका अन्तिम अक्षर तीन मात्राओं वाला होता है। जैसे—अधः स्विदासी३त्"। यहाँ ईकार तीन मात्राओं वाला है।

अ०—आसीदित्येतत्पदं विचारार्थकमपि अन्तोदात्तं त्रिमात्रं च स्यात्। "अधः स्विदासी३त्"। विचार इति किम्? "का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः"। "किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासी३त्" ॥ ५४ ॥

द्वन्द्वं चेन्द्रसोमपूर्वं पूषाग्निवायुषु ॥ ५५ ॥

सू० अ०—(वह) द्वन्द्व (समास) भी (अन्तोदात्त होता है), जिसका पूर्व-पद इन्द्र अथवा सोम हो और उत्तर-पद पूषा, अग्नि अथवा वायु हो।

उ० देवताद्वन्द्वं च इन्द्रसोमपूर्वं पूषाग्निवायुषु परभूतेष्वन्तोदात्तं भवति। द्विरुदात्तापवादः। इन्द्रपूर्वं यथा—"इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः" (वा० २५।२५)। "इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषम्" (वा० २।१५)। "इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः" (वा० ७।८)। सोमपूर्वस्य यथासम्भवमुदाहरणम्। "बाह्वोः सौमापौष्णः" (वा० २४।१) ॥ ५५ ॥

उ० अ०—इन्द्रसोमपूर्वम् = इन्द्र अथवा सोम पूर्व में होने पर; (और); पूषाग्निवायुषु = पूषा, अग्नि अथवा वायु बाद में होने पर; (द्वन्द्वम् =) देवता-द्वन्द्व (समास); च = भी; अन्तोदात्त होता। द्विरुदात्त का अपवाद है। इन्द्र पूर्व में होने पर जैसे—"इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः"। "इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषम्"। "इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः"। सोम है पूर्व में जिसके ऐसे (समास) का उपलब्धि के अनुसार यह उदाहरण है। "बाह्वोः सौमापौष्णः"।

अ०—इन्द्रसोमपूर्वं देवताद्वन्द्वम् अन्तोदात्तं स्यात् पूषाग्निवायुषु परतः। द्विरुदात्तापवादश्चैतत्। "इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः"। "इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषम्"। "इन्द्रवायुभ्यां त्वैष ते योनिः"। सोमपूर्वस्य यथा—"सोमापौष्णश्श्यामः" ॥ ५५ ॥

अग्निश्चेन्द्रे ॥ ५६ ॥

सू० अ०—अग्नि पूर्व-पद और इन्द्र उत्तर-पद होने पर (देवताद्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है)।

उ०—अग्निश्चेन्द्रे = अग्निपूर्वश्चेन्द्रोत्तरपदः; देवताद्वन्द्वसमासोऽन्तोदात्तो भवति। यथा—"अग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिः" (वा० ७।३२) ॥ ५६ ॥

उ० अ०—(अग्निश्च =) अग्नि पूर्व-पद हो और; (इन्द्रे =) इन्द्र उत्तर-पद हो तो; देवताद्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है। जैसे—"अग्नीन्द्राभ्यां त्वैष ते योनिः" ॥

अ०—अग्निपूर्वं देवताद्वन्द्वम् अन्तोदात्तं स्यात् इन्द्रशब्दे परे। "अग्नीन्द्राभ्यां त्वैषः" ॥ ५६ ॥

ऋक्साम्नि च ॥ ५७ ॥

सू० अ०—ऋक् पूर्व-पद और साम उत्तर-पद होने पर (द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है)।

उ०—(ऋक्साम्नि च =) ऋक्पूर्वपदः सामशब्दोत्तरपदश्च; द्वन्द्वसमासोऽन्तोदात्तो भवति। यथा—"ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः" (वा० ४।१) ॥ ५७ ॥

उ० अ०—ऋक् पूर्व-पद; (साम्नि च =) और साम शब्द उत्तर-पद होने पर; द्वन्द्व समास अन्तोदात्त होता है। जैसे—"ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः" ॥

अ०—ऋक्शब्दपूर्वं द्वन्द्वं तथा सामशब्दे परे। "ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः"। ऋक् च साम च ॥ ५७ ॥

यतो गतौ ॥ ५८ ॥

सू० अ०—गति (अर्थ) में विद्यमान यतः (पद अन्तोदात्त होता है)।

उ०—यत इत्येतत्पदं गतौ वर्त्तमानमन्तोदात्तं भवति। यथा—"स्वर्यतो धिया दिवम्" (वा० ११।३)। इण् गतावित्यस्यैतद्रूपम्। गताविति किम्? "यतो जातः प्रजापतिः" (वा० २३।६३) ॥ ५८ ॥

उ० अ०—यतः—यह पद; गतौ = गति (अर्थ) में वर्तमान होने पर; अन्तोदात्त होता है। जैसे—"स्वर्यतो धिया दिवम्"। गत्यर्थक इण् धातु का यह रूप है। गति (अर्थ) में यह क्यों (कहा)? "यतो जातः प्रजापतिः" ॥

अ०—गत्यर्थके यतश्शब्दः अन्तोदात्तः। "स्वर्यतो धिया दिवम्"। इण्गताविति धातो रूपमेतत्। गतौ किम्? "यतो जातः प्रजापतिः"। यच्छब्दोऽयम् ॥ ५८ ॥

पायोर्विशः ॥ ५९ ॥

सू० अ०—पायु (शब्द) से परवर्ती विशः (शब्द अन्तोदात्त होता है)।

उ०—(पायोः =) पायुशब्दात्परः; विशः शब्दोऽन्तोदात्तो भवति। यथा—"पायुर्विशो अस्या अदब्धः" (वा० १३।११)। पायोरिति किम्? "इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतः" (वा० १७।८६) ॥ ५९ ॥

उ० अ०—(पायोः =) पायु शब्द से परवर्ती; विशः शब्द अन्तोदात्त होता है। जैसे—'पायुर्विशो अस्या अदब्धः"। पायु (शब्द) से परवर्ती—यह क्यों (कहा)? "इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतः"॥

अ०—पायुशब्दात्परः विशश्शब्दः अन्तोदात्तः स्यात्। "भव पायुर्विशो अस्या अदब्धः"। पायोः किम्? "इन्द्रं दैवीर्विशः"॥ ५६॥

आयुरर्यमोर्वश्यस्तिभ्यः॥ ६०॥

सू० अ०—अर्यमा, उर्वशी और अस्ति (शब्दों) से परवर्ती आयुः (शब्द अन्तोदात्त होता है)।

उ०—आयुरित्येतत्पदं अर्यमा उर्वशी अस्तिशब्देभ्यः परमन्तोदात्तं भवति। अर्यमा यथा—"मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुः" (वा० २५।२४)। उर्वशी यथा—"उर्वश्यस्यायुरसि" (वा० ५।२)। पदसंहितोदाहरणम्। अस्ति यथा—"अध स्म ते व्रजनं कृष्णमस्ति। आयोष्ट्वा" (वा० १५।६२)। एतेभ्य इति किम्? "आयुश्च मे जरा च मे" (वा० १८।३)॥ ६०॥

उ० अ०—(अर्यमोर्वश्यस्तिभ्यः =) अर्यमा, उर्वशी और अस्ति शब्दों से बाद में स्थित; आयु—यह पद अन्तोदात्त होता है।...।

अ०—अर्यमादिभ्यः परः आयुश्शब्दः अन्तोदात्तः। तद्यथा—"मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्रः"। "उर्वश्यायुः"। क्रमोदाहरणमेतत्। "व्रजनं कृष्णमस्ति। आयोष्ट्वा"। अर्यमादिभ्यः किम्? "आयुश्च मे जरा च मे"॥ ६०॥

अस्य रोचनासौ बोधा मे पारम्पुर एतारो दिवः कोऽहन्त्वम्महीं य ईश ईशानेभ्यः॥ ६१॥

सू० अ०—रोचना, असौ, बोधा मे, पारम्, पुर एतारः, दिवः, कः, अहम्, त्वम्, महीम्, य ईशे और ईशानम् से परवर्ती अस्य (शब्द अन्तोदात्त होता है)।

उ०—रोचना असौ बोधा मे पारं पुर एतारः दिवः कः अहं त्वं महीं य ईशे ईशानम् एतेभ्यः परः अस्यशब्दोऽन्तोदात्तो भवति। रोचना यथा-अन्तश्चरति रोचनास्य" (वा० ३।७)। असौ यथा—"असावस्य पिता वयं स्याम" (वा० १०।२०)। बोधा मे यथा—"बोधा मे अस्य वचसो यविष्ठ" (वा० १२।४२)। पारं यथा—"अगन्म तमसस्पारमस्य" (वा० १२।७३)। पुर एतारो यथा—"ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य" (वा० १७।१४)। दिवः यथा—"एकेनाङ्गेन दिवो अस्य

पृष्ठम्" (वा० २३।५०) । कः यथा—"को अस्य वेद भुवनस्य नाभिम्" (वा० २३।५९) । अहं यथा—"वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्" (वा० २३।६०) त्वं यथा—"ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता" (वा० ३४।५८) । महीं यथा—"इमां तु धियं प्रभरे महो महीमस्य" (वा० ३३।२६) । य ईशे यथा—"य ईशे अस्य द्विपदः" (वा० २३।३) । ईशानं यथा—"ईशानमस्य जगतः" (वा० २७।३५) ।

उ० अ०—रोचना ईशानम्—इनसे बाद में स्थित अस्य शब्द अन्तोदात्त होता है ।…।

अ०—रोचनादिद्वादशशब्देभ्यः परः अस्यशब्दः अन्तोदात्तः स्यात् । क्रमेणोदाहरणानि—"अन्तश्चरति रोचनास्य" । "असावस्य पिता" । परेषामिदम् । "बोधा मे अस्य वचसः" । "अगन्म तमसस्पारमस्य" । "ये ब्रह्मणः पुर एतारो अस्य" । "एकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम्" । "को अस्य वेद" । "वेदाहमस्य" । "ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता" । "प्रभरे महो महीमस्य स्तोत्रे" । "य ईशे अस्य द्विपदः" । "ईशानमस्य जगतः" ॥

प्रत्नां यज्ञस्य हविषः पाहीत्पातं मध्वो यजमानस्य होतुरजरासो लोकेषु च ॥ ६२ ॥

सू० अ०—प्रत्नाम्, यज्ञस्य, हविषः, पाहि, इत्, पातम्, मध्वः, यजमानस्य, होतुः, अजरासः और लोकः बाद में होने पर भी (अस्य शब्द अन्तोदात्त होता है) ।

उ०—प्रत्नां यज्ञस्य हविषः पाहि इत् पातं मध्वः यजमानस्य होतुः अजरासः लोकः इत्येतेषु च परेषु अस्यशब्दोऽन्तोदात्तो भवति । प्रत्नां यथा—"अस्य प्रत्नामनु द्युतम्" (वा० ३।१६) । यज्ञस्य यथा—"आस्य यज्ञस्योदृचः" (वा० ४।१०) । हविषः यथा—"अस्य हविषस्त्मना यज" (वा० ६।११) । पाहि यथा—"शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि" (वा० २६।२३) । इत् यथा—"अस्येदिन्द्रो वावृधे" (वा० ३३।९७) । पातं यथा—"अस्य पातन्धियेषिता" (वा० ७।३१) । मध्वः यथा—"अस्य मध्वः पिबत" (वा० ६।१८) । यजमानस्य यथा—"अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्" (वा० २२।२२) । होतुर्यथा—"अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि" । (वा० २६।३६) । अजरासो यथा—"अस्याजरासो दमाम्" (वा० ३३।१) । लोकः यथा—"अस्य लोकः सुतावतः" (वा० ३५।१) ॥ ६२ ॥

उ० अ०—प्रत्नाम्……लोकः—ये बाद में होने पर भी अस्य शब्द अन्तोदात्त होता है ।

अ०—पाहि इत् पातमिति पदविच्छेदः। अन्यत् स्पष्टम्। अस्यशब्दः प्रत्नामित्यंकादशसु परेषु अन्तोदात्तः स्यात्। यथा–"अस्य प्रत्नाम्"। "आस्य यज्ञस्य"। "अस्य हविषस्त्मना यज"। "शश्वत्तमं सुमना अस्य पाहि"। "अस्येदिन्द्रा वावृधे"। एतद्द्वयं माध्यन्दिनोदाहरणम्। "अस्य पातं धियेषिता"। "अस्य मध्वः पिबत मादयध्वम्"। "अस्य यजमानस्य"। "अस्य होतुः प्रदिशि"। "अस्याजरासः"। "अस्य लोकस्सुतावतः"॥ ६२॥

अनुदात्तमन्यत्॥ ६३॥

सू० अ०—अन्य स्थलों में विद्यमान (अस्य शब्द) अनुदात्त (होता है)।

उ०—अस्येत्येतत्पदमुक्तादन्यदनुदात्तं भवति। यथा–"षडस्य विष्ठाः शतम्" (वा० २३।५८)। "अद्धा तमस्य" (वा० ३३।९७)। "पूर्ववानतुदेशः" (२।७) इत्येतस्यैवायं प्रपञ्चः॥ ६३॥

उ० अ०—(पूर्व में) कहे गए (अस्य शब्द से) अन्य (अस्य शब्द) अनुदात्त होता है। जैसे—"षडस्य विष्ठाः शतम्"। "अद्धा तमस्य"। "पूर्ववर्ती पदार्थ का निर्देश करने वाला सर्वनाम पद (अनुदात्त होता है)" इसी (विधान) का यह विस्तार किया गया है।

अ०—उक्तादन्यत् अस्येति पदं सर्वानुदात्तं स्यात्। नियमोऽयम्। "षडस्य वृष्टिः"। "निहिता गुहास्य"॥ ६३॥

पक्तोर्हसयोरन्त उदात्त आदिर्वा॥ ६४॥

सू० अ०—पक्तीः और हस (शब्दों) का अन्तिम अक्षर अथवा प्रथम अक्षर उदात्त होता है।

उ०—(पक्तीर्हसयोः =) पक्तीःशब्दस्य हसशब्दस्य च; अन्त उदात्तो भवति आदिर्वा उदात्तो भवति। स्वरविकल्पः। पक्तीर्यथा–"पचन् पक्तीः" (वा० २१।५९)। हसः यथा—"पुश्चलूं हसाय" (वा० ३०।२०)॥ ६४॥

उ० अ०—(पक्तीर्हसयोः=) पक्तीः शब्द का और हस शब्द का; अन्तः= अन्तिम अक्षर; उदात्त होता है, आदिर्वा = अथवा प्रथम अक्षर; उदात्त होता है। स्वर के विषय में विकल्प है। पक्तीः जैसे—"पचन्पक्तीः"। हस जैसे—"पुंश्चलूं हसाय"।

अ० —पक्तीहसशब्दयोः अन्त आदिर्वा उदात्तः स्यात् । वाशब्दात् उभयस्वरोऽपि प्रामाणिक इत्यर्थः । यथा—"पचन् पक्तीः" । "पुंश्चलूं हसाय" । आद्युदात्तोदाहरणमेतत् अन्तोदात्तो यथा—"पचन् पक्तीः" । "पुंश्चलूं हसाय" ॥ ६४ ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ ६५ ॥

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उ०—इत्युक्तार्थम् ॥ ६५ ॥

इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रसुतोव्वटकृतौ प्रातिशाख्यभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अ० —निगदार्थमेतत् ॥ ६५ ॥

श्रीमत्प्रथमशाखिना नागदेवात्मजेन अनन्तभट्टेन विरचिते कात्यायन-प्रणीतप्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

उ०—"स्वरसंस्कारयोः छन्दसि नियमः" (१।१) इति प्रतिज्ञातम्। तत्र प्रथमाध्याये स्वरसंस्कारयोरेवाङ्गभूताः संज्ञाः परिभाषा उक्ताः, द्वितीये स्वरः। अधुना क्रमप्राप्तः संस्कारोऽभिधीयते लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावलक्षणः।

उ० अ०—"वेद के विषय में स्वर और संस्कार का नियम कहा जायेगा"—यह प्रस्ताव किया गया है। इसलिए प्रथम अध्याय में स्वर और संस्कार के अङ्ग के रूप में विद्यमान संज्ञाओं और परिभाषाओं को कहा गया है, द्वितीय (अध्याय में) स्वर को (कहा गया है)। अब क्रम से प्राप्त संधि (संस्कार) को कहा जाता है, जो लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव के रूप में विद्यमान है।

संहितायाम् ॥ १ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित नियम) संहिता में (लागू होते हैं)।

उ०—इत्ययमधिकारः आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः संहितायामित्येवं तद्वेदितव्यम्। वक्ष्यति च—"उदः स्तभाने लोपम्" (४।६९)। "उत्तभान तेजसा दिश उद्दृह" (वा० १७।७२) ॥ १ ॥

उ० अ०—(संहितायाम् = संहिता में) यह अधिकार सप्तम अध्याय की समाप्ति तक (लागू रहेगा)। इसके आगे जिसे कहेंगे उसे 'संहिता में' जानना चाहिए। (सूत्रकार) कहेंगे—"उत् से परवर्ती स्तभान का सकार लोप को प्राप्त करता है"। (जैसे) "उत्तभान तेजसा दिश उद्दृह"।

उ०—स्वरसंस्कारयोरिति पूर्वं प्रतिज्ञातम्। अस्मिन् तृतीयाध्याये संस्कारोऽभिधीयते। स च लोपागमवर्णविकारप्रकृतिभावरूपः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः आसप्तमाध्यायान्तम् तत्र संहितायामित्यधिकृतो वेदितव्यः ॥ १ ॥

अर्थः पदम् ॥ २ ॥

सू० अ०—अर्थ का अभिधान (कथन) करने वाला पद (होता है)।

उ०—संहितालक्षणमुक्तम्—"वर्णानामेकप्राणयोगः संहिता" (१।१५८) इति। अधुना पदलक्षणमुच्यते; (अर्थः=) अर्थाभिधायि; पदम्। पद्यते गम्यते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति पदम्। यद्येवं निपातस्यानर्थकस्य पदसंज्ञा न प्राप्नोति। नैष दोषः, उपरिष्टादर्थभेदनि-

बन्धनं पदचतुष्टयं वक्ष्यति—"नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" (८।४६) इति। तत्रास्य पदसंज्ञा भविष्यति। यथा—

"क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः" ॥

इति। सूत्रकारस्य त्वयमभिप्रायः—पदप्रतिरूपकस्य पदावयवस्य पदसंज्ञा मा भूदिति। अतोऽर्थग्रहणम्। इहैव पदसंज्ञा यथा स्यात्—"गोव्यच्छमन्तकाय गोघातम् (वा० ३०।१८)। इह मा भूत्—"गोधूमाश्च मे" (वा० १८।१२) ॥ २ ॥

उ० अ०—"एक श्वास में उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल संहिता है"—इस (सूत्र) में संहिता का लक्षण कहा जा चुका है। अब (सूत्रकार के द्वारा) पद का लक्षण कहा जाता है। (अर्थः =) अर्थ का अभिधायक (अभिधान करने वाला, वाचक); पद (होता है)। इसके द्वारा अर्थ के पास जाया (पहुँचा) जाता है, अर्थ प्राप्त होता है, अर्थ ज्ञात होता है, अतः यह पद (कहलाता है)। (प्रश्न) यदि ऐसी बात है तो अनर्थक (अर्थ न रखने वाले, अर्थ—रहित) निपात के लिए पद संज्ञा प्राप्त नहीं होती है। (उत्तर) यह दोष नहीं है, अर्थ—भेद के आधार पर आगे (८।४६ में) चार प्रकार के पदों को कहेंगे "नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात"। वहाँ इस (= निपात) की पद संज्ञा होगी। जैसे —"आख्यात क्रिया का वाचक है; उपसर्ग (नाम और आख्यात के अर्थ में) विशेषता ला देता है, नाम द्रव्य (सत्त्व) का अभिधान करने वाला है, निपात पाद का पूरण करने वाला है"। सूत्रकार का तो यह अभिप्राय है—पद के समान दिखलाई पड़ने वाले पदावयव (पद के अवयव) को पद संज्ञा न होवे। इसलिए (सूत्र में) अर्थ का ग्रहण किया गया है। जिससे यहाँ पर ही पद संज्ञा होवे—"गोव्यच्छमन्तकाय गोघातम् (गोव्यच्छमिति गो—व्यच्छम्। अन्तकाय। गोघातमिति गो—घातम्। प० पा०—यहाँ गो सार्थक है, अतः यह पद है)। यहाँ (पद संज्ञा) न होवे—"गोधूमाश्च मे" (गोधूमाः। च। मे। प० पा०—यहाँ गो सार्थक नहीं है, अतः यह पद नहीं है)।

अ०—पूर्वं संहितालक्षणमुक्तम्—वर्णानामेकप्राणयोगः संहितेति। अधुना पद-लक्षणमुच्यते—अर्थः पदमिति। अर्य्यन्तेऽभिधीयन्तेऽनेनेति अर्थः शब्दविशेषः इत्यर्थः। अर्थाभिधायकं यच्छब्दरूपं तत्पदं स्यात्। यद्येवं तर्हि निपातस्यानर्थकत्वात् पदसंज्ञा न प्राप्नोतीति चेत्। नैष दोषः। उपरिष्टादर्थभेदेन पदचतुष्टयं वक्ष्यति। तद्यथा

"क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः" ॥

इति तस्मिन्निपातस्यापि पादपूरणार्थत्वेनार्थत्वात् अर्थः पदमिति साधूक्तमिति। अर्थग्रहणेन पदावयवस्य गोशब्दस्य गोत्वरूपार्थाभावान्न पदत्वमिति ध्येयम्। संज्ञाप्रयोजनमाह—॥२॥

पदान्तपदाद्योः सन्धिः ॥ ३ ॥

सू० अ०—संधि पद के अन्त और पद के आदि में (होती है)।

उ०—यः कश्चिद् वैदिकशास्त्रसन्धिरुच्यते स पदान्तपदाद्योर्वेदितव्य इति। ते सन्धयश्चत्वारो भवन्ति स्वरयोः, व्यञ्जनयोः, स्वरव्यञ्जनयोश्च। स्वरव्यञ्जनयोस्तु द्विप्रकारः—पूर्वः स्वरो भवति पश्चाद् व्यञ्जनानि, व्यञ्जनानि वा पूर्वाणि भवन्ति पश्चात् स्वर इति। स्वरयोर्भवति यथा—"आ इदम् = एदम्" (वा० ४।१)। वरुण इह = वरुणेह" (वा० १८।४६)। व्यञ्जनयोर्भवति—यथा—"सम् यौमि = सयँ् यौमि" (वा० १।२२)। "सम् वपामि = सवँ् वपामि" (वा० १।२१) स्वरपूर्वो भवति यथा—"इषे त्वा = इषे त्वा" "ऊर्जे त्वा = ऊर्जे त्वा" (वा० १।१)। व्यञ्जनपूर्वो भवति यथा—"उत् एनम् = उदेनम्" (वा० १७।५०)। परिभाषासूत्रमेतत् ॥ ३ ॥

उ०अ०—वैदिक-शास्त्र-विषयक जो कोई संधि कही जा रही है उसे (=संधिः= संधि को); पदान्तपदाद्योः = पदान्त और पदादि में जानना चाहिए। वे संधियाँ चार (प्रकार की) होती हैं—दो स्वरों की, दो व्यञ्जनों की तथा स्वर और व्यञ्जन की। स्वर और व्यञ्जन की (सन्धि) तो दो प्रकार की (होती है)—पूर्ववर्ती स्वर होता है और परवर्ती व्यञ्जन (होते हैं) अथवा पूर्ववर्ती व्यञ्जन होते हैं और परवर्ती स्वर (होता है)। दो स्वरों की होती है जैसे—"आ इदम् = एदम्"। "वरुण इह = वरुणेह"। दो व्यञ्जनों की होती है जैसे—"सम् यौमि = "सयँ् यौमि"। "सम् वपामि = सवँ् वपामि"। स्वर पूर्ववर्ती होता है जैसे—"इषे त्वा = इषे त्वा"। "ऊर्जे त्वा = ऊर्जे त्वा"। व्यञ्जन पूर्ववर्ती होता है जैसे—"उत् एनम् = उदेनम्"। यह परिभाषा-सूत्र है।

(अ०—यः कश्चनेह सन्धिरभिधास्यते सः पदान्तपदाद्योर्वेदितव्यः। सन्धयश्च-त्वारो भवन्ति—स्वरयोर्व्यञ्जनयोः स्वरव्यञ्जनयोः। स च स्वरव्यञ्जनयोः सन्धिर्द्वेधा—पूर्वः स्वरः पश्चाद्व्यञ्जनम्, पूर्वं व्यञ्जनं पश्चात् स्वर इति। एवं चत्वारः सन्धयः। तत्र स्वरयोर्यथा—"आ इदम् = एदमगन्म"। "त्वा ऊर्जे = त्वोर्जे"। व्यञ्जनयोर्यथा—"सम् यौमि = सयँ् यौमि"। "सम् वपामि = सवँ् वपामि"। "तं लोकम् = तलँ् लोकम्" इत्यादि। स्वरपूर्वो यथा—"इषे त्वा = इषे त्वा"। "ऊर्जे त्वा = ऊर्जे त्वा"। व्यञ्जनपूर्वो यथा—"उत् एनम् = उदेनम्"। परिभाषासूत्रमेतत् ॥ ३ ॥)

न परकालः पूर्वकाले पुनः ॥ ४ ॥

सू० अ०—(परकाल की संधि होने के बाद) पुनः पूर्वकाल की संधि प्राप्त होने पर परकाल की संधि (सिद्ध) नहीं (रहती) (अर्थात् असिद्ध हो जाती है)।

उ०—"ह्यन्तराः कालाः" (३।५) इति वक्ष्यति । तत्र यः **परकालः** सन्धिः **पूर्वकाले** सन्धौ सति पुनः प्राप्तवन्न; भवति । यथा—"आकारोपधो यकारम्" (३।१४) इति नकारस्याकारोपधस्य यकारो विहितः स्वरे प्रत्यये "महाँ इन्द्रः" (वा० ७।३९) इति । यथा—"कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः" (४।३८) इति अवर्णपूर्वस्य विसर्जनीयस्य यकारो विहितः स्वरे प्रत्यये "या ओषधीः" (वा० १२।९२) इति । ततो हिशब्दात् परं लक्षणमुक्तम्—"यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" (४।१२७) । ततो यलोपे कृते हिशब्दात् पूर्वं शास्त्रं पुनः प्रवर्तते "कण्ठ्यादिवर्ण एकारम्" (४।५४), "उवर्ण ओकारम्" (४।५५) इति । तत्प्रवर्तमानं निषिध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

उ० अ०—"कालों के मध्य में 'हि' को रखा गया है"—यह (सूत्रकार) कहेंगे । वहाँ जो; **परकालः** = परवर्ती काल (section) की संधि है वह; **पूर्वकाले** = पूर्ववर्ती काल (section) की संधि; **पुनः** = दूसरी वार; प्राप्त होने पर, प्राप्तवत् (प्राप्त के समान, सिद्ध); **न** = नहीं; होती है (= प्राप्त होने पर भी लागू नहीं मानी जाती है = असिद्ध होती है) । जैसे—"आकार पूर्व में होने पर नकार यकार हो जाता है" इस (सूत्र) से स्वर बाद में होने पर आकार से परवर्ती नकार के यकार होने का विधान किया गया है (जैसे) "महाँ इन्द्रः" में । जैसे—"कण्ठ्य स्वर पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है" इस सूत्र) से स्वर बाद में होने पर अवर्णपूर्व (अ, आ है पूर्व में जिसके ऐसे) विसर्जनीय के यकार होने का विधान किया गया है (जैसे) "या ओषधीः" में । तदनन्तर हि शब्द से बाद में यह नियम (लक्षण) कहा गया है "दो स्वरों के मध्य में स्थित होने पर पदान्तीय यकार और वकार का लोप हो जाता है" । इस (सूत्र) से यकार का लोप करने पर पूर्ववर्ती शास्त्र पुनः प्रवृत्त होता है "कण्ठ्य स्वर (अ, आ) से परवर्ती इवर्ण पूर्ववर्ती स्वर के सहित एकार हो जाता है", "अ, आ से परवर्ती उ, ऊ पूर्ववर्ती स्वर के सहित ओकार हो जाता है" । प्रवृत्त होते हुए उस (पूर्वशास्त्र) का निषेध किया जाता है-यह सूत्र का अर्थ है ।

अ०—"ह्यन्तराः कालाः" इति वक्ष्यति । तत्र यः परकालसन्धिः पूर्वकालसन्धौ प्राप्तवन्न भवति । असिद्धो भवतीत्यर्थः । यथा—"आकारोपधो यकारम्" इति, "कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः" इति च सूत्रेण आकारोपधस्य नकारस्य आकारोपधस्य विसर्जनीयस्य च यकारो विहितः स्वरे परे । "महाँ इन्द्रः" इति, "या ओषधीः" इति । ततो हिशब्दात्परं लक्षणमुक्तम् । "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति । अनेन सूत्रेण यलोपे कृते हिशब्दात् पूर्वशास्त्रं तत्र पुनः प्रवर्तते । "कण्ठ्यादिवर्णं एकारम्", "सन्ध्यक्षर एकारौकारौ" इति । तत्प्रवर्तमानं तत्र निषिध्यते इति तात्पर्यार्थः ।

अवधिसूत्रमाह—

ह्यन्तराः कालाः ॥ ५ ॥

सू० अ०—कालों (sections) के मध्य में 'हि' शब्द को रखा गया है।

उ०—कालाधिकारः हिः अन्तरा येषां सन्धिकालानां ते ह्यन्तराः कालाः। कालशब्दः स्थानपर्यायः। उक्तमुदाहरणम् ॥ ५ ॥

उ० अ०—काल (section) के अधिकार को करने वाला 'हि' है मध्य में जिन संधि-कालों के वे = ह्यन्तराः कालाः। काल शब्द स्थान (स्थल) का पर्यायवाची है। उदाहरण कहा जा चुका है।

अ०—हिशब्द उत्तरः येषां सन्धिकालानां ते ह्यन्तराः कालाः। कालशब्दोऽत्र स्थानपर्यायः। उदाहरणमुक्तमेव ॥ ५ ॥

विसर्जनीयः ॥ ६ ॥

सू० अ०—(अब) विसर्जनीय (की संधि का अधिकार किया जाता है)।

उ०—विसर्जनीयसन्धिरधिकृत इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

उ० अ०—(विसर्जनीयः =) विसर्जनीय की संधि; अधिकृत की जाती है—यह सूत्र का अर्थ है।

अ०—अतः परं यद्विधीयते तत् विसर्जनीयस्य भवतीत्यर्थः। अधिकारोऽयम् ॥ ६ ॥

चछयोः शम् ॥ ७ ॥

सू० अ०—चकार और छकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) शकार (हो जाता है)।

उ०—(चछयोः =) चकारछकारयोः; प्रत्ययर्योविसर्जनीयः; (शम् =) शकारम्; आपद्यते। चकारे यथा—"वाजः च मे = वाजश्च मे" (वा० १८।१)। छे यथा—"अस्त्रीवयः छन्दः = अस्त्रीवयश्छन्दः" (वा० १४।१८) ॥ ७ ॥

उ० अ०—(चछयोः =) चकार और छकार बाद में होने पर; विसर्जनीय; (शम् =) शकार; हो जाता है। चकार बाद में होने पर जैसे—"वाजः च मे = वाजश्च मे"। छकार बाद में होने पर जैसे—"अस्त्रीवयः छन्दः = अस्त्रीवयश्छन्दः"।

अ०—चकारछकारयोः परयोर्विसर्जनीयः शकारमापद्यते। यथा—"वाजः च = वाजश्च मे"। "अस्त्रीवयः छन्दः = अस्त्रीवयश्छन्दः" इत्यादि ॥ ७ ॥

तथयोः सम् ॥ ८ ॥

सू० अ०—तकार और थकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)।

उ०—तथयोः= तकारथकारयोः; प्रत्यययोर्विसर्जनीयः; (सम =) सकारम्; आपद्यते। तकारे यथा—"आखुः ते पशुः = "आखुस्ते पशुः" (वा० ३।५७)। "नमः ते रुद्र = नमस्ते रुद्र"। (वा० १६।१) विसर्जनीयथकारसन्धिस्तु संहितायां न विद्यते, अतो रूपोदाहरणं दीयते—"कः थकारः = कस्थकारः" ॥ ८ ॥

उ० अ०—(तथयोः =) तकार और थकार बाद में होने पर; विसर्जनीयः; (सम् =) सकार; हो जाता है। तकार बाद में होने पर जैसे—"आखुः ते पशुः = "आखुस्ते पशुः"। "नमः ते रुद्र = नमस्ते रुद्र"। विसर्जनीय और थकार को सन्धि तो संहिता में उपलब्ध नहीं होती है, इसलिए लौकिक उदाहरण दिया जाता है—"कः थकारः = कस्थकारः"।

अ०— विसर्जनीयः तकारथकारयोः परयोः सत्वमापद्यते। "अन्तः ते=अन्तस्ते"। थकारपरो विसर्जनीयः संहितायां नोपलभ्यते। अतः लौकिकोदाहरणं दीयते। "कः थकारः = कस्थकारः" ॥ ८ ॥

प्रत्ययसवर्णं मुदि शाकटायनः ॥ ९ ॥

सू० अ०—मुत् (शकार, षकार, सकार) बाद में होने पर (विसर्जनीय) परवर्ती (प्रत्यय) का सवर्ण (हो जाता है), शाकटायन (के मत से)।

उ०—शषसा मुत्संज्ञा उक्ताः। (मुनी =) मुत्संज्ञकेषु परभूतेषु; विसर्जनीयः; (प्रत्ययसवर्णम्=) परसवर्णम् आपद्यते; (शाकटायनः =) शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। यथा—"आशुः शिशानः = आशुश्शिशानः" (वा० १७।३३)। "अदितिः षोडशाक्षरेण = अदितिष्षोडशाक्षरेण" (वा० ९।३४)। "देवो वः सविता = देवो वस्सविता" (वा० १।१) ॥ ९ ॥

उ० अ०—(१।५२ में) शकार, षकार, सकार को मुत्संज्ञक कहा गया है। (मुदि=) मुत् संज्ञक (वर्ण) बाद में होने पर; विसर्जनीय; (प्रत्ययसवर्णम् =) परवर्ती (वर्ण) का सवर्ण हो जाता है; (शाकटायनः =) शाकटायन आचार्य के मत से। जैसे—"आशुः शिशानः = "आशुश्शिशानः"। "अदितिः षोडशाक्षरेण = "अदितिष्षोडशाक्षरेण"। "देवो वः सविता = देवो वस्सविता"।

अ० --प्रत्ययशब्दोऽत्र परवचनः। "आशु शिशानः = आशुश्शिशानः"। "अदितिः षोळशाक्षरेण = अदितिष्षोळशाक्षरेण"। "वः सविता = देवो वस्सविता"। "ताः सर्वाः = "तास्सर्वास्संविदानाय"। शाकटायनग्रहणं विकल्पमेव स्पष्टयति ॥ ६ ॥

अविकारं शाकल्यः शषसेषु ॥ १० ॥

सू० अ०—शकार, षकार और सकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) विकार को नहीं प्राप्त करता है, शाकल्य (के मत से)।

उ०—विसर्जनीयस्य; (**अविकारम् =**) विकारं न मन्यते; **शाकल्यः शषसेषु** परभूतेषु। यथा-"आशुः शिशानः = "आशुः शिशानः" (वा० १७।३३)। "अदितिः षोडशाक्षरेण = अदितिः षोडशाक्षरेण" (वा० ६।३४)। "देवो वः सविता = देवो वः सविता" (वा० १।१) ॥ १० ॥

उ० अ०—**शषसेषु** = शकार, षकार और सकार बाद में होने पर; **शाकल्य** विसर्जनीय के; (**अविकारम् =**) विकार को नहीं; मानते हैं।"।

अ०—शाकल्याचार्यस्तु विसर्जनीयस्य शषसेषु परेषु अविकारं मन्यते। विसर्जनीयस्य विसर्जनीयो भवति नान्योऽर्थः। यथा—"आशुः शिशानः" इत्यादि। अत्र यथासम्प्रदायं पाठव्यवस्थेयम् ॥ १० ॥

प्रकृत्या कखयोः पफयोश्च ॥ ११ ॥

सू० अ०—ककार, खकार तथा पकार, फकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) प्रकृतिभाव से (=अविकृत) (रहता है)।

उ०—**प्रकृत्या** विसर्जनीयं मन्यते **कखयोः पफयोश्च** प्रत्यययोः शाकल्यः। कखयोर्भवति यथा—"विष्णोः क्रमः=विष्णोः क्रमः" (वा० १२।५)। "ततः खनेम = ततः खनेम" (वा० ११।२२)। पफयोर्भवति यथा—"देव सवितः प्रसुव = देव सवितः प्रसुव" (वा० ९।१)। "याः फलिनीः = याः फलिनीर्या अफलाः" (वा० १२।८९)। कखयोः पफयोश्चेति पृथक्समासकरणमुत्तरार्थम् ॥ ११ ॥

उ० अ०--**कखयोः पफयोश्च** = ककार, खकार तथा पकार, फकार बाद में होने पर; शाकल्य विसर्जनीय को; **प्रकृत्या**=प्रकृति-भाव से (अविकृत) (रहने वाला); मानते हैं। ककार, खकार बाद में होने पर होता है जैसे-"विष्णोः क्रमः = विष्णोः क्रमः"। "ततः खनेम = ततः खनेम"। पकार, फकार बाद में होने पर होता है जैसे—"देव सवितः प्रसुव = देव सवितः प्रसुव"। "याः फलिनीः=याः फलिनीर्या अफलाः"। ककार, खकार तथा पकार, फकार का अलग-अलग समास करना बाद वाले (सूत्र) के लिए किया गया है।

अ०—कादिषु चतुर्षु परेषु विसर्जनीयः प्रकृत्या तिष्ठतीति शाकल्यो मन्यते। यथा—"विष्णोः क्रमः"। "ततः खनेम"। "देव सवितः प्रसुव"। "याः फलिनीः"। कखयोः पफयोरिति पृथक् योगकरणं उत्तरसूत्रार्थम्, यत एवं शाकटयनो विशेषमाह—॥११॥

जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः ॥ १२ ॥

सू० अ०—(विसर्जनीय) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (हो जाता है), शाकटायन (के मत से)।

उ०—**जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ** विसर्जनीय आपद्यते यथासंख्यम्। कखयोर्जिह्वामूलीयमापद्यते पफयोस्तूपध्मानीयं **शाकटायनस्याचार्यस्य** मतेन। कखयोर्यथा—"विष्णोः क्रमः = विष्णो⌒क्रमः" (वा० १२।५)। "ततः खनेम = तत⌒खनेम" (वा० ११।२२)। पफयोर्यथा—"वसोः पवित्रम् = वसो⌒पवित्रम्" (वा० १।२)। "याः फलिनीः = या⌒फलिनीर्या अफलाः" (वा० १२।८९) ॥ १२ ॥

उ० अ०—विसर्जनीय क्रमशः; (**जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ** =) जिह्वामूलीय और उपध्मानीय; हो जाता है। ककार और खकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) जिह्वामूलीय हो जाता है, पकार और फकार बाद में होने पर तो (विसर्जनीय) उपध्मानीय हो जाता है; **शाकटायन** आचार्य के मत से।...।

अ०—कखयोः पफयोश्च परतः विसर्जनीयः क्रमेण जिह्वामूलीयोपध्मानीयावापद्यते इति शाकटायनाचार्यो मन्यते। यथा—"विष्णो⌒क्रमोऽसि"। "तत⌒खनेम"। "वसो⌒पवित्रमसि"। "या⌒फलिनीः" ॥ १२ ॥

लुङ्मुदि जित्परे ॥ १३ ॥

सू० अ०—जित् है बाद में जिसके ऐसा मुत् बाद में होने पर (पूर्ववर्ती विसर्जनीय) लोप को प्राप्त हो जाता है।

उ०—मुत्संज्ञकाः शषसाः, जित्संज्ञका द्वौ द्वौ प्रथमौ। तत्र शषसेषु "प्रत्ययसवर्णम्" (३।६) इति विसर्जनीयसन्धिरुक्तः। अतः इह दशैव जित्संज्ञका गृह्यन्ते। **लुक्**=लुप्यते; विसर्जनीयः, (**मुदि** =) मुत्संज्ञके; **जित्परे** परतः। यथा—"अन्धः स्थ = अन्धस्थान्धो वो भक्षीय" (वा० ३।२०)। "स्थालीभिः स्थालीः = स्थालीभिस्त्थालीराप्नोति" (वा० १९।२७)। मुदि जित्पर इति किम्? "स्वस्ति नः तार्क्ष्यः = स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति" (वा० २५।१९) ॥ १३ ॥

उ० अ०—शकार, षकार और सकार मुत् संज्ञक हैं, (प्रत्येक वर्ग के) प्रथम दो-दो (वर्ण) जित् संज्ञक हैं। उनमें से शकार, षकार और सकार बाद में

होने पर "शकार, षकार और सकार बाद में होने पर विसर्जनीय परवर्ती का सवर्ण हो जाता है" इस (सूत्र) से विसर्जनीय की संधि कही जा चुकी है। इसलिए यहाँ वस ही जित् संज्ञकों का ग्रहण किया जाता है। जित्परे=जित् (क ख, च छ, ट ठ, त थ, प फ) है बाद में जिसके ऐसा; (मुदि =) मुत् संज्ञक (श, ष, स) बाद में होने पर; विसर्जनीय; लुक् = लुप्त हो जाता है।...।

अ०—द्वौ द्वौ वर्गप्रथमौ जिदित्युक्तम्। जित्परो यस्येति विग्रहः। मुच्चेति शषसा मुत्संज्ञा उक्ताः। जित्परे मुदि विसर्जनीयो लुप्यते। यथा—"अन्धः स्थ = अन्धस्थ"। "स्थालीभिः स्थालीः = स्थालीभिस्थालीः"। मुदिति किम्? "स्वस्ति नः तार्क्ष्यः = स्वस्ति नस्तार्क्ष्यः"। जित्पर इति किम्? "अरिष्टनेमिः स्वस्ति नः = अरिष्टनेमिः स्वस्ति नः" ॥ १३ ॥

उपवसने पीवः ॥ १४ ॥

सू० अ०—उपवसन बाद में होने पर पीवः (का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है)।

उ०—उपवसने प्रत्यये; (**पीवः =**) पीवशब्दसम्बन्धी विसर्जनीयः, लुप्यते। यथा—"पीवः उपवसनानाम् = पीवोपवसनानाम्" (वा० २१।४३) ॥ १४ ॥

उ० अ०—उपवसने = उपवसन (शब्द) बाद में होने पर; (**पीवः =**) पीव शब्द का विसर्जनीय; लुप्त हो जाता है। जैसे—"पीवः उपवसनानाम् = पीवोपवसनानाम्"।

अ०—पीव इत्यस्य विसर्जनीयो लुप्यते उपवसनशब्दे परे। "पीवः उपवसनानाम् = पीवोपवसनानाम्"। उपवसने किम्? "पीवो अन्नान्" ॥ १४ ॥

स ओषधीमयोः ॥ १५ ॥

सू० अ०—ओषधी और इम बाद में होने पर सः (का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है)।

उ०—सपदसम्बन्धी विसर्जनीयो लुप्यते ओषधीमयोः प्रत्यययोः। ओषधी यथा—"सः ओषधीः = सौषधीरनुरुध्यसे" (वा० १२।३६)। इम यथा—"सः इमाम् = सेमान्नो हव्यदातिं जुषाणः" (वा० २९।५४) ॥ १५ ॥

उ० अ०—ओषधीमयोः = ओषधी और इम बाद में होने पर; सः पद का विसर्जनीय; लुप्त हो जाता है।...।

अ०—स इत्यस्य पदस्य विसर्जनीयो लुप्यते ओषधीमशब्दयोः परयोः। यथा—"सः ओषधीः=सौषधीरनुरुध्यसे"। "सः इमाम् = सेमान्नो हव्यदातिं जुषाणः"।

माध्यन्दिनानामुदाहरणम् । "अत्र कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः" इति यकारे कृते "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति लोपे यद्यपि रूपं सिध्यति तथापि "न परकालः पूर्वकाले पुनः" इति सिद्धिनिषेधात् प्रतिप्रसवार्थमिदं सूत्रमिति ज्ञेयम् ॥ १५ ॥

व्यञ्जने च ॥ १६ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन बाद में होने पर भी (सः का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है) ।

उ०—व्यञ्जने च प्रत्यये सपदसम्बन्धी विसर्जनीयो लुप्यते यथा—"सः नः=स नो बोधि श्रुधी हवम्" (वा० ३।२६) । "स जायसे मथ्यमानः" (वा० १५।२८) । व्यञ्जन इति किम् ? "सः अग्निः=सो अग्निर्यो वसुर्गृणे" (वा० १५।४२) ॥ १६ ॥

उ० अ०—व्यञ्जने च = व्यञ्जन बाद में होने पर भी; सः पद का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है ।....।

अ०—सः इत्यस्य पदस्य विसर्जनीयो लुप्यते व्यञ्जने परे । "सः न = स नो बोधि" । "सः जायसे = स जायसे" । व्यञ्जन इति किम् ? "सो अग्निः" ॥ १६ ॥

स्य एष च ॥ १७ ॥

सू० अ०—(व्यञ्जन बाद में होने पर) स्यः और एषः (का विसर्जनीय) भी (लुप्त हो जाता है) ।

उ०—स्यएषपदयोः सम्बन्धी विसर्जनीय लुप्यते व्यञ्जनमात्रे । यथा—"स्यः रात्थ्यः = एष स्य रात्थ्यो वृषा" (वा० २३।१३) । "स्यः वाजी = एष स्य वाजी क्षिपणिम्" (वा० ९।१४) । "एषः छागः = एष च्छागः पुरो अश्वेन" (वा० २५।२६) ॥ १७ ॥

उ० अ०—स्यः और एषः पदों का विसर्जनीय; (च = भी); लुप्त हो जाता है, कोई भी व्यञ्जन बाद में होने पर ।...।

अ०—अनयोर्विसर्जनीयः लुप्यते व्यञ्जने परे । यथा—"स्यः राथ्यः=स्य राथ्यः" । "एषः स्यः = एष स्यः" । "एषः ते=एष ते" । "एषः छागः=एष च्छागः" ॥ १७ ॥

निशब्दो बहुलम् ॥ १८ ॥

सू० अ०—नि शब्द बहुल करके (लुप्त हो जाता है) ।

उ०—निशब्दः पदान्तीयो लुप्यते बहुलम् । शृङ्गा = शृङ्गाणि इति प्राप्ते यथा—"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः" (वा० १७।९१) । पदा = पदानि इति

प्राप्ते यथा—"त्रीणि पदा विचक्रमे" (वा० ३४।४३)। बहुलग्रहणात् क्वचिन्न च लोपो भवति। यथा—"एता ते अघ्न्ये नामानि" (वा० ८।४३)। क्वचित् इकार-मात्रस्य भवति। एमन्=एमनि इति प्राप्ते यथा—"एमन्त्सादयामि" (वा० १३।५३)। क्वचिन्नकारमात्रस्य भवति। इष्कर्त्तारम् = निष्कर्त्तारम् इति प्राप्ते यथा—"इष्कर्त्तार-मध्वरस्य" (वा० १२।११०)। इत्थम्भूतपदाद्यन्तप्रज्ञप्त्यर्थं बहुलग्रहणम् ॥ १८ ॥

उ० अ०—पद के अन्त में स्थित नि शब्द; बहुलम् = बहुल रूपेण; लुप्त हो जाता है। जैसे शृङ्गाणि प्राप्त होने पर शृङ्गा—"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः"। जैसे पदानि प्राप्त होने पर पदा—"त्रीणि पदा विचक्रमे"। बहुल के ग्रहण से कहीं पर लोप नहीं भी होता है। जैसे—"एता ते अघ्न्ये नामानि"। कहीं पर (नि के) केवल इकार का (लोप) होता है। जैसे एमनि प्राप्त होने पर एमन्—"एमन्त्सादयामि"। कहीं पर (नि के) केवल नकार का (लोप) होता है। जैसे निष्कर्त्तारम् प्राप्त होने पर इष्कर्त्तारम्—"इष्कर्त्तारमध्वरस्य"। इस प्रकार के पदादि और पदान्त को बतलाने के लिए बहुल का ग्रहण किया गया है।

अ०—पदावयवो निशब्दः बहुलं लुप्यते। यथा-चत्वारि शृंगाणीति प्राप्ते "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः"। बहुलोक्त्या क्वचिन्न लुप्यते। यथा-"एता ते अघ्न्ये नामानि देवेषु"। "त्रीणि पदानि"। क्वचिदिकारमात्रस्य भवति बहुलोक्तेरेव। यथा—एमनीति प्राप्ते, "एमन्त्सादयामि"। "ओद्मन्त्सादयामि"। "भस्मन्त्सादयामि"। क्वचिन्नकार-मात्रस्य भवति बहुलोक्तेरेव। यथा "निष्कर्तामध्वरस्येति प्राप्ते "इष्कर्तारमध्वरस्य"।

"क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" ॥

इति व्याकरणशास्त्रे बहुलशब्दस्यैवं निर्वचनात् ॥ १८ ॥

अनितावध्याये ॥ १९ ॥

सू० अ०—(इस) अध्याय में (आगे जो आगम और विकार कहे जायेंगे वे) इति बाद में होने पर नहीं (लागू होते हैं)।

उ० —अस्मिन्; (अध्याये =) अध्यायशेषे; येऽन्तःपद आगमा विकाराश्च वक्ष्यन्ते ते अनितौ इतिकरणे परत्रावस्थिते न भवन्तीति सूत्रार्थः। यथा-"श्रेयस्कर-श्रेय⌒करेति" (वा० १०।२८)। "चक्षुष्पाः—चक्षु⌒पा इति" (वा० २।१६)। "स्वर्षाम्-स्वः साम् इति" (वा० ३४।२०)। "धूर्षाहौ-धूः सहौ इति" (वा०४।३३)। "दूडभः—दुर्दभ इति" (वा० ३।३६)। "वनर्षदः—वनसद इति" (वा०३३।१)। "अवरस्पराय —अवरपराय इति" (वा० ३०।१६) "दुदुक्षन्—दुधुक्षन् इति" (वा० ३३।२८)। "सुषाव—सुसाव इति" (वा० १९।२)। "पुरीषवाहणः—पुरीषवाहन

इति" (वा० ११।४४)। "मामहानः—ममहान इति" (वा० १७।५५)। "वृष्टिमाँ इव—वृष्टिमानिव इति" (वा० ७।४०)। अध्यायशेष इति किम् ? "तवस्तरमिति तवः—तरम्" (वा० ११।२४)। अत्रेतिकरणे परत्रावस्थितेऽपि सकारो विद्यत एव, अस्यावधेः प्राग्भूतत्वात् ॥ १९ ॥

उ० अ०—इस; (अध्याये =) अवशिष्ट अध्याय में; पद के मध्य में होने वाले जो आगम और विकार (सूत्रकार के द्वारा) कहे जायेंगे वे; (अनितौ =) इति बाद में स्थित होने पर नहीं; होते हैं—यह सूत्र का अर्थ है। जैसे—"श्रेयस्कर—श्रेय⌒करेति"। "चक्षुष्पाः—चक्षु⌒पा इति"। "स्वर्षाम्—स्वः साम् इति"। "धूर्षाहौ—धूः सहौ इति"। "दूडभः—दुर्दभ इति"। "वनर्षदः—वनसद इति"। "अवरस्पराय—अवरपराय इति"। "दुदुचन्—दुवुचन् इति"। "सुषाव-सुसाव इति"। "पुरीषवाहणः—पुरोषवाहन इति"। "मामहानः—ममहान इति"। "वृष्टिमाँ इव वृष्टिमानिव इति"। अवशिष्ट अध्याय में—यह क्यों (कहा) ? "तवस्तरमिति तवः—तरम्"। यहाँ इतिशब्द बाद में स्थित होने पर भी सकार विद्यमान ही है, क्योंकि इस अवधि से पूर्ववर्ती सूत्र (३।८) से (यहाँ विसर्जनीय सकार हुआ है)।

अ०—अत्राध्यायेऽन्तःपदे आगमा विकाराश्च वक्ष्यन्ते ते सर्वे इतिशब्दे परभूते सति न स्युः। नियमसूत्रमेतत्। यथा—"श्रेय⌒कर"। "चक्षु⌒पा"। "सुसाव"। "वनसदः"। "सुचन्द्र"। दुवुक्षन्"। "पुरीषवाहनः"। "वृष्टिमानिव" इत्यादि। अनिताविति किम् ? "श्रेयस्कर" इति। "चक्षुष्पा" इति। "स्वर्षाम्" इति। अध्यायशेषे किम् ? अध्यायादावुक्तस्य मा भूदिति निषेधः। यथा—"तवस्तरम्" इति। अत्र "तथयोः सम्" इति सः। स चाध्यायादावुक्तः ॥ १९ ॥

इतिवच्चर्चायाम् ॥ २० ॥

सू० अ०—चर्चा में इति की भाँति (आगम और विकार नहीं होते हैं)।

उ०—इतिकरणात् पुरतो यत्पुनः पदवचनं तत् चर्चाशब्देनोच्यते। तत्र (= चर्चायाम्); इतिवत् = इताविव। यथा इतिकरणे परत्रावस्थिते आगमा विकाराश्च न भवन्ति एवमिहापि न भवन्ति। यथा—"श्रेयः-कर" (वा० १०।२८)। "चक्षुः—पाः" (वा० २।१६)। "स्वः—साम्" (वा० ३४।२०)। "धू—सहौ" (वा० ४।३३)। "दुः—दभः" (वा० ३।३६)। "वन—सदः" (वा० ३३।)। "अवर—पराय" (वा० ३०।१९)। "सु—चन्द्र" (वा० १५।४३)। "दुवुक्षन्" (वा० ३३।२८)। "सुसाव" (वा० १९।२)। "पुरीप—वाहनः" (वा० ११।४४)। "ममहान." (वा० १७।५५)। "वृष्टिमान्—इव" (वा० ७।४०)। एव ह्याहुः—

"लोपागमविकाराश्च नैवेतिकरणे स्मृताः । अवग्रहस्तु चर्चायामितिना चोपदिश्यते।।" इति।।

उ० अ०—इति शब्द से आगे जो दोबारा पद का उच्चारण (किया जाता है) वह चर्चा शब्द से कहा जाता है। वहाँ (= **चर्चायाम्** = चर्चा में); **इतिवत्** = इति की भाँति। जैसे इति शब्द बाद में होने पर आगम और विकार नहीं होते हैं उसी प्रकार यहाँ (= चर्चा में) भी नहीं होते हैं। जैसे–"श्रेयः–कर", "चक्षुः–पाः", "स्वः–साम्", "धूः–सहौ", "दुः–दभः", "वन–सदः", "अवर–पराय", "सु–चन्द्र", "दुधुक्षन्", "सुसाव", "पुरीष–वाहनः", "ममहानः", "वृष्टिमान्–इव"। (आचार्य लोग) ऐसा कहते हैं–"इति शब्द बाद में होने पर लोप, आगम और विकार नहीं होते हैं। इति के समान चर्चा में भी (लोप, आगम और विकार) उपदिष्ट नहीं किए गए हैं। अवग्रह तो होता ही है"।

अ०—इतिशब्दात् परं पदं चर्चासंज्ञं स्यात्। तस्मिन् पदे इतिवत्। इतिशब्दे परे यथा पूर्वस्य विकारादिर्न भवति तथा चर्चायामपीत्यर्थः। "श्रेयः–कर"। "भूयः–कर"। "चक्षुः–पाः" इत्यादि। उक्तं च।

"लोपागमविकारा स्युर्नैवेतिकरणे यथा। अवग्रहस्तु चर्चायामितिना चोपदिश्यते" ।।इति।।

अस्यार्थः—इतिशब्दे परे यथा लोपागमादिविकारा न भवन्ति तथा चर्चासंज्ञायामपि न भवन्तीत्युपदिश्यते। अवग्रहस्तु भवत्येव ।। २० ।।

ककारपकारयोः सकारम् ।। २१ ।।

सू० अ०—ककार और पकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)।

उ०—विसर्जनीयोऽधिकृतः। स यथादिष्टं **ककारपकारयोः** प्रत्यययोः **सकार**-मापद्यते। यद्यप्यत्राविशेषेण सकार उक्तः, तथापि कण्ठ्यपूर्वस्यैव सकारः, अकण्ठ्यपूर्वस्य तु षकारोऽभिप्रेतः यतः "कृषीश्च कृधौ सकारम्" (३।३३) इति कण्ठ्यपूर्वस्य सकारं विदधाति। अतोऽकण्ठ्यपूर्वस्य षकारो भवतीति निश्चीयते ।। २१ ।।

उ० अ०—विसर्जनीय का अधिकार चल रहा है। वह (विसर्जनीय); **ककारपकारयोः** = ककार और पकार बाद में होने पर; **सकारम्** = सकार; हो जाता है, जैसा कि (परवर्ती सूत्रों में) बतलाया गया है। यद्यपि यहाँ बिना किसी विशेष के (= सामान्य रूप से) सकार कहा गया है, तथापि कण्ठ्यपूर्व (अ, आ हैं पूर्व में जिसके ऐसे) (विसर्जनीय) का सकार (होता है), अकण्ठ्यपूर्व (अ, आ से अन्य स्वर हैं पूर्व में जिसके ऐसे) (विसर्जनीय) का तो षकार होना अभीष्ट है,

क्योंकि-"कृधि बाद में होने पर कृषीः का विसर्जनीय भी सकार हो जाता है"-इस (सूत्र) में कण्ठ्यपूर्व (अ, आ हैं पूर्व में जिसके ऐसे) (विसर्जनीय) के सकार होने का विधान (सूत्रकार) करते हैं। इसलिए अकण्ठ्यपूर्व (अ, आ से अन्य स्वर हैं पूर्व में जिसके ऐसे) (विसर्जनीय) का षकार होता है—यह निश्चय किया जाता है।

अ०—विसर्जनीय इत्यनुवर्त्तते। ककारपकारयोः परतः विसर्जनीयः सकारमापद्यते। यद्यप्यत्राविशेषेण सकार उक्तः तथापि कण्ठ्यपूर्वस्यैव विसर्जनीयस्य सः। अकण्ठ्यपूर्वस्य तु षकारः अभिधास्यत इति विशेषो ज्ञेयः। "कृषीश्च कृधौ" इत्यादौ तु वचनात्सकार इति न कश्चिद्दोषः। उदाहरणमुपरिष्टाद्वक्ष्यति। अधिकारोऽयम् ॥२१॥

भाव्युपधः षकारम् ॥ २२ ॥

सू० अ०—अकण्ठ्य स्वर (= भावी = अ, आ से भिन्न स्वर) पूर्व में होने पर (विसर्जनीय) षकार (हो जाता है)।

उ०—"अकण्ठ्यो भावी" (१।४६) इत्युक्तम्। **भाव्युपधो** विसर्जनीयः **षकारमापद्यते** ककारपकारयोः प्रत्यययोः। कण्ठ्यपूर्वस्य तु सकार एव। एतयोरुदाहरणानि अग्रेतनसूत्रेषु द्रष्टव्यानि। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ २२ ॥

उ० अ०—"कण्ठ्य (अ, आ) से अन्य स्वर भावी कहलाते हैं" यह कहा गया है। **भाव्युपधः** = अकण्ठ्य स्वर (= भावी=अ, आ से भिन्न स्वर) है उपधा (अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण) जिसका वह; विसर्जनीय **षकार** हो जाता है, ककार और पकार बाद में होने पर। कण्ठ्यपूर्व (अ, आ हैं पूर्व में जिसके ऐसे) (विसर्जनीय) का तो सकार ही (होता है)। इन दोनों के उदाहरणों को आगे वाले सूत्रों में देखना चाहिए। यह अधिकार-सूत्र है।

अ०—भाविसंज्ञक उपधायां यस्य सः तथा। भाव्युत्तरो विसर्जनीयः षकारमापद्यते ककारपकारयोः परयोः। नियमोऽयम् ॥ २२ ॥

आविर्निरिड इडाया वसतिर्वरिवः ॥ २३ ॥

सू० अ०—आविः, निः, इडः, इडायाः, वसतिः और वरिवः (का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है)।

उ०—**आविः निः इडः इडायाः वसतिः वरिवः** इति एतेषां विसर्जनीयः सकारं षकारं चापद्यते यथायोगं ककारपकारयोः प्रत्यययोः। आविः यथा-"आविः कृणुष्व = आविष्कृणुष्व" (वा० १३।१३)। निः यथा-"अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्" (वा० ६।३६)। इडः यथा-"इडस्पदे समिध्यसे" (वा० १५।३०)। इडायाः

यथा—"इडायास्पदमसि" (वा० ४।२२)। वसतिः यथा—"पर्णे वो वसतिष्कृता" (वा० १२।७६)। वरिवः यथा—"अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोतु" (वा० ५।३७) ॥२३॥

उ० अ०—आविः, निः, इडः, इडायाः, वसतिः, वरिवः—इनका विसर्जनीय परिस्थिति के अनुसार सकार अथवा षकार हो जाता है, ककार और पकार बाद में होने पर।

अ०—एतत्षट्कसम्बन्धी विसर्जनीयः सकारषकारावापद्यते ककारपकारयोः परयोः। क्रमेणोदाहरणानि—"आविः कृणुष्व = आविष्कृणुष्व दैव्यान्यग्ने"। "निः पर = अम्ब निष्पर समरीर्विदाम्"। "इळः पदे = इळस्पदे"। "इळायाः पदम् = इळायास्पदमसि"। "वसतिः कृता = पर्णे वो वसतिष्कृता"। "वरिवः कृणोतु = वरिवस्कृणोतु अयं मृधः" ॥ २३ ॥

दिवोऽककुत्पृथिव्योः । २४ ।

सू० अ०—ककुत और पृथिवी बाद में न होने पर दिवः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—दिव इत्येतस्य सम्बन्धी विसर्जनीयः सकारमापद्यते; (अककुत्पृथिव्योः =) ककुत्पृथिवीशब्दौ वर्जयित्वा। यथा—"दिवः पुत्राय = दिवस्पुत्राय सूर्याय" (वा० ४।३५)। "दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीम्" (वा० १५।६४)। "दिवस्पृष्ठे ज्योतिष्मतीम्" (वा० १५।५८)। अककुत्पृथिव्योरिति किम् ? "अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्" (वा० ३।१२)। "दिवः पृथिव्याः पर्योजः" (वा० २९।५३) ॥ २४ ॥

उ० अ०—दिवः—इसका विसर्जनीय सकार हो जाता है; (**अककुत्पृथिव्योः =**) ककुत् और पृथिवी शब्दों को छोड़ कर।....।

अ०—दिवःशब्दस्य विसर्जनीयः सकारमापद्यते। ककुत्पृथिवीशब्दयोः परयोर्न। यथा—"दिवस्पुत्राय"। "दिवस्पृष्ठे व्यचस्वतीम्"। "दिवस्पृष्ठ स्वर्गत्वा"। "दिवस्पर्जन्यात्"। अककुत्पृथिव्योः किम् ? "अग्निर्मूर्वा दिवः ककुत्पतिः"। "दिवः पृथिव्याः पर्योजः"। माध्यन्दिनीयानामिदम्। ऋग्वेदिनां तु "दिवस्पृथिव्योः" इति सकारपाठात् ॥ २४ ॥

रायः सहसः पोषपुत्रयोः ॥ २५ ॥

सू० अ०—पोष और पुत्र बाद में होने पर रायः और सहसः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—रायः सहसः इत्येतौ विसर्जनीयौ सकारमापद्येते यथासंख्यं **पोषपुत्रयोः** परयोः। रायः यथा—"रायः पोषेण = मा वयं रायस्पोषेण वि यौष्म" (वा० ४।२२)। सहसः यथा—"सहसः पुत्रः = सहसस्पुत्रो अद्भुतः" (वा० ११।७०) ॥ २५ ॥

उ० अ०—रायः, सहसः—इसके विसर्जनीय सकार हो जाते हैं क्रमशः; **पोषपुत्रयोः**=पोष और पुत्र बाद में होने पर।""।

अ०—रायः सहसः इति पदद्वयस्य विसर्जनीयः सकारमापद्यते यथासङ्ख्यं पोषपुत्रयोः परतः। यथा—"मा वयं रायस्पोषेण"। "सहसस्पुत्रो अद्भुतः"॥ २५॥

तमसोऽपरस्तात्॥ २६॥

सू० अ०—परस्तात् बाद में न होने पर तमसः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—तमस इत्ययं विसर्जनीयः सकारमापद्यते; (अपरस्तात् =) परस्ताच्छब्दं मुक्त्वा। यथा—"तमसः पारम् = तमसस्पारमस्य" (वा० १२।७३)। अपरस्तादिति किम्? "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" (वा० ३१।१८)॥ २६॥

उ० अ०—तमसः—इसका विसर्जनीय सकार हो जाता है; (अपरस्तात् =) परस्तात् शब्द को छोड़कर।"'।

अ०—तमसः इत्ययं विसर्जनीयः सत्वमाप्नोति परस्ताच्छब्दे परे तु न भवति। "तमसस्पारमस्य"। "तमसस्परि स्वः"। अपरस्तादिति किम्? "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"॥ २६॥

तपसस्पृथिव्याम्॥ २७॥

सू० अ०—पृथिव्याम् बाद में होने पर तपसः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—तपस इत्ययं विसर्जनीयः पृथिव्यां प्रत्यये सकारमापद्यते। यथा—"धर्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्याम्" (वा० ३७।१६)॥ २७॥

उ० अ०—तपसः—इसका विसर्जनीय सकार हो जाता है पृथिव्याम् बाद में होने पर।"'।

अ०—तपसः विसर्जनीयः तथा पृथिव्यां परतः। यथा—"धर्ता दिवो विभाति तपसस्पृथिव्याम्"॥ २७॥

अध्वनो रजसो रिषः स्पृशस्पातौ॥ २८॥

सू० अ०—पा (धातु) बाद में होने पर अध्वनः, रजसः, रिषः और स्पृशः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—अध्वनः रजसः रिषः स्पृशः एते विसर्जनीयाः पातौ प्रत्यये सकारमापद्यन्ते। अध्वनः यथा—"अध्वनः पातु = पूषाध्वनस्पात्विन्द्राय" (वा० ४।१९)।

रजसः यथा--"रजसः पाति = रजसस्पात्यन्तौ" (वा० १७।६०)। रिषः यथा--"रिषः पातु = स नो दिवा रिषस्पातु नक्तम्" (वा० १८।७३)। पाताविति धातु-ग्रहणम्। अतः इहापि भवति--"देव रिषस्पाहि" (वा० ३।४८)। स्पृशः यथा--"संस्पृशस्पाहि" (वा० ३७।११) ॥ २८ ॥

उ० अ०--अध्वनः, रजसः, रिषः, स्पृशः--इनके विसर्जनीय सकार हो जाते हैं; पातौ = पा (धातु) वाद में होने पर।...।

अ०--अध्वादिचतुष्टयविसर्जनीयः सत्वमापद्यते पातौ परे। यथा-"अध्वनः पातु = पूषाध्वनस्पातु"। "रजसस्पात्यन्तौ"। "स रिषस्पातु नक्तम्"। पाताविति धातुग्रहणम्। तेनान्यत्रापि। "पुरुराव्णो देवरिषस्पाहि"। "संस्पृशस्पाहि" ॥ २८ ॥

अध्वनस्कुर्विति च ॥ २९ ॥

सू० अ०--कुरु बाद में होने पर भी अध्वनः (का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०-अध्वन इत्ययं विसर्जनीयः कुर्वित्येतस्मिश्च प्रत्यये सकारमापद्यते। यथा-"सकामाँ अध्वनस्कुरु" (वा० २९।१) ॥ २९ ॥

उ० अ०--अध्वनः इसका विसर्जनीय सकार हो जाता है; (कुर्विति च =) कुरु-यह वाद में होने पर भी। जैसे-"सकामाँ अध्वनस्कुरु"।

अ०--अध्वनशब्दात्परो विसर्जनीयः तथा कुरुशब्दे परे। "सकामाँ अध्वनस्कुरु संज्ञानमस्तु" ॥ २९ ॥

समानपदे च ॥ ३० ॥

सू० अ०-एक पद में विद्यमान भी (विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है)।

उ०--(समानपदे च =) एकस्मिश्च पदे; यो विसर्जनीयः, स ककार-पकारयोः प्रत्यययोर्यथायोगं सकारं षकारं वापद्यते। यथा-"श्रेयः कर = श्रेयस्कर" (वा० १०।२८)। "भूयः कर = भूयस्कर" (वा० १०।२८)। "आयुः पाः = आयुष्पाः" (वा० २२।१) ॥ ३० ॥

उ० अ०--(समानपदे च =) एक पद में भी; जो विसर्जनीय (होता है) वह, ककार और पकार बाद में होने पर, परिस्थिति के अनुसार सकार अथवा षकार हो जाता है।...।

अ०—एकपदे यो विसर्जनीयः सः सकारषकारावापद्यते ककारपकारयोः परतः। "श्रेयः करः = श्रेयस्करः"। "पथस्पथः"। "तपस्तपस्पति"। "चक्षुष्पाः"। "आयुष्पाः"। इत्यादि ॥ ३० ॥

परावसाने ॥ ३१ ॥

सू० अ०—अवसान में (स्थित) परि (पद) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—(परावसाने =) अवसानस्थे परीत्येतस्मिन् पदे प्रत्यये; अधस्तनपदसम्बन्धी विसर्जनीयः सकारमापद्यते। यथा—"ओषधयः परि = दिव ओषधयस्परि" (वा० १२।९१)। अवसान इति किम्? "तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु" (वा० १३।४५)॥ ३१ ॥

उ० अ०—(परावसाने =) अवसान में स्थित परि—यह पद बाद में होने पर; पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है। जैसे—"ओषधयः परि = दिव ओषधयस्परि"। अवसान में (स्थित)—यह क्यों (कहा)? "तमग्ने हेडः परि ते वृणक्तु"।

अ०—विसर्जनीयः सत्वमापद्यते अवसानस्थिते परिशब्दे। असमानपदार्थोयमारम्भः। यथा—"परुषस्परि"। "दिव ओषधयस्परि"। अवसानेति किम्? "तमग्ने हेळः परि ते वृणक्तु"॥ ३१ ॥

कविष्करत्कृधिषु ॥ ३२ ॥

सू० अ०—कविः, करत् और कृधि बाद में होने पर (पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है)।

उ०—कविः करत् कृधि एतेषु च पदेषु प्रत्ययेषु अधस्तनपदसम्बन्धी विसर्जनीयः सकारं षकारं चापद्यते। कविः यथा—"वसुः कविः = स इधानो वसुष्कविः" (वा० १५।३६)। करत् यथा—"यथा नो वस्यसः करत् = यथा नो वस्यसस्करत्" (वा० ३।५८)। कृधि यथा—"पुनः कृधि=प्रबुधे नः पुनस्कृधि" (वा० ४।१४)॥३२॥

उ० अ०—(कविष्करत्कृधिषु =) कविः, करत् और कृधि—ये पद बाद में होने पर भी; पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है।...।

अ०—एषु परेषु विसर्जनीयः षकारसकारावापद्यते। "स इधानो वसुष्कविः"। "यथा नो वस्यसस्करत्"। "प्रबुधे नः पुनस्कृधि"। एषु किम्? "पुनः प्राणः" ॥३२॥

कृषोश्च कृधौ सकारम् ॥ ३३ ॥

सू० अ०—कृधि बाद में होने पर कृषीः (का विसर्जनीय) भी सकार (हो जाता है)।

उ०—कृधौ च प्रत्यये कृषीरित्ययं विसर्जनीयः सकारमापद्यते। यथा—"कृषीः कृधि = सुसस्याः कृषीस्कृधि" (वा० ४।१०)। ननु "कविष्करत्कृधिषु" (३।३२) इति कृधौ कृषीरिति विसर्जनीयस्य सकारः प्राप्तः किमनेन सूत्रेण क्रियते ? एवन्तर्हि अकण्ठ्योपधस्य षकारोऽभिप्रेतः स मा भूदिति सकारविधानम्। अस्माच्च ज्ञापकाद-कण्ठ्योपधः षकारमापद्यते इत्येतदध्यवस्यामः ॥ ३३ ॥

उ० अ०—कृधौ = कृधि बाद में होने पर; कृषीः का विसर्जनीय; च = भी; सकार हो जाता है। जैसे—"कृषीः कृधि = सुसस्याः कृषीस्कृधि"। शङ्का—"कविः, करत् और कृधि बाद में होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है" इस (सूत्र) से कृधि बाद में होने पर कृषीः के विसर्जनीय का सकार होना प्राप्त है, इस सूत्र से क्या किया जाता है ? समाधान—इस प्रकार तो अकण्ठ्य स्वर पहले है जिस (विसर्जनीय) के उसका षकार होना अभीष्ट होता है। वह (षकार) न होवे, इसलिए सकार होने का विधान (किया गया है)। इस ज्ञापक से यह निश्चित करते हैं कि अकण्ठ्य स्वर (अ, आ से भिन्न स्वर) है पूर्व में जिस (विसर्जनीय) के वह (विसर्जनीय) षकार होता है।

अ०—कृधौ परे कृषीरिति विसर्जनीयस्सत्वमापद्यते। यथा—"कृषीः कृधि = कृषीस्कृधि"। ननु "कविष्करत्कृधिषु" इत्यनेनैव गतार्थत्वाद् व्यर्थमिदं सूत्रमिति चेत्। सत्यम्। भाव्युपधस्य षत्वं नियतम्। तन्माभूदित्येतदर्थमित्यदोषः ॥ ३३ ॥

सदो द्यौर्नमस्कृतं पितापथेषु ॥ ३४ ॥

सू० अ०—कृतम्, पिता और पथ बाद में होने पर सदः, द्यौः और नमः (का विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है है)।

उ०—सदः द्यौः नमः एतेषां सम्बन्धी विसर्जनीयः यथासंख्यं कृतम् पिता पथ इत्येतेषु पदेषु प्रत्ययेषु सकारषकारावापद्यते। सदः यथा—"येषामप्सु सदस्कृतम्" (वा० १३।८)। द्यौः यथा—"उपहूतो द्यौष्पिता" (वा० २।११) नमः यथा—"विश्वायुः शर्म सप्रथा नमस्पथे" (वा० १८।५४) ॥ ३४ ॥

उ० अ०—सदः, द्यौः, नमः—इनका विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है क्रमशः; (कृतं पितापथेषु =) कृतम्, पिता और पथ बाद में होने पर"'।

अ०—सदोद्यौर्नमश्शब्दानां विसर्जनीयः सकारषकारावापद्यते यथासंख्येन कृतम् पिता पयेषु परेषु। "येषामप्सु सदस्कृतम्"। "उपहूतो द्यौष्पिता"। "सप्रथा नमस्पथे" ॥ ३४ ॥

पत्यौ तालव्यस्वरोदये ॥ ३५ ॥

सू० अ०—तालव्य स्वर (= इ, ई, ए) है बाद (= अन्त) में जिसके ऐसा पति (शब्द) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है-)।

उ०—(पत्यौ =) पतिशब्दे; तालव्यस्वरोदये प्रत्ययेऽधस्तनपदसम्बन्धी विसर्जनीयः सकारमापद्यते। यथा—"वाचः पतिम् = वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये" (वा० ८।४५)। "ब्रह्मणः पते = ब्रह्मणस्पते त्वमस्य" (वा० ३४।५८)। "वाचः पतये = वाचस्पतये पवस्व" (वा० ७।१)॥ ३५ ॥

उ० अ०—(तालव्यस्वरोदये =) तालव्य स्वर है बाद (अन्त) में जिसके ऐसा; (पत्यौ =) पति शब्द बाद में होने पर; पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है।...।

अ०—विसर्जनीयस्सत्वमाप्नोति तालव्यस्वरे पतिशब्दे परे। यथा—"वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्"। "ब्रह्मणस्पते त्वमस्य यन्ता"। "वाचस्पतये" इत्याद्युदाहरणम् ॥३५॥

पदे च ॥ ३६ ॥

सू० अ०—(पति शब्द के) पद होने पर ही (पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय सकार होता है)।

उ०—पतिशब्दे च पदे एतद्भवति, न पदावयवे। यथा—"वाचस्पतिम्" (वा० ८।४५)। पद इति किम्? "यतो जातः प्रजापतिः" (वा० २३।६३)। "परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिः" (वा० ८।५४)॥ ३६ ॥

उ० अ०—पति शब्द के; पदे च = पद होने पर ही; यह (= विसर्जनीय का सकार) होता है, पद का अवयव होने पर नहीं। जैसे—"वाचस्पतिम्"। पद होने पर—यह क्यों (कहा)? "यतो जातः प्रजापतिः"। "परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिः"।

अ०—पतिशब्दे परे यत्पूर्वमुक्तसत्वं तत्पदभूते पतिशब्दे पर एव न पदावयवे इति चशब्दार्थः। पूर्वाण्येवोदाहरणानि। पदावयवे किम्? "यतो जातः प्रजापतिः"। "परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिः" ॥ ३६ ॥

न परुषः परुषि ॥ ३७ ॥

सू० अ०—परुष् बाद में होने पर परुषः (का विसर्जनीय सकार) नहीं (होता है) ।

उ०—परुष इत्ययं विसर्जनीयः परुषि प्रत्यये न सकारमापद्यते । यथा—"परुषःपरुषस्परि" (वा० १३।२०) "समानपदे च" (वा०३।३०) इति प्राप्तस्य निषेधः ॥ ३७ ॥

उ० अ०—परुषि = परुष् बाद में होने पर; परुषः का विसर्जनीय सकार; न = नहीं; होता है । जैसे—"परुषःपरुषस्परि" । "एक पद में विद्यमान भी विसर्जनीय सकार अथवा षकार हो जाता है"—इस (सूत्र) से प्राप्त (सकार) का निषेध (किया गया है) ।

अ०—परुष इति विसर्जनीयः न सत्वमापद्यते परुषशब्दे परे । यथा—"परुषः-परुषस्परि" । "समानपदे च" इति प्राप्तस्यापवादः ॥ ३७ ॥

वाजपतिर्वास एदिधिषुरन्तःपर्शव्येनान्तःपार्श्व्यमिति च ॥ ३८ ॥

सू० अ०—वाजपतिः, वासः, एदिधिषुः, अन्तःपर्शव्येन और अन्तः-पार्श्व्यम् (का विसर्जनीय) भी (सकार अथवा षकार नहीं होता है) ।

उ०—वाजपतिः वासः एदिधिषुः अन्तःपर्शव्येन अन्तःपार्श्व्यम् इत्येते विसर्जनीयाः यथाप्राप्तं न सकारषकारावापद्यन्ते । "वाजपतिः कविः" (वा० ११।२५) । "कविः करत्कृधिषु" (३।३२) इति प्राप्तिः "वासः पल्पूलीम्" (वा० ३०।१२) । "एदिधिषुः पतिम्" (वा० ३०।९) । "समानपदे च" (३।३०) इत्युभयोः प्राप्तिः । अन्तःपर्शव्येन यथा—"अन्तःपर्शव्येनोग्रम्" (वा० ३९।८) । अन्तःपार्श्व्यं यथा—"अन्तःपार्श्व्यं महादेवस्य" (वा० ३९।९) "समानपदे च" (३।३०) इत्युभयोः प्राप्तिः ॥ ३८ ॥

उ० अ०—वाजपतिः; वासः, एदिधिषुः, अन्तःपर्शव्येन, अन्तः-पार्श्व्यम्—इनके विसर्जनीय (च=भी) पूर्वोक्त सूत्रों के अनुसार सकार अथवा षकार नहीं होते हैं । "वाजपतिः कविः". "कविः, करत् और कृधि बाद में होने पर···" इस (सूत्र) से (सकार की) प्राप्ति थी । "वासः पल्पूलीम्" । "एदिधिषुः पतिम्" । "एक पद में विद्यमान भी"—इस (सूत्र) से दोनों में (षकार की) प्राप्ति थी । अन्तःपर्शव्येन जैसे—"अन्तःपर्शव्येनोग्रम्" । अन्तःपार्श्व्यम् जैसे—"अन्तःपार्श्व्यं महादेवस्य" । "एक पद में विद्यमान भी···"—इस (सूत्र) से दोनों में (षकार) की प्राप्ति थी ।

अ०—वाजपत्यादिपञ्चकविसर्जनीयः न सकारषकारावापद्यते। यथा—"परिवाजपतिः कविरग्निः"। "कविष्करत्" इति प्राप्तस्यापवादः। "वासः पल्पूलीम्"। "एदिधिषुः पतिम्"। समानपदे चेति प्राप्तिः। "अन्तःपर्शव्येनोग्रम्"। "अन्तःपार्श्व्यं महादेवस्य"॥ ३८॥

अहः पतौ रेफम्॥ ३९॥

सू० अ०—पति बाद में होने पर अहः (का विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)।

उ०—अहरित्ययं विसर्जनीयः; (पतौ =) पतिशब्दे; प्रत्यये रेफमापद्यते। "अहर्पतये स्वाहा" (वा० ६।२०)। "समानपदे" (३।३०) इति प्राप्ते सकारे तदपवादो रेफः॥ ३९॥

उ० अ०—(पतौ =) पति शब्द बाद में होने पर; अहः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है। "अहर्पतये स्वाहा"। "एक पद में विद्यमान भी"—इस (सूत्र) से सकार प्राप्त होने पर रेफ उसका अपवाद है।

अ०—अहश्शब्दस्य विसर्जनीयो रेफमापद्यते पतिशब्दे परे। "अहः पतये = अहर्पतये स्वाहा"। समानपदत्वात्सत्वप्राप्तिः॥ ३९॥

परश्च मूर्धन्यम्॥ ४०॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में) परवर्ती (दन्त्य वर्ण) भी मूर्धन्य (वर्ण हो जाता है)।

उ०—इत उत्तरं लोपागमवर्णविकारान् वक्ष्यामः; ते तावत् भविष्यन्ति परश्च दन्त्यो मूर्धन्यमापद्यते। अधिकारसूत्रमेतत्॥ ४०॥

उ० अ०—इसके आगे (जिन) लोपों, आगमों और वर्णविकारों को कहेंगे वे जहाँ पर होंगे (वहाँ पर); परश्च = परवर्ती दन्त्य (वर्ण) भी; मूर्धन्य (वर्ण) हो जाता है। यह अधिकार सूत्र है।

अ०—इत उत्तरं लोपागमवर्णविकारा उच्यन्ते। परो वर्णः मूर्धन्यमापद्यते। अधिकारोऽयम्॥ ४०॥

स्वर्धूः सांसहयोः॥ ४१॥

सू० अ०—साम् और सह बाद में होने पर स्वः और धूः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है और परवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण हो जाता है)।

उ०—स्वः धूः एतौ विसर्जनीयौ रेफमापद्येते यथासंख्यं सांसहयोः प्रत्यययोः परश्च दन्त्यो मूर्धन्यमापद्यते। स्वः यथा—"स्वः साम् = स्वर्षामप्सां वृजनस्य गोपाम्" (वा० ३४।२०)। धूः यथा—"धूः साहौ = धूर्षाहौ युज्येथाम्" (४।३३)॥ ४१॥

उ० अ० – क्रमशः; (सांसहयोः =) साम् और सह बाद में होने पर; स्वः, धूः के विसर्जनीय रेफ हो जाते हैं और परवर्ती दन्त्य (वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) हो जाता है।...।

अ०—स्वः धूः एतौ विसर्जनीयौ रेफमापद्येते यथाक्रमं सांसहयोः परयोः परश्च मूर्धन्यम्। "स्वः साम् = स्वर्षाम्"। "धूः षाहौ = धूर्षाहौ युज्येथाम्"। दीर्घोऽत्र वक्ष्यते। परेषामिदं धूर्षहाविति काण्वपाठात्॥ ४१॥

उकारं दुर्दे॥ ४२॥

सू० अ०—दकार बाद में होने पर दुः (का विसर्जनीय) उकार (हो जाता है)।

उ०—दुरित्ययं विसर्जनीय उकारमापद्यते; (दे =) दकारे प्रत्यये; उकारात् परश्च दन्त्यो मूर्धन्यमापद्यते। यथा—"दुः दभः = परि ते दूडभो रथः" (वा० ३।३६)॥

उ० अ०—(दे =) दकार बाद में होने पर; दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है और उकार से परवर्ती दन्त्य (वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) हो जाता है।...।

अ०—दुरिति विसर्जनीयः उकारमापद्यते दकारे परे परश्च मूर्धन्यम्। यथा—"दुः दभः=परि ते दूळभो रथः"। अत्र मूर्धन्यभावेन डकारे जाते "डढौ ळळ्हावेकेषाम्" इति डस्य ळकारो द्रष्टव्यः॥ ४२॥

नाशे च॥ ४३॥

सू० अ०—नाश बाद में होने पर भी (दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है)।

उ०—नाशे च प्रत्यये दुरित्ययं विसर्जनीय उकारमापद्यते उकारात् परश्च दन्त्यो मूर्धन्यमापद्यते। यथा—"दुः नाशः = दूणाशः"। मृग्यमुदाहरणम्॥ ४३॥

उ० अ०—नाशे = नाश बाद में होने पर; (च = भी) दुः का विसर्जनीय उकार हो जाता है और उकार से परवर्ती दन्त्य (वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) हो जाता है। जैसे—"दुः नाशः = दूणाशः"। उदाहरण को ढूँढ़ना चाहिए॥

अ०—दुरित्ययं च विसर्जनीयः उकारमापद्यते नाशशब्दे परे। परश्च मूर्धन्यम्। यथा—"दुः नाशः=दूणाश सख्यं तव"। इदं शाखीयम्। माध्यन्दिनानामुदाहरणं नास्ति॥४३॥

पुरो दाशे ॥ ४४ ॥

सू० अ०—दाश बाद में होने पर पुरः (का विसर्जनीय उकार हो जाता है)।

उ०—पुरः इत्ययं विसर्जनीयो दाशे प्रत्यये उकारमापद्यते। परश्च मूर्धन्यम्। यथा–पुरः दाशः = पुरउ दाशः। अत्र रूपसिद्धिः–विसर्जनीयादेशस्योकारस्य चोपधाकारस्य च "उवर्ण ओकारम्" (४।५५) इत्येकादेश ओकारः ततः परस्य दकारस्य डकारः। "पुरोडाशैर्हवींष्या" (वा० १६।२०) ॥ ४४ ॥

उ० अ०—दाशे = दाश बाद में होने पर; पुरः का विसर्जनीय उकार हो जाता है और परवर्ती (दन्त्य वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) (हो जाता है)। जैसे—पुरः दाशः = पुरउ दाशः। यहाँ (संहिता में उपलब्ध) रूप की सिद्धि (ऐसे होती है)– विसर्जनीय के स्थान पर आये हुए उकार का और पूर्ववर्ती अकार का "अ, आ से परवर्ती उवर्ण (उ, ऊ) पूर्ववर्ती स्वर के सहित ओकार हो जाता है" इस (सूत्र) से एकादेश ओकार (होता है) (और) उससे परवर्ती दकार का डकार (हो जाता है)। "पुरोडाशैर्हवींष्या" ॥

अ० – पुरः इत्ययं विसर्जनीयस्तथा दाशशब्दे परे। परश्च मूर्धन्यम्। यथा— "पुरः दाशैः = पुरं ळाशैर्हवींष्या"। ळकारः पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

अनसो वाहौ सकारो डकारम् ॥ ४५ ॥

सू० अ०—वाह बाद में होने पर अनस् का सकार डकार (हो हो जाता है)।

उ०—अनशब्दः सान्तः। तस्य वाहौ प्रत्यये डकारमापद्यते। यथा— "अनस् वाहम् = अनड्वाहमन्वारभामहे" (वा० ३५।१३) ॥ ४५ ॥

उ० अ०—अनस् शब्द सकारान्त है। उस (सकार) का; वाहौ = वाह बाद में होने पर; डकार हो जाता है। जैसे–"अनस् वाहम् = अनड्वाहमन्वारभामहे"।

अ०—अनशशब्दस्य सकारः डकारमापद्यते वाहशब्दे परे। यथा–"अनस् वाहम् = अनड्वाहमन्वारभामहे"। "अनड्वांश्च मे" ॥ ४५ ॥

ओकारमितः सिश्चतौ सोपधः ॥ ४६ ॥

सू० अ०—सिञ्च् बाद में होने पर इतः (का विसर्जनीय) उपधा के सहित ओकार (हो जाता है)।

उ०—इतःशब्दसम्बन्धी विसर्जनीयः; (सोपधः =) उपधासहितः;

ओकारमापद्यते सिञ्चतौ प्रत्यये। परश्च मूर्धन्यम्। यथा—"इतः सिञ्चत = परीतो षिञ्चता सुतम्" (वा० १९।२) ॥ ४६ ॥

उ० अ०—सिञ्चतौ = सिञ्च् बाद में होने पर; इतः शब्द का विसर्जनीय; (सोपधः =) उपधा के सहित = अपने पूर्ववर्ती वर्ण (= अकार) के सहित; ओकार हो जाता है। और परवर्ती (दन्त्य वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) (हो जाता है)। जैसे—"इतः सिञ्चत = परीतो षिञ्चता सुतम्" ॥

अ०—इतशब्दस्य विसर्जनीयः उपधासहित ओकारमापद्यते सिञ्चतिशब्दे परे। यथा-"इतः सिञ्चत = इतो षिञ्चता सुतम्"। परसवर्णापवादः ॥ ४६ ॥

षड् दशदन्तयोः संख्यावयोऽर्थयोश्च ॥ ४७ ॥

सू० अ०—संख्या और आयु अर्थ वाले दश और दन्त (शब्द) बाद में होने पर षड् (का अन्तिम वर्ण, उपधा के सहित, ओकार हो जाता है और परवर्ती दन्त्य वर्ण मूर्धन्य वर्ण हो जाता है)।

उ०—षडित्येतस्य शब्दस्य चशब्दादन्त्यो वर्णः सोपध ओकारमापद्यते। परश्च मूर्धन्यम्। दशदन्तयोः प्रत्यययोर्यथासंख्यम्; (संख्यावयोऽर्थयोः =) संख्यावयसोरभिधायकयोः। यथा—"षट्दश=षोडश च मे" (वा० १८।२५)। षट् दन्ता अस्येति "षोडन्तः"। एतच्च शिष्यव्युत्पादनार्थम्। न हि संहितायामुदाहरणं लभ्यते ॥ ४७ ॥

उ० अ०—षट् शब्द का; (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) अन्तिम वर्ण, अपने पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) के सहित, ओकार हो जाता है। और परवर्ती (दन्त्य वर्ण) मूर्धन्य (वर्ण) (हो जाता है)। (संख्यावयोऽर्थयोः =) संख्या और आयु के वाचक; दशदन्तयोः = दश और दन्त बाद में होने पर। जैसे—"षट् दश = षोडश च मे"। छः दाँत हैं इसके=षोडन्तः। और यह शिष्यों को समझाने के लिए है। क्योंकि संहिता में उदाहरण नहीं मिलता है।

अ०—षट्शब्दस्यान्त्यो वर्णः सोपधः ओकारमापद्यते, सङ्ख्यावयोऽर्थकयोः दशदन्तशब्दयोः परयोः। यथा—"षट् दश = "षोळश च मे"। "अदितिष्षोळशाक्षरेण"। "षट् दन्तः = षोडन्तो अस्य महतो महित्वात्"। शाखीयादेरेतत् ॥ ४७ ॥

त आघादनाडम्बरात् ॥ ४८ ॥

सू० अ०—आडम्बर (शब्द) से बाद में न स्थित आघा (शब्द) से परवर्ती तकार (टकार हो जाता है)।

उ०—(आघात् =) आघाशब्दात् परः; (तः =) तकारः; "परश्च मूर्धन्यम्" (३।४०) इत्यनेन मूर्धन्यमापद्यते स चेदाघाशब्दः; (अनाडम्बरात् =)

आडम्बरशब्दात् परो न भवति । यथा—"दारु आघातः=गोधा कालका दार्वाघाटः" (वा० २४।३५) । अनाडम्बरादिति किम् ? "शब्दायाडम्बराघातम्" (वा० ३०।१९) ॥४८॥

उ० अ०—(**आघात्** =) आघा शब्द से; परवर्ती; (**तः** =) तकार; "परवर्ती दन्त्य वर्ण भी मूर्धन्य वर्ण हो जाता है" इस (सूत्र) से मूर्धन्य हो जाता है, यदि वह आघा शब्द; (**अनाडम्बरात्** =) आडम्बर शब्द से परवर्ती नहीं होता है । जैसे—"दारु आघातः = गोधा कालका दार्वाघाटः" । आडम्बर शब्द से बाद में न स्थित–यह क्यों (कहा) ? "शब्दायाडम्बराघातम्" ।

अ०—आघाशब्दात् पदैकदेशात् परस्तकारो मूर्धन्यमापद्यते स चेदाघाशब्दः आळम्बरशब्दात्परो न भवति । यथा—"दारु आघातः = दार्वाघाटस्ते वनस्पतीनाम्" । अनाळम्बरादिति किम् ? "शब्दायाळम्बराघातम्" ॥ ४८ ॥

वन सदेऽवेटो रेफेण ॥ ४९ ॥

सू० अ०—वेट् (शब्द) से बाद में न स्थित वन (शब्द) रेफ से (व्यवहित हो जाता है), यदि बाद में सद (शब्द) हो ।

उ०—वनशब्दः; (**सदे** =) सदशब्दे प्रत्यये; **रेफेण** व्यवधीयते स चेद्वन-शब्दः; (**अवेटः**=)वेट्शब्दात् परो न भवति । यथा—"वनसदः=वनर्षदो वायवो न सोमाः" (वा० ३३।१) । अवेट् इति किम् ? "बर्हिषदे वेड्वनसदे वेट्" (वा० १७।१२) ॥४९॥

उ० अ०—वन शब्द; (**सदे** =) सद शब्द बाद में होने पर, **रेफेण** = रेफ के द्वारा; व्यवहित हो जाता है, यदि वह वन शब्द; (**अवेटः** =) वेट् शब्द से परवर्ती नहीं होता है ।···।

अ०—वनशब्दः सदशब्दे परे रेफेण व्यवधीयते स चेद्वनशब्दः वेट्शब्दात्परो न भवति । यथा—"वन सदः = भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः" अवेट् किम् ? "बर्हिषदे वेड्वनसदे वेट्" ॥ ४९ ॥

पत्यौ च सकारेण ॥ ५० ॥

सू० अ०—पति (शब्द) बाद में होने पर (वन शब्द) सकार से (व्यवहित हो जाता है) ।

उ०—(**पत्यौ** =) पतिशब्दे; **च** प्रत्यये वनशब्दः **सकारेण** व्यवधीयते । यथा—"वनपतिः = वनस्पतिः शमिता देवः" (वा० २९।३५) ॥ ५० ॥

उ० अ०—(**पत्यौ च** =) और पति शब्द बाद में होने पर; वन शब्द; **सकारेण** = सकार के द्वारा; व्यवहित हो जाता है । जैसे—"वनपतिः = वनस्पतिः शमिता देवः" ।

अ०—वनशब्द इत्यनुवर्त्तते। स च पतिशब्दे परे सकारेण व्यवधीयते। यथा—"वनानां पतिः = वनस्पतिः शमिता देवः" ॥ ५० ॥

ऋतावरौ च पतिपरयोः ॥ ५१ ॥

सू० अ०—पति और पर बाद में होने पर ऋत और अवर भी (सकार से व्यवहित होते हैं)।

उ०—(ऋतावरौ =) ऋतः अवरः; च शब्दौ सकारेण व्यवधीयेते यथासंख्यं पतिपरयोः प्रत्यययोः। यथा—"ऋतपते = ऋतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत" (वा० २७।३४)। "अवरपराय = अवरस्पराय शङ्खध्मम्" (वा० ३०।१६) ॥५१॥

उ० अ०—(ऋतावरौ =) ऋत और अवर शब्द; सकार के द्वारा व्यवहित हो जाते हैं, क्रमशः; (पतिपरयोः =) पति और पर बाद में होने पर।…।

अ०—ऋतावरशब्दौ सकारेण व्यवधीयेते यथासंख्यं पतिपरशब्दयोः परयोः। यथा—"ऋतपते = ऋतस्पते"। "अवरपराय = अवरस्पराय" ॥ ५१ ॥

तद्बृहतौ करपत्योस्तलोपश्च ॥ ५२ ॥

सू० अ०—कर और पति बाद में होने पर तत् और बृहत् (सकार से व्यवहित हो जाते हैं) और (उनके) तकार का लोप (हो जाता है)।

उ०—(तद्बृहतौ =) तत् बृहत् एतौ; (करपत्योः =) करपतिशब्दयोः प्रत्यययोः; यथासंख्यं सकारेण व्यवधीयेते; पूर्वपदयोश्च; (तलोपः =) तकारलोपः; भवति। यथा—"तत् करान् = तस्कराँ उत्" (वा० ११।७८)। "बृहत् पतिः = बृहस्पतिः" (वा० २५।१६) ॥ ५२ ॥

उ० अ०—क्रमशः; (करपत्योः =) कर और पति शब्द बाद में होने पर; (तद्बृहतौ =) तत्, बृहत्—ये दोनों; सकार से व्यवहित हो जाते हैं; और पूर्ववर्ती पदों (तत् और बृहत्) के; (तलोपः =) तकार का लोप; हो जाता है। जैसे—"तत् करान् = तस्कराँ उत्"। "बृहत् पतिः = बृहस्पतिः"।

अ०—तद्बृहच्छब्दौ यथासङ्ख्यं करपतिशब्दयोः परयोः सकारेण व्यवधीयेते। "बृहत् पतिः = बृहस्पतिः"। "तत् करान् = तस्करान्"। "तस्करां उत"। "तस्कराणां पतये नमः" ॥ ५२ ॥

परि कृते षकारेण ॥ ५३ ॥

सू० अ०—कृत बाद में होने पर परि (पद) षकार से (व्यवहित हो जाता है)।

उ०—परीत्येतत्पदं कृते प्रत्यये **षकारेण** व्यवधीयते। यथा—"परि कृताः = परिष्कृताः शुक्राः" (वा० २१।४२) ॥ ५३ ॥

उ० अ०—**कृते** = कृत बाद में होने पर; **परि**—यह पद; **षकारेण** = षकार के द्वारा; व्यवहित होता है। जैसे—"परि कृताः = परिष्कृताः शुक्राः"।

अ०—परिशब्दः कृतशब्दे परे षकारेण व्यवधीयते। "परि कृताः = मदा मासरेण परिष्कृताः ॥ ५३ ॥

चन्द्रे सु शकारेण ॥ ५४ ॥

सू० अ०—चन्द्र बाद में होने पर सु (शब्द) शकार से (व्यवहित हो जाता है)।

उ०—चन्द्रे प्रत्यये सुशब्दः **शकारेण** व्यवधीयते। यथा—"सु चन्द्र = उभे सुश्चन्द्र सर्पिषः" (वा० १५।४३) ॥ ५४ ॥

उ० अ०—**चन्द्रे** = चन्द्र बाद में होने पर सु शब्द; **शकारेण** = शकार के द्वारा; व्यवहित हो जाता है। जैसे—"सु चद्र= उभे सुश्चन्द्र सर्पिषः"।

अ०—सुशब्दः शकारेण व्यवधीयते चन्द्रशब्दे परे। "सु चन्द्र = सुश्चन्द्र सर्पिप." ॥ ५४ ॥

दुधुक्षन् धो दकारम् ॥ ५५ ॥

सू० अ०—दुधुक्षन् का धकार दकार (हो जाता है)।

उ० - **दुधुक्षन्** इत्येतस्य शब्दस्य; (धः =) धकारः; **दकारमापद्यते**। यथा—"दुधुक्षन् सहस्रधारां वृहतीन्दुदुक्षन्" (वा० ३३।२८) ॥ ५५ ॥

उ० अ०—**दुधुक्षन्**—इस शब्द का; (धः =) धकार; **दकार** हो जाता है। जैसे—"दुधुक्षन् = सहस्रधारां वृहतीन्दुदुक्षन्"।

अ०—दुधुक्षन्नित्यस्य पदस्य धकारः दकारमापद्यते। यथा—"सहस्रधारां वृहती दुदुक्षन्" ॥ ५५ ॥

भाविभ्यः सः षं समानपदे ॥ ५६ ॥

सू० अ०—एक पद में अकण्ठ्य स्वर (= भावी = अ, आ से भिन्न-स्वर) से बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है।

उ०—"अकण्ठ्यो भावी" (१।४६) इत्युक्तम्। भाविभ्यः उत्तरः; (सः =) सकारः, (षम् =) षकारम्; आपद्यते। एकपदस्थौ चेद्भाविसकारौ भवतः। यथा—"गो स्थानम् = व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" (वा० १।२५)। "परमे स्थी = परमेष्ठ्यभि-

धीतः;" (वा० ८।५४)। "सुषाव सोमम्" (वा० १६।२)। "सीसधाम = सीषधामेन्द्रश्च" (वा० २५।४६)। भाविभ्य इति किम् ? "ध्रुवसदन्त्वा" (वा०६।२)। समानपद इति किम् ? "वि सीमतः सुरुचः" (वा० १३।३) ॥ ५६ ॥

उ० अ०—"कण्ठ्य (अ, आ) से अन्य स्वर भावी कहलाते हैं"—यह कहा गया है। **भाविभ्यः** = अकण्ठ्य स्वर (= अ, आ से भिन्न स्वर) से परवर्ती; (सः =) सकार; (षम् =) षकार; हो जाता है। यदि अकण्ठ्य स्वर और सकार; (एकपदे =) एक पद में; स्थित होते हैं। जैसे—"गो स्थानम् = व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"। "परमे स्थी = परमेष्ठ्येभिधीतः"। "सुषाव सोमम्"। "सीसधाम = सीषधामेन्द्रश्च"। अकण्ठ्य स्वर से बाद में स्थित यह क्यों (कहा) ? "ध्रुवसदन्त्वा"। एक पद में यह क्यों (कहा) ? "वि सीमतः सुरुचः"।

अ०—अकण्ठ्यो भावीत्युक्तम्। भाविभ्यः परः सकारः षत्वमाप्नोति निमित्तनैमित्तिकयोरेकपदस्थत्वे। यथा—"सीसधाम = इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च" "नृषदं गोष्ठानम्"। परमेष्ठ्यभिधीतः"। "आ सुषाव सोममद्रिभिः"। भाविभ्यः किम् ? "ध्रुवसदम्=ध्रुवसदं त्वा"। समानपदे किम् ? "वि सीमतः=वि सीमतस्सुरुचः" ॥५६॥

अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात् ॥ ५७ ॥

सू० अ०—वह (= अ, आ से भिन्न स्वर) है पूर्व में जिसके ऐसे अनुस्वार से भी बाद में स्थित (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—अनुस्वाराच्च परः सकारः षकारमापद्यते भाविपूर्वात्। यथा—"तपूंष्यग्ने" (वा० १३।१०), "पुरोडाशैर्हवींष्या" (वा० १९।२०)। तत्पूर्वादिति किम् ? "उत्सत्वनां मामकानां मनांसि" (वा० १७।४२) ॥ ५७ ॥

उ० अ०—(तत्पूर्वात् =) अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्व में जिसके ऐसे; **अनुस्वाराच्च** = अनुस्वार से भी; परवर्ती सकार षकार हो जाता है।...।

अ०—भाविपूर्वादनुस्वारात्परः सकारः षत्वमाप्नोति। यथा—"तपूंष्यग्ने"। "पुरोळाशैर्हवींष्या"। भाविपूर्वात् किम् ? "उत्सत्वनां मामकानां मनांसि" ॥ ५७ ॥

करेफाभ्यां च ॥ ५८ ॥

सू० अ०—ककार और रेफ से भी बाद में स्थित सकार षकार हो जाता है)।

उ०—(करेफाभ्याम =) ककाररेफाभ्याम्; च परः सकारः षकारमापद्यते। ककाराद्भवति यथा—"दिक् सु = ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु" (वा० १६।६)। "ऋक् सु=ऋक्षु"। रेफाद्भवति यथा—"गीः सु=गीर्षु"। "धूः सु=धूर्षु"। ननु च यत्र

पदकारोऽन्यथाभूतं पदं करोति अन्यथा चार्षसंहिता तत्रैव लक्षणं कर्त्तुं युज्यते। यथा—"सुसाव=सुषाव" (वा०१६।१२)। यत्र पुनः पदकारस्य चार्षसंहितायाश्च समानवाक्यत्वं तत्र लक्षणं न घटते व्याकरणस्य विषयः। सत्यमेव यदि नाम प्रसङ्गमुपजीवदाचार्येण शिष्यव्युत्पत्यर्थं कश्चिद्व्याकरणलक्षण इहासञ्जितः। एवं संहितायामविद्यमानेषु लक्षणं द्रष्टव्यम्। अथवा यथा एधाहारस्य मध्वाहरणम्, उदकाहारस्य मत्स्याहरणम्, पुष्पाहारस्य फलाहरणम्, एवमेतदपि। एवं च कृत्वा अदोष एवेति ॥ ५८ ॥

उ० अ०—(करेफाभ्याम् च =) ककार और रेफ से भी; परवर्ती सकार षकार हो जाता है। ककार से बाद में (षकार) होता है जैसे—"दिक् सु = ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु"। "ऋक् सु = ऋक्षु"। रेफ से बाद में (षकार) होता है जैसे—"गीः सु = गीर्षु"। "धूः सु = धूर्षु"। शङ्का-जहाँ पर पदपाठ का निर्माण करने वाला (आचार्य) भिन्न प्रकार से पद करता है (= प० पा० में पद का भिन्न स्वरूप दिखलाता है) और आर्षी संहिता (संहिता-पाठ) भिन्न प्रकार की होती है वहीं पर (प्रातिशाख्यकार के द्वारा) नियम बनाना युक्त (ठीक) होता है। जैसे—"सुसाव=सुषाव"। किन्तु (दिक्षु, ऋक्षु इत्यादि स्थलों में) जहाँ पदपाठकार और आर्षी संहिता की समानवाक्यता है (अर्थात् प० पा० और सं० पा० दोनों में पद का स्वरूप समान है) वहाँ पर (प्रातिशाख्यकार के द्वारा) नियम बनाना संगत (ठीक) नहीं लगता है क्योंकि यह व्याकरण का विषय है। (समाधान) यह बात तो सच है किन्तु आचार्य (कात्यायन) के द्वारा प्रसङ्ग को आधृत करके (अर्थात् प्रसङ्गवश) शिष्य के ज्ञान की वृद्धि के लिए यहाँ (= प्रातिशाख्य में) व्याकरण का भी कोई-कोई नियम संलग्न कर दिया गया है (जोड़ दिया गया है)। इसी प्रकार संहिता में अनुपलब्ध (पदों) के विषय में नियम को समझना चाहिए (अर्थात् संहिता में अनुपलब्ध षोडन्तः इत्यादि लौकिक पदों के विषय में आचार्य ने जो नियम बनाये हैं उनका उद्देश्य भी शिष्य के ज्ञान की वृद्धि करना ही है)। अथवा जिस प्रकार इन्धन लाने के साथ-साथ मधु ले आना, जल लाने के साथ-साथ मछली ले आना, पुष्प लाने के साथ-साथ फल ले आना (अदोष) है, उसी प्रकार यह (= प्रसङ्गवश व्याकरण के विषय को कहना तथा संहिता में अनुपलब्ध पदों के विषय में कहना) भी है। इस दृष्ट से विचार करने पर यह अदोष (दोषरहित) ही है।

अ०—करेफाभ्यां परोऽपि तथा। यथा—"दिक् सु = अभितो दिक्षु श्रिताः"। "गीर् सु = गीर्षु"। "धूर् सु = धूर्षु"। लौकिकोदाहरणम्। यदुदाहरणं व्याकरणसाध्यं न भवति तत्र प्रातिशाख्यलक्षणमुचितम् एवं सति "करेफाभ्याम्" इत्यादीनां वैयर्थ्य-मिति चेत्। सत्यमेव। किन्तु प्रसङ्गादाचार्येण शिष्यव्युत्पत्यर्थं कश्चिद् व्याकरण-विषयोऽपि प्रदर्शितः। वस्तुतस्तु "ऋक्सामयोः" इत्याद्युदाहरणे षत्वमपवदिष्यति।

तत्र प्राप्तिपूर्वकत्वात् प्रतिषेधस्येति तत्प्राप्त्यर्थमिदम्। एवमेव संहितायामविद्यमानपद-व्युत्पादनमपि शिष्यव्युत्पत्त्यर्थमिति न कश्चिद्दोषः इध्मानयनार्थं प्रवृत्तस्यैव प्रसङ्गाच्छाखानयनवत्। पञ्चदशसु शाखासु लक्षणार्थमाचार्यस्य प्रवृत्तेः। शावीयादिशाखासिद्धोदाहरणसिध्यर्थं सूत्राधिकरणमिति द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

नेः सीदतेः ॥ ५९ ॥

सू० अ०—नि से परवर्ती सीदति का (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—नेः परस्य **सीदतेः** सकारः षकारमापद्यते। यथा—"नि सीदत = एदं वर्हिर्निषीदत" (वा० ७।३४) ॥ ५९ ॥

उ० अ०—नेः = नि से परवर्ती; **सीदतेः** = सीदति का; सकार षकार हो जाता है। जैसे—"नि सीदत = एदं वर्हिर्निषीदत" ॥

ससाद च ॥ ६० ॥

सू० अ०—(नि से परवर्ती) ससाद का भी (सकार षकार हो जाता) है।

उ०—नेः परस्य **ससाद**शब्दस्य (च) सकारः षकारमापद्यते। यथा—"नि ससाद = निषसाद धृतव्रतः" (वा० १०।२७)। असमानपदार्थ आरम्भः ॥ ६० ॥

उ० अ०—नि से परवर्ती; **ससाद** शब्द का (च = भी) सकार षकार हो जाता है। जैसे—"नि ससाद = नि षसाद धृतव्रतः"। भिन्न पद के लिए यह आरम्भ (किया गया है)।

अ०—नेः परस्य सीदतेः ससादशब्दस्य च सकारः षत्वमापद्यते। ससाद—"निषसाद धृतव्रतः"। असमानपदार्थोऽयमारम्भः ॥ ६० ॥

ओकारात्सु ॥ ६१ ॥

सू० अ०—ओकार से परवर्ती सु (का सकार षकार हो जाता है)।

उ० - **ओकारात्** पदात् परः सुसकारः षकारमापद्यते। यथा—"मो सु नः = मो षु णः" (वा० ३।४६) ॥ ६१ ॥

उ० अ०—ओकारात् = ओकार (= ओकारान्त) पद से; परवर्ती सु का सकार षकार हो जाता है। जैसे—"मो सु नः = मो षु णः" ॥

अ०—ओकारान्तपदात्परः सुशब्दः षत्वमाप्नोति। यथा—"मो षु णः" ॥ ६१ ॥

ऊश्चापृक्तात् ॥ ६२ ॥

सू० अ०—अपृक्त ऊ से भी परवर्ती (सु का सकार षकार हो जाता है)।

उ०—"एकवर्णः पदमपृक्तम्" (१।१५१) इत्युक्तम्। (ऊश्चापृक्तात् =) ऊकाराच्चापृक्तसंज्ञात्परः; सुसकारः षकारमापद्यते। यथा—"ऊँ इति ऊँ सु नः = ऊर्ध्व ऊ षु णः" (वा० ११।४२ ॥ ६२) ॥

उ० अ०—"एक वर्ण वाला पद अपृक्त कहलाता है" यह कहा गया है। (ऊश्चापृक्तात् =) अपृक्त संज्ञक ऊ से भी परवर्ती; सु का सकार षकार हो जाता है।...।

अ०—स्पष्टम्। ऊ सु = "ऊर्ध्व ऊ षु णः" ॥ ६२ ॥

अभेश्च ॥ ६३ ॥

सू० अ०—अभि से भी परवर्ती (सकार षकार हो जाता) है।

उ०—अभेरुपसर्गाच्च परः सकारः षकारमापद्यते, संहितायाम्। यथा—"अभि सिञ्चामि = अभिषिञ्चाम्यसौ" (वा० ६।३०) ॥ ६३ ॥

उ० अ०—(अभेश्च =) अभि उपसर्ग से भी परवर्ती; सकार षकार हो जाता है, संहिता में। जैसे—"अभि सिञ्चामि = अभिषिञ्चाम्यसौ" ॥

अ०—अभ्युपसर्गात्परोऽपि तथा। "अभि सु = अभी षु णः"। "साम्राज्येनाभिषिञ्चामि" ॥ ६३ ॥

परेश्च सिञ्चतेः ॥ ६४ ॥

सू० अ०—परि से परवर्ती भी सिञ्च् का (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—परेरुपसर्गाच्च परः सिञ्चतेः सकारः षकारमापद्यते। यथा—"परि सिञ्चन्ति = परिषिञ्चन्ति" (वा०२०।२८) ॥ ६४ ॥

उ० अ०—(परेश्च =) परि उपसर्ग से परवर्ती; सिञ्चतेः = सिञ्च् का; सकार षकार हो जाता है। जैसे—"परि सिञ्चन्ति = परिषिञ्चन्ति।

अ०—पर्युपसर्गात् परोऽपि तथा। "सिञ्चन्ति = परिषिञ्चन्ति" ॥ ६४ ॥

अव्यवहितोऽपि ॥ ६५ ॥

सू० अ०—अकार से व्यवहित होने पर भी अभि से परवर्ती सिञ्च् का (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—(अव्यवहितोऽपि =) अकारव्यवहितोऽपि; अभेरुत्तरः सिञ्चतेः सकारः षकारमापद्यते संहितायाम्। यथा—"अभ्यसिञ्चन् = याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्" (वा०१०।१) ॥ ६५ ॥

उ० अ०—अभि से परवर्ती सिञ्च् का सकार; (अव्यवहितोऽपि =) अकार से व्यवहित होने पर भी; षकार हो जाता है, संहिता में। जैसे—"अभ्यसिञ्चन् = याभिमित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्"।

अ०—अभ्युपसर्गात् उत्तरः सिञ्चतेः सकारः षत्वमाप्नोति अकारेण व्यवहितोऽपि। यथा-"अभि असिञ्चन् = अभ्यषिञ्चन्याभिः" ॥ ६५ ॥

वेर्युदयः ॥ ६६ ॥

सू० अ०—यकार बाद में होने पर वि (शब्द) से परवर्ती (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—वेरुपसर्गात्परः सकारः; (युदयः=) यकारोदयः; षकारमापद्यते। "वि स्यामि =तन्ते विष्याम्यायुषो न मध्यात्" (वा० १२।६५)। यकारोदय इति किम् ? "वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षम्" (वा० ७।४५) ॥ ६६ ॥

उ० अ०—वेः = वि उपसर्ग से परवर्ती; सकार; (युदयः =) यकार बाद में होने पर; षकार हो जाता है।…।

अ०—वेरुपसर्गात्परः सकारो यकारपरः षत्वमाप्नोति। "वि स्यामि = तन्ते विष्याम्यायुषः"। युदयः किम् ? "वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षम्" ॥ ६६ ॥

हेर्मथोदयः ॥ ६७ ॥

सू० अ०—मकार अथवा थकार बाद में होने पर हि (शब्द) से परवर्ती (सकार षकार हो जाता है)।

उ०–(हेः=) हिशब्दात्; परः सकारः; (मथोदयः=) मकारोदयो वा थकारोदयो वा; षकारमापद्यते। मकारोदयो यथा—"हि स्म = अस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः" (वा० ३।४६)। थकारोदयो यथा-"हि स्था = आपो हि ष्ठा मयोभुवः" (वा०११।५०) ॥ ६७ ॥

उ० अ०—(मथोदयः =) मकार बाद में होने पर अथवा थकार बाद में होने पर; (हेः =) हि शब्द से परवर्ती; सकार षकार हो जाता है। मकार बाद में होने पर जैसे—"हि स्म = अस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः"। थकार बाद में होने पर जैसे—"हि स्था = आपो हि ष्ठा मयोभुवः"।

अ०—हिशब्दात्परः सः षत्वमापद्यते मकारे थकारे परे। "हि स्म = अस्ति हि ष्मा ते"। "हि स्था = आपो हि ष्ठा मयोभुवः" ॥ ६७ ॥

द्यवेश्च। ६८ ॥

सू० अ०—द्यवि (शब्द) से भी परवर्ती (सकार षकार हो जाता है)।

उ०—(द्यवेश्च =) द्यविशब्दाच्च परः; सकारः षकारमापद्यते यथासम्भवं मकारोदयः थकारोदयश्च संहितायाम् । यथा-"द्यविस्थ = ये अन्तरिक्षे य उप द्यविष्ठ" (वा० ३३।५३) ॥ ६८ ॥

उ० अ०—(द्यवेश्च =) द्यवि शब्द से भी परवर्ती; सकार षकार हो जाता है, उपलब्धि के अनुसार मकार बाद में होने पर अथवा थकार बाद में होने पर, संहिता में । जैसे-"द्यविस्थ = ये अन्तरिक्षे य उप द्यविष्ठ" ।

अ०—द्यविशब्दात्परोऽपि तथा । "द्यविस्थ = य उप द्यविष्ठ" ॥ ६८ ॥

नेः स्त्यास्तनोः ॥ ६६ ॥

सू० अ०—नि से परवर्ती स्त्या और स्तन् का (सकार षकार हो जाता है) ।

उ०—नेरुपसर्गात् परयोः स्त्यास्तन्योर्धात्वोः सकारः षकारमापद्यते संहितायाम् । यथा-"निःस्त्यायताम् = आप्यायतान्निष्ट्यायताम्" (वा० ६।१५) । "निस्तनिहि = निष्टनिहि दुरिता बाधमानः" (वा० २६।५६) ॥ ६६ ॥

उ० अ०—नेः = नि उपसर्ग से परवर्ती; (स्त्यास्तनोः =) स्त्या और स्तन् धातुओं का; सकार षकार हो जाता है, संहिता में ।...।

अ०—नेरुत्तरयोस्त्यास्तनोः धात्वोः सकारः षत्वमाप्नोति । "निः स्त्यायताम् = निष्ट्यायताम्" । "तस्यैते स्वाहा निष्टनिहि दुरिता बाधमानः" । परेषामिदम् ॥ ६९ ॥

ततक्षौ ॥ ७० ॥

सू० अ०—ततक्षु बाद में होने पर (निस् का सकार षकार हो जाता है) ।

उ०—(ततक्षौ =) ततक्षुरित्येतस्मिन्नुत्तरपदे; निरुपसर्गसम्बन्धिविसर्जनीयसकारः षकारमापद्यते । यथा-"निः ततक्षुः = स्वधया निष्टतक्षुः" (वा० १७।६२) ॥ ७० ॥

उ० अ०—(ततक्षौ =) ततक्षु-यह परवर्ती पद होने पर; निः उपसर्ग के विसर्जनीय के स्थान पर आया हुआ सकार षकार हो जाता है । जैसे-"निः ततक्षुः = स्वधया निष्टतक्षुः" ।

अ०—नेर्विसर्जनीयसम्बन्धी सकारः षत्वमापद्यते ततक्षुशब्दे परे । यथा-"निः ततक्षुः = द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः" । "स्वधया निष्टतक्षुः" ॥ ७० ॥

अनोः स्तुवन्त्याम् ॥ ७१ ॥

सू० अ०—अनु से परवर्ती स्तुवन्ति का (सकार षकार हो जाता है) ।

उ०—अनोरुपसर्गात्परः; (स्तुवन्त्याम् =) स्तुवन्तिसकारः; षकारमापद्यते । यथा-"अनुस्तुवन्ति = अनुष्टुवन्ति पूर्वथा" (वा० ३३।६७) ॥ ७१ ॥

उ० अ०—अनोः = अनु उपसर्ग से परवर्ती; (स्तुवन्त्याम् =) स्तुवन्ति का; सकार षकार हो जाता है। जैसे—"अनुस्तुवन्ति = अनुष्टुवन्ति पूर्वथा"।

अ०—अनोरुपसर्गात्परः स्तौतिधातुसकारः षत्वमापद्यते। "अनुस्तुवन्ति = अनुष्टुवन्ति पूर्वथा"। परकीयमिदम् ॥ ७१ ॥

दुःष्वप्न्यम् ॥ ७२ ॥

सू० अ०—दुःष्वप्न्यम् (में सकार षकार हो गया है)।

उ०—निपातनसूत्रमेतत्। भाविभ्य उत्तरस्य सकारस्य षत्वमित्युक्तं समानपदे। इह तु विसर्जनीयेन व्यवधानान्न प्राप्नोति। अतः षत्वं निपात्यते संहितायाम्। यथा—"दुःस्वप्न्यम् = अप दुःष्वप्न्यं सुव" (वा० ३५।११) ॥ ७२ ॥

उ० अ०—यह निपातन सूत्र है। एक पद में अकण्ठ्य स्वर (= अ, आ से भिन्न स्वर) से परवर्ती सकार का षत्व (षकार होना) (३।५६ में) कहा गया है। किन्तु यहाँ पर (= दुःस्वप्न्यम् में) विसर्जनीय के द्वारा व्यवधान हो जाने से (षत्व) प्राप्त नहीं होता है। अतः संहिता में षत्व निपातन से होता है। जैसे—"दुःस्वप्न्यम् = अप दुःष्वप्न्यं सुव"।

अ०—इदं निपात्यते। भाविभ्यः परस्य सस्य षत्वमुक्तम्। इह विसर्गेण व्यवधानात् समानपदत्वेऽपि न सिध्यतीति निपातकरणम्। "दुःस्वप्न्यम् = अप दुःष्वप्न्यं सुव" ॥ ७२ ॥

वन्दारुर्माकिः ॥ ७३ ॥

सू० अ०—वन्दारु और माकिः (में विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है)।

उ०—वन्दारुः माकिः अनयोर्विसर्जनीयस्य सकारः षकारमापद्यते संहितायाम्। "तथयोः सम्" (वा० ३।८) इति विसर्जनीयस्य सकार उक्तस्तस्यैव षत्वम्। यथा—"वन्दारुः ते = वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्ने" (वा० १२।४२)। "माकिः ते = माकिष्टे व्यथिरादधर्षीत्" (वा० १३।११) ॥ ७३ ॥

उ० अ०—वन्दारुः, माकिः—इनके विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है, संहिता में। "तकार और थकार बाद में होने पर (विसर्जनीय) सकार (हो जाता है)" इस (सूत्र) से विसर्जनीय का सकार होना कहा गया है, उस (सकार) का ही षत्व (यहाँ कहा गया है)।....।

अ० – एतयोर्विसर्जनीयसकारः षत्वमेति। "वन्दारुः ते=वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे"। "माकिः ते = माकिष्टे व्यथिरादधर्षीत्" ॥ ७३ ॥

सहेः पृतनायाः ॥ ७४ ।

सू० अ०—पृतना से परवर्ती सह का (सकार षकार हो जाता है)।

उ०––एतदपि निपातनसूत्रम् । अभाविपूर्वत्वात् षकारो न प्राप्नोति । स निपात्यते । यथा–"पृतना साह्याय च = पृतनाषाह्याय च" (वा० १८।६८) ॥ ७४ ॥

उ० अ०––यह भी निपातन सूत्र है। अकण्ठ्य स्वर (= अ, आ से भिन्न स्वर) पूर्व में न होने से षकार प्राप्त नहीं होता है। वह निपातन से होता है।···।

अ०––पृतनाशब्दात्परस्य सहेः सस्य षत्वं निपात्यते । अभाविपूर्वत्वान्निपातितः । यथा–"पृतना साह्याय च = पृतनाषाह्याय च" ॥ ७४ ॥

सधिरंशुरदितिः ॥ ७५ ॥

सू० अ०––सधिः, अंशुः, अदितिः (का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है) ।

उ०—सधिः अंशुः अदितिः एतेषां विसर्जनीयसकारः षकारमापद्यते संहितायाम् । सधिः यथा––"सधिः तव = सधिष्टव सौषधीः" (वा० १२।३६) । अंशुः यथा–"अंशुः ते = अंशुष्टे देव सोम" (वा० ५।७) अदितिः यथा––"अदितिः त्वा = अदितिष्ट्वा देवी" (वा० ११।६१) ॥ ७५ ॥

उ० अ०—सधिः, अंशुः अदितिः—इनके विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है, संहिता में।···।

अ०—एषां विसर्जनीयसकारः षत्वमेति । यथा—"सधिः तव = अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीः" । "अंशुः ते = अंशुरंशुष्टे" । "अदितिष्ट्वा देवी ॥ ७५ ॥

वायुरग्निरग्नेरेकाक्षरे ॥ ७६ ॥

सू० अ०—वायुः, अग्निः, अग्नेः (का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है), यदि एक अक्षर वाला (पद) बाद में हो ।

उ०––वायुः अग्निः अग्नेः एतेषां विसर्जनीयसकारः षकारमापद्यते एकाक्षरे पदे प्रत्यये । यथा—"वायुः ते = वायुष्टेऽधिपतिः" (वा० १४।१४) । "अग्निः ते=अग्निष्टेऽधिपतिः" (वा० १३।२४) । "अग्नेः त्वा=अग्नेष्ट्वास्येन" (वा० २।११) । एकाक्षर इति किम् ? "अग्निः तिग्मेन = अग्निस्तिग्मेन शोचिषा" (वा० १७।१६) । "अग्नेः तनूः = अग्नेस्तनूरसि" (वा० १।१५) ॥ ७६ ॥

उ० अ०––वायुः, अग्निः, अग्नेः––इनके विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है; एकाक्षरे = एक अक्षर वाला पद बाद में होने पर।···।

अ०––वाय्वादित्रयविसर्जनीयसम्बन्धिसकारः षत्वमेति एकाक्षरपदे परे सति । यथा––"वायुः ते = वायुष्टेऽधिपतिः" । "अग्निष्टेऽधिपतिः" । "अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि" एकाक्षरेति किम् ? "अग्निस्तिग्मेन" । "अग्नेस्तनूरसि" ॥ ७६ ॥

सकारपरे च ॥ ७७ ॥

सू० अ०—सकार है बाद में जिसके ऐसा (एकाक्षर पद) बाद में होने पर भी (पूर्ववर्ती पदों का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है)।

उ०—(**सकारपरे** =) सकारः परो यस्मादेकाक्षरात् स तथोक्तः। तस्मिन्नेकाक्षरे प्रत्यये; चशब्दादधस्तनपदसम्बन्धी विसर्जनीयसकारः षकारमापद्यते संहितायाम्। यथा—"बृहस्पतिः त्वा सुम्ने = बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने" (वा० ४।२१)। "प्रजापतिः त्वा सादयतु = प्रजापतिष्ट्वा सादयतु" (वा० १३।?७)। सकारपर इति किम्? "विष्णुस्त्वा क्रमताम्" (वा० १।९)। "सवितुस्त्वा प्रसवे" (वा० १।३१) ॥ ७७ ॥

उ० अ०—सकार है वाद में जिस एक अक्षर वाले (पद) से वह वैसा कहा गया (= सकारपर) है। वह (= **सकारपरे** सकार है वाद में जिससे ऐसा) एक अक्षर वाला (पद) वाद में होने पर; (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) पूर्ववर्ती पदों के विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है। जैसे—"बृहस्पतिः त्वा सुम्ने = बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने"। "प्रजापतिः त्वा सादयतु = प्रजापतिष्टवा सादयतु"। सकार है वाद में जिसके ऐसा (एकाक्षर पद) वाद में होने पर-यह क्यों (कहा)? "विष्णुस्त्वा क्रमताम्"। "सवितुस्त्वा प्रसवे" ॥

अ०—सकारः परः यस्मात्तत् सकारपरं तस्मिन् एकाक्षरे परे सकारः षत्वमेति। "बृहस्पतिः त्वा सुम्ने = बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रण्वातु"। "प्रजापतिष्ट्वा सादयतु"। सकारपरे किम्? "विष्णुस्त्वा क्रमताम्"। "सवितुस्त्वा क्रमताम्" ॥ ७७ ॥

मातृभिरर्चिभिः पायुभिर्वरुत्रीः ॥ ७८ ॥

सू० अ०—मातृभिः, अर्चिभिः, पायुभिः, वरुत्रीः (का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है)।

उ०—**मातृभिः अर्चिभिः पायुभिः वरुत्रीः** एतेषां च पदानां विसर्जनीय-सकारः षकारमापद्यते एकाक्षरे प्रत्यये। मातृभिः यथा—"मातृभिः त्वम् = मातृभिष्ट्वम्" (वा० १२।३८)। अर्चिभिः यथा—"अर्चिभिः त्वम् = अर्चिभिष्ट्वम्" (वा० १२।३२)। पायुभिर्यथा—"पायुभिः त्वम् = पायुभिष्ट्वम्" (वा० ३३।८४)। वरुत्रीः यथा—"वरुत्रीः त्वा = वरुत्रीष्ट्वा देवीः" (वा० ११।६१) ॥ ७८ ॥

उ० अ०—**मातृभिः, अर्चिभिः, पायुभिः, वरुत्रीः**—इन पदों के विसर्जनीय का सकार षकार हो जाता है, एक अक्षर वाला (पद) बाद में होने पर।"'।

अ०—एतच्चतुष्टयविसर्जनीयसकारः षत्वमेति। परश्च मूर्धन्यमापद्यते एकाक्षरे

पदे परे। यथा-"मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्"। "शिवेभिरर्चिभिष्ट्वम्"। "सवित पायुभिष्ट्वं शिवेभिः"। "वरुत्रीष्ट्वा देवीः" ॥ ७८ ॥

षात्तथौ मूर्धन्यम् ॥ ७९ ॥

सू० अ०--षकार से परवर्ती तकार और थकार मूर्धन्य (हो जाते हैं)।

उ०--(षात् =) षकारात् परौ; (तथौ =) तकारथकारौ, **मूर्धन्यमा-**पद्येते। "विकारी यथासन्नम्" (१।१४२) इति परिभाषितत्वात् तकारस्य टकारः, थकारस्य ठकारः। यथा-"वरुत्रीष्ट्वा" (वा० ११।६१)। "कृष्णोऽस्याखरेष्ठः" (वा० २।१) ॥ ७९ ॥

उ० अ०--(**षात्तथौ =**) षकार से परवर्ती तकार और थकार **मूर्धन्य** हो जाते हैं। "विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण समीपता के अनुसार विकार को प्राप्त करता है" यह परिभाषा होने से तकार का टकार (होता है), थकार का ठकार (होता है)। जैसे-(वरुत्रीः त्वा=) "वरुत्रीष्ट्वा"। (आखरे स्थः=) "आखरेष्ठः"।

अ०--षकारात्परौ तकारथकारौ मूर्धन्यमापद्येते। "विकारी यथासन्नम्" इति परिभाषितत्वात् तकारस्य टकारः थकारस्य ठकार इत्यर्थः। सर्वशेषोऽयम्। उक्तान्येवो-दाहरणानि। परश्च मूर्धन्यमिति सिद्धेऽपि शिष्यानुग्रहार्थं पुनर्वचनम् ॥ ७९ ॥

प्रकृत्या नानापदस्थे तकारे ॥ ८० ॥

सू० अ०--(अधोलिखित स्थलों में एक पद में सकार) प्रकृतिभाव से (= अविकृत) (रहता है)। पृथक् पद में स्थित होने पर (तो प्रकृतिभाव तभी होगा जब) तकार बाद में हो।

उ०--इत उत्तरं **प्रकृत्या** सकारो भविष्यति समानपदस्थः। (**नानापदस्थे=**) नानापदस्थस्तु; यः प्रकृतिभावः स **तकारे** प्रत्येतव्यः। अपवादसूत्रमेतत् ॥ ८० ॥

उ० अ०--इसके बाद में एक पद में स्थित सकार; **प्रकृत्या** = प्रकृतिभाव से (= अविकृत); रहेगा। (**नानापदस्थे =**) पृथक् पद में स्थित तो; जो प्रकृतिभाव है उसे; (**तकारे =**) तकार बाद में होने पर; जानना चाहिए। यह अपवाद-सूत्र है।

अ०--इतः परं समानपदस्थोऽपि सकारः प्रकृत्या स्यात्। नानापदस्थे तु यः प्रकृतिभावः स तकारे परे ज्ञातव्यः। अपवादसूत्रमेदत् ॥ ८० ॥

उदाहरणद्वारा तदेव दर्शयति--

अनुसन्तनोतु बृहस्पतिसुतस्य सुसमिद्धाय सुसन्दृशमभिसत्वाभिसंविशन्तु सुसस्या अतिस्थूलम्मुसले पत्नीसंयाजान् क्रतुस्थलाञ्जिसक्थो दिविस्पृशा हृदिस्पृशं हिंसीर्ऋक्सामयोर्ऋक्सामाभ्यां तित्तिरिः सीसेन सीसाः सीसम्पशुसनि गोसनि प्रतिसद्दङ् प्रतिसद्दक्षासश्चतुस्त्रिंशत् ॥ ८१ ॥

सू० अ०—अनुसन्तनोतु, बृहस्पतिसुतस्य, सुसमिद्धाय, सुसन्दृशम्, अभि सत्वा, अभि संविशन्तु, सुसस्याः, अतिस्थूलम्, मुसले, पत्नीसंयाजान्, क्रतुस्थला, अञ्जिसक्थः, दिविस्पृशाः, हृदिस्पृशम्, हिंसीः, ऋक्सामयोः, ऋक्सामाभ्याम्, तित्तिरिः, सीसेन, सीसाः, सीसम्, पशुसनि, गोसनि, प्रतिसद्दङ्, प्रतिसद्दक्षासः, चतुस्त्रिंशत् (इनके सकार प्रकृतिभाव से होते हैं)।

उ०—अनुसन्तनोतु, बृहस्पतिसुतस्य, सुसमिद्धाय, सुसन्दृशम्, अभि सत्वा, अभि संविशन्तु, सुसस्याः, अतिस्थूलम्, मुसले, पत्नीसंयाजान्, क्रतुस्थला, अञ्जिसक्थः, दिविस्पृशाः, हृदिस्पृशम्, हिंसीः, ऋक्सामयोः, ऋक्सामाभ्याम्, तित्तिरिः, सीसेन, सीसाः, सीसम्, पशुसनि, गोसनि, प्रतिसद्दङ्, प्रतिसद्दक्षासः, चतुस्त्रिंशत्—एते सकाराः प्रकृत्या भवन्ति। सकारः षकारं प्राप्नोति स निषिध्यत इति सूत्रार्थः। इदानीमुदाहरणानि दीयन्ते—अनुसन्तनोतु यथा—"इदं मे कर्मेदं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनोतु"। बृहस्पतिसुतस्य यथा—"बृहस्पतिसुतस्य देव" (वा० ८।९)। सुसमिद्धाय यथा—"सुसमिद्धाय शोचिषे" (वा० ३।२)। सुसन्दृशं यथा—"सुसन्दृशन्त्वा वयम्" (वा० ३।५२)। अभि सत्वा यथा—"अभि वीरो अभि सत्वा सहोजाः" (वा० १७।३७)। अभि संविशन्तु यथा—"इन्द्रमिव देवा अभि संविशन्तु" (वा० १३।२५)। सुसस्याः यथा—"सुसस्याः कृषीस्कृधि" (वा० ४।१०)। अतिस्थूलं यथा—"अतिस्थूल चातिकृशं च" (वा० ३०।२२)। मुसले यथा—"उलूखलमुसले"। पत्नीसंयाजान् यथा—"शंयुना पत्नीसंयाजान्" (वा० १९।२९)। क्रतुस्थला यथा—"पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला च" (वा० १५।१५)। अञ्जिसक्थो यथा—"शितिकक्षोऽञ्जिसक्थः" (वा० २४।४)। दिविस्पृशा यथा—"घृतप्रतीको बृहता दिविस्पृशा" (वा० १५।२७)। हृदिस्पृशं यथा—"क्रतुन्न भद्रं हृदिस्पृशम्" (वा० १५।४४)। एतेषां पदानां सकारो भाव्युपधत्वात् षत्वं प्राप्नोति। तस्यैतेन प्रकृतिभावः। हिंसीः यथा—"स्वधिते मैनं हिंसीः" (वा० ८।१)। "अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात्" (३।५७) इति प्राप्तिः। ऋक्सामयोः यथा—"ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः" (वा० ४।९)। ऋक्सामाभ्यां यथा—"ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः" (वा० ४।१)। "करेफाभ्यां च" (३।५८) इति प्राप्तिः। तित्तिरिः यथा—"तित्तिरिस्ते सर्पाणाम्" (वा० २४।३६)। "एकाक्षरे"

(३।७६), "सकारपरे च" (३।७७) इति प्राप्तिः। इदमर्थेन च "नानापदस्थे तकारे" (३।८०) इति सूत्रावयवः कृतः। अन्यथा तित्तिरिपदे सकारो न विद्यत इति मोहः स्यात्। सीसेन यथा—"सीसेन तन्त्रं मनसा" (वा० १६।८०)। सीसाः यथा—"रजता हरिणीः सीसा युजो युज्यन्ते" (वा० २३।३७)। सीसं यथा – "सीसञ्च मे" (वा० १८।१३)। पशुसनि यथा—"प्रजासनि पशुसनि" (वा० १६।४८)। गोसनि यथा—"यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुषः" (वा० ८।१२)। प्रतिसदृङ् यथा—"सदृङ् च प्रतिसदृङ् च" (वा० १७।८१)। प्रतिसदृक्षासः यथा—"प्रतिसदृचास एतन" (वा० १७।८४)। चतुस्त्रिंशत् यथा-"चतुस्त्रिंशद्वाजिनः" (वा० २५।४१)। न चात्र भाविः विसर्जनीयव्यवहितः। अतो नैवेह षत्वशङ्का। किमनेन सूत्रावयवेनेति ? एवन्तर्हि येऽन्येऽपि चतुश्शब्दविसर्जनीयव्यवहितास्तेषां षत्वार्थम्। यथा—"चतुः स्तोमः= "चतुष्टोमः" (वा० १४।२५) ॥ ८१ ॥

उ० अ०—अनुसन्तनोतु······चतुस्त्रिंशत्—इनके सकार प्रकृतिभाव से रहते हैं। (पूर्ववर्ती सूत्रों के अनुसार) सकार षकार को प्राप्त करता है, वह (इस सूत्र से) निषिद्ध किया जाता है-यह सूत्र का अर्थ है। अब उदाहरण दिये जाते हैं···। "एक अक्षर वाला पद बाद में होने पर वायुः, अग्निः और अग्नेः का विसर्जनीय-सकार षकार हो जाता है": "सकार है बाद में जिसके ऐसा एकाक्षर पद बाद में होने पर पूर्ववर्ती पद का विसर्जनीय षकार हो जाता है" इन (सूत्रों) से (षत्व) की प्राप्ति थी। और इसी (स्थल = तित्तिरिः) के लिए (३।८० में) "पृथक् पद में स्थित होने पर तो प्रकृतिभाव तभी होगा जब तकार बाद में हो" इस सूत्रावयव का निर्माण किया गया। ऐसा न करने पर 'तित्तिरि' पद में सकार नहीं है' (तब निषेध कैसा) यह भ्रम हो जाता।···।

अ०—एतेषु षड्विंशतिः सकाराः प्रकृत्या स्युः। "भाविभ्यः सः षं समानपदे" तस्यायमपवादः। क्रमेणोदाहरणानि—"वीर्यं पुत्रोऽनु सन्तनोतु"। "उपयामं गृहीतोऽसि वृहस्पतिसुतस्य ते"। "सुसमिद्धाय शोचिषे"। "सुसन्दृशं त्वा वयम्"। "अभि वीरो अभि सत्वा सहोजाः"। "देवा अभि संविशन्तु"। "योनिरसि सुसस्याः कृषीः"। "अति स्थूलं चातिकृशं च"। "उलूखलमुसले"। "शंयुना पत्नीसंयाजान्"। "पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला च"।"शितिकक्षोञ्झिसक्थस्त ऐन्द्राग्नाः"। "घृतप्रतीको वृहता दिविस्पृशा"। "क्रतुं न भद्रं हृदिस्पृशम्"। "स्वधिते मैनं हिंसीः"। "अनुस्वाराच्च तत्पूर्वात्" इति प्राप्तस्यापवादः। "ऋक्सामयोः शिल्पे स्थः"। "ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तः"। अत्र "ककारेफाभ्यां च" इति प्राप्तिः। "तित्तिरिस्ते सर्पाणाम्"। अत्र "एकाक्षरे", "सकारपरे च" इति प्राप्तिः। तस्यापवादः। "सीसेन तन्त्रं मनसा"। "हरिणीस्सीसा युजः"। "सीसं च मे त्रपु च मे"। "प्रजासनि पशुसनि"। "भक्षो यो गोसनिः" "सदृङ् च प्रतिसदृङ्

च"। "सदृक्षासः प्रतिसदृक्षास एतन"। "चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोः"। परकीयमेतत्। चतुस्त्रिंशदिति किम् ? "धत्रं चतुष्टोमः" ॥ ८१ ॥

ऋकाररेफारुदयश्च ॥ ८२ ॥

सू॰ अ॰—ऋकार, रेफ और अर् है बाद में जिसके वह (सकार अविकृत रहता है)।

उ॰—(ऋकाररेफारुदयः=) ऋकारोदयो रेफोदयः अरुदयः; च सकारः प्रकृत्या भवति। ऋकारोदयः यथा—"तिसृभिरस्तुवत" (वा॰ १४।२८)। रेफोदयः यथा—"तिस्रश्च मे" (वा॰ १८।२४)। अरुदयः यथा—'वाचो विसर्जनम्" (वा॰ १।१५)॥ ८२॥

उ॰ अ॰—(ऋकाररेफारुदयश्च=) ऋकार बाद में होने पर, रेफ बाद में होने पर और अर् बाद में होने पर; सकार प्रकृतिभाव से रहता है।…।

अ॰—ऋकाररेफार्परः सकारः अतथाभूतश्च सकारः प्रकृत्या स्यात्। ऋकारपरो यथा—"तिसृभिरस्तुवत"। रेफपरो यथा—"तिस्रश्च मे"। अर्परो यथा—'वाचो विसर्जनम्" ॥ ८२ ॥

पृथिविदिव्युपरिचर्षणिशकुनियासिभ्यः ॥ ८३ ॥

सू॰ अ॰—पृथिवि, दिवि, उपरि, चर्षणि, शकुनि और यासि से (बाद में स्थित सकार अविकृत रहता है)।

उ॰—पृथिवि दिवि उपरि चर्षणि शकुनि यासि एतेभ्यो भाविभ्यः परः सकारः प्रकृत्या भवति संहितायाम्। पृथिवि यथा—"पृथिविसदन्त्वा" (वा॰ ६।२)। दिवि यथा—"दिविसदं देवसदम्" (वा॰ ६।२)। उपरि यथा—"उपरिसदो दुवस्वन्तः" (वा॰ ९।३६)। चर्षणि यथा—"चर्षणीसहां वेत्तु" (वा॰ २८।१)। शकुनि यथा—"शकुनिसादेन" (वा॰२५।३)। यासि यथा—"अवयासिसीष्ठाः" (वा॰ २१।३) ॥८३॥

उ॰ अ॰—(पृथिवि…यासिभ्यः =) पृथिवि, दिवि, उपरि, चर्षणि, शकुनि, यासि—इन भावि (-पदों) (अर्थात् भावि-स्वरान्त इन पदों) से बाद में स्थित; सकार प्रकृतिभाव से रहता है, संहिता में।…।

अ॰—पृथिव्यादिभ्यो भाविभ्यः परः सकारः प्रकृत्या स्यात्। यथा—"पृथिविसदं त्वा"। "दिविसदम्"। "उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः"। "उपरिसदो दुवस्वन्तः"। "चर्षणीसहां वेत्तु"। "बृहस्पतिं शकुनिसादेन"। "अवयासिसीष्ठाः" ॥ ८३ ॥

ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे ॥ ८४ ॥

सू॰ अ॰—एक पद में ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती नकार णकार (हो जाता है)।

उ०—(ऋषरेफेभ्यः=) ऋषकाररेफेभ्यः; उत्तरो नकारो णकारमापद्यते समानपदे । ऋकाराद्भवति यथा–"नृणाम्" (वा० ११।२७) । षकाराद्भवति यथा–"पूष्णः" (वा० १ । १०) । रेफाद्भवति यथा–"पूर्णा" (वा० ३।४६) । एते प्रत्ययनकाराः ऋषरेफेभ्य उत्तराः सन्तो णकारमापद्यन्ते । अयं तावत्सूत्रार्थो व्याकरण-विषयप्रदर्शनार्थं क्रियते ॥ ८४ ॥

उ० अ० – (ऋषरेफेभ्यः =) ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती; नकार णकार हो जाता है; समानपदे = एक पद में । ऋकार से बाद में होता है जैसे– "नृणाम्" । षकार से बाद में होता है जैसे–"पूष्णः" । रेफ से बाद में होता है जैसे– "पूर्णा" । प्रत्ययों के ये नकार ऋकार, षकार, और रेफ से परवर्ती होने से णकार हो जाते हैं । यह सूत्रार्थ व्याकरण के विषय को दिखलाने के लिए किया जाता है ।

अ०—ऋकारषकाररेफेभ्यः परो नकारः णकारमापद्यते समानपदे । यथा—"नृणां नृपते पितॄणां सोमवताम्" । "पूष्णो हस्ताभ्याम्"। "पूर्णं च मे" ॥ ८४ ॥

स्वरयवहकपैश्च ॥ ८५ ॥

सू० अ०—स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग और पवर्ग से (व्यवहित) भी (नकार णकार हो जाता है) ।

उ०—(स्वरयवहकपैः =) स्वरैर्यकारवकारहकारैः कवर्गपवर्गाभ्याम्; च व्यवहितो नकारः ऋषरेभ्य उत्तरो णकारमापद्यते संहितायाम् । यथा–"नृमनाः = तृतीयमप्सु नृमणाः" (वा० १२।१८) । "पुरीषवाहनः = अग्ने पुरीषवाहणः" (वा० ११।४४) । "प्रवाहनः = विभूरसि प्रवाहणः" (वा० ५।३१) । ऋषरेभ्य इति किम् ? "वह्निरसि हव्यवाहनः" (वा० ५।३१) । समानपद इति किम् ? "प्र नो यच्छत्वर्यमा" (वा० ९।२९) ॥ ८५ ॥

उ० अ०—ऋकार, षकार और रेफ से बाद में स्थित नकार; (स्वरयवह-कपैश्च =) स्वरों के द्वारा, यकार, वकार, हकार के द्वारा और कवर्ग, पवर्ग के द्वारा; व्यवहित होने पर भी, णकार हो जाता है, संहिता में । जैसे–"नृमनाः = तृतीय-मप्सु नृमणाः" । "पुरीषवाहनः = अग्ने पुरीषवाहणः" । "प्रवाहनः = विभूरसि प्रवाहणः" । ऋकार, षकार और रेफ से बाद में–यह क्यों (कहा) ? "वह्निरसि हव्यवाहनः" । एक पद में–यह क्यों (कहा) ? "प्र नो यच्छत्वर्यमा" ।

अ०—स्वरैः यकारवकारहकारैः कवर्गपवर्गाभ्यां च व्यस्तैः समस्तैर्वा व्यवहितो नकारः णत्वमेति । यथा क्रमेणोदाहरणानि—"तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रम्" । "अग्नेः पुरीषवाहणः" । "विभूरसि प्रवाहणः" । ऋषरेभ्यः इत्येव । "वह्निरसि हव्यवाहनः" । समानपदे किम् ? "प्र नः = प्र नो यच्छत्वर्यमा" ॥ ८५ ॥

निषण्णाय रथवाहणमिन्द्र एणम्परिणीयते समिन्द्र णा उरुष्या णो रक्षा णः षू णः षु णः षु णासत्या स्वर्णास्थूरि णौ प्र ण आयूंषि ॥८६॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में नकार निपातन से णकार होता है—) निषण्णाय, रथवाहणम्, इन्द्र एणम्, परिणीयते, समिन्द्र णः, उरुष्या णः, रक्षा णः, षू णः, षु णः, षु णासत्या, स्वर्ण, अस्थूरि णौ, प्र ण आयूंषि ।

उ०—निषण्णाय, रथवाहणम, इन्द्र एणम, परिणीयते, समिन्द्र णः, उरुष्या णः, रक्षा णः, षू णः, षु णः, षु णासत्या, स्वर्ण, अस्थूरि णौ, प्र ण आयूंषि एते च णकारा निपात्यन्ते । यदत्र लक्षणेनानुपपन्नं तत्सर्वं निपातनात्सिद्धम् । यथा निषण्णाय अत्र द्वयोर्नकारयोर्णत्वं निपात्यते । प्रथमस्य "तवर्गे च" (४।९३) इति निषेधः । उत्तरस्य तु नकारव्यवहितत्वात् । नकारश्च स्वरयवहकपां मध्ये न पठ्यते । निषण्णाय यथा—"निषण्णाय स्वाहोत्थिताय" (वा० २२।८) । रथवाहणं यथा—रथवाहनम् । थकारेण व्यवधानादप्राप्तिः, अतो निपात्यते "रथवाहणं हविरस्य नाम" (वा० २९।४५) । इन्द्र एणं यथा—इन्द्र एनम् । इत उत्तरमसमानपदत्वादप्राप्तं णत्वं निपात्यते । "इन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्" (वा० २९।१३) । परिणीयते यथा—"परि नीयते = सो अध्वराय परिणीयते कविः" (वा० ३३।७५) । समिन्द्र णः यथा—"इन्द्र नः = समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः" (वा० ८।१५) । उरुष्या णः यथा—"उरुष्या नः = उरुष्या णो अघायतः समस्मात्" (वा० ३।२६) । रक्षा णः यथा—"रक्ष नः = रक्षा णो ब्रह्मणस्पते" (वा० ३।३०) । षू णः यथा—"षू नः = मो षू ण इन्द्रात्र" (वा० ३।४६) । षु णः यथा—"अभीषु नः=अभीषु णः सखीनाम्" (वा० २७।४१) । षु णासत्या यथा—"गोमदूषु नासत्या = गोमदूषु णासत्या" (वा० २०।८१) । स्वर्ण यथा—"स्वः नः = स्वर्ण घर्मः स्वाहा" (वा० १८।५०) । अस्थूरि णौ यथा—"अस्थूरि नौ = अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" (वा० २।२७) । प्र ण आयूंषि यथा—"प्र नः आयूंषि = प्र ण आयूंषि तारिषत्" (वा० २३।३२) । आयूंषीति किम् ? "भग प्र नो जनय गोभिः" (वा० ३४।३६) ॥ ८६ ॥

उ० अ०—निषण्णाय ''' प्र ण आयूंषि इनके णकार निपातन से होते हैं। यहाँ जो लक्षण से उपपन्न नहीं होता है वह सब निपातन से सिद्ध होता है। जैसे—निषण्णाय—यहाँ दो नकारों का णत्व निपातन से होता है। प्रथम (नकार के णत्व) का "तवर्ग बाद में होने पर" इस (सूत्र) से निषेध (होता है) । परवर्ती (=दूसरे) (नकार) के (णत्व) का तो नकार से व्यवहित होने से (निषेध होता है) । क्योंकि (३।८६ में उल्लिखित) स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग और पवर्ग के मध्य में नकार पठित नहीं है। निषण्णाय जैसे '''।

अ०—एते त्रयोदशनकारा णत्वमाप्नुवन्ति। क्रमेणोदाहरणानि—"शूक्ताय स्वाहा निषण्णाय स्वाहा"। अत्रैकपदत्वेन सिद्धोऽपि तवर्गे चेति निषिद्धत्वात् पुनः प्रसूयते। "प्रस्थावद्रथवाहणम्"। अत्रापि थकारेण व्यवधानादप्राप्तिः। अत एक-पदत्वेऽपि निपात्यते। उत्तरत्रासमानपदार्थमारम्भः। "इन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्"। "सो अध्वराय परिणीयते"। "समिन्द्र णो मनसा"। "उरुष्या णो अघायतस्समस्मात्"। "रक्षा णो ब्रह्मणस्पते"। "मो षू ण इन्द्रात्र"। "अभी षु णः सखीनाम्"। "गोमदू-षु णासत्या"। "स्वर्णं घर्मः स्वाहा"। "अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु"। "प्र ण आयूंषि तारिषत्"। प्र ण आयूंषीति किम्? "प्र नो जीवातवे सुव"॥ ८६॥

परि ण इति शाकटायनः ॥ ८७॥

सू० अ०—परि णः (में निपातन से णत्व होता हैं)—शाकटायन के मत से।

उ०—परि ण इति निपात्यते; (शाकटायनः =) शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। यथा—"परि नः = परि णो रुद्रस्य हेतिः" (वा० १६।५०)। शाकटायन इति किम्? "परि नो रुद्रस्य हेतिः" (वा०१६।५०)॥ ८७॥

उ० अ०—परि णः—यह निपातन से होता हैं; (शाकटायनः =) शाक-टायन आचार्य के मत से।...।

अ०—एतन्निपात्यते। शाकटायनाचार्यग्रहणं विकल्पार्थम्। सोऽपि व्यवस्थितः काण्वादेर्भवति न माध्यन्दिनानामिति। यथा—"परि णो रुद्रस्य हेतिः"। शाकटायनः किम्? "परि नो रुद्रस्य हेतिः"॥ ८७॥

प्र नेतिनुदातिहिनोमीनाम् ॥ ८८॥

सू० अ०—प्र से परवर्ती नी, नुद् तथा हिनोमि का (नकार णकार हो जाता है)।

उ०—प्रपूर्वाणां नेति नुदाति हिनोमि एषां शब्दरूपाणां नकारो णकारमा-पद्यते संहितायाम्। अत्र नेतिनुदात्योर्धातुग्रहणम्। अतः सर्वप्रत्ययान्तयोर्भवति। हिनोतेस्तु विकरणनिर्देशाद्यत्र विकरणं तत्रैव भवति। नेति यथा—"प्रनय = प्रणय देवा-व्यम्" (वा० ११।८)। नुदाति यथा—"प्रनुदा नः=अग्ने जातान् प्रणुदा नः" (वा०१५।१)। हिनोमि यथा—"प्र हिनोमि = क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि" (वा० ३५।१६)॥ ८८॥

उ० अ०—प्र है पूर्व में जिनके ऐसे; (नेतिनुदातिहिनोमीनाम् =) नी, नुद् और हिनोमि—इन शब्दों के रूपों का; नकार णकार हो जाता है, संहिता में। यहाँ पर नेति और नुदाति इन धातुओं का ग्रहण (किया गया है)। इसलिए सब प्रत्ययों में अन्त होने वाली (नी और नुद् धातुओं) का (नकार णकार) होता हैं। हि का

विकरण (श्नु) के द्वारा निर्देश होने से जहाँ विकरण होता है वहाँ पर ही (नकार-णकार) होता है।…।

अ०—प्रपूर्वाणामेषां नकारः णत्वमाप्नोति। अत्र नेतिनुदात्योरिति धात्वोर्ग्रहणम्। तेन सर्वप्रत्ययान्तत्वेऽपि भवति। हिनोतेर्विकरणनिर्देशात्तन्मात्रग्रहणमिति विवेकः। यथा—"यज्ञं प्रणय देवाव्यम्"। "अग्ने जातान् प्रणुदा नः"। "अग्निष्टाल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्"। "क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरम्" ॥ ८८ ॥

प्रकृत्या पदान्तीयः ॥ ८९ ॥

सू० अ०—पद के अन्त में स्थित (नकार) प्रकृतिभाव से (रहता है)।

उ०—पदान्तीयो नकारो हल् प्रकृत्या भवति। "समानपदे" (३।८४) इति प्राप्तिः। यथा—"पितृन् हविषे अत्तवे" (वा० १९।७०)। "पूषन् तव व्रते वयम्" (वा० ३४।४१)। "अक्रन् कर्म कर्मकृतः" (वा० ३।४७) ॥ ८९ ॥

उ० अ०—पदान्तीयः = पद के अन्त में स्थित; नकार व्यञ्जन; प्रकृत्या = प्रकृतिभाव से; रहता है। "एक पद में" इस (सूत्र) से (णकार की) प्राप्ति है।…।

अ०—पदान्तीयनकारः प्रकृत्या स्यात्। यथा—"अक्रन् कर्म"। समानपदेन प्राप्तस्यापवादः ॥ ८९ ॥

नि वनि नसः प्रपीनम् ॥ ९० ॥

सू० अ०—नि, वनि, नसः और प्रपीनम् (का नकार प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—नि, वनि, नसः, प्रपीनम्, एते नकाराः प्रकृत्या भवन्ति। "समानपदे" (३।८४) इति प्राप्तिः। नि यथा—"कृष्णा बभ्रु नीकाशाः" (वा० २४।१८)। वनि यथा-"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि" (वा० १।१७)। नसः यथा—"वार्ध्रीनसस्ते मत्या अरण्याय" (वा० २४।३९)। प्रपीनं यथा—"अपाम्प्रपीनमग्ने" (वा० १७।८७) ॥९०॥

उ० अ०—नि, वनि, नसः, प्रपीनम—इनके नकार प्रकृतिभाव से रहते हैं। "एक पद में" इससे (णकार की) प्राप्ति है।…।

अ०—एषां नकारः प्रकृत्या स्यात्। नि यथा—"कृष्णा बभ्रु नीकाशाः"। वनि—"ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि।" नसः—"वार्ध्रीनसस्ते"। प्रपीनम्—"अपां प्रपीनमग्ने"। अत्राप्येकपदत्वेन प्राप्तस्यापवादः ॥ ९० ॥

श्रीमना इत्येके ॥ ९१ ॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के अनुसार श्रीमनाः (का नकार प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ० - अयं च नकारः प्रकृत्या भवति एकेषामाचार्याणां मतेन । यथा—"श्रीमनाः शतपयाः" (वा० १७।५६) । एकेषामिति किम् ? "श्रीमणाः शतपयाः" ॥ ९१ ॥

उ० अ०—(श्रीमनाः) इसका नकार भी प्रकृतिभाव से रहता है—कतिपय आचार्यों के मत से ।""।

अ०—अयं नकारः प्रकृत्या स्यादिति एके आचार्याः मन्यन्ते । यथा "देवश्रीः श्रीमनाश्शतपयाः" । एके किम् ? "देवश्रीः श्रीमणाश्शतपयाः" इति काण्वपाठे णत्वमेव । एकशब्दोऽत्र एकदेशवाची ॥ ९१ ॥

इन्द्राग्नी चित्रभानो वार्त्रघ्नं दुःष्वप्न्यं ध्रुवयोनिः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्याश्चर्मम्नम् ॥ ९२ ॥

सू० अ०—इन्द्राग्नी, चित्रभानो, वार्त्रघ्नम्, दुःष्वप्न्यम्, ध्रुवयोनिः, पुरोऽनुवाक्याभिः, पुरोऽनुवाक्याः और चर्मम्नम् (इनका नकार प्रकृतिभाव से रहता है) ।

उ०—**इन्द्राग्नी चित्रभानो वार्त्रघ्नं दुःष्वप्न्यम् ध्रुवयोनिः पुरोऽनुवाक्याभिः पुरोऽनुवाक्याः चर्मम्नम्** एते च नकाराः समानपद इति प्राप्तणकाराः प्रकृत्या भवन्ति। इन्द्राग्नी यथा—"इन्द्राग्न्योरुज्जितिम्" (वा० २।१५)। चित्रभानो यथा—"इन्द्रायाहिं चित्रभानो" (वा० २०।८७) । वार्त्रघ्नं यथा—"इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि" (वा० १०।८) । दुःष्वप्न्यं यथा—"अप दुःष्वप्न्यं सुव" (वा० ३५।११) । ध्रुवयोनिर्यथा—"ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिः" (वा० १४।१) । पुरोऽनुवाक्याभिः यथा—"ऋचः पुरोऽनुवाक्याभिः" (वा० २०।१२) । पुरोऽनुवाक्याः यथा—"पुरोऽनुवाक्या याज्याभिः" (वा० २०।१२) । चर्मम्नं यथा—"साध्येभ्यश्चर्मम्नम्" (वा० ३०।१५) ॥ ९२ ॥

उ० अ०—**इन्द्राग्नी""चर्मम्नम्**—इनके नकार भी, "एक पद में" इससे णकार प्राप्त होने पर, प्रकृतिभाव से रहते हैं ।"'।

अ०—एषां नकारः प्रकृत्या स्यात् । समानपदेन प्राप्तस्यापवादः । यथा—"इन्द्राग्नी आगतम्" । "इन्द्राग्न्योरुज्जितिम्" । "इन्द्रायाहि चित्रभानो" । "इन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि" । "अप दुःष्वप्न्यं सुव" । "ध्रुवक्षितिर्ध्रुवयोनिः" । "पुरोऽनुवाक्याभिः" । "पुरोऽनुवाक्याः" । "साध्येभ्यश्चर्मम्नम्" ॥ ९२ ॥

तवर्गे च ॥ ९३ ॥

सू० अ०—तवर्ग बाद में होने पर भी (नकार प्रकृतिभाव से रहता है) ।

उ०—**तवर्गे च** प्रत्यये ऋवर्णरेफेभ्य उत्तरो नकारः प्रकृत्या भवति । यथा—"तृम्पन्तु होत्राः" (वा० ७।१५) । "अवक्रन्देन तालु" (वा० २५।१) ॥ ९३ ॥

उ० अ०—तवर्गे च=तवर्ग (का कोई वर्ण) भी बाद में होने पर; ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती नकार प्रकृतिभाव से रहता है।...।

अ०—ऋषरेभ्यः परः नकारः प्रकृत्या स्यात् तवर्गे परे। यथा—"तृम्पन्तु होत्राः"। "अक्रन्ददग्निः"। "अवक्रन्देन तालु"। समानपदात्प्राप्तिः ॥ ९३ ॥

षादनन्तर ऋकारे ॥ ९४ ॥

सू० अ०—षकार से अव्यवहित परवर्ती (नकार), ऋकार बाद में होने पर, (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—(षात =) षकारात्; अनन्तरो नकार ऋकारे प्रत्यये प्रकृत्या भवति यथा—"उग्रस्त्वेषनृम्णः" (वा० ३३।८०) ॥ ९४ ॥

उ० अ०—(षात =) षकार से; अनन्तरः = अव्यवहित परवर्ती; नकार; ऋकारे = ऋकार बाद में होने पर, प्रकृतिभाव से रहता है।...।

अ०—षकारादनन्तरनकारः प्रकृत्या स्यात् ऋकारे परे। "यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः" ॥

शिलिसिवर्गमध्यमव्यवहितोऽपि ॥ ९५ ॥

सू० अ०—शकार, लकार, सकार और मध्यम वर्गों (= चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग) से व्यवहित भी (नकार प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—शकारलकारसकारव्यवहितः। वर्गाश्च ते मध्यमाश्च वर्गमध्यमाः चटतवर्गाः। तैश्च व्यवहितो नकार ऋषरेभ्य उत्तरः प्रकृत्या भवति। शकारव्यवहितो यथा—"दृशानो रुक्मः" (वा० १२।१)। "सम्राडसि कृशानुः" (वा० ५।३२)। लकारव्यवहितः यथा—"निर्ऋतिनिर्ज्जल्येन" (वा० २५।२)। सकारव्यवहितः यथा—"अपां रसेन वरुणः" (वा० १९।९४)। चवर्गव्यवहितः यथा—"प्राचीनं ज्योतिः" (वा० २०।४२)। "अन्तश्चरति रोचना" (वा० ३।७)। टवर्गव्यवहितः यथा—"त्रैष्टुभेन छन्दसा" (वा० ११।९)। "अनुष्टुभेन छन्दसा" (वा० ११।११)। तवर्गव्यवहितो यथा—"रथिनो जयन्तु" (वा० २९।५७)। "आर्त्नी इमे"। (वा० २९।४१)। ननु "शिलिसिवर्गमध्यमव्यवहितोऽपि" (३।९५) इत्यनेन सूत्रेण एतैर्वर्णैर्व्यवहित ऋषरेफेभ्य उत्तरो नकारः प्रकृत्या भवति समानपद इत्युक्तम्। तथा "ऋषरेफेभ्यो नकारो णकारं समानपदे" (३।८४)। "स्वरयवहकपैश्च" (३।८५) इत्यनेन एतैर्वर्णैर्व्यवहितोऽपि नकारो णकारमापद्यते समानपदे इत्युक्तम्। एवं य एव स्वरयवहकपव्यतिरिक्ता वर्णास्त एव शिलिसिवर्गमध्यमाः। अतोऽनेन सूत्रेण न प्रयोजनम्। एवन्तर्हि उभयथा लक्षणानुकथनं शिष्यबुद्धिव्युत्पादनार्थम् ॥ ९५ ॥

उ० अ०—(शिलिसिवर्गमध्यमव्यवहितोऽपि =) शकार, लकार, सकार से व्यवहित, जो वर्ग भी हैं और मध्यम भी हैं वे = वर्गमध्यम = चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग,

उनसे भी व्यवहित; नकार ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती होने पर प्रकृतिभाव से रहता है। शङ्का—"शकार, लकार, सकार और मध्यम वर्गों (= चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग) से व्यवहित भी नकार प्रकृतिभाव से रहता है" इस सूत्र के अनुसार इन वर्णों से व्यवहित होने पर ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती नकार एक पद में प्रकृतिभाव से रहता है—यह कहा गया है। उसी प्रकार "एक पद में ऋकार, षकार और रेफ से परवर्ती नकार णकार हो जाता है"। "स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग और पवर्ग से व्यवहित भी नकार णकार हो जाता है"। इस (सूत्र) के अनुसार इन वर्णों से व्यवहित भी नकार एक पद में णकार हो जाता है—यह कहा गया है। इस प्रकार जो स्वर, यकार, वकार, हकार, कवर्ग और पवर्ग से व्यतिरिक्त वर्ण हैं वे ही शकार, लकार, सकार और मध्यम वर्ग (चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग) हैं। अतः इस सूत्र (= ३।९५) से प्रयोजन नहीं है। इस प्रकार (कहते हो) तो (हमारा कहना है कि) दोनों प्रकार से लक्षण का कथन शिष्य की बुद्धि में बैठाने (समझाने) के लिए है।

अ०—वर्गाश्च ते मध्यमाश्च वर्गमध्यमाः इति विग्रहः। शकारलकारसकारैः मध्यमैश्चटतवर्गैश्च व्यवहितः नकारो ऋषरेभ्यः परश्चापि प्रकृत्या स्यात्। क्रमेणोदाहरणानि—शकारलकारसकारव्यवहितो यथा—"दृशानो रुक्मः"। निर्ऋतिर्निर्जल्येन"। "अपां रसेन"। चवर्गव्यवहितो यथा—"प्राचीनं ज्योतिः"। "अन्तश्चरति रोचना"। टवर्गव्यवहितो यथा—"त्रैष्टुभेन छन्दसा"। "अनुष्टुभेन छन्दसा"। तवर्गव्यवहितो यथा—"सविता रथेन तीर्थेन"। "आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती"। स्वरयवहकपैश्चेति नियमादेव सिद्धत्वात् आरम्भः किमर्थम्? उच्यते अनभिज्ञशिष्यप्रज्ञापनार्थत्वेन नियमादित्यदोषः॥९५॥

दीर्घम् ॥ ९६ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में ह्रस्व) दीर्घ (हो जाता है)।

उ०—"विसर्जनीयः" (३।६) इत्युपक्रम्य द्वयोर्व्यञ्जनयोः सन्धौ ये लोपागमवर्णविकारास्ते प्रतिपादिताः। अधुना स्वरस्य व्यञ्जनेन सह सन्धौ यः स्वरविकारः स उच्यते। ह्रस्वः स्वरो दीर्घं विकारमापद्यते। अधिकारसूत्रमेतत्॥ ९६॥

उ० अ०—"(अब) विसर्जनीय (की संधि का अधिकार किया जाता है)" इससे प्रारम्भ करके दो व्यञ्जनों की संधि होने पर जो लोप, आगम और वर्ण-विकार (होते हैं) वे प्रतिपादित किए जा चुके हैं। अब स्वर को व्यञ्जन के साथ संधि होने पर जो स्वर-विकार (होता है) उसे कहा जाता है। ह्रस्व स्वर दीर्घ रूप विकार को प्राप्त हो जाता है। यह अधिकार-सूत्र है।

अ०—ह्रस्वो दीर्घमापद्यते। अधिकारोऽयम्। इतः परं यदनुक्रमिष्यामः तत्र दीर्घं स्यादित्यधिक्रियत इत्यर्थः॥ ९६॥

अश्वरश्मिमतिसुमतिश्वसुतचारयघृणिसेदिमेन्द्रियधारयचित्र-भङ्गुरवयुनाश्वस्यहृदयघुष्यर्त्ताभ्यवताध्यर्चशक्तिपुरुशचि वकारे ॥९७॥

सू० अ०—अश्व, रश्मि, मति, सुमति, श्व, सुत, चारय, घृणि, सेदिम, इन्द्रिय, धारय, चित्र भङ्गर, वयुन, अश्वस्य, हृदय, घुष्य, ऋत, अभि, अवत, अधि, अर्च, शक्ति, पुरु, शचि (का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है), वकार बाद में होने पर।

उ०—अश्व रश्मि मति सुमति श्व सुत चारय घृणि सेदिम इन्द्रिय धारय चित्र भङ्गुर वयुन अश्वस्य हृदय घुष्य ऋत अभि अवत अधि अर्च शक्ति पुरु शचि एते ह्रस्वस्वरा वकारे प्रत्यये दीर्घमापद्यन्ते। अश्व यथा—"अश्वावतीं सोमावतीम्" (वा० १२।८१)। रश्मि यथा—"रश्मीवतीम्भास्वतीम्" (वा० १५।६३)। मति यथा—"प्रदेवाय मतीविदे" (वा० २२।१२)। सुमति यथा—"सुष्टुतिं सुमतीवृधः" (वा० २२।१२)। श्व यथा—"श्वाविद्भौमी" (वा० २४।३३)। सुत यथा—"विप्रजूतः सुतावतः" (वा० २०।८८)। चारय यथा—"समञ्जिञ्चारया वृषन्" (वा० २३।२१)। घृणि यथा—"उष्ट्रो घृणीवान्" (वा० २४।३९)। सेदिम यथा—"देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्" (वा० २५।१५)। इन्द्रिय यथा—"इन्द्रियावान्मदिन्तमः" (वा० ६।२७)। धारय यथा—"बृहस्पते धारया वसूनि" (वा० ६।८)। चित्र यथा—चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय" (वा० ३।१८)। भङ्गुर यथा—"हन्तारम्भङ्गुरावताम्" (वा० ११।२६)। वयुन यथा—"विहोत्रा दधे वयुनाविदेकः" (वा० ५।१४)। अश्वस्य यथा—"एकस्त्वष्टुरश्वस्या विशस्ता" (वा० २५।४२)। हृदय यथा—"उतापवक्ता हृदयाविधश्चित्" (वा० १८।२३)। घुष्य यथा—"परुष्परुरनुघुष्या विशस्त" (वा० २५।४१)। ऋत यथा-"ऋतावानम्महिषम्" (वा० १२।१११)। अभि यथा—"अभीवर्त्तः सविशो वर्चो द्राविंशः" (वा० १४।२३)। अवत यथा—"इदं मे प्रावता वचः" (वा० १२।८८)। अधि यथा—"अधीवासंय्या हिरण्यान्यस्मै" (वा० २५।३९)। अर्च यथा—"अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे" (वा० ३३।२३)। शक्ति यथा—"कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः" (वा० २९।४६)। पुरु यथा—"इमा उ त्वा पुरूवसो" (वा० ३३।८१)। शचि यथा—"शचीवसो" ॥ ९७ ॥

उ० अ०—अश्व… शचि इनके ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं; वकारे= वकार बाद में होने पर।…।

अ०—एते अश्वादयः पञ्चविंशति ह्रस्वाः दीर्घमापद्यन्ते। क्रमेणोदाहरणानि। "अश्ववतीम् = अश्वावतीम्"। "रश्मिवतीम् = रश्मीवतीम्"। "प्रदेवाय मतीविदे"। "सुमतीवृधः"। "श्वाविद्भौमी"। "विप्रजूतस्सुतावतः"। "समञ्जिञ्चारया वृषन्"।

"उष्ट्रो घृणीवान्"। "देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्"। "इन्द्रियावान्मदिन्तमः"। "धारया वसूनि"। "चित्रावसो"। "स्वस्ति ते भङ्गुरावताम्"। "वयुनाविदेकः"। "अश्वस्या विशस्ता"। परेषामिदम्। "हृदयाविधश्चित्"। "परुष्परुरनुघुष्या विशस्त"। इदमपि परेषाम्। "ऋतावानं महिषम्"। "अभीवर्त्तस्सविशः"। "इदं मे प्रावता वचः"। "अधीवासं या हिरण्यान्यस्मै"। इदमपि प्रकृतिदीर्घं वक्ष्यते। "अर्चा विश्वनराय"। "शक्तीवन्तो गभीराः"। परकीयमिदम्। इमा उ त्वा पुरूवसो। "शचीवसो"। परेषामिदम् ॥ ९७ ॥

नाश्ववद्धिरण्यात् ॥ ९८ ॥

सू० अ०—हिरण्य से परवर्ती अश्ववत् (का ह्रस्व स्वर दीर्घ नहीं होता है)।

उ०—अश्ववदित्येतत्पदं न दीर्घमापद्यते; (हिरण्यात् =) हिरण्यशब्दात्; यदि परं भवति। यथा—"आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्" (वा० ८।६३) ॥ ९८ ॥

उ० अ० – अश्ववत्—यह पद दीर्घ; न=नहीं; होता है, यदि; (हिरण्यात्=) हिरण्य शब्द से परवर्ती; होता है। जैसे—"आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्" ॥

अ०—हिरण्यशब्दात् परमश्वपदं न दीर्घमापद्यते। वकारे यथा—"आपवस्व हिरण्यवदश्ववत्"। परकीयमिदम्। अश्वेति पूर्वापवादः ॥ ९८ ॥

अभिविख्येषं वीर विश्व वत्स वृत्र वाजयन्तेषु ॥ ९९ ॥

सू० अ०—विख्येषम्, वीर, विश्व, वत्स, वृत्र और वाजयन्त बाद में होने पर अभि (का इकार दीर्घ नहीं होता है)।

उ०—अभीत्येतपदं विख्येषं वीर विश्व वत्स वृत्र वाजयन्त इत्येतेषु न दीर्घमापद्यते। विख्येषं यथा—"स्वरभिविख्येषम्" (वा० १।११)। वीर यथा—"अभिवीरो अभिसत्वा सहोजाः" (वा० १७।३७)। विश्व यथा—"इमां वाचमभि विश्वे गृणन्तः" (वा० २।१८)। वत्स यथा—"अभि वत्सन्न स्वसरेषु धेनवः" (वा० २६।११)। वृत्र यथा—"अभि वृत्रं वर्धमानं पियारुम्" (वा० १८।६९)। वाजयन्त यथा—"अश्याम वाजमभि वाजयन्तः" (वा० १८।७४) ॥ ९९ ॥

उ० अ०—(विख्येषं⋯वाजयन्तेषु =) विख्येषम्, वीर, विश्व, वत्स, वृत्र, वाजयन्त—ये बाद में होने पर; अभि—यह पद दीर्घ नहीं होता है।⋯।

अ०—अभीति पदं विख्येषमित्यादिषु पदेषु परेषु न दीर्घमापद्यते। पूर्वापवादः। "स्वरभिविख्येषम्"। "अभि वीरो अभि सत्वा"। "इमां वाचमभि विश्वे"। "अभि वत्सन्न स्वसरेसु धेनवः"। "अभिवृत्रं वर्धमानम्"। "अभि वाजयन्तः" ॥ ९९ ॥

अश्वस्य वाजिन इति च ॥ १०० ॥

सू० अ०—अश्वस्य वाजिनः—इस (द्विपद) में भी (दीर्घत्व नहीं होता है)।

उ०—अश्वस्य वाजिन इति च द्विपदस्य न पूर्वपदान्तो दीर्घमापद्यते । यथा—"अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः" (वा० २३।३७) ॥

उ० अ०—अश्वस्य वाजिन इति च = अश्वस्य वाजिनः इस द्विपद में भी; पूर्व-पद का अन्त (= अन्तिम स्वर) दीर्घ नहीं होता है। जैसे—"अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः" ॥

अ०—अश्वस्येति पदं न दीर्घमाप्नोति वाजिनशब्दे परे। यथा—"अश्वस्य वाजिनस्त्वचि सिमाः" ॥ १०० ॥

विश्व सहभुवपुषवसुषु ॥ १०१ ॥

सू० अ०—सह, भुव, पुष और वसु बाद में होने पर विश्व (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—विश्व इत्येतत् पदम्; (सहभुवपुषवसुषु =) सह इत्येतेषु प्रत्ययेषु; दीर्घमापद्यते। सह यथा—"विश्वासाहमवसे नूतनाय" (वा० ७।३६)। भुव यथा—"अर्चा विश्वानराय विश्वाभुवे" (वा० ३३।२३)। पुष यथा—"विश्वापुषं रयिम्" (वा० ३५।४५)। वसु यथा—"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः" (वा० २।३) ॥ १०१ ॥

उ० अ०—(सहभुवपुषवसुषु =) सह (इत्यादि)—ये बाद में होने पर; विश्व—यह पद दीर्घ हो जाता है।....।

अ०—विश्वपदं दीर्घमेति सहादिपरे। अपूर्वविधिरयम्। यथा—"विश्वासाहमवसे"। "विश्वानराय विश्वाभुवे"। "विश्वापुषं रयिम्"। परकीयमिदम्। "गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः" ॥ १०१ ॥

नरहामित्रेषु च ॥ १०२ ॥

सू० अ०—नर, हा और मित्र बाद में होने पर भी (विश्व का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—नरहामित्रेषु च प्रत्ययेषु विश्वशब्दो दीर्घमापद्यते। नर यथा—"अर्चा विश्वानराय" (वा० ३३।२३)। हा यथा—"विश्वाहा शर्म यच्छतु" (वा० १७।४८)। मित्र यथा—"विश्वामित्र ऋषिः" (वा० १३।५७)। पृथग्योगकरणं शिष्याणामवग्रहव्युदासप्रज्ञप्त्यर्थम्। अर्थव्याख्यानार्थं त्ववयवदर्शनम् ॥ १०२ ॥

उ० अ०—नरहामित्रेषु च=नर, हा और मित्र बाद में होने पर भी; विश्व शब्द दीर्घ हो जाता है। हा जैसे—"विश्वाहा शर्म यच्छत"। मित्र जैसे—"विश्वामित्र ऋषिः"।

पृथक् सूत्र का निर्माण शिष्यों को अवग्रह के निराकरण (निषेध) को बतलाने के लिए है।[क] अर्थ के व्याख्यान के लिए (पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा सावग्रह पदों के) अवयवों को दिखलाया जाता है।

अ०—एषु विश्वं पदं दीर्घमापद्यते। यथा—"विश्वानराय"। "विश्वाहा भेषजी"। "विश्वामित्र ऋषिः"। पृथग्योगकरणं अनवगृह्यप्रज्ञप्त्यर्थम् ॥ १०२ ॥

तिष्ठाद्युदात्तम् ॥ १०३ ॥

सू० अ०—आद्युदात्त तिष्ठ (पद) (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—तिष्ठेत्येतत्पदं दीर्घमापद्यते यद्याद्युदात्तं भवति। यथा—"तिष्ठा देवो न सविता" (वा० ११।४२)। "तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता" (वा० १०।२२)। आद्युदात्तमिति किम्? "आतिष्ठ वृत्रहन् रथम्" (वा० ८।३३)॥ १०३ ॥

उ० अ०—तिष्ठ—यह पद दीर्घ हो जाता है यदि आद्युदात्त होता है।...।

अ०—तिष्ठेति पदं दीर्घमापद्यते आद्युदात्तं चेद्भवति। "तिष्ठा देवः ऊतये"। "तिष्ठा देवो न सविता"। "तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता"। आद्युदात्तं किम्? "आतिष्ठ वृत्रहन् रथम्" ॥ १०३ ॥

प्र वणशृङ्गयासेषु ॥ १०४ ॥

सू० अ०—वन, शृङ्ग और यास बाद में होने पर प्र (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—प्र इत्येतत् पदं वन शृङ्ग यास इत्येतेषु प्रत्ययेषु दीर्घमापद्यते। वन यथा—"प्रा वणेभिः सजोषसः" (वा० १२।५०)। शृङ्ग यथा—"प्रा शृङ्गा माहेन्द्राः" (वा० २४।१७)। यास यथा—"प्रा यासाय स्वाहा" (वा० ४०।११)॥

उ०अ०—(वणशृङ्गयासेषु =) वन, शृंग और यास—ये बाद में होने पर; प्र—यह दीर्घ हो जाता है।...।

(क) ३।१०१ और ३।१०२ दोनों में ही विश्व के अकार के दीर्घ होने का विधान किया गया है। दो भिन्न सूत्रों के निर्माण का कारण यह है कि ३।१०१ के लक्ष्य पद—विश्वासाहम् इत्यादि—पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा पृथक् किये जाते हैं, जबकि ३।१०२ के लक्ष्य पद-विश्वानराय इत्यादि—पद-पाठ में अवग्रह के द्वारा पृथक् नहीं किये जाते हैं।

अ०—प्र इत्येतत्पदं वनभृङ्गयासेषु परेषु दीर्घमापद्यते। यथा—"प्रावणेभिस्स-जोषसः"। "प्रा भृङ्गा माहेन्द्राः"। "प्रा यासाय स्वाहा" ॥ १०४ ॥

नि वारहारयोरनवग्रहे ॥ १०५ ॥

सू० अ०—वार और हार बाद में होने पर नि (का इकार दीर्घ हो जाता है), यदि अवग्रह न हो।

उ०—नि इत्ययमुपसर्गो वारहारयोः प्रत्यययोर्दीर्घमापद्यते; (अनवग्रहे =) अवग्रहवर्जिते। वार यथा—"नीवाराश्च मे" (वा० १८।१२)। हार यथा—"नीहारेण प्रावृताः" (वा० १७।३१)। अवयवव्युत्पत्यर्थं वचनम्। अनवग्रहाणां हि मध्ये वक्ष्यति ॥

उ० अ०—वारहारयोः = वार और हार बाद में होने पर नि—यह उपसर्ग दीर्घ हो जाता है। वार जैसे—"नीवाराश्च मे"। हार जैसे—'नीहारेण प्रावृताः"। अवयवों को समझाने के लिए यहाँ कहा गया है। क्योंकि (५।३७ में) अवग्रह को प्राप्त न करने वाले पदों के मध्य में (सूत्रकार) (इन पदों = नीवाराः और नीहारेण) को कहेंगे।

अ०—निशब्दो दीर्घमापद्यते वारहारयोः परयोः। अनवग्रहे गम्यमाने। यथा—"नीवाराश्च मे"। "नीहारेण प्रावृताः'। अनवग्रहे किम्? "निहारमिति निहारम्=निहारं निहरामि ते"। 'निहारं निहरासि मे स्वाहा" ॥ १०५ ॥

नाव नयामि ॥ १०६ ॥

सू० अ०—नयामि बाद में होने पर अव (का अन्तिम स्वर दीर्घ नहीं होता है)।

उ०—अवेत्येतत्पदं न दीर्घमापद्यते नयामीत्येतस्मिन् प्रत्यये। यथा—"अव नयामि वैष्णवान्" (वा० ५।२५)। "धारयाम..." (३।१०७) इत्येतस्मिन् सूत्रेऽवशब्दस्य नकारे दीर्घत्वं वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः ॥ १०६ ॥

उ० अ०—नयामि—यह बाद में होने पर अव—यह पद दीर्घ; न = नहीं; होता है। जैसे—"अव नयामि वैष्णवान्"। "धारयाम..." इस सूत्र में (सूत्रकार) नकार बाद में होने पर अव शब्द के दीर्घत्व को कहेंगे। उसका यह पहले (ही) अपवाद (कर दिया गया है)।

अ०—अवेति पदं न दीर्घमेति नयामिपदे परे। यथा—"अवनयामि वैष्णवान्"। अनन्तरसूत्रेऽवशब्दस्य नकारे परे दीर्घं वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः ॥ १०६ ॥

धारयाम योजाव सचस्व नुद मो षु जयतोरुष्य रक्ष यज यच्छ मत्सथ पिपृत गायता तु येन नकारे ॥ १०७ ॥

सू० अ०—धारयाम, याज, अव, सचस्व, नुद, मो षु, जयत, उरुष्य, रक्ष, यज, यच्छ, मत्सथ, पिपृत, गायत, आ तु, येन (इनका अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है), नकार बाद में होने पर।

उ०—**धारयाम योज अव सचस्व नुद मो षु जयत उरुष्य रक्ष यज यच्छ मत्सथ पिपृत गायत आ तु येन** एते ह्रस्वा **नकारे** प्रत्यये दीर्घमापद्यन्ते। धारयाम यथा—"धारयामा नमोभिः" (वा० १७।८०)। योज यथा—"योजा न्विन्द्र ते हरी" (वा० ३।५२)। अव यथा—"अवा नो देव्या धिया" (वा० ११।४१)। सचस्व यथा—"सचस्वा नः स्वस्तये" (वा० ३।२४)। नुद यथा—"अग्ने जातान् प्र णुदा नः" (वा० १५।१)। मो षु यथा—"मो षू ण इन्द्राय पृत्सु देवैः" (वा० ३।४६)। मो इति किम् ? "ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये" (वा० ११।४२)। जयत यथा—"प्रेता जयता नरः" (वा० १७।४६)। उरुष्य यथा—"उरुष्या णो अघायतः" (वा० ३।२६)। रक्ष यथा—"रक्षा णो ब्रह्मणस्पते" (वा० ३।३०)। यज यथा—"यजा नो मित्रावरुणा" (वा० ३३।३)। यच्छ यथा—"यच्छा नः शर्म सप्रथाः" (वा० ३६।१३)। मत्सथ यथा—"अपि यथा युवानो मत्सथा नः" (वा० ३३।३४)। पिपृत यथा—"निरंहसः पिपृता निरवद्यात्" (वा० ३३।४२)। गायत यथा—"उपास्मै गायता नरः" (वा० ३३।६२)। आ तु यथा—"आ तू न इन्द्र वृत्रहन्" (वा० ३३।६५)। येन यथा—"येना नः पूर्वे पितरः" (वा० ३४।१७)॥ १०७ ॥

उ० अ०—**धारयाम**......**येन**—इनके ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं; **नकारे** = नकार बाद में होने पर।

अ०—धारयामेत्यादिषोडशपदानि दीर्घमापद्यन्ते नकारे परे। यथा—"धारयामा नमोभिः"। "योजा नु"। "अवा नो देव्या"। "सचस्वा नः स्वस्तये"। "प्र णुदा नः सपत्नान्"। "मो षू ण इन्द्र"। मोष्विति किम् ? "ऊर्ध्व ऊ षु णः"। "प्रेता जयता नरः"। "उरुष्या णो अघायतः"। "रक्षा णो अप्रयुच्छन्"। "रक्षा णो ब्रह्मणस्पते"। "यजा नो मित्रावरुणा"। "यच्छा नः शर्म"। "अपि यथा युवानो मत्सथा नः"। "पिपृता निरवद्यात्"। "उपास्मै गायता नरः"। "आ तू न इन्द्र वृत्रहन्"। "येना नः पूर्वे"॥

भव च ॥ १०८ ॥

सू० अ०—भव (का) भी (अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—भवेत्ययं ह्रस्वो दीर्घमापद्यते नकारे प्रत्यये। यथा—"भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे" (वा० १२।११४)। पृथग्योगकरणमुत्तरार्थम् ॥ १०८ ॥

उ० अ०—नकार बाद में होने पर भव–इसका ह्रस्व (स्वर) (च=भी) दीर्घ हो जाता है। जैसे–"भवा नः सप्रथस्तमः सखा वृधे"। पृथक् सूत्र का निर्माण परवर्ती (सूत्र) के लिए है।

अ०—भवपदं दीर्घमाप्नोति नकारे परे। "भवा नस्सप्रथस्तमस्सखा वृधे"। पृथग्योगकरणं उत्तरार्थम् ॥ १०८ ॥

सचावरूथ्यवाजस्यपायुषु च ॥ १०९ ॥

सू० अ०—सचा, वरूथ्य, वाजस्य और पायुः बाद में होने पर भी (भव का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है)।

उ०—सचा वरूथ्य वाजस्य पायुः एषु च प्रत्ययेषु भवेत्येतत्पदं दीर्घमापद्यते। सचा यथा–"इन्द्र प्राशूर्भवा सचा" (वा० ३४।५६)। वरूथ्य यथा–"उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः" (वा० ३।२५)। वाजस्य यथा–"भवा वाजस्य सङ्गथे" (वा० १२।११२)। पायुः यथा–"भवा पायुर्विशो अस्या अदब्धः" (वा० १३।११) ॥

उ० अ०—(सचा ···पायुषु च =) सचा, वरूथ्य, वाजस्य और पायुः–ये बाद में होने पर भी; भव–यह पद दीर्घ हो जाता है।···।

अ०—एषु भवशब्दः दीर्घमेति। यथा–"इन्द्र प्राशूर्भवा सचा"। "उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः"। "भवा वाजस्य सङ्गथे"। "भवा पायुर्विशो अस्याः" ॥ १०९ ॥

अपृक्तः सौ ॥ ११० ॥

सू० अ०—सु बाद में होने पर अपृक्त (उकार) (दीर्घ हो जाता है)।

उ०—अपृक्तग्रहणेनेह उकारो गृह्यते नाकारो दीर्घविधानात्। अपृक्त उकारो दीर्घमापद्यते; (सौ=) सुप्रत्यये। यथा–"उ सु नः=ऊर्ध्व ऊ षु णः" (वा० ११।४२)। "गोमदू षु णासत्या" (वा० २०।८१) ॥ ११० ॥

उ० अ०—(सूत्र में) अपृक्त के ग्रहण से यहाँ उकार का ग्रहण होता है, आकार का नहीं, क्योंकि (यहाँ) दीर्घ का विधान किया गया है। (सौ =) सु बाद में होने पर; अपृक्तः = स्वतन्त्र पद के रूप में विद्यमान; उकार दीर्घ हो जाता है।···।

अ०—अपृक्तग्रहणेन इह उकारोऽभिधीयते। अपृक्त उकारः दीर्घमापद्यते सुशब्दे परे। यथा–"ऊर्ध्व ऊ षु णः"। "गोमदू षु णासत्या"। सौ किम्? "उदु तिष्ठ" ॥ ११० ॥

रथि तकारनकारयोः ॥ १११ ॥

सू० अ०—तकार और नकार बाद में होने पर रथि (का इकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—रथीत्येतत् पदं तकारनकारयोः प्रत्यययोर्दीर्घमापद्यते। यथा—"रथीतमं रथीनाम्" (वा० १२।५६) ॥ १११ ॥

उ० अ०—तकारनकारयोः = तकार और नकार बाद में होने पर; रथि- यह पद दीर्घ हो जाता है। जैसे—"रथीतमं रथीनाम्"।

अ०—रथिपदं दीर्घमेति तकारनकारयोः परयोः। यथा—"रथीतमं रथीनां वाजानाम्" ॥

अथोदारिथ शोच पनय सादयर्जु वृष शत्रु सलक्ष्म घाघारात्यृत भवत यकारे ॥ ११२ ॥

सू० अ०—अथ, उदारिथ, शोच, पनय, सादय, ऋजु, वृष, शत्रु, सलक्ष्म, घ, अघ, अराति, ऋत और भवत (का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है), यकार बाद में होने पर।

उ०—अथ उदारिथ शोच पनय सादय ऋजु वृष शत्रु सलक्ष्म घ अघ अराति ऋत भवत एते ह्रस्वा यकारे प्रत्यये दीर्घमापद्यन्ते। अथ यथा—"अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय" (वा० १२।१२)। उदारिथ यथा—"यस्माद्योनेरुदारिथा यजे" (वा० १७।७५)। शोच यथा—"बृहच्छोचा यविष्ठ्य" (वा० ३।३)। पनय यथा—"देवत्रा पनया युजम्" (वा० १९।६४)। सादय यथा—"सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ" (वा० ११।३५)। ऋजु यथा—"देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयताम्" (वा० २५।१५)। वृष यथा—"वृषायमाणो वृषभस्तुराषाट्" (वा० २०।४६)। शत्रु यथा—"शत्रूयतो हन्ता" (वा० १२।५)। सलक्ष्म यथा—"सलक्ष्मा यद्विषुरूपं भवाति" (वा० ९।२०)। घ यथा—"आ घा ये अग्निम्" (वा० ७।३२)। अघ यथा—"अघायतः समस्मात्" (वा० ३।२६)। अराति यथा—"अरातीयतो हन्ता" (वा० १२।५)। ऋत यथा—"मधु वाता ऋतायते" (वा० १३।२७)। भवत यथा—"अर्वाञ्चो अद्या भवता यजत्राः" (वा० ३३।५१) ॥ ११२ ॥

उ० अ०—अथ…भवत—इनके (अन्तिम) ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं; यकारे = यकार बाद में होने पर।….।

अ०— चतुर्दशैतानि पदानि दीर्घाणि स्युः यकारे परे। यथा—"वि मध्यमं श्रथाय"। "उदारिथा यजे"। "बृहच्छोचा यविष्ठ्य"। "पनया युजम्"। "सादया यज्ञं सुकृतस्य"। "सुमतिर्ऋजूयताम्"। "वृषायमाणो वृषभः"। "शत्रूयतो हन्ता"। "सलक्ष्मा यद्विषुरूपम्"। "आ घा ये अग्निमिन्धते"। "उरुष्या णो अघायतः"। "अरातीयतो हन्ता"। "मधु वाता ऋतायते"। "अद्या भवता यजत्राः" ॥ ११२ ॥

व वृधवृजोः ॥ ११३ ॥

सू० अ०—वृध और वृज बाद में होने पर व (का ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाता है)।

उ०—व इत्ययं ह्रस्वो **वृधवृजोः** प्रत्यययोर्दीर्घमापद्यते। वृध यथा—"अस्मद्द्रुग्वावृधे" (वा० ७।३९)। वृज यथा—"प्र वावृजे" (वा० ३३।४२)॥ ११३॥

उ० अ०—**वृधवृजोः** = वृध और वृज बाद में होने पर; व का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है।...।

अ०—वकारः दीर्घः स्यात् वृधवृजयोः परयोः। यथा—"अस्मदृद्रुग्वावृधे"। "प्र वावृजे"॥

अद्य तंहकारचकारभवतवृणीमहेदेवेषु ॥ ११४ ॥

सू० अ०—तम्, हकार, चकार, भवत, वृणीमहे और देव बाद में होने पर अद्य (का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—**अद्य** इत्ययं ह्रस्वस्तं **हकार चकार भवत वृणीमहे देव** इत्येतेषु प्रत्ययेषु दीर्घमापद्यते। तम् यथा—"अद्या तमस्य महिमानम्" (वा० ३३।९७)। हकार यथा—"अद्या हुवेम" (वा० ८।४५)। चकार यथा—"हवमद्या च मृडय" (वा० २१।१)। भवत यथा—"अद्या भवता यजत्राः" (वा० ३३।५१)। वृणीमहे यथा—"तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे" (वा० ३३।१७)। देव यथा—"अद्या देवाः" (वा० ३३।४२) ॥११४॥

उ० अ०—(**तं...देवेषु** =) तम्, हकार, चकार, भवत, वृणीमहे, देव—ये बाद में होने पर; अद्य—का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है।...।

अ०—अद्येति पदं दीर्घमापद्यते तमादिपञ्चसु परेषु। यथा—"अद्या तमस्य महिमानम्"। परकीयमेतत्। "वाजे अद्या हुवेम"। "अद्या च मृळय"। "अद्या भवता यजत्राः"। "अवो अद्या वृणीमहे"। "अद्या देवाः" ॥ ११४ ॥

न होतरि ॥ ११५ ॥

सू० अ०—होतृ बाद में होने पर (अद्य का अन्तिम अकार दीर्घ) नहीं (होता है)।

उ०—(**होतरि** =) होतृशब्दे प्रत्यये अद्येत्ययं ह्रस्वो न दीर्घमापद्यते। अधस्तनसूत्रेण प्राप्तस्य निषेधः। यथा—'तमद्य होतरिषितः" (वा० २९।३४)। "अग्निमद्य होतारमवृणीतायम्" (वा० २१।५९) ॥ ११५ ॥.

उ० अ०—(**होतरि**=) होतृ शब्द बाद में होने पर; अद्य का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ; न=नहीं; होता है। पूर्ववर्ती सूत्र से प्राप्त (दीर्घत्व) का निषेध (किया गया है)।...।

अ०—अद्येति पदं होतृशब्दे परे न दीर्घं स्यात्। तमद्य होतरिषितः। "अग्निमद्य होतारम्"। पूर्वसूत्रप्राप्तस्यापवादः ॥ ११५ ॥

शृणुत त्विषि ध्रजि भवत पिबेत स्म तिष्ठ रक्षा मकारे ॥ ११६ ॥

सू० अ०—शृणुत, त्विषि, ध्रजि, भवत, पिब, इत, स्म, तिष्ठ, रक्ष (का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है), मकार बाद में होने पर।

उ०—शृणुत त्विषि ध्रजि भवत पिब इत स्म तिष्ठ रक्ष एते ह्रस्वा **मकारे** प्रत्यये दीर्घमापद्यन्ते। शृणुत यथा—"शृणुता म इमं हवम्" (वा० ७।३४)। त्विपि यथा—"शष्पिञ्जराय त्विषीमते" (वा० १६।१७)। ध्रजि यथा—"चित्तं वात इव ध्रजीमान्" (वा० २९।२२)। भवत यथा—"आदित्यासो भवता मृडयन्तः" (वा० ८।४)। पिब यथा—"पिवा मित्रस्य धामभिः" (वा० ३३।१०)। इत यथा—"इता मरुतो अश्विना" (वा० ३३।४७)। स्म यथा—"देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवः" (वा० ३३।६४)। तिष्ठ यथा—"शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि" (वा० ३३।१२)। "तिष्ठाद्युदात्तम्" (३।१०३) इति आद्युदात्तस्य दीर्घभाव उक्तः। अनुदात्तार्थ आरम्भः। रक्ष यथा—"रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत" (वा० २९।४७)॥

उ० अ०—शृणुत…रक्ष—इनके (अन्तिम) ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं; **मकारे** = मकार बाद में होने पर।…।

अ०—शृणुतादिनवपदानि दीर्घाणि स्युः मकारे परे। यथा—"शृणुता म इमं हवम्"। "शष्पिञ्जराय त्विषीमते"। "वात इव ध्रजीमान्"। "आदित्यासो भवता मृळयन्तः"। "पिवा मित्रस्य धामभिः"। "इता मरुतो अश्विना"। "देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवः"। परकीयमेतत्। "शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि"। तिष्ठाद्युदात्तमित्यस्याप्राप्तेः अयमारम्भः। "रक्षा माकिर्नः"॥ ११६॥

विश्वदेव्यसोमौ वत्याम् ॥ ११७ ॥

सू अ०—वती बाद में होने पर विश्वदेव्य और सोम (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—विश्वदेव्यसोमावेतौ ह्रस्वौ; (वत्याम् =) वतिप्रत्यये; दीर्घमापद्येते। विश्वदेव्य यथा—"अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती" (वा० ११।६१)। सोम यथा—"अश्वावतीं सोमावतीम्" (वा० १२।८१)। वत्यामिति किम्? "पितॄणां सोमवताम्" (वा० २४।१८)॥ ११७॥

उ० अ०—(वत्याम् =) वती बाद में होने पर; विश्वदेव्यसोमौ = विश्वदेव्य और सोम के ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं।…।

अ०—विश्वदेव्यसोमशब्दो दीर्घौ स्याताम् वतिशब्दे परे। यथा—"अदितिष्ट्वा देवी विश्वदेव्यावती"। "अश्वावतीं सोमावतीम्"। वत्यामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः किम्? लिङ्गान्तरे मा भूदिति। यथा—"पितॄणां सोमवताम्"॥ ११७॥

उष महोभिर्नक्तेमीकारैकारौकारनकारेभ्यः ॥ ११८ ॥

सू० अ०—महोभिः, नक्त, ईम्, ईकार, एकार, औकार और नकार से परवर्ती उष (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—उष इत्ययं ह्रस्वो दीर्घमापद्यते महोभिः नक्त ईम् ईकार""एकार-औकार-नकारेभ्यः परश्चेद्भवति। महोभिः यथा—"प्रथमाना महोभिः उषासानक्ता बृहती" (वा० २०।४०—४१)। नक्त यथा—"नक्तोषासा समनसा" (वा० १२।२)। ईम् यथा—"प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्" (वा० १५।२४)। ईकारात् यथा—"देवी उषासानक्ता" (वा० २८।१४)। एकारात् यथा—"यजते उपाके उषासानक्ता" (वा० २९।३१)। औकारात् यथा—"दिव्येन योना उषासानक्ता" (वा० २७।१७)। नकारात् यथा—"अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासः" (वा० ३४।४०)। एतेभ्यः पर इति किम् ? "समिद्ध इन्द्र उषसाम्" (वा० २०।३६) ॥ ११८ ॥

उ० अ०—उष का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है, यदि; **महोभिः""नकारेभ्यः**= महोभिः, नक्त, ईम्, ईकार, एकार, औकार और नकार से परवर्ती; होता है।""।

अ०—महोभिः—नक्ता-ईम्-ईकारैकारौकारेभ्यः पर उषशब्दः दीर्घः स्यात्। यथा—"प्रथमाना महोभिः उषासानक्ता बृहती"। "नक्तोषासा समनसा"। "प्रतिधेनु-मिवायतीमुषासम्"। "देवी उषासानक्ता"। "यजते उपाके उषासानक्ता"। "दिव्येन योना उषासानक्ता"। "अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासः"। परकीयमेतत्। एभ्य इति किम् ? "समिद्ध इन्द्र उषसामनीके" ॥ ११८ ॥

पूरुषोऽवसाने ॥ ११९ ॥

सू० अ०—अवसान में स्थित पूरुष (में दीर्घत्व होता है)।

उ०— पूरुष इति दीर्घो निपात्यते अवसाने चेद्भवति। यथा—"न स रिष्याति पूरुषः" (वा० १२।९१)। अवसान इति किम् ? "पुरुष एव" (वा० ३१।२)।

उ० अ०—पूरुष यह निपातन से दीर्घ होता है, यदि यह; **अवसाने** = अवसान में; होता है।""।

अ०—अवसाने वर्तमानः पुरुषशब्दः दीर्घः स्यात्। "न स रिष्याति पूरुषः"। "यत्सनवथ पूरुषम्"। "पर्वतेभ्यः किं पूरुषम्"। अवसाने किम् ? "यथेह पुरुषोऽसत्"। "पुरुष एवेदं सर्वम्" ॥ ११९ ॥

पूष्णोजहीमस्तेष्वत्र ॥ १२० ॥

सू० अ०—पूष्णः, जहीमः और ते बाद में होने पर अत्र (का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—अत्रेत्ययं ह्रस्वो दीर्घमापद्यते पूष्णः जहीमः ते इत्येतेषु प्रत्ययेषु। पूष्णः यथा—"अत्रा पूष्णः" (वा० २५।२७)। जहीमः यथा—"अत्रा जहीमोऽशिवा ये" (वा० ३५।१०)। ते यथा—"अत्रा ते रूपमुत्तमम्" (वा० २९।१८)॥ १२०॥

उ० अ०—(पूष्णोजहीमस्तेषु=) पूष्णः, जहीमः, ते-ये बाद में होने पर;अत्र का ह्रस्व (स्वर) दीघ हो जाता है।...।

अ०—अत्रेतिपदं दीर्घं स्यात् पूषादिषु परेषु। यथा—"अत्रा पूष्णः"। "अत्रा जहीमोऽशिवा ये"। "अत्रा ते रूपमुत्तमम्"॥ १२०॥

नरस्सप्तऋषीन्नस्तआहुर्नियुद्भिष्षु यत्र॥ १२१॥

सू० अ०—नरः, सप्त ऋषीन्, नः, त आहुः और नियुद्भिः बाद में होने पर यत्र (का अन्तिम अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—नरः सप्त ऋषीन् नः त आहुः नियुद्भिः एतेषु प्रत्ययेषु यत्रेत्ययं ह्रस्वो दीर्घमापद्यते। नरः यथा—"यत्रा नरः सञ्च वि च द्रवन्ति" (वा० २९।४८)। सप्तऋषीन्यथा—"यत्रा सप्तऋषीन् परः" (वा० १७।२६)। नः यथा—"यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" (वा० २५।२२)। त आहुः यथा—"यत्रा त आहुः परमं जनित्रम्" (वा० २९।१५)। नियुद्भिः यथा—"यत्रा नियुद्भिः सचसे शिवाभिः" (वा० १३।१५)॥

उ० अ०—(नरः···नियुद्भिष्षु=) नरः, सप्त ऋषीन्, नः, त आहुः और नियुद्भिः बाद में होने पर, यत्र का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है।···।

अ०—यत्रेति पदं दीर्घं स्यात्। नरादिपञ्चसु परेषु। "यत्रा नरस्सञ्च वि च द्रवन्ति"। "यत्रा सप्त ऋषीन्"। "यत्रा नश्चक्रा"। "यत्रा त आहुः"। "यत्रा नियुद्भिः। एषु किम्? "यत्र विश्वं भवति"॥ १२१॥

अभिमाति पृतनासु सपत्न धूर्विश्व समत्सु पृतना व्रातेभ्यः सहेः। १२२॥

सू० अ०—अभिमाति, पृतनासु, सपत्न, धूः, विश्व, समत्सु, पृतना, और व्रात से परवर्ती सह का (अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—अभिमाति पृतनासु सपत्न धूः विश्व समत्सु पृतना व्रात इत्येतेभ्य उत्तरस्य सहेर्ह्रस्वो दीर्घमापद्यते। अभिमाति यथा—"संवृण्व्यान्यभिमातिषाहः" (वा० १२।११३)। पृतनासु यथा—"जेतारमग्निं पृतनासु सासहिम्" (वा०११।७६)। सपत्न यथा—"सिंह्यसि सपत्नसाही" (वा० ५।१०)। धूः यथा—"उस्रावेतं धूर्षाहौ" (वा० ४।३३)। विश्वे यथा—"विश्वासाहमवसे नूतनाय" (वा० ७।३६)। समत्सु

यथा—"येना समत्सु सासहः" (वा० १५।४०)। पृतना यथा—"पृतनाषाह्याय च" (वा० १८।६८)। व्रात यथा—"सतो वीरा उरवो व्रातसाहाः" (वा० २६।४६)॥

उ० अ०—(अभिमाति···व्रातेभ्यः =) अभिमाति, पृतनासु, सपत्न, घूः, विश्व, समत्सु, पृतना, व्रात—इनसे परवर्ती; सहेः = सह् का; ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है।···।

अ०—अभिमात्यादिभ्योऽष्टभ्यः परस्य सहेर्धातोः ह्रस्वो दीर्घमापद्यते। यथा—"संतृण्यान्यभिमातिषाहः"। "जेतारमग्नि पृतनासु सासहिम्"। "सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः"। "उस्रावेतं धूर्षाहौ"। परकीयमेतत्। "विश्वासाहमवसे"। "येना समत्सु सासहः"। "पृतनाषाह्याय च"। "सतो वीरा उरवो व्रातसाहाः"॥ १२२॥

उक्थाच्च शसेः॥ १२३॥

सू० अ०—उक्थ से परवर्ती शस् का भी (अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—(उक्थात् =) उक्थशब्दात्; परस्य शसेर्धातोर्ह्रस्वो दीर्घमापद्यते। यथा—"उक्थशसः = उक्थशासश्चरन्ति" (वा० १७।३१)॥ १२३॥

उ० अ०—(उक्थात् =) उक्थ शब्द से परवर्ती; शसेः = शस् धातु का (च = भी); ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है।···।

अ०—उक्थशब्दात्परस्य शसेर्धातोः ह्रस्वः दीर्घः स्यात्। यथा—"उक्थशासश्चरन्ति"॥

एवाच्छचक्रमाथ॥ १२४॥

सू० अ०—एव, अच्छ, चक्रम और अथ (का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है)।

उ०—एव अच्छ चक्रम अथ एते ह्रस्वा व्यञ्जनमात्रे दीर्घमापद्यन्ते। एव यथा—"एवा नो दूर्वे प्रतनु" (वा० १३।२०)। अच्छ यथा—"गिरिशाच्छा वदामसि" (वा० १६।४)। चक्रम यथा—"यदेनश्चकृमा वयम्" (वा० ३।४५)। अथ यथा—"अथा मन्दस्व जुजुषाणः" (वा० २६।२४)॥ १२४॥

उ० अ०—एव, अच्छ, चक्रम, अथ—इनके ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं, कोई भी व्यञ्जन वाद में होने पर।···।

अ०—एव अच्छ चक्रम अथ एतानि पदानि दीर्घाणि स्युः व्यञ्जने परे। यथा—"एवा नो दूर्वे"। "अच्छा वदामसि"। "चक्रमा वयम्"। "अथा वयमादित्य"। एवशब्दः अत्र पदादिरेव इति ज्ञापयति सूत्रादित्वकरणेन। तेन नेह। "तदेव शुक्रं स एव जातः"। इत्यादौ। उपमार्थो वा अत्र एवशब्दः विवक्षितः। तदर्थसम्भवात्। तदेव शुक्रमित्यादौ अवधारणार्थत्वेन तदभावादिति विशेषोऽवसेयः॥ १२४॥

विद्मासौत्रामण्याम् ॥ १२५ ॥

सू० अ०—सौत्रामणी से अन्य स्थलों पर विद्म (का अकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—विद्म इत्ययं ह्रस्वो दीर्घमापद्यते; (असौत्रामण्याम् =) सौत्रामणीमन्त्रं मुक्त्वा। यथा-"विद्मा ते अग्ने" (वा० १२।१९)। असौत्रामण्यामिति किम्? "याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म" (वा० १९।६७) ॥ १२५ ॥

उ० अ०—(असौत्रामण्याम =) सौत्रामणी-मन्त्र को छोड़ कर अन्यत्र; विद्म का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है। जैसे—"विद्मा ते अग्ने"। सौत्रामणी (मन्त्र) से अन्य स्थलों पर-यह क्यों (कहा)? "याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म"।

अ०—विद्मेति पदं दीर्घं स्यात् व्यञ्जने परे सौत्रामणीमन्त्रान्वर्जयित्वा। यथा-"विद्मा ते अग्ने"। असौत्रामण्यामिति किम्? "इह यांश्च विद्म यां उ च न प्रविद्म"। अयं च मन्त्रः सौत्रामण्यां विनियुक्तः ॥ १२५ ॥

अधायत्स्मग्नावायुषु ॥ १२६ ॥

सू० अ०—यत्, स्म, ग्ना और वायु बाद में न होने पर अध (का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है)।

उ०—अध इत्ययं ह्रस्वो व्यञ्जनमात्रे दीर्घमापद्यते। यथा-"अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे" (वा० १७।६४)। (अयत्स्मग्नावायुषु =) यत् स्म ग्ना वायुः इत्येतेषु न दीर्घमापद्यते। यत् यथा-"अमुत्र भूयादध यद्यमस्य" (वा० २७।९)। स्म यथा-"अध स्म ते व्रजनम्" (वा० १५।६२)। ग्ना यथा-"रुद्रो अध ग्नाः" (वा० ३३।४८)। वायुम् यथा-"अध वायुं नियुतः" (वा० २७।२४)। अयत्स्मग्नावायुष्विति किम्? "अधा यथा नः पितरः" (वा० १९।६९) ॥ १२६ ॥

उ० अ०—कोई भी व्यञ्जन बाद में होने पर अध का ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाता है। जैसे—"अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे"। (अयत्स्मग्नावायुषु =) यत्, स्म, ग्ना, वायु-ये बाद में होने पर (अध का अन्तिम अकार) दीर्घ नहीं होता है।...।

अ०—अधेति पदं दीर्घं स्यात् व्यञ्जनमात्रे परे। यत्स्मग्नावायुषु परेषु न भवति। यथा-"अधा यथा नः"। "अधा ह्यग्ने"। "अधा सपत्नानिन्द्राग्नी मे"। अयत्स्मग्नावायुष्विति किम्? "अमुत्र भूयादध यद्यमस्य"। 'अध स्म ते व्रजनम्"। "रुद्रो अध ग्नाः पूषाभगः"। "अध वायुं नियुतः" ॥ १२६ ॥

पूर्वो द्वन्द्वेष्ववायुषु ॥ १२७ ॥

सू० अ०—वायु (शब्द) रहित द्वन्द्व (समासों) में पूर्व-पद (का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है)।

उ०—द्वन्द्वेषु समासेषु; (अवायुषु =) वायुरहितेषु; पूर्वः पदान्तो दीर्घमापद्यते। यथा—"अग्नीषोमौ" (वा० २।१५)। "मित्रावरुणौ" (वा० २।३)। "इन्द्राबृहस्पती" (वा० ७५।६)। द्वन्द्वेष्विति किम्? "अवीरहणौ ब्रह्मचोदनौ" (वा० ४।३३)। अवायुष्विति किम्? "इन्द्रवायुभ्यान्त्वा" (वा० ७।८)॥

उ० अ०—(अवायुषु =) वायु-रहित; द्वन्द्वेषु = द्वन्द्व समासों में; पूर्वः = पूर्व पदान्त (= पूर्व-पद का अन्तिम स्वर); दीर्घ हो जाता है।""।

अ०—वायुशब्दवर्जितेषु द्वन्द्वसमासेषु पूर्वपदं दीर्घं स्यात्। यथा—"अग्नीषोमयोरुज्जितिम्"। "अग्नीषोमौ तमपनुदताम्"। "मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः"। "इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा"॥ १२७॥

हरि शयेत्येके ॥ १२८॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के अनुसार शय बाद में होने पर हरि (का इकार दीर्घ हो जाता है)।

उ०—हरि इत्यस्य एके आचार्या दीर्घमिच्छन्ति शयप्रत्यये। यथा—"हरि शया = हरीशया" (वा०५।८)। एक इति किम्? "या ते अग्ने हरि शया" (वा०५।८) ॥११८॥

उ० अ०—एके = कतिपय आचार्य; शय बाद में होने पर; हरि—इसके दीर्घ होने को अभीष्ट मानते हैं। जैसे—"हरि शया = हरीशया"। कतिपय (आचार्यों) के अनुसार-यह क्यों (कहा)? "या ते अग्ने हरि शया"।

अ०—एके आचार्याः हरिशब्दं दीर्घं मन्यन्ते शयशब्दे परे। "या ते अग्ने हरीशया तनूः"। एकशब्दोऽत्र मुख्यतरः। एके मुख्यान्यकेवलाः इत्यभिधानात्। तथा च प्रथमशाखिनां काण्वानां दीर्घपाठः अन्येषां ह्रस्व इत्यर्थः॥ १२८॥

पिबा सोमं पिबा सुतस्य स्था मयोभुवो नू रणे शमीष्व मामहानो मामहन्तामशीतम रीरिषो रोरिषत यामयन्ति हि ष्मा ते वर्धया रयिं श्रुधी हवञ्चरा सोम सूयवसिनी श्रोता ग्रावाणो धर्पा मानुषः पाथा दिवो युक्ष्वा हि गमया तमः सिञ्चता सुतम्परीवाप उक्था शस्त्राण्यत्ता हवींष्याच्या जानु क्षामा रेरिहत् चामा भिन्दन्तो रुहेमा स्वस्तये जनयथा च धारया मयि तरा मृधो बोधा मे विचृता बन्धमवता हवेषु भृणुधी गिरो रक्षा तोकञ्चर्पणीसहाश्चर्पणीधृतो येना सनत्सु वनेमा त ऋध्यामा ते शिक्षा सखिभ्यस्तत्रा रथन्दीया रथेनेदा जयत वर्धया

त्वं प्रब्रवामा घृतस्याजगन्था परस्या ररिमा हि पुरीतता प्लीहाकर्ण-शुण्ठाकर्णौ प्रकृतिर्दीर्घावित्येके नीकाशा अनूकाशेन चक्रा जरसम्मिथू कस्तरता सखायः सासह्वानपामार्गोभयादत ऋतीषहमभीषु सुष्टरीमा जुषाणा यजा देवान् येना पावकाश्वायन्तो यदी सरमा स्वदया सुजिह्व निषद्या दधिष्व सदतना रणिष्टन भरा चिकित्वाँश्चिकित्सा गविष्टाव-वाददद्रक्षा चायुनक् सृजा रराणः सादन्यमिति च ॥ १२९ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में ह्रस्व स्वर दीर्घ हो गया है)- पिबा सोमम् , पिबा सुतस्य, स्था मयोभुवः, नू रणे, शमीष्व, मामहानः, मामहन्ताम्, अशीतम, रीरिषः, रीरिषत, यामयन्ति, हि ष्मा ते, वर्धया रयिम्, श्रुधी हवम, चरा सोम, सूयवसिनी, श्रोता ग्रावाणः, धर्षा मानुषः, पाथा दिवः, युक्ष्वा हि, गमया तमः, सिञ्चता सुतम्, परीवापः, उक्था शस्त्राणि, अक्ता हवींषि, आच्या जानु, क्षामा रेरिहत्, क्षामा भिन्दन्तः, रुहेमा स्वस्तये, जनयथा च, धारया मयि, तरा मृधः, बोधा मे, विचृता बन्धम्, अवता हवेषु, शृणुधी गिरः, रक्षा तोकम्, चर्षणीसहाम्, चर्षणीधृतः, येना समत्सु, वनेमा ते, ऋध्यामा ते, शिक्षा सखिभ्यः, तत्रा रथम्, दीया रथेन, इता जयत, वर्धया त्वम्, प्रब्रवामा घृतस्य, आजगन्था परस्याः, ररिमा हि, पुरीतता, प्लीहाकर्णः और शुण्ठाकर्णः, नीकाशाः, अनूकाशेन, चक्रा जरसम्, मिथू कः, तरता सखायः, सासह्वान्, अपामार्गं, उभयादतः, ऋतीषहम्, अभीषु, सुष्टरीमा जुषाणा, यजा देवान्, येना पावक, अश्वा-यन्तः, यदी सरमा, स्वदया सुजिह्व, निषद्या दधिष्व, सदतना रणिष्टन, भरा चिकित्वान्, चिकित्सा गविष्टौ, अवाददत, रक्षा च, आयुनक्, सृजा रराणः तथा सादन्यम् ।

उ०—पिबा सोमम्, पिबा सुतस्य, स्था मयोभुवः, नू रणे, शमीष्व, मामहानः, मामहन्ताम, अशीतम, रीरिषः, रीरिषत, यामयन्ति, हि ष्मा ते, वर्धया रयिम्, श्रुधी हवम्, चरा सोम, सूयवसिनी, श्रोता ग्रावाणः, धर्षा मानुषः, पाथा दिवः युक्ष्वा हि, गमया तमः, सिञ्चता सुतम्, परीवापः, उक्था शस्त्राणि, अक्ता हवींषि, आच्या जानु, क्षामा रेरिहत्, क्षामा भिन्दन्तः, रुहेमा स्वस्तये, जनयथा च, धारया मयि, तरा मृधः, बोधा मे, विचृता बन्धम्, अवता हवेषु, शृणुधी गिरः, रक्षा तोकम्, चर्षणीसहाम्, चर्षणीधृतः, येना समत्सु, वनेमा ते, ऋध्यामा ते, शिक्षा सखिभ्यः, तत्रा

रथम्, दीया रथेन, इता जयत, वर्धया त्वम्, प्रब्रवामा घृतस्य, आजगन्था परस्याः, ररिमा हि, पुरीतता, प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णः, नीकाशाः, अनूकाशेन, ऊक्षा जरसम्, मिथू कः, तरता सखायः, सासह्वान्, अपामार्गः, उभयादतः, ऋतीषहम्, अभीषु, सुष्टरीमा जुषाणा, यजा देवान्, येना पावक, अश्वायन्तः, यदी सरमा, स्वदया सुजिह्व, निषद्या दधिष्व, सदतना रणिष्टन, भरा चिकित्वान्, चिकित्सा गविष्टौ, अवाददत्, रक्षा च, आयुनक् सृजा रराणः, सादन्यम्, एते ह्रस्वा दीर्घमापद्यन्ते। पिब सोमं यथा–"पिबा सोमं शतक्रतो" (वा० २६।४)। "पिबा सोममनुष्वधं मदाय" (वा० ७।३८)। पिब सुतस्य यथा–"पिबा सुतस्यान्धसो मदाय" (वा० ३३।७०)। स्थ मयोभुवः यथा–"आपो हि ष्ठा मयोभुवः" (वा० ११।५०)। नु रणे यथा–"तुर्वन्नयामन्नेतशस्य नू रणे" (वा०१७।१०)। शमिष्व यथा–"हविः शमीष्व" (वा०२।१५)। ममहानः यथा–"समिद्धे अग्नावधि मामहानः" (वा० १७।५५)। ममहन्तां यथा–"तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम्" (वा० ३३।४२)। अशितम यथा–"अग्ने दब्धायोऽशीतम" (वा० २।२०)। रिरिषः यथा–"मा नो अश्वेषु रीरिषः" (वा० १६।१६)। रिरिषत यथा–"मा नो मध्या रीरिषतायुः" (वा०२५।२२)। यमयन्ति यथा–"प्रिया देवेष्वायामयन्ति" (वा०२५।३६)। हि स्म ते यथा–"अस्ति हि ष्मा ते" (वा०३।४६)। हीति किम् ? "अध स्म ते व्रजनम्" (वा० १५।६२)। वर्धय रयिं यथा–"अथा नो वर्धया रयिम्" (वा० ३।१४)। श्रुधि हवं यथा–"इमं मे वरुण श्रुधी हवम्" (वा० २१।१)। चर सोम यथा-"प्रचरा सोम दुर्यान्" । (वा० ४।३७)। श्रोत ग्रावाणः यथा–"श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञम्" (वा० ६।२६)। धर्ष मानुषः यथा–"मुञ्चामि वर्षा मानुषः" (वा० ६।८)। पाथ दिवः यथा–"पाथा दिवो वि महसः" (वा०८।३१)। युक्ष्व हि यथा–"युक्ष्वा हि केशिना हरी" (वा० ८।३४)। गमय तमः यथा–"अधरं गमया तमः" (वा० ८।४४)। सिञ्चत यथा–"परीतो षिञ्चता सुतम्" (वा०१६।२)। परि वापः यथा–"परी वापः पयोदधि" (वा० १९।२१)। उक्थ शस्त्राणि यथा–"छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि" (वा० १६।२८) अत्त हवींषि यथा–"अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिषि" (वा०१६।५५)। आच्य जानु यथा–"आच्या जानु दक्षिणतः" (वा०१६।६२)। क्षाम रेरिहत् यथा–"क्षामा रेरिहद्वीरुधः" (वा० १२।६)। क्षाम भिन्दन्तः यथा–"क्षामा भिन्दन्तो अरुणीः" (वा० १६।६९)। रुहेम स्वस्तये यथा–"अस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये" (वा० २१।६)। जनयथ च नः यथा–"आपो जनयथा च नः" (वा०११।५२)। धारय मयि यथा–"धारया मयि प्रजाम्" (वा० ११।५८)। तर मृधः यथा–"अग्ने त्वन्तरा मृधः" (वा० ११।७२)। बोध मे यथा–"बोधा मे अस्य" (वा० १२।४२)। विचृत बन्धं यथा–"विचृता बन्धमेतम्" (वा० १२।६३)। अवत हवेषु यथा–"देवा

अवता हवेषु" (वा० १७।४३)। शृणुधि गिरः यथा—"पाहि शृणुधी गिरः" (वा० १३।५२)। रक्ष तोकं यथा--"रक्षा तोकमुत त्मना" (वा० १३।५२)"। चर्षणिसहां यथा—"चर्षणीसहां वेत्वाज्यस्य" (वा०२८।१)। चर्षणिधृतः यथा—"ओमासश्चर्षणीधृतः" (वा० ७।३३)। येन समत्सु यथा—"येना समत्सु सासहः" (वा०१५।४०)। वनेम ते यथा—"वनेमा ते अभिष्टिभिः" (वा०१५।४०)। ऋध्याम ते यथा—"ऋध्यामा त ओहैः" (वा० १५।४४)। शिक्ष सखिभ्यः यथा—"शिक्षा सखिभ्यो हविषि" (वा० १७।२१)। तत्र रथं यथा—"तत्रा रथमुपशग्मं सदेम" (वा० २९।४५)। दीय रथेन यथा—"बृहस्पते परिदीया रथेन"। (वा० १७।३६)। इत जयत यथा—"प्रेता जयता नरः"। (वा०१७।४६)। वर्धय त्वं यथा—"तमग्ने वर्धया त्वम्" (वा० १७।५२)। प्रब्रवाम घृतस्य यथा—"वयन्नाम प्रब्रवामा घृतस्य" (वा० १७।९०)। जगन्थ परस्याः यथा—"परावत आजगन्था परस्याः" (वा० १८।७१)। ररिम हि कामं यथा—"वयन्ते अद्य ररिमा हि कामम्" (वा०१८।७५)। पुरितता यथा—"अन्तरिचं पुरीतता" (वा०२५।८)। अस्य पदस्यापवादोऽभिप्रेतः। तथाहि—"पशुपतेः पुरीतत्" (वा० ३९।६)। इत्येतदपि भवति। प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णः एतौ शब्दौ प्रकृतिदीर्घावित्येके आचार्या मन्यन्ते। यथा—"प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णः" (वा०२४।४)। निकाशाः यथा—"वभ्रुनीकाशाः पितॄणाम्" (वा० २४।१८)। अनुकाशेन यथा—"अन्तरमनूकाशेन" (वा० २५।२)। चक्र जरसं यथा--"यत्रा नश्चक्रा जरसन्तनूनाम्" (वा० २५।२२)। मिथु कः यथा—"गात्राण्यसिना मिथू कः" (वा० २५।४३)। तरत सखायः यथा—"प्रतरता सखायः" (वा० ३५।१०)। ससह्वान् यथा—"सासह्वाँश्चाभियुग्वा च" (वा० ३६।७)। अपमार्ग यथा—"अपामार्ग त्वमस्मत्" (वा० ३५।११)। उभयदतः यथा—"ये केचोभयादतः" (वा०३१।८)। ऋतिषहं यथा—"तं वोदस्ममृतीषहम्" (वा०२६।११)। अभि सु यथा—"अभी षु णः सखीनाम्" (वा० ३६।६)। सुष्टरीम जुषाणा यथा—"बर्हिः सुष्टरीमा जुषाणा" (वा० २९।४)। यज देवान् यथा—"यजा देवाँ ऋतम्वृहत्" (वा० ३३।३)। येन पावक यथा—"येना पावक चक्षसा" (वा० ३३।३२)। अश्वयन्तः यथा—"अश्वायन्तो मघवन्" (वा० २७।३६)। यदि सरमा यथा—"विदद्यदी सरमा" (वा० ३३।५९)। स्वदय सुजिह्व यथा—"समञ्जन् स्वदया सुजिह्व" (वा० २९।२६)। निषद्य दधिष्व यथा—"बर्हिष्या निषद्या दधिष्व" (वा० २६।२३)। सदतन रणिष्टन यथा—"सदतना रणिष्टन" (वा० २६।२४)। भर चिकित्वान् यथा—"उत्तानायामवभरा चिकित्वान्" (वा० ३४।१४)। चिकित्स गविष्टौ यथा—"प्रचिकित्सा गविष्टौ" (वा० ३४।२३)। अवददत् यथा—"भगेमां धियमुदवादददन्नः" (वा० ३४।३६)। रक्ष च यथा—"रक्षा च नो अधि च ब्रूहि

देव" (वा० ३४।२७) । अयुनक् यथा-"यमेन दत्तं त्रित एनमायुनक्" (वा०२९।१३)। सृज रराणः यथा-"वनस्पतेऽवसृजा रराणः" (वा० २७।२१) । सदन्यं यथा-"सादन्यं विदथ्यम्" (वा० ३४।२१) ॥ १२६ ॥

उ० अ०—पिबा सोमम्······सादन्यम—इनके ह्रस्व (स्वर) दीर्घ हो जाते हैं।······।

अ०—पिबासोममित्यादि अष्टसप्ततिपदानि दीर्घाणि स्युः । क्रमेणोदाहरणानि । "पिबा सोममनुष्वधम्" । "पिबा सुतस्यन्धसो मदाय" । "आपो हि ष्ठा मयोभुवः" । "एतशस्य नू रण आयो वृणेन" । "हविः शमीष्व" । "अधि मामहान उक्थपत्रः" "वरुणो मामहन्तामदितिः" । "अग्नेऽदब्धायोऽशीतम" । काण्वानामिदं प्रकृतिदीर्घं पदपाठेऽपि ह्रस्वाभावात् । वायुरसजात इति पञ्चमे वक्ष्यति च । "मा नो अश्वेषु रीरिषः" । "मघ्या रीषतायुर्गन्तोः" । "देवेष्वायामयन्ति" । "अस्ति हि ष्मा ते" । हिष्मेति किम् ? "अध स्म ते" । "अथा नो वर्धया रयिम्" । "इमं मे वरुण श्रुधी हवम्" । "प्रचरा सोम दुर्यान्" । "हि भूतां सूयवसिनीमनवे" । "श्रोता ग्रावाणो विदुषः" । "प्रति मुञ्चामि धर्षा मानुषः" । परेषामिदम् । काण्वानां तु धर्षान्मानुष इति धर्षशब्दस्य पाठात् । "मरुतो यस्य हि क्षये" । "पाथा दिवो वि महसः" । "युक्ष्वा हि केशिना" । "युक्ष्वा हि देवहूतमान्" । "अधरं गमया तमः" । "परिषिञ्चता सुतं सोमः सक्तवः" । "परीवापः पयोदधि" । "छन्दोभिरुक्था शस्त्राणि" । "अत्ता हवींषि प्रयतानि" । "आच्या जानु दक्षिणतो निषद्य" । "क्षामा रेरिहत्" । "उक्थशास क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरपव्रन्" । "आरुहेमा स्वस्तये" । "आपो जनयथा च नः" । "धारया मयि प्रजाम्" । "अग्ने त्वन्तरा मृधः" । "बोधा मे अस्य" "विचृता बन्धमेतम्" । "देवा अव्रता ह्वेषु" । "नृः पाहि शृणुधी गिरः" । "रक्षा तोकमुत त्मना" । "चर्षणीसहां वेतु" । "मित्रस्य चर्षणीधृतः" । "ओमासश्चर्षणीधृतः" । "येना समत्सु सासहः" । "वनेमा ते अभिष्टिभिः" । "ऋघशामा त ओहैः" । "शिक्षा सखिभ्यो हविषि" । "तत्रा रथमुपशग्मं सदेम" । परकीयमेतत् । "बृहस्पते परिदीया रथेन" । "प्रेता जयता नरः" । "इन्द्रः तमग्ने वर्धया त्वम्" । "वयं नाम प्रब्रवामा घृतस्यास्मिन्" "परावत आजगन्था परस्याः" । "अद्य ररिमा हि कामम्" । "अन्तरिक्षं पुरीतता" । अस्य पदस्य उपलक्षणत्वम् । तेन पशुपतेः पुरीतत् इत्युदाहरणं द्रष्टव्यम् । "प्लीहाकर्णः शुण्ठाकर्णः" । इदं प्रकृतिदीर्घम् । "धूम्रा बभ्रुनीकाशाः" । "अन्तरमनूकाशेन बाह्यम्" । "देवा यत्रा नश्चक्रा जरसम्" । "गात्राण्यसिना मिथूकः" । परेषामिदम् । "उत्तिष्ठत प्रतरता सखायः" । "सासहवांश्चाभि युग्वा च" । "अपा मार्ग त्वमस्मत्" । "ये के चोभयादतः" । "तं वोदस्ममृतीषहम्" । परकीयम् । "अभी षु णः सखीनाम्" । "स्तीर्णं बर्हिस्सुष्टरीमा जुषाणा" । "यजा देवाँ ऋतं बृहत्" । "येना पावकचक्षसा" ।

"अश्वायन्तो मघवन्निन्द्रवाजिनः"। "विदद्यदी सरमा"। "मध्वा समञ्जन् स्वदया सुजिह्व"। "अस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या निषद्या दधिष्वा"। अन्यदीयमेतत्। "निर्बर्हिपि सदतना रणिष्टन"। इदमपि परकीयम्। "उत्तानायामवभरा चिकित्वान्"। "उभयेभ्यः प्रचिकित्सा गविष्टौ"। "भगेमां वियमुदवाददन्नः"। परेषामिदम्। "रक्षा च नो अधि च"। "त्रित एनमायुनक्"। "वनस्पतेऽव सृजा रराणः"। "सादन्यं विदथ्यम्"। प्रकृतिदीर्घावित्येकशब्दः अत्र मुख्यवाची। तेन काण्वव्यतिरिक्तानां केपाञ्चित्पदकाले ह्रस्वपाठो भवति। प्लीहाकर्ण इति अष्टसप्तति पदानीत्युक्तिः सूत्रोक्तपदापेक्षया। तेन पदसारूप्यादधिकोदाहरणप्रदर्शनेऽपि न दोषः इत्यवधेयम्। चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः। "तेन यज्ञपतिं देवा युवम्"। "देवा युवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे"। "वाचमस्मेति यच्छ देवा युवम्" इति सिध्यति॥ १२९॥

अनुनासिकमुपधा प्रागन्तःस्थायाः॥ १३०॥

सू० अ०—अन्तस्था (४।६) से पहले तक उपधा स्वर के अनुनासिक (होने का अधिकार चलेगा)।

उ०—ह्रस्वो दीर्घः प्लुतः सानुनासिको निरनुनासिक उदात्तोऽनुदात्तः स्वरित इति स्वरधर्माः। तत्र पदे दृष्टस्यान्यथाभावो विकार उच्यते। स चात्र स्वरे एवाधिकृतो न व्यञ्जने यतो दीर्घमित्यारभ्यते। अत इहापि स्वरस्यैवानुनासिक्यं विकार उच्यते। इयांस्तु विशेषः—यत्र नकारमकारावेव परभूतौ तयोश्च विकारे सति स्वरस्य विकारः। यत्र तु तयोः प्रकृतिभावो वा लोपो वा तत्र स्वरस्यापि विकारो न भवति। यथा—"अस्मान् सीते" (वा० १२।७०)। इत्येवमादि। दत्प्रागन्तस्थासंशब्दनात्। यमित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रोपधाभूतः स्वरोऽनुनासिकं स्वरं विकारमापद्यते इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्। वक्ष्यति—"नुः" (३।१३३)। "चछयोः शम्" (३।१३४)। यथा—"प्लुषीन् चक्षुपे = वाचे प्लुषीँश्चक्षुपे" (वा० २४।२६)। "गवयान् त्वष्ट्रे = बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान्" (वा० २४।२८)॥ १३०॥

उ० अ०—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सानुनासिक, निरनुनासिक, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—ये स्वर (vowel) के धर्म हैं। पद-पाठ में दिखलाई पड़ने वाले (किसी वर्ण का) (संहिता-पाठ में) दूसरी प्रकार का हो जाना विकार कहा जाता है। और जहाँ से दीर्घ होने का प्रारम्भ किया गया है वहाँ (३।९७) से स्वर के विषय में ही विकार को अधिकृत किया गया है, व्यञ्जन के विषय में नहीं। इसलिए यहाँ पर भी स्वर के ही आनुनासिक्य रूप विकार को कहा जाता है। इतना तो अन्तर है—जहाँ पर नकार और मकार ही बाद में स्थित हैं वहाँ उनका विकार होने पर स्वर का विकार होता है। किन्तु जहाँ पर उन (= मकार और नकार) का प्रकृतिभाव

अथवा लोप होता है वहाँ स्वर का भी विकार नहीं होता है। जैसे—"अस्मान् सीते" इत्यादि में। यहाँ से आगे; (प्रागन्तःस्थायाः) अन्तस्था के उच्चारण (= उल्लेख) (अर्थात् ४।६) से पहले तक; जो कहेंगे वहाँ; (उपधा =) उपधाभूत स्वर; अनुनासिक स्वर रूप विकार को प्राप्त हो जाता है—इसे अधिकृत जानना चाहिए। (सूत्रकार) कहेंगे—"(अधोलिखित स्थलों में) नकार (का अधिकार चलता है")। "चकार और छकार बाद में होने पर (नकार) शकार (हो जाता है")। जैसे—"प्लुषीन् चक्षुषे=वाजे प्लुषीँश्चक्षुषे"। "गवयान् त्वष्ट्रे=बृहस्पतये गवयाँस्त्वष्ट्र उष्ट्रान्"।

अ०—"अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्" इति वक्ष्यति। इत ऊर्ध्वं अन्तस्थासंशब्दनात् प्राक् यदनुक्रमिष्यामः तत्र उपधाभूतस्वरः अनुनासिकविकारमापद्यते इत्यधिकृतो वेदितव्यः। अधिकारोऽयम् ॥ १३० ॥

स्वर औपशविः ॥ १३१ ॥

सू० अ०—औपशवि के अनुसार स्वर बाद में होने पर (उपधाभूत स्वर अनुनासिक होता है)।

उ०—औपशविराचार्यः स्वर एव प्रत्यय उपधानुनासिक्यमिच्छति। "नुः" (३।१३३) इति वक्ष्यति। अतस्तस्यैव परभूतो यः स्वर उक्तः उपधा च तस्यैव ग्राह्या। यथा—"महान् इन्द्रः = महाँ इन्द्रो वज्रहस्तः" (वा० २६।१०)। "स्वान् अहम् = उन्नयामि स्वाँ अहम्" (वा० ११।८२)। "शत्रून् अप = जहि शत्रूँ रप मृधो नुदस्व" (वा० ७।३७)। स्वर इति किम्? "गवयान् = त्वष्ट्रे = गवयाँस्त्वष्ट्रे" (वा० २४।२८) ॥ १३१ ॥

उ० अ०—औपशवि आचार्य; स्वरे = स्वर बाद में होन पर; ही उपधा के आनुनासिक्य को अभीष्ट मानते हैं। (सूत्रकार) कहेंगे "(अधोलिखित स्थलों में) नकार (का अधिकार चलता है)"। इसलिए उस (नकार) का जो परवर्ती स्वर कहा गया है उसकी ही उपधा का ग्रहण करना चाहिए। जैसे—"महान् इन्द्रः=महाँ इन्द्रो वज्रहस्तः"। "स्वान् अहम् = उन्नयामि स्वाँ अहम्"। "शत्रून् अप=जहि शत्रूँ रप मृधो नुदस्व"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "गवयान् त्वष्ट्रे=गवयां त्वष्ट्रे"।

अ०—पूर्वं सामान्येनानुनासिकोऽभिहितः। तत्र विशेषोऽयम्। औपशविराचार्यः स्वरे परे एव उपधानुनासिक्यमिच्छति यथा—"महान् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः"। "स्वान् अहम् = स्वाँ अहम्"। स्वरे किम्? "गवयान् त्वष्ट्रे = गवयांस्त्वष्ट्रे"। "अहींश्च सर्वान् जम्भयन्"। अयमत्र विशेषः। तकारमकारावेवात्र परभूतौ भवतः। तयोश्च विकारे सति उपधास्वरस्यापि विकारः। यथा—"महाँ इन्द्रः"। "प्लुषींश्चक्षुषे" इत्यादि। यत्र तु नकारमकारयोः प्रकृतिभावो दृश्यते तत्र उपधास्वरस्यापि न विकारः। यथा—"अस्मान् सीते" इत्यादि ॥ १३१ ॥

अनुस्वारेण व्यञ्जने ॥ १३२ ॥

सू० अ०—(नकार के बाद में) व्यञ्जन होने पर अनुस्वार का (आगम हो जाता है) ।

उ०—नकारात् परे व्यञ्जनेऽनुस्वारेण व्यवधानमिच्छत्यागमिकेन औपशविराचार्यः । अयं च उपधानकारयोरितरो भवति । यत्र नकारस्य शकारः सकारो वा विहितस्तत्रापि भवति "अनुस्वारं रोष्मसु" (४।१) इति वचनात् । यथा–"प्लुषीन् चक्षुषे="प्लुषींश्चक्षुषे" (वा० २४।२६)। "गवयान् त्वष्ट्रे="गवयांस्त्वष्ट्रे"(वा०२४।२८)।।

उ० अ०—नकार से बाद में; व्यञ्जने = व्यञ्जन होने पर; औपशवि आचार्य आगम के रूप में आने वाले; अनुस्वारेण = अनुस्वार के द्वारा; व्यवधान को अभीष्ट मानते हैं । और यह (अनुस्वार) उपधा और नकार से अन्य होता है । "रेफ और ऊष्म बाद में होने पर अनुस्वार हो जाता है"—इस विधान से (सूचित होता है कि) जहाँ नकार का शकार अथवा सकार होता है वहाँ पर (अनुस्वार का आगम) होता है । जैसे–"प्लुषीन् चक्षुषे = प्लुषींश्चक्षुषे" । "गवयान् त्वष्ट्रे = गवयांस्त्वष्ट्रे" ।

अ०—व्यञ्जने परे उपधानुस्वारेण व्यवधीयते । अयमर्थः—यत्र नकारस्य सकारः शकारो वा विहितः तत्रायं विधिर्भवति । यथा–"प्रुषीन् चक्षुषे = प्रुषींश्चक्षुषे" । "अस्मांस्त्रिवरूथे" ॥ १३२ ॥

नुः ॥ १३३ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में) नकार (का अधिकार चलता है) ।

उ०—(नुः =) नकारः; अधिकृतो वेदितव्यः ॥ १३३ ॥

उ० अ०—(नुः =) नकार को; अधिकृत जानना चाहिए ।

अ०—नुः इति नकारस्य संज्ञा । यत् इत ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तत्कार्यं नकारः प्राप्नोतीत्यधिक्रियन्ते । १३३ ॥

चछयोः शम् ॥ १३४ ॥

सू० अ०—चकार और छकार बाद में होने पर (नकार) शकार (हो जाता है) ।

उ०—(चछयोः =) चकारछकारयोः; प्रत्यययोर्नकारः; (शम् =) शकारम्; आपद्यते अनुनासिकं चोपधा । यथा–"अहीन् च = अहींश्च सर्वान्" (वा० १६।५) । "प्लुषींश्चक्षुषे" (वा० २८।२६) । छकारोदाहरणं मृग्यम् । रूपोदाहरणं तु विद्यते । यथा–"विद्वान् छकारः = विद्वांश्छकारः" ॥ १३४ ॥

उ० अ०—(चछयोः =) चकार और छकार बाद में होने पर; नकार; (शम् =) शकार; हो जाता है। और पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) अनुनासिक हो जाता है। जैसे—"अहीन् च=अहीँश्च सर्वान्"। "प्लुषीँश्चक्षुषे"। छकार के उदाहरण को ढूँढ़ना चाहिए। लौकिक उदाहरण तो मिलता है। जैसे—"विद्वान् छकारः = विद्वाँश्छकारः"।

अ०—नकारः शकारमापद्यते चकारछकारयोः परतः। उपधानुस्वारेण व्यवधीयते। यथा—"अहीन् च = अहींश्च सर्वान् जम्भयन्"। "प्रुषीन् चक्षुषे=प्रुषींश्चक्षुषे"। छकारः अनुस्वारेण चोपधाव्यवधीयते ॥ १३४ ॥

तथयोः सम् ॥ १३५ ॥

सू० अ०—तकार और थकार बाद में होने पर (नकार) सकार (हो जाता है)।

उ०—(तथयोः =) तकारथकारयोः प्रत्यययोर्नकारः (सम् =) सकारमापद्यते। अनुनासिकं चोपधा। यथा—"गवयान् त्वष्ट्रे=गवयाँस्त्वष्ट्रे" (वा० २४।२८)। "अन्यान् ते = अन्याँस्ते" (वा० १७।११)। थकारस्य रूपोदाहरणम्। यथा—"विद्वान् थकारः = विद्वाँस्थकारः" ॥ १३५ ॥

उ० अ०—(तथयोः =) तकार और थकार बाद में होने पर; नकार; (सम् =) सकार; हो जाता है। और पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) अनुनासिक हो जाता है। जैसे—"गवयान् त्वष्ट्रे = गवयाँस्त्वष्ट्रे"। "अन्यान् ते = अन्याँस्ते"। थकार का लौकिक उदाहरण है। जैसे—"विद्वान् थकारः = विद्वाँस्थकारः"।

अ०—नकारः सकारमापद्यते तकारथकारयोः परतः। उपधा चानुस्वारेण व्यवधीयते। यथा "गवयान् त्वष्ट्रे=गवयांस्त्वष्ट्रे"। "अन्यान् ते=अन्यांस्ते"। "ब्रह्मन् त्वम्=ब्रह्मांस्त्वम्"। थकारे यथा—"विद्वान् थकारः" (विद्वांस्थकारः) इति रूपोदाहरणम् ॥

दधन्वान् स्ववान्यकारे लोपम् ॥ १३६ ॥

सू० अ०—यकार बाद में होने पर दधन्वान् और स्ववान् (का नकार) लोप (को प्राप्त करता है)।

उ०—दधन्वान् स्ववान् एतौ नकारौ यकारे प्रत्यये लोपमापद्येते। अत्र च लोपविधानादुपधानुनासिक्यमपि न भवति। यथा चोक्तम्—

"स्वराणामानुनासिक्यं प्रतिजानन्ति सर्वदा। वर्जयित्वा तमाकारं यत्र लोपो विधीयते" ॥

यथा—"दधन्वान् यः = दधन्वा यो नर्यो अप्स्वन्तरा" (वा० १९।२)। स्ववान् यथा—"स्ववा यात्ववाङ्" (वा० ३४।२६) ॥ १३६ ॥

उ० अ०—यकारे = यकार बाद में होने पर; दधन्वान्, स्ववान्–इनके नकार लोप को प्राप्त करते हैं। और यहाँ पर लोप का विधान होने से पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) का आनुनासिक्य भी नहीं होता है। जैसा कहा भी कहा गया है–(आचार्य लोग) सर्वदा स्वरों के अनुनासिक होने का प्रतिपादन करते हैं, उस आकार को छोड़कर जहाँ लोप का विधान किया जाता है।...।

अ०–दधन्वान् स्ववान् इति नकारौ लोपमापद्येते यकारे परे। अत्र लोपविधानात् उपधानासिक्यं न भवति। उक्तं च याज्ञवल्क्य शिक्षायाम्—

उपधारञ्जनं कुर्यान्मनोर्विकरणे सति। लोपे प्रकृतिभावेऽपि नोपधारञ्जनं भवेत्॥

इति अस्यार्थः—मकारनकारयोर्वर्णान्तरापत्त्या विकारे जाते सति उपधारञ्जनं उपधाया आनुनासिक्यं कुर्यात्। लोपप्रकृतिभावयोस्तु तन्न कुर्यात्। वसिष्ठशिक्षायामपि—

स्वराणामानुनासिक्यं प्रतिजानन्ति सर्वदा। वर्जयित्वा तमाकारं यत्र लोपो विधीयते॥

इति। यथा–"दधन्वान् यः = दधन्वा यो नर्यः"। "स्ववान् यातु=स्ववा यात्ववाङ्"॥

रयिवृधे च॥ १३७॥

सू० अ०–रयिवृध वाद में होने पर भी (नकार का लोप हो जाता है)।

उ०—रयिवृध इत्येतस्मिंश्च प्रत्यये पूर्वो नकारो लोपमापद्यते। यथा–"अन्नान् रयिवृधः = पीवो अन्ना रयिवृधः" (वा० २७।२३)। उक्तहेतुत्वादत्राप्युपधानुनासिक्यं न भवति॥ १३७॥

उ० अ०—रयिवृधे = रयिवृध–यह बाद में होने पर; च = भी; पूर्ववर्ती नकार लोप को प्राप्त करता है। जैसे–"अन्नान् रयिवृधः = पीवो अन्ना रयिवृधः"। (३।१३६ के भाष्य में) कहे गये हेतु (= लोप-विधान) से पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) का आनुनासिक्य नहीं होता है।

अ०—नकारो लुप्यते रयियृधेशब्दे परे। "पीवो अन्नान् रयिवृधः = पीवो अन्ना रयिवृधः"॥ १३७॥

नपुंसकादिकारस्य॥ १३८॥

सू० अ०—नपुंसक लिङ्ग वाले (शब्द के नकार) से परवर्ती इकार का (लोप हो जाता है)।

उ०—नपुंसकादुत्तरो यो नकारस्तस्य सम्बन्धिन इकारस्य लोपो भवति। यथा–"एमन् सादयामि भस्मन् सादयामि" (वा० १३।५३)। एमनि भस्मनि इति प्राप्ते इकारलोपश्छान्दसः। नपुंसकादुत्तरस्येकारस्य लोप उक्तोऽनपुंसकादपि भवति। यथा–"अश्मन्नूर्जम्" (वा० १७।१)। अश्मनीति प्राप्ते॥ १३८॥

उ० अ०—नपुंसकात् = नपुंसकलिङ्ग (शब्द) से उत्तरवर्ती जो नकार है उसके (परवर्ती); इकारस्य=इकार का; लोप हो जाता है। जैसे—"एमन् सादयामि भस्मन् सादयामि"। एमनि, भस्मनि प्राप्त होने पर इकार का लोप छान्दस है। नपुंसकलिङ्ग से उत्तरवर्ती इकार का लोप कहा गया है, नपुंसकलिङ्ग से भिन्न (लिङ्ग वाले शब्द) से (उत्तरवर्ती इकार का लोप) भी होता है। जैसे—"अश्मन्नूर्जम्"। अश्मनि—यह प्राप्त होने पर (अश्मन् हो गया है)।

अ०—नकारान्तान्नपुंसकलिङ्गात्परस्य इकारस्य लोपः स्यात्। यथा एमनीति प्राप्ते "एमन्त्सादयामि"। अत्र नपुंसकादिति सम्भवाभिप्रायेण। तेन पुल्लिङ्गेऽपि भवति। यथा—"अश्मन्नूर्जम्" इत्यादि। अश्मन्शब्दः पुल्लिङ्गशब्दः पालाशप्रस्तरग्रावोपलाश्मान इत्यभिधानात्। यच्च निशब्दो बहुलमिति पूर्वमुक्तम् तत् निशब्दस्येति न पौनरुक्त्यम्॥

न सप्तम्यामन्त्रितयोः। १३९॥

सू० अ०—सप्तमी और सम्बोधन में (इकार का लोप) नहीं (होता है)।

उ०—सप्तम्यामन्त्रितयोर्विभक्त्योः सम्बन्धिन इकारस्य न लोपो भवति। यथा—"अपान्त्वा सधिषि" (वा० १३।५३)। "अपान्त्वा पाथसि" (वा० १३।५३)। एते सप्तम्या उदाहरणे। "पृथिवि" (वा० १।२५)। आमन्त्रितविभक्तेरुदाहरणम्। अनकारार्थं आरम्भः॥ १३९॥

उ० अ०—(सप्तम्यामन्त्रितयोः =) सप्तमी और सम्बोधन की विभक्तियों के; इकार का लोप; न = नहीं; होता है। जैसे—"अपान्त्वा सधिषि"। "अपान्त्वा पाथसि"। ये सप्तमी (विभक्ति) के उदाहरण हैं। "हे पृथिवि"। सम्बोधन विभक्ति का उदाहरण है। नकार से भिन्न के लिए (यह सूत्र) आरम्भ (किया गया है)।

अ०—सप्तम्यामन्त्रणाविभक्त्योः इकारस्य न लोपः। सप्तम्या यथा—"अपां त्वा सधिषि सादयामि"। "अपान्त्वा पाथसि"। आमन्त्रितस्य यथा—"हे प्रिया पाथांसि"। अनकारार्थोऽयमारम्भः॥ १३९॥

नॄन् पकारे विसर्जनीयम्॥ १४०॥

सू० अ०—पकार बाद में होने पर नॄन् (का नकार) विसर्जनीय (हो जाता है)।

उ०—नॄनित्ययं नकारः पकारे प्रत्यये विसर्जनीयमापद्यते अनुनासिकं चोपधा। यथा—"नॄन् पाहि = नॄँः पाहि शृणुधी गिरः" (वा० १३।५२)॥ १४०॥

उ० अ०—पकारे = पकार बाद में होने पर; नॄन् का नकार विसर्जनीय हो जाता है और पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) अनुनासिक (हो जाता है)। जैसे—"नॄन् पाहि = नॄँः पाहि शृणुधी गिरः"।

अ०—नॄन्नकारः पकारे परे विसर्जनीयमाप्नोति । अनुनासिका चोपधा । "जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शाकटायनः" इति विसर्जनीयस्य उपध्मानीयः । यथा—"नॄन् पाहि = नॄँः पाहि शृणुधी गिरः" ॥ १४० ॥

शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन् स्वरे रेफम् ॥ १४१ ॥

सू० अ०—स्वर बाद में होने पर शत्रून्, परिधीन्, क्रतून् और वनस्पतीन् (का नकार) रेफ (हो जाता है) ।

उ०—**शत्रून् परिधीन् क्रतून् वनस्पतीन्** एते नकाराः **स्वरे** प्रत्यये **रेफ**मापद्यन्ते अनुनासिकं चोपधा । शत्रून् यथा—"जहि शत्रूँ रप मृधः" (वा० ७।३७) । परिधीन् यथा—"वन्वन्नवातः परिधीँ रपः" (वा० १६।५३) । क्रतून् यथा—"अग्ने क्रत्वा क्रतूँ रनु" (वा० १९।४०)। वनस्पतीन् यथा—"ये वा वनस्पतीँ रनु" (वा०१३।७)॥

उ० अ०—**स्वरे** = स्वर बाद में होने पर; **शत्रून, परिधीन्, क्रतून्, वनस्पतीन्**—इनके नकार **रेफ** हो जाते हैं और पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) अनुनासिक हो जाता है ।···।

अ०—एतेषा चतुर्णां नकारः रेफमेति स्वरे परे । अनुनासिका चोपधा । यथा—शत्रून्—"अप जहि शत्रूँरपमृधो नुदस्व । "वन्वन्नवातः परिधीँरपोर्णु" । "अग्ने क्रत्वा क्रतूँरनु" । "ये वा वनस्पतीँरनु"। स्वरे किम् ? शत्रून् परिशूर ॥ १४१ ॥

आकारोपधो यकारम् ॥ १४२ ॥

सू० अ०—आकार पूर्व में होने पर (नकार) यकार हो जाता है ।

उ०—**आकारोपधो** नकारो **यकार**मापद्यते । स्वर इत्यनुवर्तते । अनुनासिकं चोपधा । यथा—"महान् इन्द्रः" (वा० ७।४०) । महाँ य् इन्द्र इत्येवं संहिता प्राप्नोति । ततो "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" (४।१२७) इति यकारलोपे कृते "न परकालः पूर्वकाले पुनः" (३।४) इति सन्धिर्न भवति । ततो महाँ इन्द्र इत्येतद्रूपं सम्भवति । ननु यथा—"दधन्वान् स्ववान् यकारे लोपम्" (३।१३६) इति नकारलोपे कृते सत्युपधानुनासिक्यं न प्रवर्त्तते एवमिहापि नकारस्य यकारीभूतस्याश्रवणादुपधानुनासिक्यं न प्रवर्त्तते । तत्कथमुपधानुनासिक्यमिति । लुप्तस्यापि स्वकार्यकारणादित्यदोषः, यदि हि यकारो व्यञ्जनकार्यं न कुर्यात् कथमिह स्वरयोः सन्धिर्न स्यात् । अतः स्वकार्यकारणादुपधानुनासिक्यमपि भवति—"वृष्टिमान् इव = पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव" (वा० ७।४०) ॥ १४२ ॥

उ० अ०—**आकारोपधः** = आकार है अव्यवहित पूर्व में जिसके वह; नकार **यकार** हो जाता है । 'स्वर' बाद में होने पर-इसकी (३।१४२ से) अनुवृत्ति हो रही

है। और पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) अनुनासिक हो जाता है। जैसे—"महान् इन्द्रः"। "महाँ य् इन्द्रः" ऐसी संहिता प्राप्त होती है। इसके बाद "दो स्वरों के मध्य में स्थित होने पर पदान्तीय यकार और वकार का लोप हो जाता है" इस (सूत्र) से यकार का लोप करने पर "परकाल की संधि होने के बाद पुनः पूर्वकाल की संधि प्राप्त होने पर परकाल की संधि सिद्ध नहीं रहती" इससे संधि नहीं होती है। तब "महाँ इन्द्रः" यह रूप होता है। शङ्का—जैसे-"यकार बाद में होने पर दधन्वान् और स्ववान् का नकार लोप को प्राप्त करता है" इससे नकार का लोप करने पर पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) का आनुनासिक्य नहीं होता है उसी प्रकार यहाँ पर भी यकार बने हुए नकार का श्रवण (उच्चारण) न होने से पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) का आनुनासिक्य नहीं होता है। तब (यहाँ) पूर्ववर्ती वर्ण का आनुनासिक्य कैसे हुआ ? (समाधान) लुप्त (यकार) भी अपना कार्य करता है-अतः यहाँ कोई दोष नहीं है, क्योंकि यदि यकार व्यञ्जन का कार्य न करे तो यहाँ स्वरों की संधि क्यों नहीं होगी। अतः (लुप्त यकार के द्वारा) अपना कार्य करने से पूर्ववर्ती वर्ण का आनुनासिक्य भी होता है— "वृष्टिमान् इव = पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव" ॥

अ०—आकारोपधो नकारः यकारमापद्यते स्वरे परे। अनुनासिका चोपधा। "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति यकारस्य लोपे कृते "न परकालः पूर्वकाले पुनः" इति संधिर्न सम्भवति। यथा—"महान् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः"। ननु लोपे कृते उपधारञ्जनं न भवतीत्युक्तम्। तत्कथमत्र लुप्तत्वात् उपधारञ्जनमिति चेत् इत्थम्-यत्र साक्षात् नकारमकारलोपः तत्र उपधारञ्जनं न भवति। यत्र वर्णान्तरापत्त्या लुप्यते तत्र भवत्ये-वेत्यदोषः। अन्यथा स्वरयोः सन्धिरपि स्यात्। अतः उपधारञ्जनं भवत्येवात्र ॥ १४२ ॥

न तमे ॥ १४३ ॥

सू० अ० - तम बाद में होने पर (नकार विकार को प्राप्त) नहीं (करता है)।

उ० — यन्नकारस्य तकारे प्रत्यये विहितं तत्; (तमे =) तमप्रत्यये न भवति। यथा—"मदिन् तमानाम् = मदिन्तमानान्त्वा" (वा० ८।४८)। "मधुन् तमानाम् = मधुन्तमानान्त्वा" (वा० ८।४८)। "तथयोः सम्" (३।१३५)। इत्यस्यापवादः ॥

उ० अ०—तकार बाद में होने पर नकार का जो (विकार) विहित किया गया है वह; तमे = तम बाद में होने पर; न = नहीं; होता है। जैसे-"मदिन् तमानाम् = मदिन्तमानान्त्वा"। "मधुन् तमानाम् = मधुन्तमानान्त्वा"। "तकार और थकार बाद में होने पर नकार सकार हो जाता है"—इस (सूत्र) का अपवाद है।

अ०—तमप्रत्यये परे नकारः न विकारमाप्नोति। यथा—"मदिन् तम =

आप्यायस्व मदिन्तम"। "मघुन्तमानां त्वा"। "वृत्रहन्तममिळाभिः"। "वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा"। तथयोस्समिति प्रामस्यापवादः ॥ १४३ ॥

निर्जगन्वान् तमसि ॥ १४४ ॥

सू० अ०—तमस् बाद में होने पर निर्जगन्वान् (का नकार विकार को प्राप्त) नहीं (करता है)।

उ०—निर्जगन्वान् इत्ययं नकारस्तमसि प्रत्यये न विकारमापद्यते। यथा—"निर्जगन्वान् तमसः = निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात्" (वा० १२।१३) ॥ १४४ ॥

उ० अ०—तमसि = तमस् बाद में होने पर; निर्जगन्वान् का नकार विकार को प्राप्त नहीं करता है। जैसे—"निर्जगन्वान् तमसः = निर्जगन्वान्तमसो ज्योतिषागात्" ॥

अ०—निर्जगन्वान्नकारः न विकारमाप्नोति तमश्शब्दे परे "निर्जगन्वान्तमसः"। पूर्वस्याप्राप्तेरारम्भः ॥ १४४ ॥

धामञ्छत्रूँश्चिकित्वान्त्वं पूषन्नर्वन्निति च ॥ १४५ ॥

सू० अ०—धामन्, शत्रून्, चिकित्वान् त्वम्; पूषन् और अर्वन् (का नकार) भी (विकार को प्राप्त नहीं करता है)।

उ०—धामन् शत्रून् चिकित्वान् त्वम् पूषन् अर्वन् एते नकारा न विकारमापद्यन्ते। धामन् यथा—"धामन्ते विश्वं भुवनम्" (वा० १७।९९)। शत्रून् यथा—"शत्रून्ताढि विमृधो नुदस्व" (वा० १८।७१)। चिकित्वान् त्वं यथा—"आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वम्" (वा० २९।२५)। त्वमिति किम्? "स प्रथमो वृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मै" (वा० ७।१५)। पूषन् यथा—"पूषन्तव व्रते वयम्"। (वा० ३४।४१)। अर्वन् यथा—"तव शरीरं पतयिष्ण्वर्वन्तव चित्तम्" (वा० २९।२२)। इति चेत्यस्यावयवस्यार्थः। इतिशब्दः प्रकारदर्शनार्थः। यथा अधस्तनसूत्रयोस्तकारे नकारस्य प्रकृतिभावः एवमिहापि नकारस्य प्रकृतिभाव एव। तथा च व्याख्यातम्। चकारस्तकारापवादावधिद्योतनार्थः ॥ १४५ ॥

उ० अ०—धामन्, शत्रून्, चिकित्वान् त्वम्, पूषन्, अर्वन्—इनके नकार विकार को प्राप्त नहीं करते हैं।'''। इति च—(सूत्र के) इस अंश का अर्थ (बतलाया जाता है)। इति शब्द 'प्रकार' को दिखलाने के लिए है। जिस प्रकार पूर्ववर्ती दो सूत्रों में तकार बाद में होने पर नकार का प्रकृतिभाव (होता है), उसी प्रकार यहाँ भी नकार का प्रकृतिभाव ही होता है। वैसा व्याख्यान भी किया गया है। (सूत्रोक्त) चकार तकार के अपवाद की अवधि को बतलाने के लिए है।

अ०—एते नकाराः न विकारमापद्यन्ते। यथा—"धामं ते विश्वम्"। "विशत्रून्ताळ्हि"। "आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः"। चिकित्वान्त्वमिति किम्? "स प्रथमो वृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मै"। "पूषन् तव व्रते"। "पतयिष्णवर्वन्तव"। चकारात् "वाचोऽयं तुर्ये"॥ १४५॥

अश्वादौ चाध्याये। १४६॥

सू० अ०—अश्व से प्रारम्भ होने वाले अध्याय में भी (नकार प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—स्वर इति वर्त्तते। (अश्वादौ =) अश्वस्तूपर इत्येतस्मिन्; अध्याये नकार आकारोपधः स्वरे प्रत्यये प्रकृत्या भवति। "आकारोपधो यकारम्" (३।१४२) इत्यस्यापवादः। यथा—"शिशुमारान् आलभते=समुद्राय शिशुमारानालभते" (वा० २४।२१)। "मण्डूकान् अद्भ्यः = मण्डूकानद्भ्य." (वा० २४।२१)। स्वरानुवृत्तिरिति किम्? "गवयाँस्त्वष्ट्रे" (वा० २४।२८)। "प्लुषीँ अक्षुषे" (वा० २४।२६)॥ १४६॥

उ० अ०—'स्वर वाद में होने पर'—इसकी अनुवृत्ति हो रही है। (अश्वादौ चाध्याये =) अश्वस्तूपरः—इस (चौबीसवें) अध्याय में (भी); आकार पूर्व में होने पर नकार, स्वर वाद में होने पर, प्रकृतिभाव से रहता है। "आकार पूर्व में होने पर नकार यकार हो जाता है" इसका अपवाद है। जैसे—"शिशुमारान् आलभते = समुद्राय शिशुमारानालभते"। "मण्डूकान् अद्भ्यः = मण्डूकानद्भ्यः"। स्वर की अनुवृत्ति (हो रही है)—यह क्यों (कहा)? "गवयाँस्त्वष्ट्रे"। "प्लुषीँ अक्षुषे"।

अ०—स्वर इत्यनुवर्त्तते। अश्वशब्दः आदिः यस्याध्यायस्येति विग्रहः। अश्वस्तूपर इत्यध्याये आकारोपधो नकारः प्रकृत्या स्यात् स्वरे परे। यथा—"वसन्ताय कपिञ्जलानालभते"। "समुद्राय शिशुमारानालभते"। इत्युदाहारणानि बहूनि द्रष्टव्यानि। अश्वाध्यायेति किम्? "स्वाँ अहम्"। स्वरे किम्? "गवयाँस्त्वष्ट्रे"। "प्रुषीँ श्चक्षुषे"।

मनुष्याँस्ताँल्लोकानमित्रानुदि॥ १४७॥

सू० अ०—उत् बाद में होने पर मनुष्यान्, तान्, लोकान् और अमित्रान (के नकार प्रकृतिभाव से रहते हैं)।

उ०—मनुष्यान् तान् लोकान् अमित्रान् एते नकाराः प्रकृत्या भवन्ति उदि उपसर्गे प्रत्यये। मनुष्यान् यथा—"मनुष्यान् उत्=मनुष्यानुदजयताम्" (वा० ९।३१)। तान् यथा—"तान् उत् = तानुज्जेषम्" (वा० ९।३१)। लोकान् यथा—त्रीँल्लोकानुदजयताम्" (वा० ९।३१)। अमित्रान् यथा—"क्षिणोमि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वान्" (वा० ११।८२)॥ १४७॥

उ० अ०—उदि=उत् उपसर्ग बाद में होने पर; मनुष्यान्, तान्, लोकान्, अमित्रान्—इनके नकार प्रकृतिभाव से रहते हैं।...।

अ०—एते चत्वारो नकाराः प्रकृत्या स्युः उच्छब्दे परे। यथा—"मनुष्यानुदजयताम्"। "तानुज्जेषम्"। "इमान् लोकानुदजयत्"। "अमित्रानुन्नयामि" ॥१४७॥

आप्नोतीत्योश्च ॥ १४८ ॥

सू० अ०—आप्नोति और इति बाद में होने पर (नकार विकार को प्राप्त नहीं करता है)।

उ०—(आप्नोतीत्योः =) आप्नोतौ प्रत्यये इतौ; च नकारो न विकारमापद्यते। आप्नोति यथा—"भक्षान् आप्नोति = इडाभिर्भक्षानाप्नोति" (वा० १६।२६)। इति यथा—"अपयान् इति = अदितिः अपयानिति" (वा० ११।५६) ॥ १४८ ॥

उ० अ०— (आप्नोतीत्योश्च =) आप्नोति बाद में होने पर और इति बाद में होने पर; नकार विकार को प्राप्त नहीं करता है।....।

अ०—आप्नोतौ इतिशब्दे च परे नकारः न विक्रियते। यथा—"इळाभिर्भक्षानाप्नोति"। "अदितिः अपयानिति" ॥ १४८ ॥

सङ्क्रमे च वैष्णवान् ॥ १४९ ॥

सू० अ०—सङ्क्रम में वैष्णवान् (का नकार) भी (विकार को प्राप्त नहीं करता है)।

उ०—वैष्णवानित्ययं नकारो न विकारमापद्यते स्वरे प्रत्यये। सङ्क्रमश्च क्रमे भवति। अतः (सङ्क्रमे =) क्रमसंहितायाम्—इत्यर्थः। यथा—"वैष्णवान् अव = वैष्णवानव" (वा० ५।२५) ॥ १४९ ॥

उ० अ०—वैष्णवान् का नकार (च = भी) विकार को प्राप्त नहीं करता है; स्वर बाद में होने पर। और सङ्क्रम क्रम-पाठ में होता है। इसलिए (सङ्क्रमे= सङ्क्रम में =) क्रम-पाठ में—यह अर्थ है। जैसे—"वैष्णवान् अव = वैष्णवानव"।

अ०—वैष्णवानिति नकारः न विक्रीयते स्वरे परे। क्रमसंहितायाम्। यथा—"वैष्णवान् अव = वैष्णवानव अवनयामि" ॥ १४९ ॥

गृहानैमि गृहानुपह्वयामहे वर्चस्वानहम्मनुष्याननन्तरिक्षमग्निष्वात्तानृतुमतः पयस्वानग्ने तानश्विना पतङ्गानसन्दितः स्वर्गानपां पतिः सपत्नानिन्द्रः सपत्नानिन्द्राग्नी नभस्वानार्द्रदानुर्विद्वानग्नेर्देवानस्त्रेधतानडवा-

नाशुरथैतानष्टौ विरूपानालभत एतावानस्यायुष्मानग्ने वायव्यानारण्याः प्रविद्वानग्निनानड्वानधोरामौ शत्रूननु यं यातुधानानस्थादस्मान-रिष्टेभिरिति ॥ १५० ॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्विपदों में पूर्व-पद का अन्तिम नकार प्रकृतिभाव से रहता है) गृहानैमि, गृहानुपह्वयामहे, वर्चस्वानहम्, मनुष्या-नन्तरिक्षम, अग्निष्वात्तानृतुमतः, पयस्वानग्ने, तानश्विना, पतङ्गान-सन्दितः, स्वर्गानर्पा पतिः, सपत्नानिन्द्रः, सपत्नानिन्द्राग्नी, नभस्वानार्द्रदानुः, विद्वानग्नेः, देवानस्रेधत, अनड्वानाशुः, अथैतानष्टौ, विरूपानालभते, एता-वानस्य, आयुष्मानग्ने, वायव्यानारण्याः, प्र विद्वानग्निना, अनड्वानधोरामौ शत्रूननु यम्, यातुधानानस्थात्, अस्मानरिष्टेभिः ।

उ०—एतेषां द्विपदानां पूर्वपदान्तीया नकाराः प्रकृत्या भवन्ति । "गृहानैमि मनसा मोदमानः" (वा० ३।४१) । "गृहानुपह्वयामहे" (वा० ३।४२) । "वर्च-स्वानहं मनुष्येषु" (वा० ८।३८) । "मनुष्यानन्तरिक्षमगन्" (वा० ८।६०) । "अग्निष्वात्तानृतुमतो हवामहे" (१९।६१) । "पयस्वानग्न आगमन्तम्" (वा० २०।२२)। "तानश्विना सरस्वती" (वा० २१।४२) । "तपूंष्यग्ने जुह्वा पतङ्गानसन्दितः" (वा० १३।१७) । "स्वर्गानर्पा पतिर्वृषभः" (वा० १३।३१) । "अधा सपत्ना-निन्द्राग्नी मे" (वा० १७।६४) । "समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः" (वा० १८।४५) । "प्राचीमनु प्रदिशं प्रेहि विद्वानग्नेः" (वा० १७।६६) । "देवानस्रेधतां मन्मना" (वा० १८।७५) । "अनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिः" (वा० २२।२२) । "अथैतानष्टौ विरूपानालभते" (वा० ३०।२२) । "एतावानस्य महिमा" (वा० ३१।३) । "आयुष्मा-नग्ने हविषा वृधानः" (वा० ३५।१७) । "वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" (वा० ३१।६)। "प्रविद्वानग्निना" । "अनड्वानधोरामौ" (वा० २९।५७) । "शत्रूननु यं विश्वे मदन्त्यूमाः" (वा० ३३।८०) । नकारस्य रेफापवादः । इतरत्र तु सर्वत्र यकारापवादः । "अपसेधन् रक्षसो यातुधानानस्थात्" (वा० ३४।२६) । "द्युभिरक्तुभिः परिपातम-स्मानरिष्टेभिः" (वा० ३४।३०) ॥ १५० ॥

उ० अ० –(गृहानैमि...अस्मानरिष्टेभिः) इन द्विपदों के पूर्व-पदों के अन्तिम नकार प्रकृतिभाव से रहते हैं ।....।

अ०—गृहानित्यादिपञ्चविंशतिनकाराः न विक्रियन्ते स्वरे परे । यथा "गृहानैमि मनसा" । "गृहानुपह्वयामहे" । "वर्चस्वानहं मनुष्येषु" । "मनुष्यानन्तरिक्षमगन्यज्ञः" । "अग्निष्वात्तानृतुमतः" । "पयस्वानग्न आगतम्" । "तानश्विना सरस्वतीन्द्रस्सुत्रामा" । "जुह्वा पतङ्गानसन्दितः स्वर्गानर्पा पतिर्वृषभः" । "अधा सपत्नानिन्द्रः" । "अधा

सपत्नानिन्द्राग्नी मे"। "समुद्रोऽसि नभस्वानार्द्रदानुः"। "प्रेहि विद्वानग्नेरग्ने:"। "यक्षि देवानसेघता मन्मना"। "अनड्वानाशुस्ससिः पुरन्धिः"। "अथैनानष्टौ विरूपानालभते"। "एतावानस्य महिमा"। "आयुष्मानग्ने हविषा वृधानः"। "वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये"। "प्रविद्वानग्निना"। परकीयमिदम्। "अनड्वानघोरामौ"। "शत्रूननु यं विश्वे"। "यातुधानानस्थाद्देवः अस्मानरिष्टेभि:" ॥ १५० ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ १५१ ॥

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सू० अ०—(यह शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा) अधिक महत्त्वपूर्ण है, (अत एव इस शास्त्र का अध्ययन करने वालों की) वृद्धि (होती है)।

कात्यायनकृत प्रातिशाख्य सूत्र—में तृतीय अध्याय समाप्त

उ०—इत्युक्तार्थम् ॥ १५१ ॥

उ० अ०—इसका अर्थ कहा जा चुका है।

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुना उवटेन कृते मातृमोदाख्ये प्रातिशाख्य-निर्मलभाष्ये तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

आनन्दपुरनिवासी वज्रट के पुत्र उवटकृत मातृमोदाख्य प्रातिशाख्य के निर्मलभाष्य में तृतीय अध्याय समाप्त।

अ०—उक्तार्थमेतत्। श्रीयाज्ञवल्क्यगुरुभ्यो नमः। ओम्।

श्रीमत्प्रथमशाखिना नागदेवभट्टात्मजेनश्रीमदनन्तभट्टेन विरचिते श्रीमत्प्राति-शाख्यभाष्ये तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

अनुस्वारं रोष्मसु मकारः ॥ १ ॥

सू० अ०—रेफ और ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर मकार अनुस्वार (हो जाता है) ।

उ०—"अनितावध्याये" (३।१९) इत्यनेन सूत्रेण अध्यायोऽवधित्वेन वर्णितः। अतोऽवधिपरिज्ञापनार्थमध्यायसमाप्तिः कृता कात्यायनाचार्येण । आह च—

"अनितावध्याय इति कृतं सूत्रं यतः पुरा । अतस्तदवधिज्ञप्तिः क्रियतेऽध्यायसङ्ख्यया ॥
अत्रावधिसमाधीतं पदमन्तर्विकारि यत् । आचार्येणोच्यते तस्य प्रागुक्त्यादिप्रयोजनम् ॥"

मकारोऽनुस्वारमापद्यते रोष्मसु प्रत्ययेषु । रेफे यथा—"अपाम् रसेन=अपां रसेन वरुणः" । (वा० १९।९४) । ऊष्मसु यथा—"त्वाम् शश्वन्तः = त्वां शश्वन्त उपयन्ति वाजाः" (वा० १७।७६) । "देवं सवितारमोण्योः" (वा० ४।२५) । "तपूंषि" (वा० १३।१०) । "उरुं हि राजा" (वा० ८।२३) ॥ १ ॥

उ० अ०—"इस अध्याय में आगे जो आगम और विकार कहे जायेंगे वे इति बाद में होने पर लागू नहीं होते हैं" इस सूत्र के द्वारा अध्याय को अवधि के रूप में कहा गया है । इसलिए अवधि को बतलाने के लिए आचार्य कात्यायन के द्वारा अध्याय की समाप्ति की गई है । कहा भी है-यतः (सूत्रकार के द्वारा) पहले "इस अध्याय में आगे विहित आगम और विकार इति बाद में होने पर लागू नहीं होते हैं" यह सूत्र वन या गया है, अतः अध्याय की सङ्ख्या के द्वारा उस (अध्याय) की अवधि का निश्चय (बोध) किया जाता है । मध्य में विकार को प्राप्त करने वाले जो पद आचार्य के द्वारा कहे गए हैं उनकी अवधि यहाँ पूरी हो गई है और उसका प्रयोजन प्राग्वचन इत्यादि है [जैसा कि ४।२३ में कहा गया है—"इति बाद में होने पर नहीं" इस अधिकार में कहे गए मध्यवर्ती विकार तथा आगम वाले पद को पहले कह कर (=प्राग्वचन करके) बाद में उस पद की आवृत्ति करनी चाहिए] ।

रोष्मसु=रेफ और ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर; मकारोऽनुस्वारम्=मकार अनुस्वार; हो जाता है ।···।

अ०—"अनितावध्याये" इत्यनेन सूत्रेणाध्यायोऽवधित्वेन विवक्षितः । अतोऽध्याय-समाप्तिं कृत्वा अस्मिश्चतुर्थाध्याये अनुस्वारो विकार उच्यते । उक्तं हि—

अनितावध्याय इति कृतं सूत्रं यतः पुरा। अतस्तदवधिज्ञप्तिः क्रियतेऽध्यायसङ्ख्यया ॥
अत्रावधिसमाधोतं पदमन्तर्विकारि यत्। आचार्येणोच्यते तस्य प्रागुक्त्यादिप्रयोजनम् ॥
इति। मकारोऽनुस्वारमापद्यते रेफोष्मसु परेषु। यथा–"अपां रसेन"। "त्वां शश्वन्तः"।
"देवं सवितारम्"। "उरुं हि राजा" ॥ १ ॥

नुश्चान्तःपदेऽरेफे ॥ २ ॥

सू० अ०—रेफ बाद में न होने पर नकार भी पद के मध्य में (अनुस्वार हो जाता है)।

उ०—(नुः=) नकारः; अनुस्वारमापद्यते। चशब्दान्मकारश्च। (अन्तःपदे=) पदस्य मध्ये; अरेफे। रेफशब्दस्य पर्युदासात्, ऊष्मस्वेवानुस्वारापत्तिर्भवति। यथा— "जक्षिवान् सः=जक्षिवांसः" (वा० ८।१६)। "पपिवान् सः=पपिवांसः" (वा०८।१६)। "तपून् षि = तपूंष्यग्ने" (वा० १३।१०)। "हवीन् षि = हवींषि" (वा०१७।७५)। एते नकारप्रकृतयोऽनुस्वाराः ॥ २ ॥

उ० अ०—नुः = नकार; अनुस्वार हो जाता है। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) मकार भी (अनुस्वार हो जाता है)। (अन्तःपदे =) पद के मध्य में; अरेफे = रेफ बाद में न होने पर। रेफ शब्द के निकाल देने (छोड़ देने) से (यह ज्ञात होता है कि) ऊष्म-वर्ण ही बाद में होने पर (पद के मध्य में मकार और नकार को) अनुस्वार की प्राप्ति होती है। जैसे—"जक्षिवान् सः = जक्षिवांसः"।"पपिवान् सः=पपिवांसः"। "तपून् षि=तपूंष्यग्ने"। "हवीन् षि=हवींषि"। ये नकार-प्रकृति वाले 'अनुस्वार' हैं (अर्थात् इन स्थलों में नकार के स्थान पर अनुस्वार आया है)।

अ०—नुः इति नकारः अनुस्वारमाप्नोति। चकारान्मकारश्च। पदमध्ये रेफ-व्यतिरिक्तेषु पूर्वोक्तेषु ऊष्मसु परेषु। यथा—"जक्षिवान् सः=जक्षिवांसः"। "पपिवांसः"। "तपून् सि = तपूंष्यग्ने"। "नमः किंशिलाय च"। "अंशुः"। "अंशुना ते"। अरेफ-मिति किम्? "वम् रः = यद्वम्रो अतिसर्पति"। "देव्यो वम्र्यः" ॥ २ ॥

वंश ॥ ३ ॥

सू० अ०—वंश (में नकार अथवा मकार अनुस्वार हो गया है)।

उ०—वनतेर्धातोर्वमतेरुणादेर्यो वशप्रत्ययः। वनतेर्वमतेर्धातोरौणादिकशप्रत्यये नकारप्रकृतिर्मकारप्रकृतिर्वा अनुस्वारः। सन्देहात् सूत्रकारेण कण्ठरवेण सूत्रं कृत्वा पठितः। अतो नकारप्रकृतिर्वा मकारप्रकृतिर्वा अनुस्वारः। "किम् शिलाय = किंशिलाय" (वा० १६।४३)। "अक्रंस्त" (वा० २।२५)। "पुंसः" (वा० २५।४५)। एते

मकारप्रकृतयोऽनुस्वारा भवन्ति। एवमन्येऽप्यन्वेषितव्याः। अरेफ इति किम्? वम्रः। "यद्वम्रो अतिसर्पति" (वा० ११।७४)॥ ३॥

उ० अ०—वन् (अथवा) वम् धातु से उणादि वशू प्रत्यय लगा है। वन् धातु से (अथवा) वम् धातु से उणादि श प्रत्यय लगने पर नकार प्रकृति वाला अथवा मकार प्रकृति वाला अनुस्वार (होता है)। सन्देह होने से सूत्रकार के द्वारा कण्ठ-ध्वनि (कण्ठोक्ति, एकाको रूप में) से सूत्र का निर्णाण करके पाठ किया गया है। इसलिए (वंश में जो) अनुस्वार है वह नकार प्रकृति वाला है अथवा मकार प्रकृति वाला है। "किम् शिलाय = किंशिलाय"। "अक्रंस्त"। "पुंसः"। ये अनुस्वार मकार प्रकृति वाले होते हैं (अर्थात् ये अनुस्वार मकार के स्थान पर आये हैं)। इनसे अन्य का भी अन्वेषण करना चाहिए। रेफ शब्द बाद में न होने पर—यह क्यों (कहा)? "वम्रः = यद्वम्रो अतिसर्पति"।

अनुनासिका चोपधा ॥ ४ ॥

सू० अ०—उपधा का स्वर अनुनासिक भी (हो जाता है)।

उ०—अतोऽधिकाराद्यमन्यं विकारं वक्ष्यामो मकारनकारयोस्तत्रानुनासिका चोपधा भविष्यतीत्यधिकृतं वेदितव्यम्। ननु "अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" (३।१३०) इति उपधानुनासिक्यं विहितमेव। किमनेन सूत्रेण क्रियते? एवन्तर्हि व्यवस्थार्थं वचनम्। यस्मिन् पक्षे अनुस्वारो न भविष्यति तस्मिन् पक्षे उपधाया आनुनासिक्यं भविष्यति। अधिकारार्थोऽयमारम्भः॥ ४॥

सू० अ०—इस अधिकार से मकार और नकार के जिस अन्य विकार को कहेंगे वहाँ; **उपधा** = उपधाभूत स्वर (= मकार और नकार से पूर्ववर्ती स्वर); **अनुनासिक**; च = भी, हो जायेगा—इसे अधिकृत जानना चाहिए। शङ्का—"अन्तस्थ (= ४।९) से पहले तक उपधा का स्वर अनुनासिक हो जाता है" इस (सूत्र) से उपधा के स्वर के अनुनासिक होने का विधान किया ही गया है। इस सूत्र से क्या किया जाता है? (समाधान) ऐसा (कहते हो) तो (हमारा उत्तर है कि) व्यवस्था के लिए (सूत्र का) कथन किया गया है। जिस पक्ष में अनुस्वार नहीं होगा उस पक्ष में उपधा का स्वर अनुनासिक होगा। यह सूत्र अधिकार के लिए है।

अ०— अत ऊर्ध्वं नकारमकारयोः विकारान्तरं ब्रूमः। तत्र उपधानुनासिक्यं स्यात् इत्यधिकृतं वेदितव्यम्। अधिकारसूत्रमेतत्! ननु "अनुनासिकमुपधा प्रागन्तस्थायाः" इति पूर्वं विहितमेव उपधानुनासिक्यम्। किमनेनेति चेत् सत्यम्। एवन्तर्हि व्यवस्थार्थं वचनम्। यस्मिन् पक्षे अनुस्वारो न भवति तदा आनुनासिक्यमित्यपुनरुक्तिर्द्रष्टव्या॥४॥

लोपं काश्यपशाकटायनौ ॥ ५ ॥

सू० अ०—काश्यप और शाकटायन (मकार और नकार का) लोप (मानते हैं)।

उ०—काश्यपशाकटायनावाचार्यौं मकारनकारयोर्लोपं मन्येते। अस्मिन् पक्षे वाक्यद्वयम्। अनुनासिका चोपधा भवति। यथा—"अपां रसेन" (वा०१९।९४)। पक्षे "अपाँ रसेन"। "त्वां शश्वन्तः", "त्वाँ शश्वन्तः" (वा० १७।७६)। "तां सवितुः", "ताँ सवितुः" (वा०१७।७४)। "त्वां हि", "त्वाँ हि" (वा० ३३।१३)। "तपूंषि", "तपूँष्यग्ने" (वा० १३।१०)। "अक्रंस्त", "अक्रँस्त" (वा०२।२५)। "किं शिलाय", "किँशिलाय"। (वा०१६।४३)। "यजूंषि", "यजूँषि सामभिः" (वा०२०।१२)॥ ५ ॥

उ० अ०—काश्यपशाकटायनौ = काश्यप और शाकटायन आचार्य; मकार और नकार का लोप मानते हैं। इस पक्ष में दो वाक्य (होते हैं) उपधा का स्वर अनुनासिक भी हो जाता है।....।

अ०—एतौ आचार्यौ नकारमकारयोः लोपं मन्येते रेफोष्मसु। अत्र पक्षे अनुनासिका चोपधा भवति। अनुस्वारानुनासिकयोर्भेदस्त्वध्येतृप्रसिद्धः। यथा—"अपाँ रसेन" "त्वाँ शश्वन्तः"। "त्वाँ सवितुः"। "त्वाँ हि मन्द्रतमम्"। अविशेषादपदान्तेऽपि। "तपूँष्यग्ने"। "यजूँषि सामभिः"। "नमः किँशिलाय" इत्यादि ॥ ५ ॥

प्रकृत्या सम्राट्साम्राजि ॥ ६ ॥

सू० अ०—सम्राट् और साम्राज् (= साम्राज्य) में (मकार) प्रकृतिभाव से (रहता है)।

उ०—सम्राट्शब्दे समः सम्बन्धी मकारो रेफे परभूते प्रकृत्या भवति। तथा; (साम्राजि =) साम्राज्यशब्दे; समो मकारो रेफे परे सति प्रकृत्या भवति। यथा—"सम्राडिति सम्—राट्=सम्राट् चक्षुः" (वा० २०।५)। "साम्राज्यमिति साम्—राज्यम्=साम्राज्यं गच्छेति मे" (वा०४।२४)। "साम्राज्येनाभिषिञ्चामि" (वा०१८।३७)।

उ० अ०—सम्राट् शब्द में सम् का मकार, रेफ बाद में होने पर; प्रकृत्या = प्रकृतिभाव से; (= अविकृत) रहता है। उसी प्रकार; (साम्राजि =) साम्राज्य शब्द में; सम् का मकार, रेफ बाद में होने पर; प्रकृत्या = प्रकृतिभाव से; रहता है।

अ०—समिति मकारः प्रकृत्या स्यात्। राट्राज्यशब्दयोः परयोः। अनुस्वारादेरपवादः। यथा—"सम्राट् चक्षुः"। "साम्राज्येनाभिषिञ्चामि"। "साम्राज्यं गच्छतात्"।

शं चे पकारादुकारोदयात् ॥ ७ ॥

सू० अ०—उकार है बाद में जिसके ऐसा पकार से परवर्ती (मकार) चकार बाद में होने पर, शकार हो जाता है।

उ०—पकारादुकारोदयात्परो मकारः (शम् =) शकारम्; आपद्यते (चे =) चकारे परभूते। अनुनासिका चोपधा भवति। यथा—"पुम् चली = पुँश्चली कितवः" (वा० ३०।२२)। च इति किम् ? "पुँसः" (वा० २५।४५)। पकारादुकारोदयादिति किम् ? "प्रमुञ्च" (वा० १६।९)। "विमुञ्चति" (वा० २।२३)॥

उ० अ०—(चे =) चकार बाद में होने पर; पकारादुकारोदयात् = उकार है बाद में जिसके ऐसा पकार से परवर्ती; मकार; (शम् =) शकार; हो जाता है। पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) अनुनासिक भी हो जाता है।...।

अ०—उकारोदयात् पकारात् परः मकारः शकारमाद्यते चकारे परे अनुनासिका चोपधा। "पुंचली=पुँश्चली क्लीवः"। पकारादुकारोदयात् किम् ? "प्रतिमुञ्चामि" ॥७॥

समन्तःपदे कखपफेष्वनूष्मपरेषु ॥ ८ ॥

सू० अ०—ऊष्म (वर्ण) बाद में नहीं है जिनके ऐसे ककार, खकार, पकार और फकार बाद में होने पर (मकार), पद के मध्य में, सकार हो जाता है।

उ०—(सम् =) सकारम; आपद्यते मकारः (अन्तःपदे =) पदमध्ये; कखपफेषु प्रत्ययेषु। किंविशिष्टेषु ? अनूष्मपरेषु = यद्यूष्माणः परभूता न भवन्ति। अनुनासिका चोपधा। यथा—"सम् कृतिः = सँस्कृतिः" (वा० ७।१४)। "पुम् खाताः= पुँस्खाताः"। "पुम् पुत्राः = पुँस्पुत्राः"। "पुम् फलाः = पुँस्फलाः"। अनूष्मपरेष्विति किम् ? "सम् क्षरे = सङ्क्षरेऽमृत इति" ॥ ८ ॥

उ० अ०—मकार; (अन्तःपदे =) पद के मध्य में; (सम् =) सकार; हो जाता है; कखपफेषु=ककार, खकार, पकार और फकार बाद में होने पर। किसके द्वारा विशिष्ट (ककार, खकार, पकार और फकार) बाद में होने पर ? अनूष्मपरेषु= यदि (ककार, खकार, पकार और फकार के) बाद में ऊष्म-वर्ण स्थित नहीं होते हैं।...।

अ०—पदमध्ये मकारः सकारमाप्नोति। कखपफेषु परेषु यद्यूष्माणः तेभ्यः परभूता न भवन्ति। तदा अनुनासिका चोपधा। यथा—"संकृतम् = सँस्कृतम्"। "सँस्कृतिर्विश्ववारा"। पफयो रूपोदाहरणं दीयते। यथा—"पुं पुत्रः = पुँस्पुत्रः"। "पुं फलम् = पुँस्फलम्"। अनूष्मपरेषु किम् ? संक्षरे=संक्षरेऽमृत इति ब्राह्मणोदाहरणम्। अत्र कषयोगे च इति ककारानन्तरं षकारस्य ऊष्मणः श्रवणान्न सत्वमिति भावः ॥ ८ ॥

नुश्चाम्रेडिते ॥ ९ ॥

सू० अ०—द्विरुक्त (आम्रेडित) (पद) में नकार भी (सकार हो जाता है)।

उ०—(नुः =) नकारः; चशब्दान्मकारः सकारमापद्यते। अनुनासिका चोपधा। आम्रेडिते पदे कखपफेष्वनूष्मपरेषु। "कान् कानामन्त्रयति = काँस्कानामन्त्रयति"। आम्रेडिते किम्? "कान् करवाणि"। इह यान्युदाहरणानि संहितायां नोपलभ्यन्ते तेषामपि लक्षणं प्रसङ्गात् क्रियमाणं न विरुध्यत एव यथा जलाहरणस्य मत्स्याहरणं पुष्पाहरणस्यं फलाहरणं च न विरुध्यते॥

उ० अ०—(नुः =) नकार; (सूत्रोक्त) च शब्द से मकार (भी) सकार हो जाता है। पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) अनुनासिक भी (हो जाता है)। आम्रेडिते= द्विरुक्त पद में; ऊष्म वर्ण नहीं है बाद में जिनके ऐसे ककार, खकार, पकार और फकार बाद में होने पर। (जैसे) "कान् कानामन्त्रयति = काँस्कानामन्त्रयति"। द्विरुक्त पद में—यह क्यों (कहा)? "कान् करवाणि"। यहाँ पर जो उदाहरण संहिता में उपलब्ध नहीं होते हैं उनका भी लक्षण प्रसङ्ग से किया जाने पर विरोध नहीं ही होता है जैसे कि जल लाने के साथ-साथ मछली लाने में और पुष्प लाने के साथ-साथ फल लाने में विरोध नहीं है।

अ०—नकारः सत्वमेति। कखपफेष्वनूष्मपरेषु। अनुनासिका चोपधा भवति द्विरुक्तं चेत्पदं भवति। यथा—"कान् कान् = काँस्कान् मन्त्रयते"। आम्रेडिते किम्? "कान् करोति"। इदं तु शिष्याणां लौकिकप्रयोगसिध्यर्थम् उक्तमाचार्येणेत्यवधेयम्। संहितायामुदाहरणाभावात् शाखान्तरोदाहरणसिध्यर्थं वा॥ ९॥

अन्तस्थामन्तस्थास्वनुनासिकां परसस्थानाम्॥ १०॥

सू० अ०—अन्तस्थ (वर्ण) बाद में होने पर (मकार) परवर्ती (अन्तस्थ वर्ण) के समान उच्चारण-स्थान वाला अनुनासिक अन्तस्थ (हो जाता है)।

उ०—अन्तस्थामापद्यते मकारः अन्तस्थासु परभूतासु परस्या अन्तस्थायाः समानस्थानां यदि नामानुनासिकां समानाम्। यथा—"सम् यौमि = सयँ यौमीदम्" (वा० १।२२)। "रासभम् युवम् = "युञ्जाथां रासभयँ युवम्" (वा० ११।१३)। "सम् वपामि = सवँ वपामि" (वा० १।२१)। "तम् लोकम् = तलँ लोकं पुण्यम्" (वा० २०।२५)। रेफोऽनुस्वारो विहितः॥ १०॥

उ० अ०—अन्तस्थासु = अन्तस्थ (वर्ण) बाद में होने पर; मकार; (परसस्थानम् =) परवर्ती अन्तस्थ (वर्ण) के समान उच्चारण-स्थान वाला; अनुनासिक अन्तस्थ हो जाता है (अर्थात् पदादि अन्तस्थ बाद में हो तो पदान्त मकार अनुनासिक अन्तस्थ में परिणत हो जाता है)।…।

अ०—अन्तस्थासु परतः मकारः परसस्थानां अनुनासिकामन्तस्थामापद्यते। यथा—"संयौमि = जनयत्यै त्वा सयँ॒यौमि"। "सं वपामि=सवँ॒वपामि"। "तं लोकम् = तलँ॒लं कं पुण्यं प्रज्ञेषम्"। रेफे तु अनुस्वार एव विहितः "अपां रसम्" इत्यादौ ॥ १० ॥

हि ॥ ११ ॥

सू० अ०—प्रथम काल (section) समाप्त हुआ।

उ०—"ह्यन्तराः कालाः" (३।५) इत्युक्तम्। अतस्तत्कालावधिद्योतनार्थं हिशब्दः ॥

उ० अ०—"कालों के मध्य में हि शब्द को रखा गया है"—यह कहा गया है। इसलिए उस काल (section) की अवधि को बतलाने के लिए हि शब्द है।

अ०—"ह्यन्तराः कालाः" इत्युक्तम्। अतस्तत्कालावधित्वेनायं हिशब्दः। अतः परं "न परकालः पूर्वंकाले पुनः" इति निवृत्तम् ॥ ११ ॥

स्पर्शे परपञ्चमम् ॥ १२ ॥

सू० अ०—स्पर्श बाद में होने पर (मकार) परवर्ती (स्पर्श) का पञ्चम (हो जाता है)।

उ०—मकारः स्पर्शे प्रत्यये; (परपञ्चमम =) परस्य प्रत्ययभूतस्य पञ्चममापद्यते। परः स्पर्शो यस्मिन् वर्गे तस्य वर्गस्य पञ्चममित्यर्थः। यथा—"व्रतम् कृणुत = व्रतङ्कृणुत" (वा० ४।११)। "व्रतम् चरिष्यामि = व्रतञ्चरिष्यामि" (वा० १।५)। "एतम् ते देव = एतन्ते देव सवितः" (वा० २।१२)। "इदम् पितृभ्यः = इदम्पितृभ्यो नमः" (वा० १९।६८)। "सम् ज्ञानमसि = सञ्ज्ञानमसि" (वा० १२।४६) ॥ १२ ॥

उ० अ०—स्पर्शे=स्पर्श बाद में होने पर; मकार; (परपञ्चमम्=) परवर्ती (= बाद में स्थित) (स्पर्श) का पञ्चम; हो जाता है। परवर्ती स्पर्श जिस वर्ग में हो उस वर्ग का पञ्चम-यह अर्थ है।...।

अ०—मकारः स्पर्शे परे परस्य स्पर्शस्य पञ्चमं यस्मिन्वर्गे यः पञ्चमस्तमाप्नोति। यथा—"व्रतं कृणुत = व्रतङ्कृणुत"। "इषुं गिरिशन्त = इषुङ्गिरिशन्त"। "व्रतं चरिष्यामि = व्रतञ्चरिष्यामि"। "काण्डात्काण्डात्प्ररोहन्ती आनन्दनन्दा आण्डौ मे"। "रोहित्कुण्डृणाची"। "तन्ते विष्यामि"। "त्वमाततन्थ"। "इदम्पितृभ्यो नमो अस्तु"। "अपाम्फेनेन"। इद व्याकरणे "वा पदान्तस्य" इति पदान्ते विकल्पेनोक्तम्। तथा ह्यत्राचार्येण पदान्तापदान्तसाधारण्येन उक्तमित्यवधेयम् ॥ १२ ॥

तकारो ले लम् ॥ १३ ॥

सू० अ०—लकार बाद में होने पर तकार लकार (होता है)।

उ०—तकारः; (ले =) लकारे प्रत्यये; (लम् =) लकारम्; आपद्यते। यथा—"आसीत् लोकम् = आसील्लोकम्" (वा० १४।३१)। "परि चित् लोकम् = परि चिल्लोकम्" (वा० १२।५३)। क्रमसंहितोदाहरणम् ॥ १३ ॥

उ० अ०—(ले =) लकार बाद में होने पर; तकार; (लम् =) लकार; हो जाता है। जैसे—"आसीत् लोकम् = आसील्लोकम्"। "परि चित् लोकम् = परि चिल्लोकम्"। यह क्रम-संहिता (क्रम-पाठ) का उदाहरण है ॥

अ०—तकारो लत्वमेति लकारे परे ॥ १३ ॥

नुश्चानुनासिकम् ॥ १४ ॥

सू० अ०—नकार अनुनासिक (लकार हो जाता है)।

उ०—(नुः =) नकारः; लकारप्रत्यये लकारमापद्यते यदि समानानुनासिकम्। यथा—"अस्मिन् लोके = अस्मिलँ्लोकेऽस्मिन् क्षये" (वा० ३।२१)। "त्रीन् लोकान् = त्रीलँ्लोकानुदजयत्" (वा० ९।३१)।

उ० अ०—लकार बाद में होने पर; नुः = नकार; लकार होता है, किन्तु अपने उच्चारण-स्थान वाला अनुनासिक (लकार) होता है।...।

अ०—अनुनासिकं लकारमाप्नोति। "अस्मिन् लोके = अस्मिलँ्लोके"। "त्रीन् लोकान् = त्रीलँ्लोकान्"। लकारे किम् ? "अस्मिन् क्षये" ॥ १४ ॥

ङ्नौ क्ताभ्यां सकारे ॥ १५ ॥

सू० अ०—सकार बाद में होने पर ङकार और नकार (क्रमशः) ककार और तकार से (व्यवहित हो जाते हैं)।

उ०—(ङ्नौ =) ङकारनकारौ; यथासंख्यम्; (क्ताभ्याम् =) ककारतकाराभ्याम्; व्यवधीयेते सकारे प्रत्यये। यथा—"प्राङ्सोमः = प्राङ्क्सोमो अतिद्रुतः" (वा० १९।३)। "प्रत्यङ् सोमः = प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः" (वा० १९। ३)। "त्रीन् समुद्रान् = त्रीन्त्समुद्रान् समसृपत्" (वा० १३।३१)। "अस्मान् सीते = "अस्मान्त्सीते पयसा" (वा० १२।७०) ॥ १५ ॥

उ० अ०—सकारे = सकार बाद में होने पर; (ङ्नौ =) ङकार और नकार; क्रमशः; (क्ताभ्याम् =) ककार और तकार के द्वारा; व्यवहित हो जाते हैं (अर्थात् ङकार और सकार के मध्य में ककार का तथा नकार और सकार के मध्य में तकार का आगम हो जाता है)।...।

अ०—ङकारनकारौ यथासङ्ख्यं ककारतकाराभ्यां व्यवधीयेते सकारे परे। यथा—"प्राङ्सोमः = प्राङ्क्सोमः"। "प्रत्यङ्क्सोमः"। "त्रीन्त्समुद्रान्" इत्यादि ॥ १५ ॥

न दाल्भ्यस्य ॥ १६ ॥

सू० अ०—दाल्भ्य के (मत से) (ये आगम) नहीं (होते हैं) ।

उ०—दाल्भ्यस्याचार्यस्य मते नैतावागमौ भवतः । "प्राङ्सोमः" (वा० १९।३) । "प्रत्यङ् सोमः" (वा० १९।३) । "त्रीन् समुद्रान्" (वा० १३।३१) । "अस्मान् सीते" (वा० १२।७०) ॥ १६ ॥

उ० अ०—दाल्भ्यस्य = दाल्भ्य आचार्य के; मत में ये आगम (= ककार और तकार) न = नहीं; होते हैं ।...।

रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र ॥ १७ ॥

सू० अ०—स्वर है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर रेफ और लकार सर्वत्र (क्रमशः) ऋ वर्ण और लृ वर्ण (के सदृश ध्वनियों) से (व्यवहित हो जाते हैं) ।

उ०—रलौ = रेफलकारौ; ऋलृवर्णाभ्याम् = ऋलृसदृशश्रुतिभ्याम्; यथासंख्यं व्यवधीयेते ऊष्मणि परभूते; (स्वरोदये =) स्वरपरे; सर्वत्र = संहितायां पदे च, अन्तःपदे नानापदे च । यौ तौ व्यधायकावुक्तौ तौ स्वरावुत व्यञ्जनाविति । शृणु । ऋलृस्वरसदृशौ व्यञ्जनावर्धमात्रकाविति ब्रूमः । तौ स्वरभक्तिरित्यन्येषु वेदेषु प्रसिद्धौ । न चैतौ वर्णौ रेफलकारयोरूष्मणां च मध्यवर्तिनावपि सन्तौ संयोगस्य विघातं कुरुतः । स्वरसदृशत्वात् । तथा चाह शौनकः—"न संयोगं स्वरभक्तिर्विहन्ति" (ऋ० प्रा० ६।३५) । यथा—"गार्हपत्यः" (वा० ३।३९) । अत्र हकाररेफयोरन्तरावपि स्वरभक्तिः सती रेफहकारयोः संयोगं न विहन्ति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । "अर्शस उपचितामसि" (वा०१२।९७) । "शतवल्शः" (वा०५।४३)। "उपवल्हामसि त्वा" (वा०२३।५१)। पदमध्योदाहरणम् । "वेर्होत्रम्" (वा० २।९)। "सवितुर्हवामहे" (वा०२२।११)। स्वरोदय इति किम् ? "पार्श्वतः" (वा० २१।४३) । "दिवो वर्ष्मन्" (वा०२८।१) । "मृदं वस्वैः" (वा०२५।१)। "अश्रुभिर्ह्लादुनीः" (वा०२५।९) ॥१७॥

उ० अ०—(स्वरोदये =) स्वर है बाद में जिसके ऐसा; ऊष्मणि = ऊष्म (वर्ण) बाद में होने पर; (रलौ =) रेफ और लकार; सर्वत्र=संहिता-पाठ में और पद-पाठ में, एक पद के मध्य में और भिन्न पद में क्रमशः; ऋलृवर्णाभ्याम् = ऋवर्ण और लृवर्ण से = ऋ और लृ के सदृश ध्वनियों से; व्यवहित हो जाते हैं । (शङ्का) व्यवधान के रूप में आने वाले जिन दो (वर्णों) को कहा गया है वे स्वर हैं अथवा व्यञ्जन हैं । (समाधान) सुनो, ऋकार और लृकार के सदृश वे आधी मात्रा वाले व्यञ्जन हैं । दूसरे वेदों में वे स्वरभक्ति (नाम से) प्रसिद्ध हैं । रेफ और लकार

तथा ऊष्म (वर्णों) के मध्य में स्थित होने पर भी ये दो वर्ण संयोग का विच्छेद नहीं करते हैं। शौनक ने वैसा कहा भी है—"स्वरभक्ति संयोग का विच्छेद नहीं करती है"। जैसे—"गार्हपत्यः"। यहाँ पर रेफ और हकार के मध्य में विद्यमान होने पर भी स्वरभक्ति रेफ और हकार के संयोग का विच्छेद नहीं करती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए। "अर्शस उपचितामसि"। "शतवल्शः"। "उपवल्हामसि त्वा"। ये पद के मध्य के उदाहरण हैं। "वेर्होत्रम्"। "सवितुर्हवामहे"। स्वर बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "पार्श्वतः"। "दिवो वर्ष्मन्"। "मृदं बर्स्वैः"। "अश्रुभिर्ह्लादुनीः" (स्वर बाद में न होने के कारण इन स्थलों में स्वरभक्ति नहीं होती है)।

अ०—रेफलकारौ ऋल्वर्णाभ्यां ऋल्वर्णसदृशश्रवणाभ्यां यथासङ्ख्यं व्यवधीयेते स्वरे परे ऊष्मणि परे सर्वत्र एकपदे भिन्नपदे च। ननु यौ व्यवधायकावुक्तौ तौ स्वरौ व्यञ्जनौ वा। शृणु। ऋल्स्वरसदृशौ व्यञ्जनादर्धमात्राविति ब्रूमः। तौ स्वरभक्तिरिति शास्त्रान्तरे प्रसिद्धौ। स्वरभक्तित्वेऽपि रेफलकारयोः ऊष्मणां मध्यवर्तिनावपि सन्तौ न तत्संयोगस्य विघातं कुरुतः। तथाह शौनकः—न संयोगं स्वरभक्तिर्विहन्तीति। चिन्तायाः प्रयोजनं वर्णक्रमादावुपयुज्यते। तथा गार्हपत्य इत्यत्र हकाररेफयोर्मध्ये वर्तमानस्वरभक्तिर्हकाररेफयोस्संयोगं न विहन्ति। तत्स्वरूपं तु "गार्हपत्यः प्रजायाः"। "अर्शस उपचितामसि"। "वनर्षदो वायवो न सोमाः"। इति रेफोदाहरणम्। लकारस्य—"शतवल्शो विरोह"। "सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम" इत्यादि। अनेकपदे यथा "अग्ने वेर्होत्रं वेः"। "प्र सवितुर्हवामहे"। स्वरोदये किम्? "मृदं बर्स्वैः"। "दिवो वर्ष्मन् समिध्यते"। "अश्रुभिर्ह्लादुनीः"। "पार्श्वतश्श्रोणितः"। "अन्तःपार्श्व्यम्"। अत्र स्वरपरत्वाभावान्न जातमित्यर्थ ॥ १७ ॥

प्रगृह्यं चर्चायामितिना पदेषु ॥ १८ ॥

सू० अ०—पदों में (= पद पाठ में) चर्चा बाद में होने पर प्रगृह्य (संज्ञक पद) इति (शब्द) से (व्यवहित हो जाता है)।

उ०—(**प्रगृह्यम्** =) प्रगृह्यसंज्ञकं यत्पदं तत्; **चर्चायां** परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते। चर्चाशब्देन इतिकरणात्परतो या तस्यैव पदस्य द्विरुक्तिः सोच्यते। पदेष्वित्यविकारार्थं वचनम। इतः प्रभृति पदाधिकारो वर्त्तते। यथा—"द्वे इति द्वे" (वा० १७।९१)। "शीर्षे इति शीर्षे" (वा० १७।९१)। "अस्मे इत्यस्मे" (वा० ४।२२) "त्वे इति त्वे" (वा० ४।२२)। ॥ १८ ॥

उ०—(**प्रगृह्यम्** =) प्रगृह्य संज्ञक जो पद (होता है) वह; **चर्चायाम्** = चर्चा बाद में होने पर; आगम के रूप में आने वाले; **इतिना** = इति (शब्द) से व्यवहित हो जाता है। चर्चा शब्द से इति शब्द से बाद में उसी पद की जो द्विरुक्ति

(होती है) उसे कहा जाता है। **पदेषु** = पदों में = पद-पाठ में—यह अधिकार के लिए कहा गया है। इससे लेकर पद पाठ का अधिकार चलता है।...।

अ०—प्रगृह्यसंज्ञं पदं चर्चायां परतः इतिशब्देन व्यवधीयते पाठेषु। प्रगृह्यसंज्ञा तूक्तैव। चर्चाशब्देन इतिकरणात्परं पुनरुक्तं कथ्यते। इतः परं कथ्यमानं पदेषु अधिकृतं वेदितव्यम्। अधिकारोऽयम्। यथा—"द्वे इति द्वे"। "शीर्षे इति शीर्षे"। "बाहू इति बाहू"। "अस्मे इत्यस्मे"। "त्वे इति त्वे"। "अमी इत्यमी" ॥ १८ ॥

रिफितं च संहितायामनिरुक्तम् ॥ १९ ॥

सू० अ०—संहिता-पाठ में जिसका (रेफ स्वरूप) ज्ञात (स्पष्ट) नहीं हुआ है वह रिफित (पद) भी (इति के द्वारा व्यवहित हो जाता है)।

उ०—रिफितं चशब्दादितिना आगमिकेन व्यवधीयते चर्चायां परभूतायां **संहितायाम्**; (**अनिरुक्तम्** =) अनिर्ज्ञातरेफम्; यत्। यथा—"पुनरिति पुनः"। (वा० ४।१५)। "स्वरिति स्वः" (वा० ३।३७)। संहितायामनिरुक्तमिति किम्? "पुनर्मनः"। (वा० ४।१५) ॥ १९ ॥

उ०—**संहितायाम्** = संहिता-पाठ में; **अनिरुक्तम्** = ज्ञात (स्पष्ट) नहीं हुआ है रेफ जिसका वह; **रिफित** (पद), (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) आगम के रूप में आने वाले इति (शब्द) के द्वारा व्यवहित जो जाता है।...।

अ०—संहितायामनिर्ज्ञातरेफं रिफितसंज्ञं पदं च इतिशब्देन व्यवधीयते चर्चायां परतः। रिफितसंज्ञाप्युक्तैव। तथा "पुनरिति पुनः प्राणः"। "स्वरिति स्वः च मे"। "अन्तरित्यन्तः समुद्रे"। "देव सवितरिति सवितः प्र सुव"। संहितायामनिरुक्तं किम्? "पुनर्मनः"। "भूर्भुवस्स्वर्द्यौरिव"। "द्व्यन्तरायुषि"। "एतत्ते देव सवितर्यज्ञम्"। अत्र संहितायां स्पष्टतया रेफश्रवणात् नेतिकरणमित्यर्थः ॥ १९ ॥

पदावृत्तौ चान्तरेण ॥ २० ॥

सू० अ०—पद की द्विरुक्ति होने पर मध्य में (इति शब्द आ जाता है)।

उ०—पदस्यावृत्तिः द्विरुक्तिः। तस्यां **पदावृत्तौ** सत्यां **अन्तरेण** इति भवति। सा च नोक्ता अतस्तत्प्रतिपादनार्थमाह—॥ २० ॥

उ०अ०—पद की; आवृत्ति = द्विरुक्ति। वह; **पदावृत्तौ**=पद की आवृत्ति होने पर (च = भी); **अन्तरेण** = मध्य में; इति (शब्द) होता है। और वह (पद की आवृत्ति) नहीं कही गई है, इसलिए उसके प्रतिपादन के लिए (सूत्रकार) कहते हैं—

अ०-पदद्वयस्य द्विरुक्तौ खलु अन्तरेण इतिशब्द उक्तः "प्रगृह्यं चर्चायामितिना"। सा च नोक्ता। अतः तत्प्रतिपादनायाह—॥ २० ॥

क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु ॥ २१ ॥

सू० अ०—क्रम-शास्त्र (क्रम-पाठ) में कही गई (पदों की) द्विरुक्ति पदों (= पद-पाठ) में (भी होती है)।

उ०—(क्रमोक्तावृत्तिः =) क्रमशास्त्रे या पदावृत्तिरुक्ता सा; पदेष्वपि भवति। क्रमशास्त्रातिदेशोऽयम्। तत्र चैतदुक्तमग्रे—"स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य" (४।१९०)। "अन्तःपददीर्घीभावे" (४।१९२)। "विनामे" (४।१९३)। "प्रगृह्ये" (४।१९४)। "रिफितेऽनिरुक्ते" (४।१९५)। अवगृह्ये यथा—"प्रजावतीरिति प्रजा-वतीः" (वा० १।१)। अन्तःपददीर्घीभावे यथा—"मामहान.। ममहान इति ममहानः" (वा० १७।५५)। विनामे च भवति यथा—"सुषाव। सुमावेति सु—साव" (वा० १९।२)। प्रगृह्ये यथा—"इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी" (वा० ३।१३)। रिफितेऽनिरुक्ते भवति। यथा—"पुनरिति पुनः। प्राणः" (वा० ४।१५) ॥ २१ ॥

उ० अ०—(क्रमोक्ता=) क्रम-शास्त्र (क्रम-पाठ) में पदों की जो आवृत्ति कही गई है वह; पदेषु = पदों (= पद—पाठ) में; भी होती है। यह क्रम-शास्त्र का अतिदेश है (अर्थात् प्रस्तुत सूत्र के द्वारा क्रम-पाठ के नियम को पद-पाठ में भी लागू कर दिया गया है)। और इसे वहाँ (क्रम-शास्त्र में) आगे कहा गया है—"अवग्रह-योग्य पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित करना चाहिए"। "जिस पद के मध्य में दीर्घत्व हुआ हो उस पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित करना चाहिए"। "जिस पद में मूर्धन्यभाव हुआ हो उस पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित करना चाहिए"। "पूर्ववर्ती प्रगृह्य पद का स्थितोपस्थित करना चाहिए"। "जिस पद का रेफ स्वरूप संहिता में स्पष्ट नहीं है उस पूर्ववर्ती पद का स्थितोपस्थित करना चाहिए"।...।

अ०—क्रमशास्त्रे या पदावृत्तिरुक्ता सा पदेष्वपि भवति। अतिदेशसूत्रमेतत्। क्रमे पदावृत्तिविधायकं तु "स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य"। "अन्तःपददीर्घीभावे"। "विनामे"। "प्रगृह्ये"। "रिफितेऽनिरुक्ते" इत्यग्रे वक्ष्यति। अवग्रहे यथा—"प्रजापतिरिति प्रजा-पतिः" इत्यादि। अन्तःपददीर्घीभावे यथा—"मामहानः। ममहान इति ममहानः"। विनामो मूर्धन्यभावः। तत्र यथा—"सुषाव। सुसावेति सु—साव" इत्यादि। प्रगृह्ये यथा—"द्वे इति द्वे" इत्यादि। अनिरुक्ते यथा—"पुनरिति पुनः। प्राणः" इत्यादि। इदं क्रमशास्त्र-पदेष्विति द्रष्टव्यम्। तेन पदपाठेऽपि तत्र तत्र इतिशब्दो व्यवधायको भवतीत्यर्थः ॥२१॥

सुपदावसानवर्जम् ॥ २२ ॥

सू० अ०—सु पद और अवसान को छोड़कर।

उ०—"क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु" (४।२१)। इत्युक्तम्। तस्यायमपवादः। (सुपदावसानवर्जम् =) सुपदावसाने वर्जयित्वा; अन्यत्र क्रमोक्तावृत्तिर्भवति। तत्र

"सुपदे शाकटायनः" (४।१९१) इति शाकटायनमतेनावृत्तिः। सा च कतमानां भवति। अवसाने तु सर्वशाखिनामावृत्तिर्भवति। तदुभयं निषिध्यते ॥ २२ ॥

उ० अ०—"क्रम-शास्त्र में कही गई (पदों की) द्विरुक्ति पदों (पद-पाठ) में भी होती है"—यह कहा गया है। उसका यह अपवाद है। (सुपदावसानवर्जम=) सु पद और अवसान को छोड़कर अन्यत्र क्रम-शास्त्र में कही गई (पदों की) द्विरुक्ति होती है। उनमें से "शाकटायन के मत में सु पद में स्थितोपस्थित होता है"—यह (पदों की) द्विरुक्ति शाकटायन के मत से (होती है)। और वह कुछ शाखाओं के अनुयायियों के अनुसार होती है। अवसान में तो सब शाखाओं के अनुयायियों के अनुसार (द्विरुक्ति) होती है। उन दोनों का (इस सूत्र से पद-पाठ में) निषेध किया जाता है।

अ०—"क्रमोक्तावृत्तिः पदेषु" इत्युक्तम्। तत्र क्वचिदपवादमाह। सुपदावसाने वर्जयित्वा पदे क्रमोक्तावृत्तिः कर्त्तव्या। "सुपदे शाकटायनः" इति सूत्रेण क्रमपाठे सुशब्दस्य आवृत्तिरुक्ता। सापि शाकटायनग्रहणात् क्वचिच्छाखान्तर एव भवति। यथा—"ऊर्ध्व ऊं पु णः। ऊँ इत्यूँ। स्विति सु। सु न" इत्यादि। अवसाने सर्वशाखिनामावृत्तिर्भवति। यथा—"वसोः पवित्रम्। पवित्रमसि। असीत्यसि" इत्यादि। एतदुभयं पदपाठे निषिध्यते ॥२२॥

अनितावन्तर्विकारागमं प्रागुक्त्वा ॥ २३ ॥

सू० अ०—'इति बाद में होने पर नहीं' (इस अधिकार में कहे गए) मध्यवर्ती विकार तथा आगम वाले (पद) को पहले कह कर (बाद में उस पद की आवृत्ति करनी चाहिए)।

उ०—"अनितावध्याये" (३।१९) इत्यत आरम्भ यावदध्यायपरिसमाप्तिरस्मिन्नन्तराले यस्य पदस्य अन्तरा विकार आगमो वा विहितस्तदन्तर्विकारागमं पदम्; (प्रागुक्त्वा =) पूर्वमुक्त्वा; पश्चात् पदावृत्तिः कर्त्तव्या। स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यमित्यर्थः। तत्र चोपाचरितषत्वणत्वादिविकारजातमुक्तम्। यथा—"श्रेयस्कर। श्रेयः-करेति श्रेयः—कर" (वा० १०।२८)। "सुषाव। सुसावेति सु—साव" (वा० १९।२)। "परमेष्ठी। परमेस्थीति परमे—स्थी" (वा० ८।५४)। "वृष्टिमाँइव। वृष्टिमानिवेति वृष्टिमान्—इव" (वा० ७।४०)। अनितावन्तर्विकारागममिति किम्? अस्यावधेरधस्तादुपरिष्टाच्च प्राग्वचनं मा भूत्। यथा अवधेरधस्ताद्भवति। "विसर्जनीयः" (३।६)", "चछयोः शम्" (३।७)। "दुश्च्यवन इति दुः—च्यवनः" (वा० १७।३९)। "तथयोः सम्" (३।८)। "तवस्तरमिति तवः—तरम्" (वा० ११।१४)। एवमादि। अथोपरिष्टादवधेर्दर्शयिष्यामः। "अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" (४।१)। "संसमिति सम्—सम्" (वा० १५।३०)। "नुश्चान्तःपदेऽरेफे" (४।२)। "पपिवांस इति पपि—वांसः" (वा० ८।१९)। "संस्कृतिः" (वा० ७।१४)। अस्यावधेर्बहिर्यथा संहितायां पदे भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

उ० भ०—(अनितौ =) "इस अध्याय में जो आगम और विकार कहे जायेंगे वे इति बाद में होने पर नहीं लागू होते हैं" इस (सूत्र) से आरम्भ करके (तृतीय) अध्याय की समाप्ति तक-इस मध्यवर्ती स्थल में; जिस पद के मध्य में विकार अथवा आगम का विधान किया गया है उस; **अन्तर्विकारागमम्** (= मध्य में हुआ है विकार अथवा आगम जिसके उस) पद को; **प्राक्** = पहले; **उक्त्वा** = कह कर; तत्पश्चात् पद को द्विरुक्ति करनी चाहिए। स्थितोपस्थित करना चाहिए-यह अर्थ है। और वहाँ उपाचरित (सकारभाव), षत्व, णत्व आदि विकारसमूह को कहा गया है। जैसे—"श्रेयस्कर। श्रेयःकरेति श्रेयः-कर"। "सुषाव। सुसावेति सु-साव"। "परमेष्ठी। परमेस्थीति परमे-स्थी"। "वृष्टिमाँइव। वृष्टिमानिवेति वृष्टिमान्–इव"। 'इति बाद में होने पर नहीं' इस अधिकार में जिस पद के मध्य में विकार अथवा आगम हुआ है—यह क्यों (कहा) ? इस अवधि से पहले अथवा बाद वाले में प्राग्वचन (प्रागुक्ति = द्विरुक्ति से पहले पद का कथन) न होवे। जैसे इस अवधि से पहले (यह सूत्र) है—"चकार और छकार बाद में होने पर विसर्जनीय शकार हो जाता है"। (जैसे) "दुश्च्यवन इति दुः–च्यवनः"। "तकार और थकार बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो जाता है"। (जैसे) "तवस्तरमिति तवः–तरम्"। इत्यादि। अब अवधि के बाद के (सूत्रों के स्थलों को) दिखलायेंगे। "रेफ और ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर मकार अनुस्वार हो जाता है"। (जैसे) "संसमिति सम्-सम्"। "रेफ बाद में न होने पर नकार भी पद के मध्य में अनुस्वार हो जाता है"। (जैसे) "पपिवांस इति पपिवांसः"। "संस्कृतिः"। (उक्त अवधि के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सूत्रों से सम्बन्धित इन सभी स्थलों में पदों की द्विरुक्ति के पूर्व में इन पदों का कथन नहीं हुआ है)। इस अवधि से बाहर (= पहले अथवा बाद में) जैसा संहिता-पाठ में (पद का स्वरूप होता है वैसा ही) पद-पाठ में (इति से पहले) होता है (अतः द्विरुक्ति के पहले पद का कथन नहीं किया जाता है) यह अर्थ है।

भ०—अनितावध्याय इत्यारभ्य यावदध्यायसमाप्तिपर्यन्तं तदन्तराले यस्य पदस्यान्तर्मध्ये विकार आगमो वा विहितः तत् अन्तर्विकारागमं पदं पूर्वमुक्त्वा पश्चान्निर्विकारागमस्यावृत्तिः कार्या। पदेषु यथा—"श्रेयस्कर। श्रेयःकरेति श्रेयः-कर"। "सुषाव। सुसावेति सु–साव"। "प्रवाहणः। प्रवाहन इति प्र–वाहनः"। "वृष्टिमाँइव। वृष्टिमानिवेति वृष्टिमान्-इव"। "मामहन्ताम्। ममहन्तामिति ममहन्ताम्"। अनितावन्तर्विकारागमं किम् ? अस्यावधेरधस्तादुपरिष्टाच्च यथैवं न स्यादिति। अवधेः प्राक् यथा—"विसर्जनीयः"। "चछयोश्शम्" इति शत्वम्। "दुश्च्यवन इति दुः–च्यवनः। "तथयोस्सम्" इति सत्वम्। "तवस्तरमिति तवः–तरम्"। अवधेरुपरिष्टाद्यथा-' अनुस्वारं रोष्मसु मकारः" इत्यनुस्वारत्वम्। "संसमिति सम्–सम्"। "नुश्चापदान्ते रेफे" इति

नकारस्यानुस्वारः । "पपिवांस इति पपि-वांसः" । एतदवधेर्हि यथा संहितायां भवति तथैव पदेष्वपि भवति इत्यर्थः ॥ २३ ॥

विश्पतीवेति च ॥ २४ ॥

सू० अ०—विश्पतीव (पद) को भी (पहले कह कर तत्पश्चात् इस पद की द्विरुक्ति करनी चाहिए)।

उ०—विश्पतीवेत्येतच्च पदं प्रागुक्त्वा पश्चात् पदावृत्तिः कर्त्तव्या। वेष्टक इत्यर्थः। यथा—"आ। विश्पतीव। विश्पतीइवेति विश्पती—इव" (वा०३३।४४)। एतत्पदमस्यावधेर्बहिरतः प्रागुक्तिरुच्यते ॥ २४ ॥

उ० अ०—विश्पतीव—इस पद को; च = भी; पहले कह कर तत्पश्चात् इस पद की द्विरुक्ति करनी चाहिए। वेष्टक—यह अर्थ है। जैसे—"आ। विश्पतीव। विश्पती-इवेति विश्पती—इव"। यह पद इस अवधि (= ३।१९—३।१५१) से बाहर है, इसलिए (पृथक् सूत्र के द्वारा) प्राग्वचन का कथन (विधान) किया जाता है।

अ०—इदं पदं प्रागुक्त्वा पश्चात् पदावृत्तिः कार्या। यथा—"आ। विश्पतीव। विश्पतीइवेति विश्पती—इव"। एतस्यावधिषूक्तत्वात् पृथगुक्तिः ॥ २४ ॥

स्वरश्छकारे चकारेण सर्वत्र ॥ २५ ॥

सू० अ०—छकार बाद में होने पर स्वर सर्वत्र चकार से (व्यवहित होता है)।

उ०—स्वरो व्यवधीयते छकारे प्रत्यये परभूते चकारेणागमिकेन; सर्वत्र = संहितायां पदे च। यथा—"अच्छा वदामसि" (वा० १९।४)। "यच्छा नः शर्म सप्रथाः" (वा० ३५।२१)—पदेषूदाहरणम्। "आच्छच्छन्दः प्रच्छच्छन्दः" (वा० १५।५)। "वर्मणाच्छादयामि" (वा० १७।४९)—संहितोदाहरणम्। "ककुप्छन्दः" (वा० १५।४)। पदाधिकारात् पदेष्वेव चकारेण व्यवधानं मा भूदिति सर्वत्रग्रहणात् संहितापदक्रमेष्वपि भवति ॥ २५ ॥

उ० अ०—छकारे = छकार बाद में होने पर; स्वर; सर्वत्र = संहिता-पाठ में और पद-पाठ में; आगम के रूप में आने वाले; चकारेण = चकार के द्वारा; व्यवहित होता है। जैसे—"अच्छा वदामसि"। "यच्छा नः शर्म सप्रथाः" पदों (=पद-पाठ) में उदाहरण। "आच्छच्छन्दः"। "प्रच्छच्छन्दः"। "वर्मणाच्छादयामि"—संहिता (पाठ) में उदाहरण। "ककुप्छन्दः" (छकार के पहले स्वर न होकर व्यञ्जन है, अतः यहाँ चकार का आगम नहीं हुआ है)। पद-पाठ का अधिकार होने से पद-पाठ में ही चकार के द्वारा व्यवधान न होवे इसलिए (सूत्र में) 'सर्वत्र' (शब्द के) ग्रहण से संहिता पाठ, पद-पाठ और क्रम-पाठ में (चकार के द्वारा व्यवधान) होता है।

अ० – स्वरः छकारे परे चकारेण व्यवधीयते। सर्वत्र संहितायां पदेषु च। यथा–"अच्छा वदामसि"। "माच्छन्दः"। "प्रमा च्छन्दः"। "वर्मणा च्छादयामि"। "यच्छा नश्शर्म"। स्वरः किम्? व्यञ्जनस्य मा भूदिति। यथा–"उष्णिक् छन्दः"। "विराट् छन्दः" ॥ २५ ॥

यस्यातिहाय सहेति न ॥ २६ ॥

सू० अ०—यस्य, अतिहाय और सह (से परवर्ती स्वर चकार से व्यवहित) नहीं (होता है)।

उ०—यस्य अतिहाय सह इत्येतैः पदैरुपहितः स्वरः छकारे प्रत्यये न चकारेण व्यवधीयते। यस्य यथा–"यस्य छाया" (वा० २५।१३) अतिहाय यथा–"अतिहाय छिद्रा गात्राणि" (वा० २५।४३)। सह यथा–"सह स्तोमाः सह छन्दसः" (वा० ३४।४६) ॥ २६ ॥

उ० अ०—यस्य, अतिहाय, सह–इन पदों से उपहित (बाद में स्थित) स्वर, छकार बाद में होने पर चकार से व्यवहित; न = नहीं; होता है।…।

अ०—यस्य अतिहाय सहशब्देभ्यः परः छकारः चकारेण न व्यवधीयते। पूर्वापवादोऽयम्। यथा–"यस्य छायामृतम्"। "अतिहाय छिन्ना गात्राणि"। परकीयमेतत्। "सह स्तोमास्सह छन्दसः" ॥ २६ ॥

विश्वा ऊष्मान्तं परि द्विषस्त्वं त्वां यदजयो विराजत्यनिरा अवीवृधन् परिष्ठाः सुक्षितय आशा ओषधीराभाह्यमीवा हि मायास्तेऽसीत्येतेषु ॥२७॥

सू० अ०–परि द्विषः, त्वम्, त्वाम्, यदजयः, विराजति, अनिराः, अवीवृधन्, परिष्ठाः, सुक्षितयः, आशाः, ओषधीः, आभाहि, अमीवाः, हि मायाः, ते और असि–ये बाद में होने पर विश्वा ऊष्म वर्ण में समाप्त होने वाला (ऊष्मान्त = विश्वाः) (होता है)।

उ०—विश्वा इत्येतत्पदं ऊष्मान्तं भवति परिद्विषादिप्रत्ययेषु। परिद्विषशब्दे यथा–"येन विश्वाः परि द्विषः" (वा० ४।२९)। त्वं यथा–"विश्वास्त्वम्प्रजा उपावरोह" (वा० ६।२६)। त्वां यथा–"विश्वास्त्वाम्प्रजा उपावरोहन्तु" (वा० ६।२६)। यदजयो यथा–"विश्वा यदजयः स्पृधः" (वा० १६।७१)। विराजति यथा–"धियो विश्वा विराजति" (वा० २०।८६)। अनिरा, यथा–"व्यस्यन्विश्वा अनिराः" (वा० ११।४७)। अवीवृधन् यथा–"इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्" (वा० १२।५६)। परिष्ठा यथा–"अतिविश्वाः परिष्ठाः" (वा० १२।८४)। सुक्षितयो यथा–"विश्वाः सुक्षितयः पृथक्" (वा० १२।११६)। आशा यथा–"विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्"

(वा० २४।७)। ओषधीर्यथा—"पृष्ठो विश्वा ओषधीराविवेश" (वा० १८।७३)। आभाहि यथा—"विश्वा आभाहि प्रदिशश्चतस्रः" (वा० २७।१)। अमीवा यथा—'विश्वा अमीवाः" (का० १८।१६)। हि माया यथा—"विश्वा हि मायाः" (का० ४।१५)। स्ते यथा—"विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त" (वा० ३३।६७)। असि यथा—"अभि विश्वा असि स्पृधः" (वा० ३३।६६)। ननु "स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः" (१।१) इति स्वरसंस्कारावधिकृतौ वेदितव्यौ। न चायं स्वरो न संस्कारः। अत्र हि इदमूष्मान्तं पदं इदं स्वरान्तं पदमित्येतदुच्यते। अप्रस्तुताभिधानमेतत्। उच्यते—पदानां सन्दिह्यमानानां निश्चयो नैव दोषायेति तावत्पश्यामः। अतः साधुपदनिश्चयलक्षणमिति। अनभिज्ञस्य बोधनार्थम् ॥२७॥

उ० अ०—**विश्वा**—यह पद; **ऊष्मान्तम** = ऊष्म वर्ण में समाप्त होने वाला= ऊष्म वर्ण (=विसर्जनीय) है अन्त में जिसके ऐसा (=विश्वाः); होता है (आकारान्त विश्वा नहीं); (**परिद्विषः**'' **त्येतेषु** =) परिद्विष आदि बाद में होने पर।'''। शङ्का—"वेद के विषय में स्वर और संस्कार का नियम कहा जायेगा" इस (सूत्र) से स्वर और संस्कार को अधिकृत जानना चाहिए। यह न स्वर है और न संस्कार क्योंकि यहाँ यह कहा जा रहा है कि यह पद ऊष्मान्त (ऊष्म में समाप्त होने वाला) है, यह पद स्वरान्त (स्वर में समाप्त होने वाला) है। यह अप्रस्तुत (अप्रकृत) का कथन है (जो युक्त नहीं है)। (समाधान) बतलाते हैं—संदेह को उत्पन्न करने वाले (= संदिग्ध) पदों का निश्चय (निर्णय कर देना) दोष के लिए नहीं होता है—हम यह समझते (= मानते) हैं। इसलिए अनभिज्ञ को बोध कराने के लिए साधु पद के निश्चय के हेतु नियम कहा गया है।

अ०—विश्वापदमूष्मान्तं स्यात्। परिद्विष इत्यादिषोळशपदेषु परेषु। यथा—"येन विश्वाः परि द्विषः"। "विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह"। "विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु"। "विश्वा यदजयः स्पृधः"। "धियो विश्वा विराजति"। "व्यस्यन्विश्वा अनिराः"। "इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्"। "अतिविश्वाः परिष्ठाः"। "विश्वासुक्षितयः"। "विश्वा आशाः प्रमुञ्चन्"। "पृष्ठो विश्वा ओषधीः"। "विश्वा आभाहि"। "विश्वा अमीवाः"। 'विश्वा हि मायाः"। द्वयं परकीयम्। "विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे"। "अभि विश्वा असि स्पृधः"। एषु किम्? "विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते"। नियमसूत्रमेतत् ॥ २७॥

पृथिव्या स्वरान्तं सम्भव शुक्रो मन्थी पृथिवीं परो देवेभिरित्येतेषु ॥२८॥

सू० अ०—सम्भव, शुक्रः, मन्थी, पृथिवोम और परो देवेभिः ये बाद में होने पर पृथिव्या स्वर (वर्ण) (=आ) में समाप्त होने वाला (स्वरान्त=पृथिव्या) (होता है)।

उ०—पृथिव्या इत्येतत्पदं स्वरान्तं भवति सम्भवादिषु पदेषु परेषु। सम्भव यथा—"पृथिवी मा विशत पृथिव्या सम्भव" (वा० ४।१३)। शुक्रो यथा—"सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः" (वा० ७।१३)। मन्थी यथा—"सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी" (वा० ७।१८)। पृथिवीं यथा—"पृथिव्या पृथिवीम्" (वा० १५।६)। परो देवेभिर्यथा—"पृथिव्या परो देवेभिः" (वा० १७।२९)। स्वरान्तमिति किम्? "नाभा पृथिव्याः समिधाने" (वा० ११।७६)॥ २८॥

उ० अ०—पृथिव्या—यह पद; स्वरान्तम् = स्वर वर्ण में समाप्त होने वाला = स्वर वर्ण है अन्त में जिसके ऐसा (=पृथिव्या); होता है; (ऊष्मान्त पृथिव्याः नहीं) (सम्भव···त्येतेषु=) सम्भव आदि पद बाद में होने पर।···।

अ०—पृथिव्या इति पदं स्वरान्तं स्यात् सम्भवादिषु पञ्चसु परेषु। यथा—"पृथिव्या सम्भव"। "सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः"। "सञ्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी" "प्रतिधिना पृथिव्या पृथिवीम्"। "पर एना पृथिव्या परो देवेभिः"॥ २८॥

च विश्वा वो ब्रह्म विश्वा हरी युक्तास्ते शफानां जजान नु कमित्येतेष्विमा॥ २९॥

सू० अ०—च विश्वा, वः, ब्रह्म, विश्वा, हरी, युक्ताः, ते, शफानाम्, जजान और नु कम—ये बाद में होने पर इमा (स्वरान्त होता है)।

उ०—च विश्वादिषु प्रत्ययेषु परेषु इमा इत्येतत्पदं स्वरान्तं भवति। च विश्वा यथा—"इमा च विश्वा भुवनानि" (वा० ९।२४)। वो यथा—"इमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्" (वा० १९।५५)। ब्रह्म यथा—"इमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय" (वा० १४।२)। विश्वा यथा—"य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्" (वा० १७।१७)। हरी यथा—"इमा हरी वहतस्ता नो अच्छ" (वा० ३३।७८)। युक्ता यथा—"सवना कृतेमा युक्ता ग्रावाणः" (वा० ३४।१९)। ते यथा—"इमा ते वाजिन्नवमार्जनानि" (वा० २९।१६)। शफा यथा—"इमा शफानां सनितुः" (वा० २९।१६)। जजान यथा—"न तं विदाथ य इमा जजान" (वा० १७।३१)। नु कं यथा—"इमा नु कं भुवना सीषधाम" (वा० २५।४६)॥ २९॥

उ० अ०—(च विश्वा···त्येतेषु) च विश्वा आदि बाद में होने पर; इमा—यह पद स्वर में समाप्त होने वाला (= इमा) होता है।···।

अ०—इमा इतिं पदं स्वरान्तं स्यात् चविश्वादिदशसु परेषु। यथा—"इमा च विश्वा"। "इमा वो हव्या चकृमा"। "इमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय"। "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत्"। "इमा हरी वहतस्ताः"। "सवना कृतेमा युक्ताः"। "इमा ते वाजिन्"।

"इमा शफानां सनितुर्निधाना"। "य इमा जजानान्यत्"। "इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रः" ॥ २९ ॥

हवेमोतेमा च ॥ ३० ॥

सू० अ०—हवेमा और उतेमा भी (स्वरान्त हैं)।

उ०—हवेमा उतेमा एते च द्वे पदे यथागृहीतमेव स्वरान्ते भवतः। हवेमा यथा—"श्रुतम्मे मित्रावरुणा हवेमा" (वा० २१।९)। उतेमा यथा—"विश्वकर्मन्नुतेमा" (वा० १७।२१) ॥ ३० ॥

उ० अ०—हवेमा, उतेमा ये दो पद; च = भी; जैसे ग्रहण किए गए हैं वैसे ही स्वरान्त होते हैं।…।

अ०—इदं द्वयं स्वरान्तं स्यात्। "श्रुतं मे मित्रावरुणा हवेमा"। "विश्वकर्मन्नुतेमा"

विष्णो ते बभूव नासत्या भिषजा न आवोढं या देवा हविषो नो मृडातो नो अच्छ विमुञ्चेत्येतेषु ता ॥ ३१ ॥

सू० अ०—विष्णो, ते, बभव, नासत्या, भिषजा, न आवोढम्, या देवाः, हविषः, नो मृडातः, नो अच्छ और विमुञ्च—ये बाद में होने पर ता (स्वरान्त होता है)।

उ०- विष्णो इत्यादिषु प्रत्ययेषु परेषु ता इत्येतत्पदं स्वरान्तं भवति। विष्णो यथा—"ता विष्णो पाहि" (वा० २।६)। ते यथा—"सर्वा ता ते ब्रह्मणा सूदयामि" (वा०२५।४०)। बभूव यथा—"परि ता बभूव" (वा०१०।२०)। नासत्या यथा—"ता नासत्या सुपेशसा" (वा०२०।७४)। भिषजा यथा—"ता भिषजा सुकर्मणा" (वा०२०।७५)। न आवोढ यथा—"ता न आवोढमश्विना" (वा० २०।८३)। या देवा यथा—"इति ता या देवा देवदानानि" (वा० २१।६१)। हविषो यथा—"स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु" (वा० २५।४०)। नो मृडातो यथा—"ता नो मृडात ईदृशे" (वा० ३३।६१)। अच्छ यथा—"इमा हरी वहतस्ता नो अच्छ" (वा० ३३।७८)। विमुञ्च यथा—"नियुद्भिर्वायविह ता विमुञ्च" (वा० २७।३३) ॥ ३१ ॥

उ० अ० –(विष्णो…त्येतेषु =) विष्णो इत्यादि बाद में होने पर; ता यह पद स्वर में समाप्त होने वाला होता है।…।

अ०—ता इति पदं स्वरान्तं स्याद्विष्णवादि एकादशसु परेषु। "योनौ ता विष्णो पाहि"। "ता ते विश्वाः परिभूः"। "परिता बभूव" "ता नासत्या सुपेशसा"। "ता भिषजा सुकर्मणा"। "ता न आवोढम्"। "ता नः ऊर्जे"। "ता या देवा देव

दानानि"। "स्रुचेव ता हविषो अध्वरेषु' । "ता नो मृडात ईदृशे" । "हरी वहतस्ता नो अच्छ" । "इह ता विमुञ्च" ॥३१॥

ता ता च ॥ ३२ ॥

सू० अ०—ता ता (शब्द) भी (स्वरान्त हैं) ।

उ०—एतौ च ताताशब्दौ पदावयवभूतौ स्वरान्तौ भवतः । यथा—"ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ" (वा० २५।४२) ॥ ३२ ॥

उ० अ०—ये ता ता शब्द; च=भी; पद के अवयव होने पर स्वर में समाप्त होने वाले होते हैं। जैसे—"ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ" (ताता इति ता–ता प०पा०)। अ०—इदमपि स्वरान्तं स्यात् । "ता ता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्नौ" । परकीयमेतदुदाहरणम् ।

हविर्दम्पत्योः साध्या दा ॥ ३३ ॥

सू० अ०—हविः और दम्पती बाद में होने पर साध्या और दा (स्वरान्त होते हैं) ।

अ० – साध्या दा इति द्वयं स्वरान्तं स्यात् क्रमेण हविर्दम्पत्योः परयोः । यथा—"याहि साध्या हविरदन्तु" । "यदाशीर्दा दम्पती" । एतयोः किम् ? "भृगुभिरावशीर्दात्रसुभिः"।

धिष्ण्या वरिवोविदं धिष्ण्या युवमिति च ॥ ३४ ॥

सू० अ०—'धिष्ण्या वरिवोविदम्' और 'धिष्ण्या युवम्' में (धिष्ण्या शब्द स्वरान्त है) ।

उ०—एतौ च यथागृहीतौ धिष्ण्याशब्दौ स्वरान्तौ भवतः । यथा—"धिष्ण्या वरिवोविदम्" (वा० २०।८३) । यथा—"तदश्विना शृणुतं धिष्ण्या युवम्" (वा० २५।१७) । इतिशब्दः पदाधिकारप्रकरणसमाप्तिज्ञापनार्थः ॥ ३४ ॥

उ० अ०—ये दोनों धिष्ण्या शब्द (धिष्ण्या वरिवोविदम् , धिष्ण्या युवम्) जैसे ग्रहण किए गए हैं वैसे स्वरान्त होते हैं....। (सूत्रोक्त) 'इति' शब्द पद (पाठ) के अधिकार के प्रकरण को समाप्ति को बतलाने के लिए है ।

अ०—एतौ धिष्ण्याशब्दौ स्वरान्तौ स्तः वरिवोविदं युवं शब्दयोः परयोः । "धिष्ण्या वरिवोविदम्" । "तदश्विना शृणुतम् धिष्ण्या युवम्" । एतौ किम् ? "पुच्छं धिष्ण्याश्शफाः" । इतिशब्दः शब्दाविकारसमाप्तिज्ञापनार्थः ॥ ३४ ॥

भाव्युपधश्च रिङ्विसर्जनीयः॥ ३५ ॥

सू० अ०—अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय) और रिफित विसर्जनीय (परवर्ती सूत्रों में इन दोनों को समझना चाहिए)।

उ०—भावी उपधाभूतो यस्य स भाव्युपधः। कोऽसौ ? विसर्जनीयः। रिद्विसर्जनीयश्च "विसर्जनीयो रिफितः" (१।१६०) इत्यत आरभ्य यः परिभाषितः। एतौ विसर्जनीयावधिकृतौ वेदितव्यौ। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ३५ ॥

उ० अ०—अकण्ठ्य स्वर (भावी) है उपधाभूत (पूर्ववर्ती) जिसका वह = भाव्युपधः। (प्रश्न) वह कौन है ? (उत्तर) विसर्जनीय। रिद्विसर्जनीयश्च = "अधोलिखित स्थलों में विसर्जनीय रिफित संज्ञक होता है" इससे आरम्भ करके जिसे कहा गया है वह। इन दोनों विसर्जनीयों को अधिकृत जानना चाहिए। यह अधिकार-सूत्र है (अब विसर्जनीय का अधिकार चलेगा)।

अ०—भाविसंज्ञस्वरः उपधाभूतः यस्य सः। तथा तादृशसंज्ञः विसर्जनीयः। विसर्जनीयो रिफित इत्यारभ्य परिभाषितो विसर्जनीयश्च। एतावत्राधिकृतौ वेदितव्यौ। अधिकारोऽयं सूत्रः ॥ ३५ ॥

रेफे लुप्यते दीर्घं चोपधा ॥ ३६ ॥

सू० अ०—रेफ बाद में होने पर (विसर्जनीय) लुप्त हो जाता है और पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) दीर्घ (हो जाता है)।

उ०—रेफे प्रत्यये लुप्यते विसर्जनीयः उभयरूपोऽपि भाव्युपधो रिद्विसर्जनीयश्च। उपधाभूतश्च स्वरो दीर्घमापद्यते। भाव्युपधो भवति यथा—"रुरुः रौद्रः = रुरू रौद्रः क्वयिः" (वा० २४।३९)। "मतिभिः रिहन्ति=मतिभी रिहन्ति" (वा० ७।१६)। रिद्विसर्जनीयो भवति यथा—"प्रातः रात्रिः = प्राता रात्रिः"। "पुनः रक्तम् = पुना रक्तम्"। रूपोदाहरणमेतत्। उपरितनसूत्रे प्रयोजनं भविष्यति। भावीत्यादि किम् ? "परि णो रुद्रस्य" (वा० १६।५०) ॥ ३६ ॥

उ० अ०—रेफे = रेफ बाद में होने पर; दोनों प्रकार का विसर्जनीय = जिसके पहले अकण्ठ्य स्वर (भावी) है वह (विसर्जनीय) और रिफित विसर्जनीय; लुप्यते = लुप्त हो जाता है और; (उपधा =) उपधाभूत स्वर = विसर्जनीय के पूर्व में स्थित स्वर; दीर्घ हो जाता है। अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्व में जिसके वह (विसर्जनीय) (लुप्त) होता है जैसे—"रुरुः रौद्रः = रुरू रौद्रः क्वयिः"। "मतिभिः रिहन्ति = मतिभी रिहन्ति"। रिफित विसर्जनीय होता है जैसे—"प्रातः रात्रिः = प्राता रात्रिः"। "पुनः रक्तम् = पुना रक्तम्"—यह लौकिक उदाहरण है। परवर्ती सूत्र (४।३७) में इस (सूत्र) का प्रयोजन (ज्ञात) होगा (यह सूत्र न होता तो रेफ बाद में होने पर भी विसर्जनीय रेफ हो जाता जो युक्त नहीं है)। भावी इत्यादि क्यों (कहा) ? "परि नो रुद्रस्य"।

अ०—पूर्वोक्त उभयरूपो विसर्जनीयः लुप्यते रेफे परे। उपधास्वरश्च दीर्घमापद्यते। तत्र भाव्युपधो यथा—"मतिभिः रिहन्ति = मतिभी रिहन्ति"। "निः रपांसि = नीरपांसि मृत्तनम्"। "रुरु रौद्रः"। रिद्विसर्जनीयो यथा—"प्रातः रात्रिः = प्राता रात्रिः"। अवर्ग्योदाहरणमिदम्। "पुनः राजति = पुना राजति"। रूपोदाहरणमिदम्॥ ३६॥

रेफं स्वरधौ॥ ३७॥

सू० अ०—स्वर और धि (संज्ञक व्यञ्जन) बाद में होने पर (विसर्जनीय) रेफ (हो जाता है)।

उ०—रेफमापद्यते उभयरूपो विसर्जनीयः; (**स्वरधौ =**) स्वरेषु परभूतेषु धिसंज्ञकेषु च परभूतेषु। स्वरे भवति यथा—"अग्निः एकाक्षरेण = अग्निरेकाक्षरेण" (वा० ६।३१)। "प्रातः अग्निम् = प्रातरग्निम्" (वा० ३४।३४)। प्रातः इन्द्रम् = प्रातरिन्द्रम्" (वा० ३४।३४)। धिसंज्ञकेषु भवति यथा—"विरुरुचुः वनेषु = विरुरुचुर्वनेषु" (वा० ३।१५)। "सवितः वामम् = सवितर्वामम्" (वा० ८।६)। भावीत्यादि किम्? "दिवो मूर्धा" (वा० १८।५४)॥ ३७॥

उ० अ०—(**स्वरधौ =**) स्वर बाद में होने पर और धि संज्ञक (व्यञ्जन) बाद में होने पर; दोनों प्रकार का विसर्जनीय; रेफ हो जाता है।....।

अ०—उभयरूपो विसर्जनीयः रेफमापद्यते स्वरे धिसंज्ञे परे। "अग्निः एकाक्षरेण = अग्निरेकाक्षरेण"। "तनूः असि = अग्नेस्तनूरसि"। "अग्नेः अधि = यो अग्निरग्नेरध्यजायत"। "वायोरिह इति"। भाव्युपधस्य रिद्विसर्जनीयस्य स्वरे यथा। "पुनः आसद्य = पुनरासद्य सदनम्"। "पुनरग्ने"। "अन्तरग्ने"। "पुनरेहि"। उभयस्यापि धौ यथा—"विरुरुचुर्वनेषु"। "वाममद्य सवितर्वामम्"। "अग्निर्मा"। "अग्निर्भानुना" इत्यादि॥ ३७॥

कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः॥ ३८॥

सू० अ०—कण्ठ्य स्वर (= अ, आ) पूर्व में होने पर अरिफित (विसर्जनीय) यकार (हो जाता है)।

उ०—अवर्णः कण्ठ्यः; (**कण्ठ्यपूर्वः**) अवर्णपूर्वः; विसर्जनीयो **अरिफितो** यकारमापद्यते। स्वरेषु यथा—श्वित्रः आदित्यानाम्=श्वित्रय् आदित्यानाम् इत्येवं स्थिते "यवयोः पदान्तयोः" (४।१२७) इत्यादिना यकारलोपः। ततः "श्वित्र आदित्यानाम् (वा०२४।३९)। इति रूपं सिध्यति। "इन्द्रः एकम्=इन्द्र एकं सूर्यम्" (वा०१७।६२)। "याः ओषधीः = या ओषधीः" (वा० १२।७५)। "याः अफलाः = या अफला अपुष्पाः" (वा० १२।८९)॥ ३८॥

उ० अ०—अवर्ण (अ, आ) कण्ठ्य है; (कण्ठचपूर्वः =) अवर्ण (=अ, आ) पूर्व में होने पर; अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है। स्वर बाद में होने पर जैसे—"श्वित्रः आदित्यानाम् = श्वित्रयादित्यानाम्"—यह प्राप्त होने पर "दो स्वरों के मध्य में स्थित होने पर पदान्तीय यकार और वकार का लोप हो जाता है" इस (सूत्र) से यकार का लोप (हो जाता है)। इसके बाद "श्वित्र आदित्यानाम्"—यह रूप सिद्ध होता है।…।

अ०—अवर्णपूर्वो रिफितवर्जितो विसर्जनीयः यकारमाप्नोति स्वरे परे यथा-श्वित्रय् आदित्यानामित्यत्र "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति यकारलोपे कृते "श्वित्र आदित्यानाम्" इति सिध्यति। तथा-"इन्द्र एकम्"। "सूर्य एकम्"। "या अफला अपुष्पा याश्च" ॥ ३८ ॥

लोपन्धौ ॥ ३९ ॥

सू० अ०—धि (संज्ञक व्यञ्जन) बाद में होने पर (अरिफित विसर्जनीय) का लोप (हो जाता है)।

उ०—अरिफितः कण्ठ्यपूर्वो विसर्जनीयो लोपमापद्यते; (धौ =) धिसंज्ञकेषु प्रत्ययेषु। "अयक्ष्माः मा = अयक्ष्मा मा वः" (वा० १।१)। "शततेजाः वायुः = शततेजा वायुरसि" (वा० १।२४)। अरिफित इति किम् ? "मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिः" (वा० १।२) ॥ ३९ ॥

उ० अ०—कण्ठ्य (= अ, आ) पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय लोप को प्राप्त करता है; (धौ =) धि संज्ञक (व्यञ्जन) बाद में होने पर।…।

अ०—अरिफितः कण्ठ्यपूर्वो विसर्जनीयः लुप्यते धौ परे यथा-"अयक्ष्माः मा = अयक्ष्मा मा"। "देवा यज्ञमतन्वत"। "शततेजा वायुः"। अरिफितः किम् ? "ह्वार्मा ते"। "पुनर्मनः" ॥ ३९ ॥

भूमेश्चाकारेऽपृक्ते ॥ ४० ॥

सू० अ०—अपृक्त आकार बाद में होने पर भूमिः का (विसर्जनीय) भी (लुप्त हो जाता है)।

उ०—(भूमेः=) भूमिशब्दसम्बन्धी; विसर्जनीयो लुप्यते आकारे; (अपृक्ते=) अपृक्तसंज्ञके परे। यथा-"भूमिः आददे = दिविसद्भूम्याददे" (वा० २६।१६)। आकारेऽपृक्ते इति किम् ? "भूमिरावपनम्महत्" (वा० २३।१०) ॥ ४० ॥

उ० अ०—(अपृक्ते =) अपृक्त संज्ञक; आकारे = आकार बाद में होने पर; (भूमेः =) भूमि का; विसर्जनीय लुप्त हो जाता है।…।

अ०—भूमिशब्दस्य विसर्जनीयो लुप्यते अपृक्ते आकारे परे। "भूमिः आददे = दिविषद्भूम्याददे"। परकीयमिदम्। आकारे अपृक्ते किम्? "भूमिरावपनं महत्"॥४०॥

यकाराकारयोर्जास्पत्ये पदे ॥ ४१ ॥

सू० अ०—जास्पत्य पद में यकार और आकार का (लोप हो गया है)।

उ०—जास्पत्ये पदे; (यकाराकारयोः=) आकारस्य यकारस्य च; लोपो भवति। जायास्पत्यमिति प्राप्ते यकाराकारयोर्लोपे कृते जास्पत्यमिति रूपं भवति। यथा—"सञ्जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व" (वा० ३३।१२) ॥ ४१ ॥

उ० अ०—जास्पत्ये पदे = जास्पत्य पद में; (यकाराकारयोः =) यकार और आकार का; लोप हो जाता है। जायास्पत्यम्—यह प्राप्त होने पर यकार और आकार का लोप होने पर जास्पत्यम् रूप होता है।'''।

अ०—जास्पत्ये पदे यकाराकारौ लुप्येते। यथा—जायास्पत्यमिति प्राप्ते "सञ्जास्पत्यं सुयममाकृणुष्व" ॥ ४१ ॥

अलोपो मांस्पचन्याः ॥ ४२ ।

सू० अ०—मांस्पचनी (शब्द) में अकार का लोप (हो गया है)।

उ०—(अलोपः =) अकारलोपः; (मांस्पचन्याः =) मांस्पचनीशब्दे द्रष्टव्यः। मांसपचनी इति प्राप्ते—"यन्नीक्षणं मांस्पचन्याः" (वा० २५।३६) ॥४२॥

उ० अ०—(मांस्पचन्याः =) मांस्पचनी शब्द में; (अलोपः =) अकार का लोप; समझना चाहिए। मांसपचनी—यह प्राप्त होने पर—"यन्नीक्षणं मांस्पचन्याः" ॥

अ०—मांस्पचन्या इति पदे अकारलोपः स्यात्। मांसपचन्या इति प्राप्ते "यन्नीक्षणं मांस्पचन्याः" ॥ ४२ ॥

सर्वो अःकार ओकारम् ॥ ४३ ॥

सू० अ०—(घि संज्ञक व्यञ्जन बाद में होने पर) सम्पूर्ण अःकार (= अः = सोपध विसर्जनीय) ओकार (हो जाता है)।

उ०—सर्वः अःकारः ओकारमापद्यते। सर्वग्रहणात् सोपधो विसर्जनीयो घिसंज्ञकेषु प्रत्ययेषु। यथा—"अघशंसः ध्रुवाः = अघशंसो ध्रुवाः" (वा० १।१)। "मातरिश्वनः घर्मः = मातरिश्वनो घर्मः" (वा० १।२)। अरिफित इति किम्? "पुनर्मनः" (वा० ४।१५) ॥ ४३ ॥

उ० अ०—सर्वः अःकार = सम्पूर्ण अःकार (= अः = विसर्जनीय); ओकार हो जाता है। (सूत्र में) सर्व के ग्रहण से पूर्ववर्ती स्वर (उपधा) के सहित विसर्जनीय (ओकार होता है), घि संज्ञक व्यञ्जन बाद में होने पर।'''।

अ०—सर्वो विसर्जनीयः ओकारमेति। घिसंज्ञेषु परेषु सर्वग्रहणादुपधया सह वर्तमानः। यथा—"मातरिश्वनो घर्मः"। अरिफित इत्येव। "पुनर्मनः"। "अन्तर्यच्छ"।

अकारे च ॥ ४४ ॥

सू० अ०—अकार बाद में होने पर भी (विसर्जनीय ओकार हो जाता है)।

उ०—अकारे च प्रत्यये सर्वो अःकार ओकारमापद्यते। यथा—"वेदः असि = वेदोऽसि" (वा० २।२१)। "अग्रे गुवोऽग्रे पुवः" (वा० १।१२)। अरिफित इति किम् ? "पुनरग्ने" (वा० १२।९)। "पुनरायुः" (वा० ४।१५) ॥ ४४ ॥

उ० अ०—अकारे च = अकार बाद में होने पर भी; सम्पूर्ण अःकार (=अः= विसर्जनीय) ओकार हो जाता है।...।

अ०—अकारे परे अपि अकारः ओत्वमेति। "अग्रे गुवः अग्रे पुवः = अग्रे गुवोऽग्रे पुवः"। "देवो अग्निस्स्विष्टकृत्"। अरिफित इत्येव। "पुनरग्ने" ॥ ४४ ॥

एषो ह च ॥ ४५ ॥

सू० अ०—ह बाद में होने पर एषः (का विसर्जनीय) भी (ओकार हो जाता है)।

उ०—एष इत्ययं विसर्जनीय ओकारमापद्यते ह इत्येतस्मिन् पदे प्रत्यये। अवश्यमत्र "एष च" (३।१७) इत्यनेन एषशब्दस्य व्यञ्जनमात्रे विसर्जनीयलोपो विहितः तेनात्र ओकारो निपात्यते। यथा—"एषो ह देवः" ॥ ४५ ॥

उ० अ०—ह-यह पद बाद में होने पर एषः का विसर्जनीय (च = भी) ओकार हो जाता है। अवश्य ही यहाँ "व्यञ्जन बाद में होने पर स्यः और एषः का विसर्जनीय भी लुप्त हो जाता है" इस (सूत्र) से कोई भी व्यञ्जन बाद में होने पर एषः शब्द के विसर्जनीय का लोप विहित है। इससे यहाँ ओकार निपातन से होता है।...।

अ०—एषसम्बन्धी विसर्जनीयः ओत्वमेति हशब्दे परे। "स्य एष च" इति प्राप्तस्यापवादः अयं सूत्रः। यथा—"एषो ह देव"। हशब्दे किम् ? "एष ते रुद्रभागः" ॥

स्वो रुहाव्रहश्च रात्र्याम् ॥ ४६ ॥

सू० अ०—रुह् बाद में होने पर स्वः का और रात्रि बाद में होने पर अहः का (विसर्जनीय ओकार हो जाता है)।

उ०—स्वरित्ययं विसर्जनीयो रुहौ प्रत्यये ओकारमापद्यते अहरित्ययं च; (रात्र्याम् =) रात्रिप्रत्यये। यथा—"स्वः रुहाणाः = स्वो रुहाणा अधि नाकम्"

(वा० ११।२२)। "स्वः रुहाव = जाय एहि स्वो रोहाव"। "अहः रात्रे = श्रोश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे" (वा० ३१।२२)। "अहोरात्रे उर्वष्ठीवे" (वा० १८।२३)। "अहोरात्रास्ते कल्पन्ताम्" (वा० २७।४५) ॥ ४६ ॥

उ० अ०—रुहौ = रुह् बाद में होने पर; स्वः—का विसर्जनीय ओकार हो जाता है और; (रात्र्याम् =) रात्रि बाद में होने पर; अहः—का विसर्जनीय (ओकार हो जाता है)।…।

अ०—स्वरित्ययं विसर्जनीयः ओत्वमेति रुहधातौ परे अहरित्ययं विसर्जनीयोऽपि ओत्वमेति रात्रिशब्दे परे। यथा—"स्वः रुहाणाः = स्वो रुहाणा अधि नाकम्"। "जाया एहि स्वो रोहाव"। रुहधातौ किम्? "स्वश्चितानाः"। "अहोरात्रे उर्वष्ठीवे"। "पत्न्यावहोरात्रे"। "अहोरात्रास्ते कल्पन्ताम्"। रात्र्यां किम्? "अहर्पतये स्वाहा" ॥

स्वरे भाव्यन्तस्थाम् । ४७ ॥

सू० अ० स्वर बाद में होने पर अकण्ठ्य स्वर (= भावी = अ, आ से भिन्न स्वर) अन्तस्थ (हो जाता है)।

उ०—स्वरेऽसवर्णे प्रत्यये भावी अन्तस्थामापद्यते। यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकं यजामहे" (वा० ३।६०)। "वाजी अर्वन्=आशुर्भव वाज्यर्वन्" (वा० ११।४४)। "द्रु अन्नः = द्रुवन्नः सर्पिरासुतिः" (वा० ११।७०)। "वीडु अङ्गः = स्थिरो भव वीड्वङ्गः" (वा० ११।४४) ॥ ४७ ॥

उ० अ०—स्वरे = असवर्ण स्वर बाद में होने पर; भावी = अकण्ठ्य स्वर; (= अ, आ से भिन्न स्वर) अन्तस्थ हो जाता है।…।

अ०—भाविसंज्ञः स्वरः असवर्णे स्वरे परे अन्तस्थामाप्नोति। यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकं यजामहे"। 'वाज्यर्वन्"। "द्रुवन्नः"। "वनस्पते वीड्वङ्गः"। असवर्णे किम्? "अनु उत् = अनूज्जेषम्" ॥ ४७ ॥

सन्ध्यक्षरमयवायावम् ॥ ४८ ॥

सू० अ०—सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ, औ) अय्, अव्, आय् और आव् (हो जाते हैं)।

उ०—(सन्ध्यक्षरम्) ए ओ ऐ औ एतानि; च यथाक्रमं स्वरे प्रत्यये अय् अव् आय् आव् द्विवर्णमापद्यते। यथा—"इडे एहि=इड एहि" (वा० ३।२७)। "कृशानो एते = कृशानवेते" (वा० ४।२७)। "सरस्वत्यै अग्रजिह्वम् = सरस्वत्या अग्रजिह्वम्" (वा० २५।१)। "हिरण्यरूपौ उषसः=हिरण्यरूपा उषसः" (वा० १०।१६)। अत्र च "यवयोः पदान्तयोः" (४।१२७) इत्यादिना यकारवकारलोपः। "न वकारस्यासस्थान एकेषाम्" (४।१२८) इति न वकारस्य लोपः ॥ ४८ ॥

उ० अ०—स्वर बाद में होने पर; (सन्ध्यक्षरम् =) ए, ओ, ऐ, औ; ये (स्वर) क्रमशः अय्, अव्, आय्, आव्-इन दो-दो वर्णों को प्राप्त हो जाते हैं।"'। और यहाँ "पदान्तीय यकार और वकार का" इत्यादि (सूत्र से) यकार और वकार का लोप (प्राप्त होता है)। (किन्तु) "असमान उच्चारण-स्थान वाला स्वर बाद में होने पर वकार का लोप नहीं होता है" इससे वकार का लोप नहीं (होता है)।

अ०—एकार ओकार ऐकार औकाराणि एतानि यथाक्रमम् अ आ इति वर्णद्वयमापद्यते स्वरे परे। यथा—"इळ एहि"। "अदित एहि"। "काम्य एहि"। "इष्टौ = प्रचिकित्सा गइष्टौ"। "सरस्वत्या अग्रजिह्वम्"। "हिरण्यरूपा उषसः"। अत्र सर्वत्र "यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः" इति यवयोर्लोपः। "न परकाल" इति सन्ध्यभावः।

उदात्तस्यान्तस्थीभावे स्वरितं परमनुदात्तम् ॥ ४९ ॥

सू० अ०—उदात्त स्वर का अन्तस्थ (वर्ण) हो जाने पर परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

उ०—उदात्तस्य स्वरस्य; (अन्तस्थीभावे =) अन्तस्थापत्तौ सत्याम्; परं यदनुदात्तमक्षरं तत् स्वरितं भवति। "त्रि अम्बकम्=त्र्यम्बकम्" (वा० ३।६०)। "देवी एतु=देव्येतु सूनृता" (वा० ३३।८९)। "द्रु अन्नः=द्र्वन्नः" (वा० १२।७०)। "नु इन्द्र = योजा न्विन्द्र" (वा० ३।५२)। ननु "युवर्णौ यवौ क्षैप्रः" (१।११५) इत्यत्र स्वरो विहितः। पुनः किमर्थमिदमुच्यते? "स्वरितं परमनुदात्तम्" इति। द्वयोः स्वरयोः सन्ध्यवयं स्वरितो निगद्यते। तत्र न ज्ञायते किं पूर्वस्य स्वरस्य स्थाने स्वरित उत उत्तरस्य? तत्र यत्परमक्षरमनुदात्तं तत् स्वरितं भवतीति सूत्रारम्भार्थः ॥ ४९ ॥

उ० अ०—उदात्तस्य = उदात्त स्वर का; (अन्तस्थीभावे =) अन्तस्थ (वर्ण) हो जाने पर; जो; परमनुदात्तम् = परवर्ती अनुदात्त; अक्षर (होता है) वह स्वरित हो जाता है।"'। शङ्का—"जब उदात्त इवर्ण (इ, ई) और उवर्ण (उ, ऊ) क्रमशः यकार और वकार हो जाते हैं तब क्षैप्र स्वरित निष्पन्न होता है" यहाँ पर (इस स्वरित) स्वर का विधान किया जा चुका है। "परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है" इसे दूसरी बार किसलिए कहा गया है? (समाधान) दो स्वरों की संधि में इस स्वरित को कहा गया है। वहाँ यह ज्ञात नहीं होता है कि क्या पूर्व वाले स्वर के स्थान में स्वरित (होता है) अथवा परवर्ती (स्वर के स्थान में स्वरित होता है)। उनमें जो परवर्ती अनुदात्त अक्षर (होता है) वह स्वरित (होता है)—यह सूत्र के आरम्भ करने का प्रयोजन है।

अ०—उदात्तस्वरस्य अन्तस्थापत्तौ सत्यां तस्मात्परमनुदात्तं स्वरितं स्यात्। यथा—"त्रि अम्बकम् = त्र्यम्बकम्"। "देवी एतु = प्र देव्येतु सूनृता"। "नु इन्द्र =

न्विन्द्र"। ननु "युवर्णौ यवौ क्षैप्र:" इत्यनेनैवायमर्थः सिद्धः। तत् किमर्थमिदमिति चेत्। सत्यम्। द्वयोस्सन्धौ यः स्वरः विधीयते तत्र न ज्ञायते किं पूर्वस्य स्थाने स्वरो विधीयते उतोत्तरस्येति। तत्रोत्तरस्यैवेति नियमार्थमिदं सूत्रमित्यदोषः ॥ ४६ ॥

कण्ठ्य ऋकारे ह्रस्वम् ॥ ५० ॥

सू० अ०—ऋकार बाद में होने पर कण्ठ्य स्वर (= अ, आ) ह्रस्व (= अ) (हो जाता है)।

उ०—कण्ठ्यः स्वरः ऋकारे प्रत्यये; (ह्रस्वम=)। ह्रस्वस्वरम्; आपद्यते। यथा–"विश्वकर्मा ऋषिः = विश्वकर्म ऋषिः" (वा० १३।५८)। "स्वाहा ऋषभम् = स्वाह ऋषभमिन्द्राय" (वा० २१।४०)। "येन ऋषयः = येन ऋषयस्तपसा" (वा० १५।४९)। "यत्र ऋषयः = यत्र ऋषयो जग्मुः" (वा० १८।५२)। ह्रस्वस्य स्थाने ह्रस्वो विधीयमानोऽन्यस्याः संहिताया निवृत्तिं करोति। विवृत्ति-संहितैवात्र भवति न स्वर-संहिता ॥ ५० ॥

उ० अ०—ऋकारेऋकार बाद में होने पर; कण्ठ्य स्वर; ह्रस्व स्वर हो जाता है। जैसे—"विश्वकर्मा ऋषिः = विश्वकर्म ऋषिः"। 'स्वाहा ऋषभम् = स्वाह ऋषभमिन्द्राय"। "येन ऋषयः = येन ऋषयस्तपसा"। "यत्र ऋषयः = यत्र ऋषयो जग्मुः"। ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व का जो विधान किया जा रहा है वह अन्य संहिता की निवृत्ति करता है। विवृत्ति रूप संहिता ही यहाँ होती हैं, स्वर-संहिता नहीं।

अ० - कण्ठ्यस्वरः ऋकारे परे ह्रस्वमाप्नोति। यथा–"विश्वकर्मा ऋषिः = विश्वकर्म ऋषिः"। "स्वाह ऋषभमिन्द्राय"। कण्ठ्य इति सामान्ये निर्देशात् ह्रस्वस्य ह्रस्वो विधीयते। ह्रस्वस्य ह्रस्वविधानं च सन्ध्यन्तरव्यावृत्त्यर्थम्। "येन ऋषयस्तपसा"। "यत्र ऋषयो जग्मुः"। "सप्त ऋषयः"। आर्त्यै इत्यादौ विशेषो वक्ष्यति ॥ ५० ॥

अथैकमुत्तरश्च ॥ ५१ ॥

सू० अ०—इसके बाद (पूर्ववर्ती वर्ण) और परवर्ती (वर्ण) एक (हो जाते हैं) (यह अधिकार चलेगा)।

उ०—अथानन्तरमुत्तरो वर्णः चशब्दात् पूर्वश्च एकं वर्णं विकारभूतमापद्यते। इत्येतदधिकृतं वेदितव्यम् ॥ ५१ ॥

उ० अ०—अथ = इसके बाद; उत्तरः = परवर्ती वर्ण; (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) पूर्ववर्ती (वर्ण) भी; एक वर्ण रूप विकार हो जाते हैं। इसे अधिकृत जानना चाहिए।

अ०—अथ अनन्तरमुत्तरो वर्णः चशब्दात्पूर्वो वर्णश्च एकवर्णमापद्यते—इत्यधिकृतं वेदितव्यम् । अधिकारोऽयमुत्तरार्थः ॥ ५१ ॥

सिं सवर्णे दीर्घम् ॥ ५२ ॥

सू० अ०—सवर्ण (स्वर) बाद में होने पर प्रथम आठ स्वर (सिम्= अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ,) दीर्घ (हो जाते हैं) ।

उ०—"सिमादितोऽष्टौ स्वराणाम्" (१।४४) इत्युक्तम् । सिसंज्ञकः स्वरः सवर्णे स्वरे प्रत्यये परे पूर्व उत्तरश्च एकं वर्णं दीर्घमापद्यते । यथा—"प्र अर्पयतु=प्रार्पयतु" (वा० १।१) । "तव अयम् = तवायम्" (वा० २६।२३) । "नासत्या अश्वावत् = नासत्याश्वावत्" (वा० २०।८१) । "स्रुचि इव=स्रुचीव घृतम्" (वा० २०।७९) "हि इम्=त्रि हीमिद्धः" (वा० १२।६) । "अनु उत्=अनूज्जेषम्" (वा० २।१५) ॥५२॥

उ० अ०—"वर्णमाला के आदि में विद्यमान आठ स्वरों की सिम् संज्ञा है" यह कहा गया है । सवर्णे = सवर्ण स्वर बाद में होने पर; सिम् संज्ञक स्वर (दीर्घ हो जाता है) = पूर्ववर्ती और परवर्ती (स्वर) एक दीर्घ वर्ण हो जाता है ।...।

अ०—सिमादितोऽष्टौ स्वरा इत्युक्तम् । सिसंज्ञः स्वरः सवर्णे परे दीर्घमापद्यते । स चोभयस्थाने वेदितव्यः । अधिकारात् = यथा—"प्र अर्पयतु = प्रार्पयतु" । नासत्याश्वावत्" । "स्रुचि इव=स्रुचीव घृतम्" । हि ईम्=वि हीमिद्धः । "अनु उत्=अनूज्जेषम्" ॥

अनुनासिकवत्यनुनासिकम् ॥ ५३ ॥

सू० अ०—अनुनासिक-युक्त (एकीभाव) में (एकीभाव का परिणाम) अनुनासिक (वर्ण होता है) ।

उ०—अनुनासिकवत्येकीभावे पूर्वश्च परश्च एकमनुनासिकमापद्यते । यथा—"उप अँशुः=उपाँशुः"(वा० १३।५४) । "उप अँशुना=उपाँशुना सममृतत्वम्"(वा० १७।८९) । "अनुनासिका चोपधा" (४।४) इत्यादिना एकस्मिन् पक्षे उपधानुनासिक्यम् एकस्मिन् पक्षे अनुस्वारो विहितः । तत्र यस्मिन् पक्षे उपधानुनासिक्यं तमधिकृत्योच्यत एतत् "अनुनासिकवत्यनुनासिकम्" इति ॥ ५३ ॥

उ० अ०—अनुनासिकवति = अनुनासिक वाले एकीभाव में; पूर्ववर्ती और परवर्ती (ये दोनों वर्ण मिलकर) एक अनुनासिक (वर्ण) हो जाता है । जैसे—"उप अँशुः = उपाँशुः" । "उप अँशुना = उपाँशुना सममृतत्वम्" । "उपधा का स्वर अनुनासिक भी हो जाता है" इत्यादि के द्वारा एक पक्ष में उपधा के आनुनासिक्य का विधान किया गया है और एक पक्ष में अनुस्वार का विधान किया गया है । उनमें से जिस पक्ष में उपधा का आनुनासिक्य (होता है) उसको अधिकृत करके यह कहा गया है—"अनुनासिक—युक्त एकीभाव में एकीभाव का परिणाम अनुनासिक वर्ण होता है ।

अ०—अनुनासिकवत्युत्तरस्वरे अनुनासिकदीर्घमाप्नोति । यथा—"उप अँशुः = उपाँशुश्च मे" । "उपाँशोर्वीर्येण" ॥ ५३ ॥

कण्ठ्यादिवर्ण एकारम् ॥ ५४ ॥

सू० अ०—कण्ठ्य स्वर (= अ, आ) से परवर्ती इवर्ण (= इ, ई) (पूर्ववर्ती स्वर के सहित) एकार (हो जाता है) ।

उ०—कण्ठ्यात्पर इवर्णः पूर्वस्वरश्च परश्च कण्ठ्य एकमेकारं वर्णमापद्यते । यथा—"वरुण इह=वरुणेह बोधि" (वा० १८।४६) । "आ इदम्=एदमगन्म" वा० ४।१) ।

उ० अ०—कण्ठ्यात् = कण्ठ्य (स्वर) (= अ, आ) से परवर्ती; इवर्णः= इ, ई; पूर्ववर्ती कण्ठ्य स्वर और परवर्ती (स्वर) एक एकार हो जाता है ।...।

अ०—कण्ठ्यात्पर इवर्णः पूर्वश्च एकारमापद्यते । यथा—"वरुण इह = अहेळमानो वरुणेह बोधि" । "आ इदम् = एदमगन्म" ॥ ५४ ॥

उवर्ण ओकारम् ॥ ५५ ॥

सू० अ०—(अ, आ से परवर्ती) उवर्ण (उ, ऊ) (पूर्ववर्ती स्वर के सहित) ओकार (हो जाता है) ।

उ०—कण्ठ्यादुत्तरे उवर्णे कण्ठ्य उवर्णश्चैकमोकारमापद्यते । यथा—"त्वा ऊर्जे=त्वोर्जे" (वा० १।१) । "त्वा उत्तरतः=मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः" (वा०२।३) ॥५५॥

उ० अ०—कण्ठ्य (स्वर) (= अ, आ) से बाद में उवर्ण (=उ, ऊ) होने पर, कण्ठ्य (अ, आ) और; उवर्णः = उ, ऊ; एक ओकार हो जाता है।....।

अ० – कण्ठ्यपूर्व उत्तरवर्णश्च ओकारमापद्यते । यथा—"त्वा उत्तरतः = मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः" । "इहोर्जं दधात" ॥ ५५ ॥

समुद्रस्येमँस्त्वेमँस्त्वोद्मन्निति च ॥ ५६ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में परवर्ती एकार और ओकार से मिलकर पूर्ववर्ती अ अथवा आ क्रमशः एकार और ओकार हो गया है) समुद्रस्येमन्, त्वेमन् और त्वोद्मन् ।

उ०—"सन्ध्यक्षर ऐकारौकारौ" (४।५८) इति वक्ष्यति । तस्य पुरस्तादपवादभूत उत्तरसन्ध्यक्षरस्वरूप एकादेशो निपात्यते । यथा—"समुद्रस्य एमन् = समुद्रस्येमन्" (वा० १३।१७) । "त्वा एमन् = अपान्त्वेमन्" (वा० १३।५३) । "त्वा ओद्मन् = अपान्त्वोद्मन्" (वा० १३।५३) ॥ ५६ ॥

उ० अ०—"सन्ध्यक्षर बाद में होने पर अ और आ परवर्ती सन्ध्यक्षर के सहित ऐकार और औकार हो जाते हैं" यह (सूत्रकार) कहेंगे। उसके पहले किए गए अपवाद के रूप में स्थित तथा परवर्ती सन्ध्यक्षर के स्वरूप वाले एकादेश का निपातन किया जाता है।...।

अ०—सन्ध्यक्षर ऐकारौकाराविति वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः। समुद्रस्येमन्नित्यादि त्रिषु पदेषु कण्ठ्यस्य एकारओकारयोः परतः एकार ओकारश्च यथाक्रमं स्यात्। यथा–"समुद्रस्य एमन् = अपां पृष्ठे समुद्रस्येमन"। "अपान्त्वेमन्"। "अपान्त्वोद्मन्"।

एजत्योजोरेकेषाम् ॥ ५७॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मत से (अ, आ से) बाद में एजति और ओजः होने पर (एकादेश परसवर्ण होता है)।

उ०—अवर्णात् पूर्वस्मादेजत्योजोः प्रत्यययोरेकेषामाचार्याणां मतेन उत्तरसवर्ण आदेशो भवति। एजति यथा–"न एजति = नेजति" (वा० ४०।५)। ओजः यथा–"सह ओजः = वागोजः सहोजः" (वा० ३६।१)। एकेषामिति किम्? "तदेजति तन्नैजति"। "वागोजः सहौजः" ॥ ५७॥

उ० अ०—पूर्ववर्ती अवर्ण से; एजत्योजोः = बाद में एजति और ओजः होने पर; एकेषाम् = कतिपय आचार्यों के मत से; परसवर्ण रूप आदेश होता है।...।

अ०—अवर्णस्य एजत्योजशब्दयोः परयोरुभयोः स्थाने पररूपः स्यादेकेषां आचार्याणां मते। एकशब्दोऽत्र मुख्यवचनः। मुखे भवत्वात् प्रथमशाखिनामित्यर्थः। "न एजति = तदेजति तन्नेजति"। "सह ओजः = वागोजः सहोजः"। एकेषां किम्? माध्यन्दिनादीनां मा भूदिति। यथा "तन्नैजति"। "सहौजः" ॥ ५७॥

सन्ध्यक्षर ऐकारौकारौ ॥ ५८॥

सू० अ०—सन्ध्यक्षर बाद में होने पर (अ और आ परवर्ती सन्ध्यक्षर के सहित) ऐकार और औकार (हो जाते हैं)।

उ०—अवर्णः सन्ध्यक्षरे प्रत्यये पूर्वं उत्तरश्च एकमक्षरमापद्यते; (ऐकारौकारौ =) ऐकारं औकारं च। अत्र चत्वारि सन्ध्यक्षराणि। द्वावेतौ विकारौ ऐकारौकारौ। तत्र यथासम्भवात् "विकारी यथासन्नम्" (१।१४२) इति एकारे ऐकारे च प्रत्यये ऐकारो भवति। ओकारे औकारे च प्रत्यये औकारो भवति। एकारे भवति यथा— "स्वाहा एकशताय = स्वाहैकशताय" (वा० २२।३४)। ऐकारे भवति यथा—"इन्द्राय ऐन्द्रम् = इन्द्रायैन्द्रम्" (वा० १९।१८)। ओकारे भवति यथा—"इन्द्र ओजिष्ठ = इन्द्रौजिष्ठ"(वा०८।३९)। औकारे भवति यथा—"प्र औक्षन् = प्रौक्षन्" (वा० ३१।६)॥

उ० अ०—**सन्ध्यक्षरे** = सन्ध्यक्षर बाद में होने पर; अवर्ण (अ, आ)-पूर्ववर्ती (अ अथवा आ) और परवर्ती (सन्ध्यक्षर) एक अक्षर हो जाता है; **ऐकारौकारौ** = ऐकार और औकार। यहाँ पर चार सन्ध्यक्षर (ए, ऐ, ओ, औ) हैं। ऐकार और औकार ये दो विकार हैं। उनमें से यथासंभव "विकार को प्राप्त होने वाला वर्ण समीपता के अनुसार विकार को प्राप्त होता है" इससे एकार और ऐकार बाद में होने पर ऐकार होता है। ओकार और औकार बाद में होने पर औकार होता है।...।

अ०—अवर्णः सन्ध्यक्षरे परे ऐकारमौकारं चाप्नोति। अवर्णस्य एकारे ऐकारे च परे ऐकारः भवति। अवर्णस्य ओकारे औकारे च परे औकारो भवतीत्यर्थः। "विकारी यथासन्नम्" इति परिभाषितत्वात्। यथा-"स्वाहा एकशताय = स्वाहैकशताय स्वाहा"। "इन्द्राय ऐन्द्रम् = इन्द्रायैन्द्रं सदस्कृतम्"। "इन्द्र ओजस्वन् = इन्द्रौजस्वन्"। "प्र ओक्षन् = प्रौक्षन्पुरुषम्" ॥ ५८ ॥

वाहौ च स्वरभूते ॥ ५६ ॥

सू० अ०—स्वर के रूप में परिणत वाह् बाद में होने पर भी (अ और आ परवर्ती स्वर के सहित औ हो जाते हैं)।

उ०—वाहौ च प्रत्यये स्वरभूते पूर्वः कण्ठ्यः उत्तरश्च वाहेः सम्बन्धी उवर्ण एकमौकारमापद्यते। यथा-"तुर्य ऊही = तुर्यौही" (वा० १८।२६)। "पष्ठ ऊही = "पष्ठौही" (वा० १८।२७)। स्वरभूत इति किम् ? "पष्ठवाट् च मे" (वा० १८।२७)। "उवर्ण ओकारम्" (४।५९) इत्यस्यायमपवादः ॥ ५९ ॥

उ० अ०—**स्वरभूते** = स्वर के रूप में परिणत (अर्थात् जिसका वकार स्वर हो गया है वह); **वाहौ च** = वाह् बाद में होने पर भी; पूर्ववर्ती कण्ठ्य (अ, आ) और बाद में स्थित वाह् का उवर्ण एक औकार हो जाता है।...."अ, आ से परवर्ती उवर्ण (उ, ऊ) पूर्ववर्ती स्वर के सहित ओकार हो जाता है"—इस (सूत्र) का यह (सूत्र) अपवाद है।

अ०—अवर्णस्वरभूते वाहधातौ परे उकार औकारमापद्यते। यथा-"तुर्य ऊही = तुर्यौही च मे"। "पष्ठ ऊही पष्ठौही च मे"। स्वरभूत इति किम् ? "पष्ठवाट् च मे"। "उवर्ण ओकारम्" इत्यस्यापवादः ॥ ५९ ॥

आरमृकारोऽपृक्तात् ॥ ६० ॥

सू० अ०—अपृक्त (आ) से परवर्ती ऋकार (पूर्ववर्ती आकार के सहित) आर् (हो जाता है)।

उ०-अपृक्तात्पदात् पर ऋकार आरमापद्यते सहापृक्तेन। यथा-"आ ऋत्यैं = आर्त्यै परिवित्तम्" (वा० ३०।९)। अत्र स्वरो रेफस्तकारमारोहति ॥६०॥

उ० अ०—अपृक्तात् = अपृक्त पद (=आ) से परवर्ती ऋकार, अपृक्त (पद) के सहित, आर् हो जाता है। जैसे—आ ऋत्यै = आर्त्यै परिवित्तम्" । यहाँ पर स्वर (ऋ) के स्थान पर आया हुआ रेफ तकार पर आरूढ हो जाता है।

अ०—अपृक्तपदात् पर ऋकारः पूर्वेण सह आर्भावमेति यथा—"आ ऋत्यै = आर्त्यै परिवित्तम्" । अत्र रेफः तकारमाप्नोति लेखनदशायाम् ! 'कण्ठ्य ऋकारे ह्रस्वम्' इत्यस्यापवादोऽयं सूत्रः ॥ ६० ॥

ऌकारश्चाल्कारम् ॥ ६१ ॥

सू अ०—(अपृक्त आ से परवर्ती) ऌकार (पूर्ववर्ती आ के सहित) आलकार (हो जाता है)।

उ०—इदं सूत्रं केचिन्न पठन्ति व्यर्थत्वात् । ऌकारश्चाल्कारमापद्यते । "आ ऌकारः = आल्कारः" ॥ ६१ ॥

उ० अ०—इस सूत्र का कुछ लोग पाठ नहीं करते हैं, व्यर्थ होने से (क्योंकि संहिता में इसका उदाहरण नहीं मिलता है)। ऌकार आल्कार (=आल्) हो जाता है।

अ०—अपृक्तपदात्परः ऌकारः पूर्वेण सह आलभावमाप्नोति । यथा—"आ ऌकारः = आल्कारः" । रूपोदाहरणमिदम् । संहितायामुदाहरणाभावेऽपि यल्लक्षणमुच्यते तच्छिष्याणां लौकिकप्रयोगव्युत्पत्यर्थं प्रसङ्गादाचार्येणोक्तं शाखान्तरोदाहरणसिद्ध्यर्थं वेत्यवधेयम् ॥६१॥

एदोद्भ्यां पूर्वमकारः ॥ ६२ ।

सू० अ०—एकार और ओकार से परवर्ती अकार पूर्वरूप (को प्राप्त करता है।

उ०—(एदोद्भ्याम् =) एकारौकाराभ्यां परः; अकारः; (पूर्वम् =) पूर्वरूपम्; आपद्यते। यथा—"ते अवन्तु = तेऽवन्त्वस्मान्" (वा० १६।५८)। "ते अप्सरसाम्=तेऽप्सरसाम्" (वा० २४।३७)। "वेदः असि=वेदोऽसि" (वा० २।२१)। "स्तुपः असि = स्तुपोऽसि" (वा० २।२)। "सर्वो अःकार ओकारम्" (४।४३)। "अकारे च" (४।४४) इत्यनेन च ओकारः ॥ ६२ ॥

उ० अ० – (एदोद्भ्याम् =) एकार और ओकार से परवर्ती; अकार; (पूर्वम् =) पूर्व रूप को; प्राप्त करता है। "घि संज्ञक व्यञ्जन बाद में होने पर सम्पूर्ण अःकार (= सोपध विसर्जनीय) ओकार हो जाता है" तथा "अकार बाद में होने पर भी विसर्जनीय ओकार हो जाता है" इस सूत्र से (विसर्जनीय) ओकार (होता है)।

अ०—एकारौकाराभ्यां पर अकारः पूर्वरूपमापद्यते। यथा—"ते अवन्तु=तेऽवन्तु"। "ते अप्सरसाम् = तेऽप्सरसाम्"। "वेदः असि=वेदोऽसि"। "कृष्णः असि =कृष्णोऽसि"। "सर्वो अःकार ओकारम्"। "अकारे च"। इत्यनेनात्र विसर्जनीयस्य ओकारः ॥ ६२ ॥

तौ चेदुदात्तावनुदात्ते स्वरितौ ॥ ६३ ॥

सू० अ०--यदि वे (एकार और ओकार) उदात्त हैं तो, अनुदात्त (अकार) बाद में होने पर, स्वरित हो जाते हैं।

उ०--तौ; (चेत् =) यदि; एकारौकारौ उदात्तौ भवतः तदा अनुदात्ते अकारे परे स्वरितौ भवतः। यथा--"वेदो असि=वेदोऽसि" (वा० २।२१)। "स्तुपो असि="स्तुपोऽसि" (वा०२।२)। "ते अप्सरसाम् = तेऽप्सरसाम्" (वा०२४.३७)। "एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहितः" (१।११४) इति स्वरितत्वं विहितमेव। इह त्वपवादार्थं तदुच्यते ॥ ६३ ॥

उ० अ०--चेत् = यदि; तौ = वे = एकार और ओकार; उदात्त होते हैं तो; अनुदात्ते=अनुदात्त अकार बाद में होने पर; स्वरित हो जाते हैं।...। "जब उदात्त एकार और ओकार से परवर्ती अनुदात्त अकार लुप्त हो जाता है, तब अभिनिहित संज्ञक स्वरित निष्पन्न होता है"--यहाँ स्वरित का विधान किया ही जा चुका है। यहाँ पर तो अपवाद के लिए उसे (दोबारा) कहा जाता है (४।६४) में स्वरित होने का निषेध किया गया है। प्राप्ति होने पर ही निषेध किया जाता है। अतः यहाँ स्वरित होने का विधान किया गया है)।

अ०--तौ एदोतौ उदात्तौ सन्तौ अनुदात्ते परे स्वरितौ स्तः परश्चेत्पूर्वरूपमापद्यते। उक्तान्येवोदाहरणानि। अयं च स्वरः अभिनिहित इत्युक्तः। "एदोद्भ्यामकारो लुगभिनिहित" इति सूत्रेण ॥ ६३ ॥

न देशेऽभवति ॥ ६४ ॥

सू० अ०--अभवत् बाद में होने पर देशे (का एकार स्वरित) नहीं (होता है)।

उ०--देशे इत्ययमेकारः; (अभवति =) अभवदित्यस्मिन् प्रत्यये; न स्वरितो भवति। यथा--"देशे अभवत् = सो देशेऽभवत्सरित्" (वा० ३४।११) ॥ ६४ ॥

उ० अ०--अभवति = अभवत्--यह बाद में होने पर; देशे का एकार स्वरित न = नहीं; होता है। ।

अ०--अत्र परे लुप्तेऽपि स्वरितः न स्यात्। पूर्वापवादः। "सो देशेऽभवत्सरित्" ॥

गाहमानः शिवो भरन्तो द्वेषोभ्यो जम्भयन्तो वाजे वाजजितः मदन्तः शोचेऽवसे सुष्वे ज्योते सुपर्णो वीरुधः सुवीरो धातवे सूनवे द्रूणानो आशवो वहतः सङ्क्रन्दनो वाहत्रोऽस्युष्योऽद्रुहः ॥ ६५ ।

सू० अ०—गाहमानः, शिवः, भरन्तः, द्वेषोभ्यः, जम्भयन्तः, वाजे, वाजजितः, मदन्तः, शोचे, अवसे, सुषुवे, ज्योते, सुपर्णः, वीरुधः, सुवीरः, धातवे, सूनवे, द्रूणानः, आशवः, वहतः, संक्रन्दनः, बाहवः, अयुध्यः और अद्रुहः (इनसे परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है)।

उ० – एतेभ्य एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते। अभिनिधानं च पूर्वरूपता। गाहमानो यथा–"गाहमानोऽद्य:" (वा० १७।३९)। शिवो यथा–"अहिंसन्नः शिवोऽतीहि" (वा० ३।६१)। भरन्तो यथा–"भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते" (वा० ११।७५)। द्वेषोभ्यो यथा–"द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः" (वा० ५।३५)। जम्भयन्तो यथा–"जम्भयन्तोऽहिम्" (वा० ९।१६)। वाजे यथा–"वाजे वाजेऽवत" (वा० ९।१८)। वाजजितो यथा–"वाजजितोऽध्वनः" (वा० ९।१३)। मदन्तो यथा–"मदन्तोऽग्ने मा ते" (वा० ११।७५)। शोचे यथा–"भद्रशोचेऽरूपम्" (वा० १२।२६)। अवसे यथा–"अवसेऽग्निमन्वारभामहे" (वा०९।२६)। सुषुवे यथा–"सुषुवेऽग्रे सोम." (वा०९।२३)। ज्योते यथा–"ज्योतेऽदिते सरस्वती" (वा० ८।४३)। सुपर्णो यथा–"सुपर्णोऽसि गरुत्मान्" (वा० १२।४)। वीरुधो यथा–"वीरुधोऽस्यै सन्दत्त" (वा० १२।९४)। सुवीरो यथा–"सुवीरोऽवीरहा" (वा० ४।३७)। धातवे यथा–"सरस्वति तमिह धातवेऽकः" (वा० ३८।५)। सूनवे यथा–"सूनवेऽग्ने सूपायनो भव" (वा० ३।२४)। द्रूणानो यथा–"द्रूणानोऽस्तासि" (वा०१३।९)। आशवो यथा–"आशवोऽस्तम्" (वा०१५।८१)। वहतो यथा–"वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्" (वा० ८।३५)। सङ्क्रन्दनो यथा–"सङ्क्रन्दनोऽनिमिषः" (वा० १७।३३)। बाहवो यथा–"बाहवोऽनाधृष्या यथासथ" (वा०१७।४६)। अयुध्यो यथा–"अयुध्योऽस्माकं सेनाः" (वा० १७।३९)। अद्रुहो यथा–"अद्रुहोऽनमीवा इषो महीः" (वा० १२।५०)। ननु "एदोद्भ्यां पूर्वमकारः" (४।६२) इत्यनेनैवाभिनिहितः सिद्धः। किमर्थं गाहमानादिभ्य उत्तरस्याकारस्याभिनिधानमुच्यते ? नैवाभिनिहितः सिद्धः "प्रकृतिभाव ऋक्षु" (४।८२) इति प्रकृतिभावमृक्षु वक्ष्यति। तस्यायं पुरस्तादपवादः ॥ ६५ ॥

उ० अ०—इनके एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है। और अभिनिधान = पूर्वरूपता।...। शङ्का–"एकार और ओकार से परवर्ती अकार पूर्वरूप को प्राप्त करता है"–इस (सूत्र) से ही अभिनिधान सिद्ध है। गाहमान आदि से बाद वाले अकार का अभिनिधान किसलिए कहा जाता है ? (समाधान) अभिनिधान सिद्ध नहीं है "ऋचाओं में प्रकृतिभाव होता है" इस (सूत्र) से ऋचाओं में प्रकृतिभाव कहेंगे। उस (सूत्र) का यह पहले अपवाद है।

अ०—गाहमान इत्यादि चतुर्विंशतिपदेभ्यः परः अकारः पूर्वरूपमापद्यते। "एदोद्भ्यां पूर्वमकारः" इति पूर्वरूपे सिद्धेऽपि "प्रकृतिभाव ऋक्षु" इति प्रकृतिभावं

वक्ष्यति। तस्यायमपवादः। यथाक्रमेणोदाहरणम्—"गाहमानोऽद्यो वीरः"। "अहिं-सन्नः शिवोऽस्तीहि"। "भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै"। "द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्यः"। "जम्भयन्तोऽहि वृकम्"। "वाजे वाजेऽवत"। "वाजजितोऽध्वनः स्कम्नन्तः"। परेषा-मिदम्। "मदन्तोऽग्ने मा ते"। "भद्रशोचेऽपूपं देव"। "सोमं राजानमवसेऽग्निम्"। "प्रसवस्सुषुवेऽग्रे सोमम्"। "ज्योतेऽदिते सरस्वति"। "सुपर्णोऽसि गरुत्मान्"। सर्वास्सङ्गस्य वीरुधोऽस्यै"। "सुवीरोऽवीरहा"। "सरस्वति तमिह धातवेऽकः"। अकरिति अस्य रिफित-संज्ञा। "ह्वास्सवितः" इति सूत्रेण। "स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव"। "प्रमितिन्द्रणा-नोऽस्तासि विध्य रक्षसः"। "आशवास्तन्नित्यासो वाजिनः"। "हरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम्"। "सङ्क्रन्दनोऽनिमिषः"। "वाहत्रोऽनाधृष्याः"। "अयुध्योऽस्माकम्"। "अद्रुहोऽनमी-वाः"। अत्र सुपर्णोऽग्नोति त्रयाणामपि ग्रहणात् चतुर्विंशतिसङ्ख्योपपत्तिः ॥ ६५ ॥

वोऽहं सोऽहं सोऽस्माकं तेऽभिगरो वोऽर्वाची ॥ ६६ ॥

सू॰ अ॰—(अधोलिखित द्विपदों में अकार का अभिनिधान होता है) वोऽहम्, सोऽहम्, सोऽस्माकम्, तेऽभिगरः और वोऽर्वाची।

उ॰—एते द्विपदा यथागृहीतमेवाभिनिधीयन्ते। वोऽहं यथा—"तेषां विशि प्रियाणां वोऽहम्" (वा॰ ६।४)। सोऽहं यथा—"सोऽहं वाजम्" (वा॰ १८।३५)। सोऽस्माकं यथा—"उपस्तिरस्तु सोऽस्माकम्" (वा॰१२।१०१)। तेऽभिगरो यथा—"अनुष्टुप्तेऽभिगरः" (वा॰ ८।४७)। वोऽर्वाची यथा—"आवोऽर्वाची सुमतिः" (वा॰ ८।४)॥ ६६ ॥

उ॰ अ॰—ये द्विपद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) अभिनिधान को प्राप्त करते हैं।···।

अ॰—एतेषामकारः पूर्वरूपमापद्यते। "विशि प्रियाणां वोऽहम्"। "सोऽहं वाजं सनेयमग्ने" "उपस्तिरस्तु सोऽस्माकम्"। "अनुष्टुप्तेऽभिगरः" "आवोऽर्वाची" ॥६६॥

येऽन्नात्रयोः ॥ ६७ ॥

सू॰ अ॰—'ये' से परवर्ती अन्न और अत्र का (अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है)।

उ॰—ये इत्येतस्मात् परयोः **अन्नात्रयोः** सम्बन्धी अकारोऽभिनिधीयते। अन्न यथा—"येऽन्नेषु" (वा॰१६।६२)। अत्र यथा—"येऽत्र स्थ पुराणाये च नूतनाः" (वा॰१२।४५)।

उ॰ अ॰—ये–इससे परवर्ती; अन्नात्रयोः = अन्न और अत्र का; अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है।···।

अ॰—येपदात्परः अकारः पूर्वरूपमेति। अन्नात्रसम्बन्धी चेत्। यथा—"येऽन्नेषु विविध्यन्ति"। "येऽत्र स्थ पुराणाः" ॥ ६७ ॥

अविद्यासम्भूत्योश्च ॥ ६८ ॥

सू० अ०—(ये से परवर्ती) अविद्या और असम्भूति का भी (अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है)।

उ०—(अविद्यासम्भूत्योः =) अविद्या—असम्भूतिसम्बन्धी; अकारोऽभिनिधीयते। चशब्दात् ये इत्यस्मात् परः। अविद्या यथा—"येऽविद्यामुपासते" (वा०४०।१२)। असम्भूति यथा—"येऽसम्भूतिमुपासते" (वा० ४०।९)। इत्येतयोरिति किम्? "अथो ये अस्य सत्वानः" (वा० १६।८) ॥ ६८ ॥

उ० अ०—(अविद्यासम्भूत्योः =) अविद्या और असम्भूति का; अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) 'ये' से परवर्ती (अविद्या और असम्भूति का अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है)।...।

अ०—अनयोः अकारः पूर्वरूपमेति। चशब्दात् येशब्दात्परः। यथा—"येऽविद्यामुपासते"। "येऽसम्भूतिमुपासते"। एषामेव किम्? "अथो ये अस्य सत्वानः" ॥ ६८ ॥

उपस्थेऽन्तरतेभ्योऽकरम् ॥ ६९ ।

सू० अ०—उपस्थेऽन्तः और तेभ्योऽकरम् (इन द्विपदों में अकार का अभिनिधान होता है)।

उ०—एतौ च द्विपदौ यथागृहीतमेवाभिनिधीयेते। उपस्थेऽन्तो यथा—"शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याम्" (वा० १२।३९)। तेभ्योऽकरं यथा—"अहन्तेभ्योऽकरन्नमः" (वा० १६।८) ॥ ६९ ॥

उ० अ०—ये द्विपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) अभिनिधान को प्राप्त करते हैं।...।

अ०—अनयोः अकारः पूर्ववत्। "शेषे मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याम्"। "अहं तेभ्योऽकरं नमः" ॥ ६९ ॥

नमोऽस्त्वसौत्रामण्याम् ॥ ७० ॥

सू० अ०—सौत्रामणी में न होने पर 'नमोऽस्तु' (इस द्विपद में अकार का अभिनिधान होता है)।

उ०—नमोऽस्तु—एतच्च द्विपदं यथागृहीतमेवाभिनिधीयते; (असौत्रामण्याम् =) सौत्रामण्यां चेन्न भवति। यथा—"नमोऽस्तु सर्पेभ्यः" (वा० १३।६)। असौत्रामण्यां किम्? "नमो अस्त्वद्य ये" (वा० १९।६८) ॥ ७० ॥

उ० अ०—(असौत्रामण्याम् =) यदि सौत्रामणी में नहीं होता है; तो

नमोऽस्तु–यह द्विपद जैसे (सूत्र में) उल्लिखित है वैसे ही (संहिता–पाठ में) अभि-निधान को प्राप्त करता है।…।

अ०—नमःशब्दात्परः अस्तुशब्दस्य अकारः पूर्वरूपमेति। सौत्रामणीमन्त्रान्वर्जयित्वा। "नमोऽस्तु सर्पेभ्यः"। "नमोऽस्तु रुद्रेभ्यः"। असौत्रामण्यां किम्? "इदं पितृभ्यो नमो अस्तु"। स्वाद्वीं त्वाध्यायो हि सौत्रामणीयागे विहितः। अतस्तत्र न भवतीत्यर्थः। "तेभ्यो नमो अस्तु" इत्यस्य तु असौत्रामणीमन्त्रत्वेऽपि अग्रे प्रकृतिभावं सूत्रकारो वक्ष्यतीति ज्ञेयम् ॥ ७० ॥

विश्वेऽग्रे विशो रायोऽनग्नौ ॥ ७१ ॥

सू० अ०--अग्निचयन में न होने पर विश्वे, अग्रे, विशो और रायो (से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है)।

उ०--विश्वे इत्यादिभ्य एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते; (अनग्नौ =) अग्नौ चेन्न भवति। युञ्जानः प्रथममित्यत आरभ्य स्वाद्वीन्त्वेति यावदग्निरुच्यते। विश्वे यथा—"विश्वेऽसुङ्घर्मम्" (वा०८।१९)। अग्रे यथा—"ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन" (वा०६।७)। विशो यथा—"अथा न इन्द्रा इद्विशोऽसपत्नाः" (वा० ७.२५)। रायो यथा—"त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनु" (वा० ८।१४)। अनग्नाविति किम्? "विश्वे अद्य मरुतः" (वा० १८।३१)। "मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम्" (वा० १३।१)। "भवा पायुर्विशो अस्याः" (वा० १३।११)। "अस्मे रायो अमर्त्य" (वा० १२।१०९) ॥ ७१ ॥

उ० अ०—विश्वे इत्यादि के एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है; (अनग्नौ =) यदि अग्नि-चयन में नहीं होता है। 'युञ्जानः प्रथमम्' इससे आरम्भ करके 'स्वाद्वीन्त्वा' तक (का भाग) (= एकादश अध्याय से अष्टादश अध्याय तक) अग्नि कहा जाता है।…।

अ०—विश्वादिचतुर्भ्यः परः अकारः पूर्वरूपमेति। अग्निचयनमन्त्रान्वर्जयित्वा। युञ्जानः प्रथममित्यारभ्य स्वाद्वीन्त्वाध्यायपर्यन्तम् अग्निचयनं कथ्यते। अतः तत्र न भवतीत्यर्थः। क्रमेणोदाहरणम्। "विश्वेऽसुङ्घर्मम्"। "ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्"। "अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः"। "रायोऽनु मार्ष्टु"। अनग्नौ किम्? "पायुर्विशो अस्याः"। "अस्मे रायो अमर्त्य" ॥ ७१ ॥

सूर्योऽग्नेऽभौ ॥ ७२ ॥

सू० अ०—सूर्यो और अग्ने से परवर्ती अभि (शब्द) के (अकार का अभिनिधान होता है)।

उ०—सूर्यो अग्ने इत्येताभ्यां परः; (अभौ =) अभिशब्दस्याकारः; अभि-निधीयते। सूर्यो यथा—"सूर्योऽभिताप्सीत्" (वा० १३।३०)। अग्ने यथा—"अग्नेऽ-

भ्यावर्तिन्" (वा० १२।७) । अभाविति किम् ? "चक्षोः सूर्यो अजायत" (वा०३१।१२)। "अग्ने अच्छा वदेह नः" (वा० ९।२८) ।

उ० अ०—सूर्यो, अग्ने—इनसे परवर्ती; (अभौ =) अभि शब्द का अकार; अभिनिधान को प्राप्त करता है ।...।

अ०—सूर्याग्निशब्दाभ्यां परः अभिशब्दस्याकारः पूर्वरूपमेति । "मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीत्" । "अग्नेऽभ्यावर्तिन्" । अभाविति किम् ? "चक्षोस्सूर्यो अजायत" । "अग्ने अच्छ" ॥ ७२ ॥

रिषो यवसे पुरुप्रियोऽन्नपतेऽर्णवे ॥ ७३ ॥

सू० अ०—रिषो, यवसे, पुरुप्रियो, अन्नपते और अर्णवे (से परवर्ती अकार का अभिनिधान हो जाता है) ।

उ०—एतेभ्य एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते । रिषो यथा—"मा सुरिषोऽम्ब"(वा०११।६८) । यवसे यथा—"प्रोथदश्वो न यवसेऽविष्यन्"(वा०१५।६२)। पुरुप्रियो यथा—"पुरुप्रियोऽग्ने" (वा० ११।७२) । अन्नपते यथा—"अन्नपतेऽन्नस्य" (वा० ११।८३) । अर्णवे यथा—अर्णवेऽन्तरिक्षे भवाः" (वा० १६।५५) ॥ ७३ ॥

उ० अ०—इनके एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है।

अ०—रिषादिपञ्चभ्यः पर अकारः पूर्ववत् । यथा—"मा सुरिषोऽम्ब धृष्णु" । "न यवसेऽविष्यन्" । "पुरीष्यः पुरुप्रियोऽग्ने" । "अन्नपतेऽन्नस्य" । "अस्मिन्महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे" ॥

व्यपरे च ॥ ७४ ॥

सू० अ०—यकार और वकार बाद में होने पर भी (अकार का अभिनिधान हो जाता है) ।

उ०—एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते; (व्यपरे =) स चेदकारो वकारपरो यकारपरो वा भवति । यथा—"सहस्रयोजनेऽव धन्वानि" (वा० १६।५४) । "तिग्मतेजोऽयस्मयम्" (वा० १२।६३) ॥ ७४ ॥

उ० अ०—एकार और ओकार से परवर्ती अकार (च = भी) अभिनिधान को प्राप्त करता है; (व्यपरे =) यदि वह अकार वकारपर (वकार है बाद में जिसके ऐसा) अथवा यकारपर (यकार है बाद में जिसके ऐसा) होता है।...।

अ०—एदोद्भ्यां पर अकारः पूर्वरूपमापद्यते स चेत् वकारपरः यकारपरो वा भवति । यथा—"तेषां सहस्रयोजनेऽव धन्वानि" । "ब्रह्मा कृण्णश्च नोऽवतु" । "तिग्मतेजोऽयस्मयम्" ॥

गवे मे मनसो वाजयन्तः सोम्यासः पाशिनो विदानोऽनृते मूजवतो वृष्णोऽपाको दीदिवस्त्रयस्त्रिंशे ब्रह्मणे यको रथो विश्वतः पादो वसन्तः ॥७५॥

सू० अ०—गवे, मे, मनसः, वाजयन्तः, सोम्यासः, पाशिनः, विदानः, अनृते, मूजवतः, वृष्णे, अपाकः, दीदिवः, त्रयस्त्रिंशे, ब्रह्मणे, यकः, रथः, विश्वतः, पादः और वसन्तः (से परवर्ती अकार का अभिनिधान हो जाता है) ।

उ०—एतेभ्य एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते । गवे यथा—"गवेऽश्वाय" (वा० ३।५९) । मे यथा—"विशो मेऽङ्गानि" (वा० २०।८) । मनसो यथा—"मनसोऽसि विलायकः" (वा० २०।३४) । वाजयन्तो यथा—"वाजयन्तोऽश्याम" (वा० १८।७४) । सोम्यासो यथा—"सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः" (वा० १९।५८) । पाशिनो यथा—"पाशिनोऽतिधन्वेव" (वा० २०।५३) । विदानो यथा—"संविदानोऽनु द्यावापृथिवी" (वा० १९।५४) । अनृते यथा—"अश्रद्धामनृतेऽदधात्" (वा० १९।७७)। मूजवतो यथा—"मूजवतोऽतीहि" (वा० ३।६१) । वृष्णे यथा—"त्वष्टा दधच्छुष्ममिन्द्राय वृष्णेऽपाकः" (वा० २०।४४) । अपाको यथा—"अपाकोऽचिष्टुर्यशसे" (वा० २०।४४) । दीदिवो यथा—"स नः पावक दीदिवोऽग्ने" (वा० १७।९) । त्रयस्त्रिंशे यथा—"त्रयस्त्रिंशेऽमृताः" (वा० २१।२८) । ब्रह्मणे यथा—"अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय" (वा० ७।२१) । यको यथा—"यकोऽसकौ शकुन्तकः" (वा० २३।२३) । रथो यथा—"दूडभो रथोऽस्मान्" (वा० ३।३६) । विश्वतो यथा—"विश्वतोऽदब्धासः" (वा० २५।१४) । पादो यथा—"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" (वा० ३१।३) । वसन्तो यथा—"वसन्तोऽस्यासीत्" (वा० ३१।१४) ॥ ७५ ॥

उ०अ०—इनके (=गवे, मे...पादः, वसन्तः के) एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है ।...।

अ०—गवे इत्यादि एकोनविंशतिपदेभ्यः पर अकारः पूर्वरूपमापद्यते । यथा—"गवेऽश्वाय पुरुषाय" । "मेऽङ्गानि" । "मनसोऽसि विलायकः" । "वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नम्" । "सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः" । "पाशिनोऽतिधन्वेव तान्" । "संविदानोऽनु द्यावापृथिवी" । "अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये" । "परो मूजवतोऽतीहि" । "इन्द्राय वृष्णेऽपाकोऽचिष्टुः" । "स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवान्" । "त्रयस्त्रिंशेऽमृता स्तुताः" । "अस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्राय" । "यकोऽसकौ शकुन्तकः" । "परि ते दूळभो रथोऽस्मान्" । "विश्वतोऽदब्धासो अपरीतासः" । "पादोऽस्य विश्वा भूतानि"।"वसन्तोऽस्यासीदाज्यम्"।

अवोऽस्त्वग्ने गृहपतेऽभि सत्वानोऽहं नोऽजस्रया विमानोऽजस्रः सुतेऽश्विना नमोऽग्नये तेऽग्रं तेऽग्रे वृक्षस्य प्रथमोऽन्तस्तेऽन्येन ॥७६॥

सू० अ०—(अधोलिखित द्विपदों में अकार का अभिनिधान होता है) अवोऽस्तु, अग्ने गृहपतेऽभि, सत्वानोऽहम्, नोऽजस्रया, विमानोऽजस्रः, सुतेऽश्विना, नमोऽग्नये, तेऽग्रम्, तेऽग्रे वृक्षस्य, प्रथमोऽन्तः और तेऽन्येन ।

उ०—एतेषां च द्विपदानां उत्तरपदादिर्यथागृहीतमेवाकारोऽभिनिधीयते। अवोऽस्तु यथा—"महि त्रीणामवोऽस्तु" (वा० ३।३१)। अग्ने गृहपते यथा—"अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नम्" (वा० ३।३९)। सत्वानो यथा—"अस्य सत्वानोऽहम्" (वा० १६।८)। नोऽजस्रया यथा—"पुरो नोऽजस्रया" (वा० १७।७६)। विमानोऽजस्रो यथा—"विमानोऽजस्रो घर्मो हविः" (वा० १८।६६)। सुतेऽश्विना यथा—"तनूपा भिषजा सुतेऽश्विनोभा" (वा० २०।५६)। नमोऽग्नये यथा—"ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये" (वा० २३।१३)। तेऽग्रं यथा—"माता च ते पिता च तेऽग्रम्" (वा० २३।२४)। तेऽग्रे वृक्षस्य यथा—"तेऽग्रे वृक्षस्य क्रीडतः" (वा० २३।२५)। वृक्षस्येति किम्? "ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्" (वा० ९।७)। प्रथमोऽन्तो यथा—"सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तः" (वा० २३।६३)। तेऽन्येन यथा—"महिमा तेऽन्येन" (वा० २३।१५) ॥७६॥

उ० अ०—इन द्विपदों के उत्तर-पद का आदिभूत अकार (संहिता-पाठ में) वैसे ही अभिनिधान को प्राप्त करता है जैसे (सूत्र में) उल्लिखित है।...।

अ०—अवोऽस्त्वित्याद्येकादशपदेभ्यः पर अकारः पूर्वरूपमाद्यते। यथा—"महि त्रीणामवोऽस्तु"। "अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नम्"। "अस्य सत्वानोऽहम्"। "पुरो नोऽजस्रया"। "विमानोऽजस्रो घर्मः"। अन्यदीयम्। "तनूपा भिषजा सुतेऽश्विना"। "ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु नमोऽग्नये"। "पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य"। "पिता च तेऽग्रे वृक्षस्य"। वृक्षस्येति विशिष्टं किम्? "ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्"। "प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे"। "महिमा तेऽन्येन न सन्नशे" ॥

पणयो जहीमोऽम्बिके । ७७ ॥

सू० अ०—पणयः, जहीमः और अम्बिके (से परवर्ती अकार का अभिनिधान होता है)।

उ०—पणयः जहीमः अम्बिके एतेभ्य एकारौकारेभ्यः परोऽकारोऽभिनिधीयते। पणयो यथा—"अपेतो यन्तु पणयोऽसुम्नाः" (वा० ३५।१)। जहीमो यथा—"अत्रा जहीमोऽशिवा ये" (वा० ३५।१०)। अम्बिके यथा—"अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके" (वा० २३।१८) ॥

उ० अ०—पणयः, जहीमः, अम्बिके—इनके एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है।...।

अ०—एभ्यः त्रिभ्यः अकारः तथा। यथा—"अपेतोऽन्यं तु पणयोऽसुम्नाः"। "अत्रा जहीमोऽशिवा ये"। "अम्बेऽम्बिकेऽम्बालिके" ॥ ७७ ॥

नोनुम्णोऽदुग्धा इव प्रचेतसोऽश्वान्नरोऽस्माकं वृषपाणयोऽश्वाः प्रदिशोऽनूदितेऽनागा अन्धसोऽर्चा पनस्यतेऽद्धा यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं त्रिपशिद्धतोऽभि जनोऽनमीव आयवोऽनु नोऽद्य देशेऽभवद्वयुनेऽजनिष्ट विघ्नापसोऽजायन्त पूर्व्यासोऽरेणवो नोऽश्मा नोऽदितिर्नोऽहिः । ७८ ॥

सू० अ० – (अधोलिखित द्विपदों में अकार का अभिनिधान होता है) नोनुमोऽदुग्धा इव, प्रचेतसोऽश्वान्, नरोऽस्माकम्, वृषपाण्योऽश्वाः, प्रदिशोऽनु, उदितेऽनागाः, अन्धसोऽर्चा, पनस्यतेऽद्धा, यज्ञियेभ्योऽमृतत्वम्, विपश्चितोऽभि, जनोऽनमीवः, आयवोऽनु, नोऽद्य, देशेऽभवत्, वयुनेऽजनिष्ट, विघ्नापसोऽजायन्त, पूर्व्यासोऽरेणवः, नोऽस्मा, नोऽदितिः, नोऽहिः ।

उ०—एते च द्विपदा यथागृहीतमेवाभिनिधीयन्ते । नोनुमोऽदुग्धा इव यथा– "अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव" (वा० २७।३५) । प्रचेतसोऽश्वान् यथा–"अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्" (वा० २९।५०) । नरोऽस्माकं यथा–"नो नरोऽस्माकमिन्द्र" (वा० २९।५७) । वृषपाणयोऽश्वा यथा–"वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः" (वा० २९।४४)। प्रदिशोऽनु यथा–"प्रदिशोऽनु सर्वाः" (वा० ३२।४) । उदितेऽनागा यथा–"यदद्य सूर उदितेऽनागाः" (वा० ३३।२०) । अन्धसोऽर्चा यथा–"अन्धसोऽर्चा विश्वानराय" (वा० ३३।२३) । पनस्यतेऽद्धा यथा–"पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि" (वा० ३३।३९) । यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं यथा–"यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम्" (वा० ३३।५४) । विपश्चितोऽभियथा–"पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभिस्तोमैः" (वा० ३३।८१) । जनोऽनमीवो यथा–"सर्व इज्जनोऽनमीवः" (वा० ३३।८६) । आयवोऽनु यथा–"आयवोऽनुष्टुवन्ति" (वा०३३।८७)। नोऽद्य यथा–"अनुनोऽद्यानुमतिः" (वा०३४।९) । देशेऽभवद्यथा–"सो देशेऽभवत्सरित्" (वा०३४।११) । वयुनेऽजनिष्ट यथा–"इडायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट" (वा० ३४।१४) । विघ्नापसोऽजायन्त यथा–"विघ्नापसोऽजायन्त मरुतः" (वा० ३४।१२) । पूर्व्यासोऽरेणवो यथा–"पूर्व्यासोऽरेणवः सुकृताः" (वा० ३४।२७) । नोऽस्मा यथा–"नोऽस्मा भवतु नस्तनूः" (वा० २९।४९) । नोऽदितिर्यथा–"अधि ब्रवीतु नोऽदितिः" (वा०२९।४९)। नोऽहिर्यथा–"उत नोऽहिर्बुध्न्यः" (वा०३४।५३)॥७८॥

उ० अ०—ये द्विपद भी जैसे (सूत्र में) उल्लिखित हैं वैसे ही (संहिता-पाठ में) अभिनिधान (अभिनिहित संधि) को प्राप्त करते हैं ।...।

अ०—"एतद्विंशतिपदसम्बन्धी अकारः पूर्वरूपमापद्यते । यथा-"अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव" । "अश्वाजनि प्रचेतसोऽश्वान्" । "समश्वपर्णाश्चरन्तः नो नरोऽस्माकम्" । "वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः" । इदं द्वयं परकीयम् । "एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः" । "यदद्य सूर उदितेऽनागाः" । "मन्दमानायान्धसोऽर्चा विश्वानराय" । "महिमा पनस्य तेऽद्धा देव" । "प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वम्" । "शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैः" । "सर्व इज्जनोऽनमीवाः" । "आयवोऽनुष्टुवन्ति" । "अनुनोऽद्यानुमतिः" । एतत्त्रयं परकीयम् । "सो देशेऽभवत्सरित्" । "न देशेऽभवति" तु स्वरितनिषेधकमिति न पुनरुक्तिः । "इळायास्पुत्रो वयुनेऽजनिष्ट" । "कवयो विघ्नापसोऽजायन्त" । "पूर्व्यासोऽरेणवः" ।

"परिवृङ्धि नोऽभा भवतु नस्तनूः" । "सोमो अधिब्रवीतु नोऽदितिः" । इदं द्वयं अन्यदीयम् । "उत नोऽहिर्बुध्न्यः" ॥ ७८ ॥

ब्राह्मणः ॥ ७९ ॥

सू० अ०—ब्राह्मणः (से परवर्ती अकार का अभिनिधान होता है) ।

उ०—ब्राह्मण इत्येतस्मादोकारात् परोऽकारोऽभिनिधीयते । यथा—"ब्राह्मणोऽस्य मुखम्" (वा० ३१।११) ॥ ७९ ॥

उ० अ०—ब्राह्मणः—इसके ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है । जैसे—"ब्राह्मणोऽस्य मुखम्" ।

अ०—ब्राह्मणशब्दात्परः अकारः पूर्वरूपमापद्यते । यथा—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" ॥

यजुष्षु च ॥ ८० ॥

सू० अ० - यजुषों में भी (अकार का अभिनिधान होता है) ।

उ०—"गाहमानः" (४।६५) इत्यादिभिः सूत्रैः ऋक्सम्बन्ध्यभिनिधानमुक्तम् । इदानीं यजुष्वाह । यजुःषु च विशेषेण एकारादोकाराच्च परोऽकारोऽभिनिधीयते । यथा—"वेदः असि=वेदोऽसि" (वा० २।२१) । "कः असि = कोऽसि" (वा० ७।२९) । 'ते अप्सरसाम् = तेऽप्सरसाम्" (वा० २४। ३७) ॥ ८० ॥

उ० अ०—"गाहमानः" इत्यादि सूत्रों के द्वारा ऋचाओं से सम्बद्ध अभिनिधान को कहा गया है । अब यजुषों में (अभिनिधान) को कहते हैं । यजुष्षु च = यजुषों में भी; विशेषरूप से एकार ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है ।...।

अ०—गाहमानादिसूत्रैः ऋक्षु पूर्वरूपमभिधाय यजुर्मन्त्रेष्वाह । एदोद्भ्यां पर अकारः पूर्वरूपमापद्यते यजुष्वपि । यथा—"वेदोऽसि" । "कृष्णोऽसि' । "कोऽसि" । "कृतमोऽसि" । "तेऽप्सरसाम्" ॥ ८० ॥

सङ्क्रमे च सर्वत्र ॥ ८१ ॥

सू० अ०—सङ्क्रम में भी सर्वत्र (अकार का अभिनिधान होता है) ।

उ०—गलत्पदमतिक्रम्यागलता सह सन्धानं सङ्क्रमः । "त्रिपदाद्यावर्त्तमन्ते सङ्क्रमः" (४।१६८) इति वक्ष्यति । तत्र सङ्क्रमे एकारौकाराभ्यां परोऽकारोऽभिनिधीयते । चशब्दात् सर्वत्र यजुष्षु ऋक्षु च । यजुष्षु भवति यथा—"शूद्रे यदर्ये" । (वा० २०।१७) । अत्र पदेषु सङ्क्रमो भवति । यथा-"शूद्रे अर्ये" । "तार्क्ष्यः । अरिष्टनेमिः" (वा० २५।१९) । अत्र क्रमसंहितायामभिनिहितो भवति । यथा—"शूद्रेऽर्ये" । "तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः" । ऋक्षु भवति यथा—"यज्ञः अभि = यज्ञोऽभि" (वा० १७।९७) । सङ्क्रम इति किम् ? "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः" ॥ ८१ ॥

उ० भ०--पुनरुक्त (गलत्) पदों का परित्याग (अतिक्रमण) करके अपुनरुक्त (अगलत्) पद के साथ संधि करना सङ्क्रम है। "तीन अथवा तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर सङ्क्रम होता है" यह सूत्रकार कहेंगे। वहाँ सङ्क्रमे= सङ्क्रम में; एकार और ओकार से परवर्ती अकार अभिनिधान को प्राप्त करता है। (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) **सर्वत्र**=सब स्थलों में = यजुषों में और ऋचाओं में (उक्त अभिनिधान होता है)। यजुषों में होता है जैसे-"शूद्रे यदर्ये"। यहाँ पर पदों (पद-पाठ) में सङ्क्रम होता है। जैसे-"शूद्रे । अर्ये"। "तार्क्ष्यः। अरिष्ट-नेमिः"" यहाँ पर क्रम-पाठ में अभिनिधान होता है। जैसे-"शूद्रेऽर्ये। तार्क्ष्योऽरिष्ट-नेमिः"। ऋचाओं में अभिनिधान होता है जैसे-"यज्ञः अभि = यज्ञोऽभि"। सङ्क्रम में यह क्यों (कहा) ? "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः"।

अ०—गलतत्पदमतिक्रम्योत्तरेण अगलता पदेन सह सन्धिः सङ्क्रमः। तत्र एदोद्भ्यां परः अकारः पूर्वरूपमापद्यते ऋक्षु यजुष्षु च। यथा-'यच्छूद्रे यदर्ये यदेनश्च-कृमा वयम्"। "तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टनेमिश्च"। "प्राणश्च मेऽपानश्च मे" अत्र पुन-रुक्तानि पदानि लुप्यते इति पुनरुक्तस्य लोपं वक्ष्यति। तथा अतिपदेषु क्रमो भवति। "शूद्रेऽर्ये"। "तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः"। "प्राणोऽपानः"। सङ्क्रम इति किम् ? "स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः" ॥ ८१ ॥

प्रकृतिभाव ऋक्षु ॥ ८२ ॥

सू० अ०—(अभिनिधान के पूर्वोक्त स्थलों के अतिरिक्त) ऋचाओं में प्रकृतिभाव (होता है)।

उ०—गाहमानादिभिः सूत्रैर्ऋक्ष्वभिनिहितोऽभिहितः। ततोऽन्यत्र ऋक्षु प्रकृति-भावो भवति। यथा-"उप प्रयन्तो अध्वरम्" (वा० ३।११)। "आरे अस्मे च शृण्वते" (वा० ३।११) ॥ ८२ ॥

उ० अ०—गाहमान (४.६५) आदि सूत्रों के द्वारा ऋचाओं में अभिनिधान को कहा गया है। उनसे अन्यत्र; ऋक्षु=ऋचाओं में; **प्रकृतिभाव** होता है।....।

अ०—गाहमानादिभ्यः अन्यत्र ऋक्षु प्रकृतिभावः स्यात् यथा-"उपप्रयन्तो अध्वरम्"। "आरे अस्मे च शृण्वते"। "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः"। "सप्त हस्तासो अस्य"। "अन्यांस्ते अस्मत्" इत्यादि बहुद्रष्टव्यम् ॥ ८२ ॥

जुषाणश्चानध्वनि ॥ ८३ ॥

सू० अ०—अध्वन् बाद में न होने पर (= अध्वन् से अन्य कोई अकारादि पद बाद में होने पर) जुषाणः (= जुषाणो का ओकार) भी (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—"यजुष्षु च" (४।८०) इत्यनेन सूत्रेण यजुष्वभिनिधानमुक्तम् । तदपवादभूतमिदमारम्यते । **जुषाणशब्दसम्बन्धी** ओकारः **अनध्वनि** प्रत्यये प्रकृत्या भवति। यथा-"जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेत्तु स्वाहा" (वा० ५।३५)। अनध्वनीति किम् ? "जुषाणोऽध्वाज्यस्य वेत्तु स्वाहा" । इदमुदाहरणं शाखान्तरीयम् ॥ ८३ ॥

उ० अ०—"यजुषों में भी अकार का अभिनिधान होता है", इस सूत्र के द्वारा यजुषों में अभिनिधान को कहा गया है। उसके अपवादभूत इस (सूत्र) को आरम्भ किया जाता है। **अनध्वनि** = अध्वन् बाद में न होने पर = अध्वन् को छोड़कर कोई अन्य अकारादि पद बाद में होने पर; **जुषाणश्च** = जुषाण शब्द का ओकार (भी); प्रकृतिभाव से रहता है।...।

अ०—यजुष्षु च इत्यनेन यजुष्षु पूर्वरूपमुक्तम् । तदपवादभूतमिदमारम्यते । जुषाणशब्दसम्बन्धी ओकारः प्रकृत्या स्यात् अध्ववर्जिते पदे परे । यथा-"जुषाणो अप्तुराज्यस्यजुषाणो अग्निराज्यस्य" । अध्वनीति किम् ? "जुषाणोऽध्वाज्यस्य" ॥ ८३ ॥

ते चानुदात्तमनुदात्ते ॥ ८४ ॥

सू० अ०—अनुदात्त (अकार) बाद में होने पर अनुदात्त 'ते' (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—ते इत्येतच्च पदं **अनुदात्तं** चेत् प्रकृत्या भवति **अनुदात्ते** च प्रत्यये । यथा-"या ते अग्नेऽयःशया" (वा०५।८)। अनुदात्तमिति किम् ? "तेऽप्सरसाम्" (वा०२४।३७)।

उ० अ०—**अनुदात्ते** = अनुदात्त (अकार) बाद में होने पर; ते—यह पद; च = भी; यदि **अनुदात्त** हो तो प्रकृतिभाव से रहता है।...।

अ०—अनुदात्तं ते इति पदं प्रकृत्या स्यात् अनुदात्ते परे। यथा-"ते अग्ने = या ते अग्नेऽयश्शया" । अनुदात्तमिति किम् ? "ते अवन्तु = तेऽवन्तु" ॥ ८४ ॥

हेड आपो गुवोऽपाग्ने धीरासो देवास उरो रक्षा णो मो वैश्वानरो वृषभो वचः प्राणः उदानोऽङ्ग इमा मे वृष्णो दशमास्योऽन्ध आवित्तोऽरिष्टो अर्जुनः प्रत्याश्रावः स्विष्टो घासे प्रणीतस्तेभ्यो नमो अस्तु दूरं नो अद्य यज्ञे सधस्थे सो अध्वरायेन्द्रे हिरण्यपर्णो द्वारो देवोऽब्दो रथिभ्यो महद्भ्यः संसदः ॥ ८५ ॥

सू० अ०- हेडः, आपः, गुवः, अपाग्ने, धीरासः, देवासः, उरः, रक्षा, णः, मो, वैश्वानरः, वृषभः, वचः, प्राणः, उदानः, अङ्गे, इमा मे, वृष्णः, दशमास्यः, अन्धः, आवित्तः, अरिष्टो अर्जुनः, प्रत्याश्रावः, स्विष्टः, घासे, प्रणीतः, तेभ्यो

नमो अस्तु, दूरे, नो अद्य, यज्ञे, सधस्थे, सो अध्वराय, इन्द्रे, हिरण्यपर्णाः, द्वारः, देवः, अब्दः, रथिभ्यः, महद्भ्यः और संसदः (इनके एकार और ओकार प्रकृतिभाव से रहते हैं)।

उ०—एते च एकारौकारा ऋक्षु यजुष्षु च प्रकृत्या भवन्ति अकारे प्रत्यये। अत्र च यत्र द्वयोः पदयोः पाठः सूत्रे तत्र नियमार्थः स तेनैव पदेन परभूतेनाधस्तनपदस्य प्रकृतिभावः। एकपदे समाम्नाये त्वकारमात्रे प्रकृतिभावः। हेडो यथा—"देवस्य हेडो अव यासिसीष्ठाः" (वा० २१।३)। ऋक्ष्वयं प्रकृतिभावः। "व्यपरे च" (४।७४) इत्यनेनाभिनिहिते प्राप्ते। आपो यथा—"देवीरापो अपान्नपात्" (वा० ६।२७)। द्वितीयमुदाहरणम्—"आपो अस्मान्" (वा० ४।२)। गुवो यथा—"देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवः" (वा० १।१२)। अपाग्ने यथा—"अपाग्ने अग्निम्" (वा० १।१७)। धीरासो यथा—"तामु धीरासो अनुदिश्य" (वा० १।२८)। देवासो यथा—"यत्र देवासो अजुषन्त" (वा० ४।१)। उरो यथा—"द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष" (वा० ४।७)। रक्षा णो यथा—"रक्षा णो अप्रयुच्छन्" (वा० ४।१४)। मो यथा—"मो अहन्तव वीरम्" (वा० ४।२३)। वैश्वानरो यथा—"वैश्वानरो अदब्धः" (वा० ४।१५)। वृषभो यथा—"अस्तभ्नाद्यां वृषभो अन्तरिक्षम्" (वा० ४।३०)। वचो यथा—"उग्रं वचो अपावधीत्" (वा० ५।८)। प्राणो यथा—"प्राणो अङ्गे अङ्गे" (वा० ६।२०)। उदानो यथा—"उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः" (वा० ६।२०)। इमा मे यथा—"इमा मे अग्न इष्टकाः" (वा० १७।२)। वृष्णो यथा—"वृष्णो अंशुभ्याम्" (वा० ७।१)। दशमास्यो यथा—"दशमास्यो अस्रत्" (वा० ८।२८)। अन्धो यथा—"अन्धो अच्छेतः" (वा० ८।५४)। आवित्तो यथा—"आवित्तो अग्निः" (वा० १०।९)। "अरिष्टो अर्जुनः" (वा० १०।२१)। द्विपदमेतत्। प्रत्याश्रावो यथा—"प्रत्याश्रावो अनुरूपः" (वा० १९।२४)। स्विष्टो यथा—"स्विष्टो अग्निरग्निना" (वा० २१।५८)। घासे यथा—"घासे अज्राणाम्" (वा० २१।४४)। प्रणीतो यथा—"प्रणीतो अग्निरग्निना" (वा०१९।१७)। तेभ्यो नमो अस्तु यथा—"तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु" (वा०१५।१५)। तेभ्यो नमो इति किम्? "नमोऽस्तु नीलग्रीवाय" (वा० १६।८)। दूरे यथा—"दूरे अमित्रश्च गणः" (वा० १७।८३)। नो यथा—"सम्मितासो नो अद्य" (वा० १७।८४)। यज्ञे यथा—"यज्ञे अस्मिन्" (वा० १७।८४)। सधस्थे यथा—"पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत्" (वा० ११।६१)। सो यथा—"सो अध्वराय परिणीयते" (वा०२३।७५)। इन्द्रे यथा—"सुदेवमिन्द्रे अश्विना" (वा० २१।४८)। हिरण्यपर्णो यथा—"हिरण्यपर्णो अश्विभ्याम्" (वा० २१।५६)। द्वारो यथा—"देवीर्द्वारो अश्विना" (वा० २१।४६)। देवो यथा—"देवो अग्निः स्विष्टकृत्" (वा०२१।५८)। अब्दो यथा—"सजूरब्दो अयवोभिः" (वा०१२।७४)। रथिभ्यो यथा—"नमो रथिभ्यो अरथेभ्यः"(वा०१६।२६)। महद्भ्यो यथा—"महद्भ्यो अर्भकेभ्यः"(वा०१६।२६)। संसदो यथा—"संसदो अष्टमी" (वा०२६।१) ॥

उ० अ०—इनके एकार और ओकार भी ऋचाओं और यजुषों में प्रकृतिभाव से रहते हैं, अकार बाद में होने पर। और इस सूत्र में जहाँ पर दो पदों का पाठ किया गया है वह नियम के लिए है। वह पद बाद में होने पर ही पूर्ववर्ती पद का प्रकृतिभाव होता है। एक पद का पाठ होने पर तो कोई (भी) अकार बाद में होने पर प्रकृतिभाव (होता है)। हेडः जैसे—"देवस्य हेडो अव यासिसीष्ठाः"। ऋचाओं में यह प्रकृतिभाव है। "यकार और वकार बाद में होने पर भी (अकार का अभिनिधान हो जाता है)"—इस (सूत्र) से अभिनिधान प्राप्त होने पर (ऋचाओं में यह प्रकृतिभाव हो गया है)। आपो यथा—"देवीरापो अपान्नपात्"। द्वितीय उदाहरण (यह है)—"आपो अस्मान्"।

अ०—हेळ इत्यादि एकोनचत्वारिंशत्पदानि प्रकृत्या स्युः अकारे परे ऋक्षु यजुष्षु च। अत्र सूत्रे अप अग्ने उदानो अङ्ग इत्यादि यत्र पदद्वयस्य पाठः तत्रैव प्रकृतिभावः नान्यत्रेति। नियमार्थमिति ज्ञेयम्। अत्र वपरे चेति प्राप्तस्य पूर्वरूपस्यापवादः। यथाक्रमेणोदाहरणानि—"देवस्य हेळो अव"। "व्यपरे च" इति पूर्वरूपे प्राप्ते ऋक्षु तन्निषिध्यते। "देवीरापो अपां नपात्"। "देवीरापो अग्रेगुवो अग्रेपुवः"। "अपाग्ने अग्निम्"। "तां धीरासो अनुदिश्य"। "यत्र देवासो अजुषन्त"। "द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष"। परेषामिदम्। काण्वानां द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष इति पाठात्। "रक्षा णो अप्रयुच्छन्"। "मो अहं तव वीरान्"। "वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा अग्निः"। "द्यामृषभो अन्तरिक्षम्"। "उग्रं वचो अपावधीत्"। "प्राणो अङ्गे अङ्गे"। "उदानो अङ्गे अङ्गे"। "इमा मे अग्न इष्टकाः"। "वृष्णो अंशुभ्याम्"। "दशमास्यो असृक्"। "अन्धो अच्छेतः"। "आवित्तो अग्निर्गृहपतिः"। "अरिष्टो अर्जुनो मरुताम्"। परेषामिदम्। "अरिष्टः फल्गुनः" इति काण्वपाठात्। "प्रत्याश्रावो अनुरूपः"। "स्विष्टो अग्निरग्निना"। "तेभ्यो नमो अस्तु"। तेभ्यो नम इति किम्? "नमोऽस्तु सर्पेभ्यः"। "दूरे अमित्रश्च गणः"। "सम्मितासो नो अद्य"। "सौरसो मरुतो यज्ञे अस्मिन्"। "पृथिव्यास्सधस्थे अङ्गिरस्वत्"। "सो अध्वराय परिणीयते"। "सुदेवमिन्द्रे अश्विना"। "हिरण्यपर्णो अश्विभ्याम्"। "देवीर्द्वारो अश्विना"। "देवो अग्निः स्विष्टकृत्"। "सजूरब्दो अयवोभिः" "नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च"। "महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च"। "सप्तसंसदो अष्टमी"॥ ८५॥

छन्दो अङ्कुपमङ्काङ्कमत्तीवयः॥ ८६॥

सू० अ०—अङ्कुपम्, अङ्काङ्कम और अत्तीवयः बाद में होने पर छन्दः (छन्दो) (का ओकार प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—छन्द इत्ययमोकारः अङ्कुपम् अङ्काङ्कम् अत्तीवय इत्येतेषु प्रकृत्या भवति। अङ्कुपं यथा—"काव्यं छन्दो अङ्कुपम्" (वा० १५।४)। अङ्काङ्कं यथा-"तन्द्रं छन्दो अङ्काङ्कम्" (वा० १५।५)। अत्तीवयो यथा—"प्रतिमाच्छन्दो अत्तीवयश्छन्दः" (वा० १४।१८)। एतेष्विति किम्? "संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दः" (वा० १५।५) ॥ ८६॥

उ० अ०—अङ्कुपम, अङ्क्वाङ्कम्, अस्त्रीवयः–ये बाद में होने पर छन्दः (छन्दो) का ओकार प्रकृतिभाव से रहता है ।'''।

अ०—छन्दश्शब्दस्य ओकारः प्रकृत्या स्यात् अङ्कुपादिषु त्रिषु परेषु । "काव्यं छन्दो अङ्कुपं छन्दः" । "तन्द्रं छन्दो अङ्क्वाङ्कं छन्दः" । "प्रतिमा छन्दो अस्त्रीवयश्छन्दः" । एष्विति किम् ? "संस्तुप्छन्दोऽनुष्टुप्छन्दः" ॥ ८६ ॥

का ध्रुवोती सदना होतारा ज्या स्वधा पृथिवी प्रतिमेमसदन्नश्यामाकर्मोर्ध्वमियमवस्तादुतास्तिषु ॥ ८७ ॥

सू० अ०—ईम्, असदन्, अश्याम, अकर्म, ऊर्ध्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत और अस्ति बाद में होने पर क्रमशः का, ध्रुवा, ऊती, सदना, होतारा, ज्या, स्वधा, पृथिवी और प्रतिमा (प्रकृतिभाव से रहते हैं) ।

उ०–का ध्रुवा ऊती सदना होतारा ज्या स्वधा पृथिवी प्रतिमा एतानि पदानि प्रकृत्या भवन्ति ईम् असदन् अश्याम अकर्म ऊर्ध्वम् इयम् अवस्तात् उत अस्ति इत्येतेषु प्रत्ययेषु यथासङ्ख्यम् । का यथा–"का ईमरे" (वा० २३।५५) । ध्रुवा यथा–"ध्रुवा असदन्" (वा० २।६) । ऊती यथा–"ऊती अश्याम रयिम्" (वा० १८।७४) । सदना यथा–"सुगावो देवाः सदना अकर्म" (वा० ८।१८) । होतारा यथा–"दैव्या होतारा ऊर्ध्वम्" (वा० २७।१८) । ज्या यथा–"ज्या इयम्" (वा० २९।४०) । स्वधा यथा–"स्वधा अवस्तात्" (वा० ३३।७४) । पृथिवी यथा–"पृथिवी उत द्यौः" (वा० ३३।४२) । प्रतिमा यथा–"न तस्य प्रतिमा अस्ति" (वा० ३२।३) ॥८७॥

उ० अ०–ईम्, असदन्, अश्याम, अकर्म, ऊर्ध्वम्, इयम्, अवस्तात्, उत, अस्ति–ये क्रमशः बाद में होने पर का, ध्रुवा, ऊती, सदना, होतारा, ज्या, स्वधा, पृथिवी, प्रतिमा–ये पद प्रकृतिभाव से रहते हैं ।'''।

अ०—का ध्रुवा ऊती सदना होतारा ज्या स्वधा पृथिवी प्रतिमा एतानि नव पदानि प्रकृत्या स्युः ईम् असदन् अश्याम अकर्म ऊर्ध्वम् इयम् अवस्तात् उत अस्ति इत्येतेषु क्रमेण परेषु । "का ईमरे पिशङ्गिला" । "ध्रुवा असदन्नृतस्य" । "ऊती अश्याम रयिम्" । "देवास्सदना अकर्म ये" । "दैव्या होतारा ऊर्ध्वम्" । "धन्वन् ज्या इयं समरे" । "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः" । "सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः" । "न तस्य प्रतिमा अस्ति" । कण्ठ्यादिकार ओकारमित्यनेन प्राप्तस्य सन्धेरपवादः ॥ ८७ ॥

प्रगृह्यं स्वरे ॥ ८८ ॥

सू० अ०—स्वर बाद में होने पर प्रगृह्य (पद) (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—प्रगृह्यं पदं स्वरे प्रत्यये प्रकृत्या भवति । यथा–"इन्द्राग्नी आगतम्" (वा० ७।३१) । "स्त्र्यै अन्यान्या" (वा० ३३।५) । स्वरसन्धेरपवादः ॥

उ० अ०—स्वरे = स्वर बाद में होने पर; प्रगृह्य पद प्रकृतिभाव से रहता है। जैसे—"इन्द्राग्नी आगतम्"। "स्वर्थे अन्यान्या"। स्वर-संधि का अपवाद है।

अ०—प्रगृह्यसंज्ञपदं प्रकृत्या स्यात् स्वरे परे। "इन्द्राग्नी आगतम्"। "इन्द्र-वायू इमे"। "द्वे विरूपे चरतस्वर्थे अन्यान्या"। "मो अहं तव वीरान्" ॥ ८८ ॥

न रोदसीमे ॥ ८९ ॥

सू० अ०—इमे बाद में होने पर रोदसी (प्रकृतिभाव से) नहीं (रहता है)।

उ०—रोदसी इत्येतत् पदं प्रगृह्यं इमे इत्येतस्मिन् पदे न प्रकृत्या भवति। यथा-"राये नु यञ्जज्ञतू रोदसीमे" (वा० २७।२४)। इमे इति किम् ? "आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्" (वा० १७।५९) ॥ ८९ ॥

उ० अ०—इमे-यह पद बाद में होने पर रोदसी यह प्रगृह्य पद प्रकृतिभाव से; न = नहीं; रहता है।...।

अ०—रोदसीपदं इमेशब्दे परे प्रकृत्या स्यात्। पूर्वापवादः। "राये नु यं जज्ञतू रोदसीमे"। इमे इति किम् ? "आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्" ॥ ८९ ॥

विश्पतीवोपस्थिते ॥ ९० ॥

सू० अ०—इतिकरण सहित पाठ (उपस्थित) में इव बाद में होने पर विश्पती (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—(विश्पतीव=) विश्पती इत्येतत्पदं इवे परभूते; उपस्थिते=इतिकरणे; प्रकृत्या भवति। यथा-"विश्पती इवेति विश्पती इव" (वा० ३३।४४) उपस्थित इति किम् ? "आ विश्पतीव बीरिटे" (वा० ३३।४४) ॥ ९० ॥

उ० अ०—(विश्पतीव =) इव बाद में होने पर; विश्पती-यह पद; उपस्थिते = इतिकरण सहित पाठ में; प्रकृतिभाव से रहता है।....।

अ०—विश्पती इति शब्दः इव शब्दे परे सेतिकरणे प्रकृत्या स्यात्। "आ विश्पती इव इति"। उपस्थिते किम् ? अनुपस्थिते मा भूदिति। यथा-"आ विश्पतीव बीरिटे" ॥ ९० ॥

उकारोऽपृक्तोऽस्पर्शात् ॥ ९१ ॥

सू० अ०—स्पर्श से बाद में न होने पर (= स्पर्श-भिन्न वर्ण से बाद में होने पर) अपृक्त उकार (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—उकारोऽपृक्त एकवर्णः अस्पर्शात् परः प्रकृत्या भवति स्वरे प्रत्यये। यथा-"न वा उ एतत्" (वा० २३।१६)। "एतवा उ अञ्जि" (वा० १७।९७)।

अपृक्त इति किम् ? "योजा न्विन्द्र" (वा० ३।५१) अस्पर्शादिति किम् ? "किम्वा वपनं महत्" (वा० २३।६) ॥ ९१ ॥

उ० अ०—**अस्पर्शात्** = स्पर्श से बाद में न होने पर = स्पर्श-भिन्न वर्ण से बाद में होने पर; **उकारोऽपृक्तः** = एक वर्ण वाला (अपृक्त) उकार; प्रकृतिभाव से रहता है, स्वर बाद में होने पर।'''।

अ०—अस्पर्शात्परः अपृक्त उकारः प्रकृत्या स्यात् स्वरे परे। यथा—"न वा उएतन्म्रियसे"। "एतवा उ अञ्जि"। अपृक्तः किम् ? "योजा न्विन्द्र"। "द्रवन्नः"। अस्पर्शादिति स्पर्शपरस्य मा भूदिति। यथा—"किं वा वपनं महत्"। "तद्दूरे तद्वदन्तिके" इत्यादि। जटायामपि—"एतवा एतवा उग्रन्ज्यन्जु एतवाउ अञ्जिं"। तथा "इन्दुतत्त-द्विदिदुतत्" स्पर्शस्य सन्धिर्भवतीत्यूहनीयम् ॥ ९१ ॥

प्लुतमितौ ॥ ९२ ॥

सू० अ०—इति बाद में होने पर प्लुत (स्वर) (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—(प्लुतम् =) प्लुतान्तं पदम्; प्रकृत्या भवति इतौ प्रत्यये। यथा—"विवेशा३ इति" (वा० २३।४९) ॥ ९२ ॥

उ० अ०—**इतौ**=इति बाद में होने पर; (**प्लुतम्** =) प्लुतान्त (=प्लुत स्वर है बाद में जिसके वह) पद; प्रकृतिभाव से रहता है।'''।

अ०—प्लुतान्तं पदं प्रकृत्या स्यात् इति शब्दे परे। यथा—"विवेशा इति विवेशा" इत्यादि। "तेषु विश्वं भुवनमाविवेशा"। इताविन्युत्तरार्थं प्लुतान्तपदस्य संहितायां स्वरान्तपरत्वाभावेन इताविति नियमाभावात्। उत्तरसूत्रोदाहरणस्य तु स्वरान्तपरत्व-सम्भवेन नियमसम्भवाच्च। तदेवाह—

ओकारश्च ॥ ९३ ॥

सू० अ०—ओकार भी (प्रकृतिभाव से रहता है)।

उ०—ओकारः पदान्तीयः प्रकृत्या भवति इतौ प्रत्यये। यथा—"चित्रभानो इति" (वा० २०।८७)। "कृशानो इति" (वा० ४।२७)। इताविन्यनुवृत्तिः कस्मात्। स्वरमात्रे मा भूत् इताविन्येव "कृशानवेते वः" (वा० ४।२७) ॥ ९३ ॥

उ० अ०—इति बाद में होने पर पद के अन्त में स्थित **ओकार** (च=भी) प्रकृतिभाव से रहता है। जैसे—"चित्रभानो इति"। "कृशानो इति"। (प्रश्न) इति बाद में होने पर–यह अनुवृत्ति किस (कारण) से (हो रही है) ? (उत्तर) कोई भी स्वर बाद में होने पर न होवे, इति बाद में होने पर ही (होवे) "कृशानवेते वः" (कृशानो। एते। वः)।

अ०—पदान्तीय ओकारः प्रकृत्या स्यात्, इतिशब्दे परे। यथा–"चित्रभानो इति"। "कृशानो इति"। "विष्णो इति"। इतौ किम्? "रोदसी विष्ण एते"। "इन्द्र इन्द्रियावतः"। "वाय इह ता विमुञ्च"। "ये गङ्गष्टो ये त्वत्र अध्वर्यो ना अद्रिभिरिति"। "अयो अस्य पादा" इत्यादौ इतिशब्दपरत्वाभावेऽपि प्रकृतिभावः। तत्तु प्रकृतिभावः अक्ष्विति विशिष्य विधानादिति द्रष्टव्यम्॥ ९३॥

उकारोऽपृक्तो दीर्घमनुनासिकम्॥ ९४॥

सू० अ०—अपृक्त उकार दीर्घ और अनुनासिक (हो जाता है)।

उ०—उकारोऽपृक्त एकवर्णो दीर्घमनुनासिकं चापद्यते। यथा–"ऊँ इति" (वा० ८।४१)। इतावित्येव। यथा–"न वा उ एतत्" (वा० २५।४४)। नात्र दीर्घमनुनासिकं च। इतावविद्यमानत्वात्॥ ९४॥

उ० अ०–उकारोऽपृक्तः=एक वर्ण वाला उकार (पद); दीर्घमनुनासिकम्= दीर्घ और अनुनासिक; हो जाता है। जैसे–"ऊँ इति"। इति बाद में होने पर ही। जैसे–"न वा उ एतत्"। (उकार) यहाँ दीर्घ और अनुनासिक नहीं (हुआ है) क्योंकि बाद में इति विद्यमान नहीं हैं।

अ०—अपृक्त उकारः इतौ परे दीर्घं अनुनासिकमापद्यते। "ऊँ इत्यूँ"। "उदुत्वा विश्वेदेवा" इत्यादि। इतौ किम्? "न वा उ एतन्म्रियसे"॥ ९४॥

इतेश्च परं पदं चर्चायाम्॥ ९५॥

सू० अ०—चर्चा में इति से बाद में विद्यमान (अपृक्त उकार दीर्घ और अनुनासिक हो जाता है)।

उ०—(इतेः=) इतिकरणात्; च परं उ इत्येतत् पदमपृक्तं दीर्घमनुनासिकमापद्यते पदचर्चायाम्। चर्चापदस्वरूपमुक्तम्। एतदुक्तं भवति–वेष्टने यदितिकरणात्परं पदं चर्चा तदेवमुच्यते। तत्पदस्वरूपज्ञापनार्थम्। यत्र तु तथाभूतं पदस्वरूपं न भवति तत्र उ इत्येतत् स्वरूपं हि तत् पदं भवति। अयं चार्थोऽनेन सूत्रावयवेन ज्ञाप्यते। इतिकरणात् परतो यत् पदवचनं तत् स्वरूपज्ञापनार्थमिति। "उत्। ऊँ इत्यूँ। "त्यम्। जातवेदसमिति जात–वेदसम्" (वा० ८।४१)। पदचर्चायामिति किम्? "उ इति"॥ ९५॥

उ० अ०—(इतेश्च=) इति शब्द से भी; परं पदम्=परवर्ती उ-यह एक वर्ण वाला (अपृक्त) पद; दीर्घ और अनुनासिक हो जाता है; (चर्चायाम्=) पद की चर्चा में। चर्चा पद का स्वरूप कहा जा चुका है। यह तात्पर्य है—वेष्टन (=मध्य में 'इति' रखकर पद का अभ्यास करना) में इति शब्द से परवर्ती जो पद (होता है)

वही चर्चा कहलाता है। वह (=चर्चा) पद के स्वरूप को बतलाने के लिए (होता है)। किन्तु जहाँ पर उस प्रकार का पद-स्वरूप नहीं होता है वहाँ 'उ' इस स्वरूप वाला ही वह पद होता है। यह अर्थ इस सूत्रावयव के द्वारा बतलाया जाता है। इति शब्द से बाद में जो पद का कथन होता है वह (पद के) स्वरूप को बतलाने के लिए होता है।…।

अ०—इतेः परः अपृक्त उकारः दीर्घमनुनासिकं आप्नोति पदपाठे। उ इत्यादि पदचर्चायाम् अवेष्टके यदितिकरणात्परं पदं तत् पदचर्चेत्युच्यते। पदचर्चायां किम्? संहितायां मा भूदिति। "उदु त्यं जातवेदसम्" ॥ ९५ ॥

तकारवर्गश्चकारवर्गे चकारवर्गम् ॥ ९६ ॥

सू० अ०—चकारवर्ग (चवर्ग = च, छ, ज्, झ्, ञ्) बाद में होने पर तकारवर्ग (तवर्ग = त्, थ्, द्, ध, न्) चकारवर्ग (हो जाता है)।

उ०—तकारवर्गः पदान्तीयः चकारवर्गे प्रत्यये परे चकारवर्गमापद्यते। यथा—"तत् चक्षुः = तच्चक्षुः" (वा० ३६।२४)। "आरात् चित् = आराच्चिद्द्वेषः" (वा० २०।५२)। "आच्छत् छन्दः = आच्छच्छन्दः" (वा० १५।५)। "उत् जिहानाः = प्रवयामुज्जिहानाः" (वा० १५।२४)। झकारादि ञकारादि च पदानामुदाहरणं संहितायां न विद्यते। नकारस्य चकारछकारप्रत्यययोः सन्धिरुक्तः। "नुः" (३।१३४) "चछयोः शम्" (३।१३५)। जकारे उदाहरणं यथा—"वाजान् जयतु = वाजाञ्जयतु" (वा० ५।३७) ॥ ९६ ॥

उ० अ०—चकारवर्गे = चवर्ग बाद में होने पर; पद के अन्त में स्थित; तकारवर्गः=तवर्ग; चकारवर्गम्=चवर्ग; हो जाता है।…।संहिता में झकार से प्रारम्भ होने वाला और ञकार से प्रारम्भ होने वाला पदों का उदाहरण नहीं मिलता है। चकार और छकार बाद में होने पर नकार की संधि कही जा चुकी है—"चकार और छकार बाद में होने पर नकार शकार हो जाता है"। जकार बाद में होने पर उदाहरण जैसे—"वाजान् जयतु = वाजाञ्जयतु"।

अ०—पदान्तीयतवर्गः चवर्गे परे चवर्गमाप्नोति यथासंख्येन। "तत् चक्षुः = तच्चक्षुर्देवहितम्"। "आरात् चित् = आराच्चित्"। "इत् जगत् = सर्वमिज्जगत्"। "आच्छत् छन्दः = आच्छच्छन्दः"। "वाजान् जयतु = वाजाञ्जयतु" ॥ ९६ ॥

शकारे च ॥ ९७ ॥

सू० अ०—शकार बाद में होने पर भी (तवर्ग चवर्ग हो जाता है)।

उ०—शकारे च प्रत्यये परे तकारवर्गश्चकारवर्गमापद्यते। यथा—"तत् शकेयम् = तच्छकेयं तन्मे" (वा० १।५) "उत् शिषः = मामीषां कञ्चनोच्छिषः"

(वा० १७।४५)। "स्वधावान् शुक्रः="स्वधावाञ्छुक्रः" (वा० ३३।५)। "पिशङ्गान् शिशिराय = पिशङ्गाञ्छिशिराय"। (वा० २४।११)। आदित्यान् श्मश्रुभिः = "आदित्याञ्श्मश्रुभिः" (वा० २५।१)॥ ९७॥

उ० अ०—शकारे च = शकार बाद में होने पर भी; तवर्ग चवर्ग हो जाता है।

अ०—पदान्तीयतवर्गश्चवर्गमेति शकारे परे॥ ९७॥

परश्चास्पर्शपरश्छम्॥ ९८॥

सू० अ०—स्पर्श बाद में न होने पर (=स्पर्श-भिन्न वर्ण बाद में होने पर) परवर्ती (शकार) भी छकार हो जाता है।

उ०—परश्च शकारः अस्पर्शपरः; (छम् =) छकारम्; आपद्यते। यथा—"तच्छकेयम्" (वा० १।५)। "मामीपां कच्चनोच्छिषः"। (वा० १७।४५)। "स्वधावाञ्छुक्रः"(वा० ३३।५)। "पिशङ्गाञ्छिशिराय"। (वा० २४।११)। अस्पर्शपर इति किम्? "आदित्याञ्श्मश्रुभिः" (वा० २५।१)॥ ९८॥

उ० अ०—अस्पर्शपरः = स्पर्श नहीं है बाद में जिसके ऐसा; परश्च = परवर्ती शकार भी; (छम् =) छकार; हो जाता है।…।

अ०—परश्च शकारः अस्पर्शपरश्छकारमाप्नोति। यथा—"तत् शकेयम् = तच्छकेयम्"। "उत् शिषः = कच्चनोच्छिषः"। "स्वधावान् शुक्रः = स्वधावाञ्छुक्रः"। अदधाच्छ्रद्धाम्"। अस्पर्शपरमिति किम्? "आदित्यान् श्मश्रुभिः"। सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिरिति वचनात् शकारे चेति सूत्रे तवर्गस्य चवर्गोऽप्यत्र न भवति। सन्नियोगशिष्टत्वं च सूत्रयोरुपजीव्योपजीवकत्वेन। "तस्मात् आदित्यान् श्मश्रुभिरित्येव"॥ ९८॥

उदः स्तभाने लोपम्॥ ९९॥

सू० अ०—स्तभान बाद में होने पर उत् से परवर्ती (स्तभान का सकार) लोप को (प्राप्त करता है)।

उ०—(उदः =) उत् उपसर्गात्; परस्तभाने प्रत्यये सकारो लोपमापद्यते। यथा—"उत् स्तभान = ज्योतिषा दिवमुत्तभान" (वा० १७।७२)। "उत् स्तम्भनम् = उत्तम्भनम्" (वा० ४।३६)॥ ९९॥

उ० अ०—स्तभाने = स्तभान बाद में होने पर; (उदः =) उत् उपसर्ग से परवर्ती; सकार लोप को प्राप्त होता है।…।

अ०—उदः परस्य स्तभानशब्दस्य सस्य लोपः स्यात्। तस्मात् इत्युत्तरस्यादेः

इत्युक्तत्वात् सस्यैव लोपः स्यात् । यथा—"उत् स्तभान = उत्तभान तेजसा दिशः" । धातुग्रहणात् उत्तम्भनम् । "वरुणस्योत्तम्भनंमसि" ॥ ९९ ॥

अश्वात् स्थे तकारं संज्ञायाम् ॥ १०० ॥

सू॰ अ॰—स्थ बाद में होने पर अश्व से परवर्ती (सकार) तकार (हो जाता है), यदि इससे संज्ञा (पदार्थविशेष के नाम) की प्रतीति होती हो।

उ॰—(अश्वात् =) अश्वशब्दादुत्तरः; सकारः तकारमापद्यते संज्ञायां स्थे प्रत्यये । अश्वः अशनव्यापारोऽग्निरस्मिस्तिष्ठतीत्यश्वत्थो वृक्षः । यथा—"अश्वत्थे वो निषदनम्" (वा॰ १२।७९) । संज्ञायां किम् ? "अश्वस्थः पुरुषः" ॥ १०० ॥

उ॰ अ॰—स्थे = स्थ बाद में होने पर; (अश्वात =) अश्व शब्द से परवर्ती; सकार तकार हो जाता है, संज्ञा में (विद्यमान होने पर)। अशन व्यापार वाला अग्नि जिसमें (इसमें) स्थित होता है वह अश्वत्थ = वृक्ष ।...।

अ॰—अश्वशब्दात्परः सकारः तकारमाप्नोति स्थकारे परे संज्ञायां गम्यमानायाम् । अशनव्यापारो अग्निरस्मिस्तिष्ठतीति अश्वत्थः । "अश्वत्थे वो निषदनम्" । संज्ञायां किम् ? "अश्वस्थानम्" ॥ १०० ॥

स्वरात् संयोगादिर्द्विरुच्यते सर्वत्र ॥ १०१ ॥

सू॰ अ॰—स्वर से बाद में स्थित संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का आदि (= प्रथम व्यञ्जन) सर्वत्र दो बार उच्चारित होता है (= प्रथम व्यञ्जन द्वित्व को प्राप्त होता है)

उ॰—इत उत्तरं द्विर्भावप्रकरणं वर्तिष्यते । **स्वरात्परः संयोगादिभूतो वर्णो द्विरुच्यते सर्वत्र** । अधस्तनविधानं पदान्तपदाद्योः । इदं तु सर्वत्र पदान्तपदाद्योर्मध्ये च भवति । यथा—"सम्यक् स्रवन्ति = सम्यक्क्स्रवन्ति" (वा॰ १३।३८) । द्वौ ककारौ सकारो रेफश्च संयोग । तत्र पूर्वककारो द्विरुक्तिजः । "अनुष्टुप्प्शारदो" (वा॰ १३।५७)। द्वौ पकारौ शकारश्च संयोगः । तत्र प्रथमः पकारो द्विरुक्तिजः । पदमध्ये भवति यथा—"अश्श्वः" (वा॰ २४।१) द्वौ शकारौ वकारश्च संयोगः । तत्र प्रथमः शकारो द्विरुक्तिजः स्वरादिति किम् ? "श्रुधि । श्रुत्कर्ण" (वा॰ ३३।१५) । अत्र शकाररेफौ संयोगः ॥१०१॥

उ॰ अ॰—इससे बाद में द्वित्व का प्रकरण चलेगा । **स्वरात्** = स्वर से बाद में; (**संयोगादिः** =) संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का आदिभूत (= प्रथम) वर्ण (व्यञ्जन); **सर्वत्र**; **द्विरुच्यते** = दो बार उच्चारित होता है (द्वित्व को प्राप्त होता है) । पूर्वोक्त विधान पदान्त और पदादि में (ही लागू होता है) । यह (विधान) तो सर्वत्र = पदान्त में, पदादि में और (पद के) मध्य में (लागू)

होता है। जैसे—"सम्यक् स्रवन्ति = सम्यक्क्स्रवन्ति"। (यहाँ पर) दो ककार, सकार और रेफ संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम ककार द्विरुक्ति (द्वित्व) से उत्पन्न है। "अनुष्टुप्प्शारदी"। (यहाँ पर) दो पकार और शकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम पकार द्विरुक्ति (द्वित्व) से उत्पन्न है। पद के मध्य में होता है जैसे—"अश्श्वः"। दो शकार और वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम शकार द्विरुक्ति (द्वित्व) से उत्पन्न है। स्वर से बाद में स्थित यह क्यों (कहा)? "श्रुधि। श्रुत्कर्ण"। यहाँ पर शकार और रेफ संयुक्त व्यञ्जन हैं।

अ०—इत ऊर्ध्वं द्विर्भावप्रकरणं वर्त्तिष्यते। तत्र स्वरात्परः संयोगादिभूतो वर्णः द्विरुच्यते। पदान्तपदाद्योर्मध्ये च स्वरादिति सामान्यनिर्देशात् ह्रस्वाद् दीर्घादपि। पदान्ते यथा—"सम्यक् स्रवन्ति=सम्यक्क्स्रवन्ति"। "अनुष्टुप् शारदी=अनुष्टुप्छारदी"। पदादौ यथा—"इषे त्त्वा ऊर्जे त्त्वा"। पदमध्ये यथा—"अग्ग्निः" इत्यादि। स्वरात्परः किम्? "श्रुत्कर्णम्"। "श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिः स्वाहा"। "काय स्वाहा"। अत्र पदपाठे स्वरात्परत्वाभावात् न द्विरुक्तिः॥ १०१॥

परं तु रेफहकाराभ्याम्॥ १०२॥

सू० अ०—रेफ और हकार से तो परवर्ती (व्यञ्जन का द्वित्व होता है)।

उ०—रेफहकाराभ्यां परं व्यञ्जनं द्विरुच्यते न तु रेफहकारौ। यथा—"ऊर्ज्जे" (वा० १।१)। रेफो द्वौ जकारौ संयोगः। तत्र प्रथमो जकारः क्रमजः। "सूर्य्यः" (वा० ३१।१२)। रेफो द्वौ यकारौ संयोगः। तत्र पूर्वो यकारः क्रमजः। "बाह्व्वोः" (वा० २४।१)। हकारो द्वौ वकारौ संयोगः। तत्र प्रथमो वकारः क्रमजः॥ १०२॥

उ० अ०—रेफहकाराभ्याम् परम्=रेफ और हकार से परवर्ती; व्यञ्जन दो बार उच्चारित होता है, रेफ और हकार तो (दो बार उच्चारित नहीं होते हैं)। जैसे—"ऊर्ज्जे"। (यहाँ पर) रेफ और दो जकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम जकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। "सूर्य्यः"। (यहाँ पर) रेफ और दो यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम यकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। "बाह्व्वोः"। (यहाँ पर) हकार और दो वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम वकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है (प्रथम व् द्वित्व का परिणाम है)।

अ०—पूर्वसूत्रप्राप्तस्य क्वचिदपवादः आरम्यते। स्वरात् पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परं व्यञ्जनं द्विरुच्यते। न तु रेफहकारौ। "ऊर्ज्जे निर्म्ममाय"। "आर्य्यै र्य्यै"। "बाह्व्वोः"।

ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः॥ १०३॥

सू० अ०—ऊष्म (वर्णों) और अन्तःस्था (वर्णों) से भी परवर्ती स्पर्श (द्वित्व को प्राप्त होता है)।

उ०—ऊष्माण: शषसहा: । अन्तस्था यरलवा: । (ऊष्मान्तस्थाभ्य: =) एतेभ्य:, पर: स्पर्शो द्विरुच्यते । यथा–"पृश्निः" (वा० २४।४) । एक: शकारो द्वौ नकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो नकार: क्रमज: । "अश्म्मा" (वा० १८।१३) । शकारो द्वौ मकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो मकार: क्रमज: । "पार्ण्ण्यौ" (वा० २५।४०) । रेफः षकारो द्वौ णकारौ यकारश्च संयोग: । तत्र प्रथमो णकार: क्रमज: । "सस्निनतमम्" (वा० १।८) । सकारो द्वौ नकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो नकार: क्रमज: । "राष्ट्ट्रदा: । राष्ट्ट्रम्" (वा० १०।२) । षकारो द्वौ टकारौ रेफश्च संयोग: । तत्र प्रथमष्टकार: क्रमज: । "हस्त्ते" (वा० ११।११) । सकारो द्वौ तकारौ संयोग: । तत्र प्रथमस्तकार: क्रमज: । हकारस्य द्विर्भावो निषिद्ध: । यकारस्य परभूतै: स्पर्शै: संयोगो न विद्यते । रेफस्य द्विर्भावो निषिद्ध: । "शल्म्मलि:" (वा० २३।१३) । लकारो द्वौ मकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो मकार: क्रमज: । "उल्व्वम्" (वा० १०।८) । लकारो द्वौ वकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो वकार: क्रमज: । "दधिक्क्राव्ण्ण:" (वा० २३।३२) । वकारो द्वौ णकारौ संयोग: । तत्र प्रथमो णकार: क्रमज: ॥ १०३ ॥

उ० अ०—ऊष्म (वर्ण) = श्, ष्, स, ह । अन्तस्थ (वर्ण) = य, र्, ल, व् । (ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च = ऊष्म-वर्णों और अन्त स्था-वर्णों से भी =) इनसे (भी); परवर्ती स्पर्श दो बार उच्चारित होता है । जैसे—"पृश्निन:" । (यहाँ पर) एक शकार और दो नकार संयुक्त व्यन्जन हैं । उनमें से प्रथम नकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "अश्म्मा" । (यहाँ पर) शकार और दो मकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । उनमें से प्रथम मकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "पार्ण्ण्यौ" । (यहाँ पर) रेफ, षकार, दो णकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । उनमें से प्रथम णकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "राष्ट्ट्रदा । राष्ट्ट्रम्" । (यहाँ पर) षकार, दो टकार और रेफ संयुक्त व्यन्जन हैं । उनमें से प्रथम टकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "हस्त्ते" । (यहाँ पर) सकार और दो तकार संयुक्त व्यन्जन हैं । उनमें से प्रथम तकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । हकार का द्वित्व होना निषिद्ध है । यकार का परवर्ती स्पर्शों के साथ संयोग नहीं मिलता है । रेफ का द्वित्व होना निषिद्ध है । "शल्म्मलि:" ; (यहाँ पर) लकार और दो मकार संयुक्त व्यन्जन हैं । उनमें से प्रथम मकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "उल्व्वम्" । (यहाँ पर) लकार और दो वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । उनमें से प्रथम वकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है । "दधिक्क्राव्ण्ण:" । (यहाँ पर) वकार और दो णकार संयुक्त व्यन्जन हैं । उनमें से प्रथम णकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है ।

अ०—स्वरपूर्वेभ्य: शषसहयरलवेभ्य: पर: स्पर्श: द्विरुच्यते । यथा—"अश्म्मा च मे" । "राष्ट्ट्रदा:राष्ट्ट्रम्" । "हस्त्त आधाय" । "आब्रह्म्मन् ब्राह्म्मण:" ।

यकारस्य परभूतैः स्पर्शैः संयोगो नोपलभ्यते। रेफस्य तु "स्वाहा घर्म्माय" इत्यादि। ळस्य तु "उल्व्वं जहाति"। वस्य तु "दधिक्राव्ण्णः"। ननु रेफहकारयोः परस्थानेनैव द्वित्वसिद्धिः। किमर्थं परं तु रेफहकाराभ्याम् इति पृथग्योगकरणमिति चेत् सत्यम्। अत्र स्पर्शमात्रस्य द्वित्वमुच्यते। तत्र व्यञ्जनमात्रस्य द्विर्भावो वक्ष्यति। न पुनरुक्तिरित्यवधेयम्। अन्यथा—"सूर्य्यः" "बाह्व्वोः" इत्यादौ द्वित्वं न सिध्येत्॥ १०३॥

जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां च॥ १०४॥

सू० अ०—जिह्वामूलीय और उपध्मानीय से भी (परवर्ती स्पर्श का द्वित्व हो जाता है)।

उ०—जिह्वामूलीयादुपध्मानीयाच्च परः स्पर्शो द्विर्भवति। जिह्वामूलीयाद्भवति यथा—"मयि वः क्कामधरणम्" (वा० ३।२७)। जिह्वामूलीयो द्वौ ककारौ संयोगः। तत्र प्रथमः ककारः क्रमजः। "ततः क्खनेम" (वा० ११।२२)। जिह्वामूलीयः ककारखकारौ संयोगः। तत्र प्रथमः ककारः क्रमजः। उपध्मानीयाद्भवति यथा—"या ओषधीः प्पूर्वा जाताः" (वा० १२।७५)। उपध्मानीयो द्वौ पकारौ संयोगः। तत्र प्रथमः पकारः क्रमजः। "याः प्फलिनीः" (वा० १२.८९)। उपध्मानीयः पकारफकारौ संयोगः। तत्र प्रथमः पकारः क्रमजः। एतौ च जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ काण्वादिविषयौ। तथाहि वक्ष्यति—"तस्मिँळ्ळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्" (८।३९) इति॥ १०४॥

उ० अ०—(जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां च =) जिह्वामूलीय से और उपध्मानीय से भी; परवर्ती स्पर्श दो हो जाता है। जिह्वामूलीय से परवर्ती होता है जैसे—"मयि व⌒क्कामधरणम्"। (यहाँ पर) जिह्वामूलीय और दो ककार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम ककार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। "तत⌒क्खनेम"। (यहाँ पर) जिह्वामूलीय, ककार और खकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम ककार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। उपध्मानीय से परवर्ती होता है जैसे—"या ओषधी⌒प्पूर्वा जाताः"। (यहाँ पर) उपध्मानीय और दो पकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम पकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। "या⌒प्फलिनीः"। (यहाँ पर) उपध्मानीय, पकार और फकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। उनमें से प्रथम पकार द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न है। ये जिह्वामूलीय और उपध्मानीय काण्व इत्यादि शाखाओं से सम्बद्ध हैं। क्योंकि (सूत्रकार) इस प्रकार कहेंगे—"माध्यन्दिन शाखा में ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और नासिक्य नहीं हैं"।

अ०—आभ्यां परः स्पर्शः द्विरुच्यते। "मयि वः क्कामधरणम्"। "ततः क्खनेम"। "या ओषधीः प्पूर्वा जाताः"। "याः प्फलिनीर्याः"। एतौ जिह्वामूलीयो-

पध्मानीयौ काण्वविषयौ न माध्यन्दिनानाम्। "तस्मिन् ळळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्" इति सूत्रकृतैव निषेधः करिष्यते ॥१०४॥

यैस्तु परं तैर्न पूर्वम् ॥ १०५ ॥

सू० अ० - जिन (वर्णों) से (संयुक्त होने पर) परवर्ती (व्यञ्जन) (द्वित्व को प्राप्त करता है), उन (वर्णों) से (संयुक्त) पूर्ववर्ती (व्यञ्जन) (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (करता है) ।

उ०—यैस्तु संयुक्तं परं व्यञ्जनं द्विरुच्यते = यैः संयोगे सति परस्य द्विर्भाव उक्तः, तैः संयुक्तं न पूर्वव्यञ्जनं द्विर्भवति । ऊष्मणामन्तस्थानां च परस्य स्पर्शस्य द्विर्भाव उक्तः । तत्र यद्युभयतः संयुक्ता ऊष्माणोऽन्तस्था वा स्पर्शैर्भवन्ति तत्र प्रथमस्य स्पर्शस्य द्विर्भावः प्राप्नोति स्वराव्यवधानात् स निषिध्यत इति सूत्रार्थः । "पक्ष्म्माणि" (वा० १९।८९) । "सुक्ष्म्मा" (वा० १।२७) "अयक्ष्म्माः" (वा० ४।१२)। तत्र ककार-षकारमकारा संयोगः । तत्र ककारस्य द्विर्भावः प्राप्नोति । स निषिध्यते । उक्तं च–
"यत्र चोभयतः स्पर्शैः संयुक्ताः शषसाः सह । न तत्राद्यः क्रमो ज्ञेया न परो बाधितो बुधैः"॥

उ० अ० यैस्तु परम् = जिनसे सयुक्त परवर्ती व्यञ्जन; दो बार उच्चारित होता है = जिनके साथ संयोग होने पर परवर्ती (व्यञ्जन) का द्वित्व कहा गया है; तैः = उनके साथ; संयुक्त; (पूर्वम् =) पूर्ववर्ती व्यञ्जन; दो; न=नहीं; होता है । ऊष्म (वर्णों) और अन्तःस्था (वर्णों) से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व कहा गया है । वहाँ यदि ऊष्म (वर्ण) और अन्तःस्था (वर्ण) दोनों ओर स्पर्श (वर्णों) के साथ संयुक्त होते हैं । तब स्वर से अव्यवहित बाद में होने के कारण प्रथम स्पर्श का द्वित्व प्राप्त होता है । उस (=प्रथम स्पर्श के द्वित्व) का निषेध किया जा रहा है—यह सूत्र का अर्थ है । "पक्ष्म्माणि" । "सुक्ष्म्मा" । "अयक्ष्म्माः" । वहाँ (=इन उपर्युक्त स्थलों में) ककार, षकार और (दो) मकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । उनमें से ककार का द्वित्व प्राप्त होता है । उसका निषेध (प्रस्तुत सूत्र से) किया जाता है । कहा भी है—"जहाँ पर शकार, षकार और सकार दोनों ओर से स्पर्श (वर्णों) के साथ संयुक्त होते हैं; वहाँ पर प्रथम (स्पर्श) का द्वित्व नहीं जानना चाहिए । विद्वानों के द्वारा परवर्ती (स्पर्श के द्वित्व) का निषेध नहीं किया गया है" ।

अ० यैस्तु संयुक्तं परं व्यञ्जनं द्विरुच्यते तैः संयुक्तं पूर्वव्यञ्जनं न द्विरुच्यते । "ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः" इति परस्य स्पर्शस्य द्विर्भाव उक्तः । ते उभयतः संयुक्ता ऊष्माणः अन्तस्था वा स्पर्शैर्भवन्ति । तत्र प्रथमस्य स्पर्शस्य द्विर्भावो निषिध्यते । उत्तरस्यैव स्यात्पत इति सूत्रार्थः । यथा—"पक्ष्म्माणि" "सुक्ष्म्मा" "अयक्ष्म्माः"—अत्र ककारषकारौ द्वौ मकारौ । एवं चत्वारस्संयोगः। अत्र ककारस्य स्वरात्संयोगादिरिति प्राप्तं द्विर्भावं वर्जयित्वा यैस्तु परमिति मकारस्यैव द्विर्भावः स्यात्पत इति निगळितोऽर्थः । उक्तं हि—

यत्र चोभयतः स्पर्शैः संयुक्ताश्शषसाः सह । तत्र नाद्यक्रमो ज्ञेयो न परो बाश्रितो बुधैः ॥

इति । क्रमोऽत्र द्विर्भाव इत्यर्थः ॥ १०५ ॥

नास्वरपूर्वा ऊष्मान्तस्थाः ॥ १०६ ॥

सू० अ०—स्वर पूर्व में नहीं है जिनके ऐसे ऊष्म (वर्ण) और अन्तस्थ (वर्ण) (परवर्ती स्पर्शों को द्वित्व प्राप्त नहीं कराते हैं) ।

उ०—ऊष्मणामन्तस्थानां च परस्य स्पर्शस्य द्विर्भाव उक्तः। तदपवादोऽयं योगः । **अस्वरपूर्वाः**; (**ऊष्मान्तस्थाः**=) ऊष्माणोऽन्तस्थाश्च; परान् स्पर्शान् न द्विर्भावयन्ति । "स्थालीभिः स्थालीः" (वा० १९।२७) । अत्र सकारथकारौ संयोगः । "दिवः स्कम्भनीः" (वा० १।१९) । अत्र सकारककारौ संयोगः । अस्वरपूर्वा इति किम् ? "विष्णोः स्थानम्" (वा० २।८) । "विष्णोः" (वा०५।२१) । "पवित्रे स्थः" (वा० १।१२) । "राष्ट्रम्" (वा० १०।१२) । अत्र द्विर्भावो भवति ॥ १०६ ॥

उ० अ०—ऊष्म (वर्णों) और अन्तस्थ (वर्णों) के परवर्ती स्पर्श का द्वित्व कहा गया है । यह सूत्र उसका अपवाद है । **अस्वरपूर्वाः**=स्वर पूर्व में नहीं है जिनके ऐसे; (**ऊष्मान्तस्थाः** =) ऊष्म (वर्ण) और अन्तस्थ (वर्ण); परवर्ती स्पर्शों को द्वित्व; न = नहीं; प्राप्त कराते हैं । "स्थालीभिः स्थालीः" । यहाँ पर सकार और थकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । "दिवः स्कम्भनीः" । यहाँ पर सकार और ककार संयुक्त व्यञ्जन हैं । स्वर पूर्व में नहीं है जिनके ऐसे (ऊष्म-वर्ण और अन्तःस्था वर्ण) यह क्यों (कहा) ? "विष्णोः स्थानम्" । "विष्णोः" । "पवित्रे स्थः" । "राष्ट्रम्" । यहाँ पर द्वित्व होता है ।

अ०—ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शस्य परस्य द्विर्भावः उक्तः। तत् क्वचित् अपोद्यते । अस्वरपूर्वा ऊष्माणः अन्तस्थाश्च परान् स्पर्शान् न द्विर्भावयन्ति यथा—"स्थालीभिःस्थालीराप्नोति" । अत्र अस्वरपरत्वात् सकारात्स्वरस्य थकारस्य न द्विर्भावः । एवं दिवः स्कम्भनीत्यादौ ज्ञेयम् । अस्वरपूर्वा इति किम् ? "श्नप्त्रे स्थः = विष्णो श्नप्त्रे स्थः" । "राष्ट्रम् ॥ १०६ ॥

विसर्जनीयाद्व्यञ्जनपरः ॥ १०७ ॥

सू० अ०—विसर्जनीय से परवर्ती (स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है), यदि बाद में व्यञ्जन हो ।

उ०—**विसर्जनीयात्** परः स्पर्शो व्यञ्जनपरः सन् द्विरुच्यते । यथा—"विष्णोः क्रमः" (वा० १२।५) । "नीलङ्गोः क्रिमिः" (वा० २४।३०) । विसर्जनीयः द्वौ ककारौ रेफश्च संयोगः । यथा—"देव सवितः प्रसुव" (वा० ९।१)। "युञ्जानः

प्रथमम्" (वा० ११।१)। विसर्जनीयः द्वौ पत्रारौ रेफश्च संयोगः । व्यञ्जनपर इति किम् ? "न्यङ्कुः कक्कटः" (वा० २४।३२) । "गौरमृगः पिद्वः" (वा० २४।३२) । "वसोः पवित्रम्"(वा० १।२)। "याः फलिनीः"(वा० १२।८९)। अत्र द्विर्भावो न भवति ॥१०७॥

उ० अ०— विसर्जनीयात् = विसर्जनीय से; परवर्ती स्पर्श; व्यञ्जनपरः = व्यञ्जन है बाद में जिसके ऐसा; होने पर दो वार उच्चारित होता है। जैसे—"विष्णोः क्क्रमः"। "नोलङ्ग्गोः क्क्रिमिः"। (यहाँ पर) विसर्जनीय, दो ककार और रेफ संयुक्त व्यञ्जन हैं। जैसे—"देव सवितः प्प्रसुव" । 'युञ्जानः प्प्रथमम्' ।""।यहाँ द्वित्व नहीं होता है।

अ०—विसर्जनीयात् परः स्पर्शः व्यञ्जनपरस्सन् द्विरुच्यते । यथा—"विष्णोः क्क्रमोऽसि" । "नीलङ्गुः क्क्रिमिः" । "देव सवितः प्प्रसुव" । "युञ्जानः प्प्रथमम्" । व्यञ्जनपरः किम् ? "वसोः पवित्रम्" । "याः फलिनीः" । इदं तु माध्यन्दिनविषयम् । काण्वानां तु जिह्वामूलीयोपध्मानीयाभ्यां चेति द्विर्भाव उक्तः ॥ १०७ ॥

ङ्नौ चेद्ध्रस्वपूर्वौ स्वरे पदान्तौ ॥ १०८ ॥

सू० अ०—पद के अन्त में स्थित ङकार और नकार (द्वित्व को प्राप्त करते हैं), यदि उनके पूर्व में ह्रस्व (स्वर) हो तथा बाद में स्वर हो।

उ०—(ङ्नौ =) ङकारनकारौ; (पदान्तौ =) पदान्तीयौ; द्विर्भवतः (ह्रस्वपूर्वौ =) ह्रस्वस्वरपूर्वौ; स्वरे प्रत्यये । यथा—"युङ्ङसि" (वा० १०।२५)। "तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः" (वा० ११।३३) । द्वौ ङकारौ । "अश्मन्नूर्जम्" (वा० १७।१)। "अचन्नमीमदन्त" (वा० ३।५१) । द्वौ नकारौ । ह्रस्वपूर्वाविति किम् ? "सुप्राङ्जो मेम्यत्" (वा० २५।२५) । "तानुज्जेषम्" (वा० ९।३१) ॥ १०८ ॥

उ० अ०—(ह्रस्वपूर्वौ =) ह्रस्व स्वर है पूर्व में जिनके ऐसे; (ङ्नौ =) ङकार और नकार; (पदान्तौ =) पद के अन्त में स्थित होने पर; द्वित्व को प्राप्त करते हैं; स्वरे =स्वर बाद में होने पर । जैसे—"युङ्ङसि" । "तमु त्वा दध्यङ्ङृषिः" । (यहाँ पर) दो ङकार हैं । "अश्मन्नूर्जम्" । "अक्षन्नमीमदन्त" । (यहाँ पर) दो नकार हैं । ह्रस्व स्वर पूर्व में हो—यह क्यों (कहा)? "सुप्राङ्जो मेम्यत्" । "तानुज्जेषम्"।

अ०—ङकारनकारौ पदान्तीयौ द्विर्भवतः स्वरे परे। ह्रस्वपूर्वौ चेद्भवतः। यथा—"दध्यङ्ङृषिः" । "युङ्ङसि" । "अश्मन्नूर्जम्" । "अक्षन्नमीमदन्त"। "नक्षन्नृतम्"। ह्रस्वपूर्वौ चेत् किम् ? "सु प्राङ्जः" ॥ १०८ ॥

संयोगपूर्वव्यञ्जनान्तावसानगताः स्वरा द्विमात्राः ॥ १०९ ॥

सू० अ०—(वे) स्वर दो मात्रा वाले (होते हैं) जो संयुक्त व्यञ्जनों के पूर्व में (होते हैं), जिनके अन्त में व्यञ्जन (होता है) और जो अवसान में स्थित (होते हैं) ।

उ०—संयोगात् पूर्वः **संयोगपूर्वः**। यथा—"अग्निः" (वा० २३।१६) । "विष्णुना" (वा० १०।३०)। व्यञ्जनमन्ते यस्य सः **व्यञ्जनान्तः**। यथा—"दध्यङ्" (वा० ११।३३)। अवसानं प्राप्तोऽ**वसानगतः**। यथा—"पाहि" (वा० १।१)। "रक्ष" (वा० १।४)। एते **स्वराः**; (**द्विमात्राः**=) द्विमात्राकालाः; भवन्ति न तु दीर्घाः। गुरव एते भवन्ति। अत्रोच्यते—गुरवो द्विगुणकालाः। व्यञ्जनद्विरुक्तिप्रसङ्गेन स्वराणामपि गौरवमुक्तम्। तत्र हि द्विगुणः कालो भवति ॥ १०९ ॥

उ० अ०—संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) से पूर्ववर्ती = **संयोगपूर्व**। जैसे—"अग्निः"। "विष्णुना"। व्यञ्जन है अन्त में जिसके वह = **व्यञ्जनान्त**। जैसे—"दध्यङ्"। अवसान को प्राप्त होने पर = **अवसानगत**। जैसे—"पाहि"। "रक्ष"। ये (पूर्वोक्त); **स्वर**; (**द्विमात्राः** =) दो मात्रा काल वाले; होते हैं, किन्तु दीर्घ तो नहीं होते हैं। ये गुरु होते हैं। (इस विषय को) यहाँ (इसलिए) कहा जा रहा है—गुरु = दो गुणा काल वाले। व्यञ्जनों की द्विरुक्ति के प्रसङ्ग से स्वरों का भी गौरव कह दिया गया है क्योंकि वहाँ (= गौरव में) दो गुणा काल होता है।

अ०—संयोगात्पूर्वः संयोगपूर्वः। व्यञ्जनमन्ते यस्य सः व्यञ्जनान्तः। अवसानं गताः प्राप्ताः अवसानगताः। संयोगपूर्वश्च व्यञ्जनान्तश्च अवसानगतश्च संयोगपूर्वव्यञ्जनान्तावसानगताः स्वरा द्विमात्रा स्युः। गुरुसंज्ञा भवन्ति। न तु दीर्घा भवन्तीत्यर्थः। संयोगपूर्वो यथा—"अग्निः"। अत्र द्वौ गकारौ नकारश्च संयोगः। तस्मात्पूर्व अकारः गुरुसंज्ञः। एवं विष्णुनेत्यादौ द्रष्टव्यम्। व्यञ्जनान्तो यथा—"दध्यङ्"। "प्रत्यङ्"। अत्र द्वितीयोऽकारो गुरुः। अवसानगता यथा—"स्थ"। 'कर्म'। "एहि"। "रक्ष"। एते द्विमात्राकालाः। व्यञ्जनद्विरुक्तिप्रसङ्गेन स्वराणामपि गुरुत्वमुक्तम् ॥ १०९ ॥

प्रथमैर्द्वितीयास्तृतीयैश्चतुर्थाः ॥ ११० ॥

सू० अ०—(वर्गों के) द्वितीय (स्पर्श) प्रथम (स्पर्शों) के साथ और चतुर्थ (स्पर्श) तृतीय (स्पर्शों) के साथ (द्विरुच्चारित होते हैं)।

उ०—संयोगस्यादिभूतस्य वर्णस्य द्विर्भावो ह्युक्तः। सोऽन्यथापि क्वचिद्भवतीत्याह—**प्रथमैः** स्ववर्गीयैः सह **द्वितीया** द्विरुच्यन्ते **तृतीयैश्च** स्ववर्गीयैः सह **चतुर्था** द्विरुच्यन्ते। यथा—"वि ख्याय=विक्ख्याय" (वा० ११।२०)। ककारखकारौ यकारश्च संयोगः। "विष्फ्फुरन्ति" (वा० २९।४१)। षकारः पकारफकारौ संयोगः। यथा—"गोष्ट्ठानम्" (वा० १।२५)। "आखरेष्ट्ठः" (वा० २।१)। षकारटकारठकाराः संयोगः। "पात्थ्यः" (वा० ११।३४)। "रात्थ्यः" (वा० २३।१३)। तकारथकारौ यकारश्च संयोगः। चतुर्था यथा—"आजिग्घ्र" (वा० ८।४२)। गकारघकारौ रेफश्च संयोगः। डकारस्यापि सम्भवः—"मीड्ढ्वः" (वा० १६।५०)। डकारढकारौ वकारश्च

संयोगः । "अद्ध्वनस्पातु" (वा० ४।१६) । दकारधकारौ वकारश्च संयोगः । "विव्भ्राट्" (वा० ३३।३०) । वकारभकारौ रेफश्च संयोगः ॥ ११० ॥

उ० अ०—संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) के आदिभूत (= प्रथम) वर्ण का द्वित्व कह दिया गया है । वह (द्वित्व) कहीं पर अन्य प्रकार से भी होता है, यह कहते हैं—**द्वितीयाः** = (वर्गों के) द्वितीय (स्पर्श); अपने वर्ग के; **प्रथमैः** = प्रथम (स्पर्शों) के साथ; द्विरुच्चारित होते हैं और; **चतुर्थाः** = (वर्गों के) चतुर्थ (स्पर्श); अपने वर्ग के; **तृतीयैः** = तृतीय (स्पर्शों) के साथ; द्विरुच्चारित होते हैं । जैसे-"वि ख्याय = विक्ख्याय' । (यहाँ पर) ककार, खकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । "विष्फ्फुरन्ति" । (यहाँ पर) षकार, पकार और फकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । जैसे— "गोष्ट्ठानम्" । "आखरेष्टठः" । (यहाँ पर) षकार, टकार और ठकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । "पात्थ्यः" । ' रात्थ्यः" । (यहाँ पर) तकार, थकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । चतुर्थ (स्पर्श) जैसे—"आजिग्घ्र" । (यहाँ पर) गकार, घकार और रेफ संयुक्त व्यञ्जन हैं । डकार का भी (उदाहरण) सम्भव है—"मीडढ्वः" । (यहाँ पर) डकार, ढकार और वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । "अद्ध्वनस्पातु"—दकार, धकार और वकार संयुक्त व्यञ्जन हैं । "विव्भ्राट्"—वकार, भकार और रेफ संयुक्त व्यञ्जन हैं ।

अ०—संयोगादेः द्वित्वमुक्तम् । सः अन्यथापि क्वचिद्भवति इत्युच्यतेऽनेन । प्रथमैः स्ववर्गीयैः सह द्वितीया द्विरुच्यते । तृतीयैः स्ववर्गीयैः सह चतुर्थ्यां द्विरुच्यते । यथा—"विक्ख्याय" । अत्र ककारखकारौ यकारश्च संयोगः । "अच्छचति" । "गोष्ट्-ठानम्" । "पात्थ्यः" । "विष्फ्फुरन्ती" । इति द्वितीयाः । अथ चतुर्थाः । "आजिग्घ्र" । "उज्झिम्" लौकिकोदाहरणम् । "मीड्ढ्वः" । "अद्ध्वनः" । "विब्भ्राट्" ॥ ११० ॥

नानुस्वारः ॥ १११ ॥

सू० अ०—(संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती) अनुस्वार (द्वित्व को प्राप्त) नहीं (होता है) ।

उ०—संयोगपूर्व इत्यनुवर्त्तते । संयोगपूर्वोऽनुस्वारो न द्विरुच्यते । "इमं स्तनम्" (वा० १७।८७) । "सोमानं स्वरणम्" । (वा० ३।२८) । असंयोगपूर्वस्य ह्यनुस्वार-स्योपरिष्टाद्वक्ष्यति—"अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वा चार्धमात्रा" (४।१४८) इति । यथा—"हंसः" (वा० १०।२४) ॥ १११ ॥

उ० अ०—'संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती'—इसकी अनुवृत्ति (४।१०९ से) हो रही है । संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्ववर्ती **अनुस्वार** दो बार उच्चारित; **न** = नहीं, होता है । "इमंस्तनम्" । "सोमानं स्वरणम्" । असंयोग से पूर्ववर्ती अनुस्वार के विषय में तो आगे बतलायेंगे—"ह्रस्व स्वर से परवर्ती अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती स्वर आधी मात्रा काल वाला होता है" । जैसे—"हंसः" ।

अ०—संयोगपूर्व इति वर्त्तते। संयोगपूर्वः अनुस्वारो न द्विरुच्यते। यथा-"इमं स्तनम्"। "सोमानं स्वरणम्"। असंयोगपूर्वस्य तु उपरिष्टाद्वक्ष्यति। अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽप्यर्धमात्रा पूर्वा चार्धमात्रेति सूत्रेण ॥ १११ ॥

सवर्णे ॥ ११२ ॥

सू० अ०—सवर्ण (व्यञ्जन) बाद में होने पर (द्वित्व नहीं होता है)।

उ०—सवर्णे प्रत्यये न द्विरुक्तिर्भवति। अन्तस्थासंयोगोऽत्रोदाहरणम्। "स्व-वर्गीये चानुत्तमे" (४।११७) इति स्पर्शानां वक्ष्यति। यथा-"सम् यौमि = "सयँ्यौमि" (वा० १।२२)। द्वौ यकारौ संयोगः। "सम् वपामि=सवँ्वपामि" (वा० १।२१)। द्वौ वकारौ संयोगः ॥

उ० अ०—सवर्णे = सवर्ण (व्यञ्जन) बाद में होने पर, द्विरुच्चारण (द्वित्व) नहीं होता है। अन्तस्थ (वर्णों) का संयोग यहाँ उदाहरण है। "अपने वर्ग का पञ्चम (उत्तम) से अन्य कोई (वर्ण) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)"—इस (सूत्र) से स्पर्शों का (द्वित्व न होना) कहेंगे। जैसे—"सम् यौमि = सयँ्यौमि"। (यहाँ पर) दो यकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। "सम् वपामि = सवँ्वपामि"। (यहाँ पर) दो वकार संयुक्त व्यंजन हैं ॥

अ०—अनुस्वारो द्विरुच्यते सवर्णे परे। अन्तस्थासंयोगः अत्र उदाहरणम्। "स्वर्गीये चानुत्तमे" इति स्पर्शानां तु वक्ष्यति यथा-"सयँ्यौमि"। अत्र द्वावेव यकारौ संयोगः। तृतीयस्य निषिद्धत्वात्। तथा-"सवँ्वपामि"। "तलँ्लोकम्"। "स्वरात् संयोगादिः" इति प्राप्तस्यापवादः ॥ ११२ ॥

ऋवर्णे ॥ ११३ ॥

सू० अ०—ऋवर्ण बाद में होने पर (द्वित्व नहीं होता है)।

उ० - ऋवर्णे प्रत्यये न द्विरुक्तिर्भवति। यथा—"अनिष्कृतः" (वा० २७।४)। षकारककारौ संयोगः। "ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः" (४।१०३) इति प्राप्तस्य प्रतिषेधः ॥

उ० अ०—ऋवर्णे = ऋवर्ण बाद में होने पर; द्विरुच्चारण (द्वित्व) नहीं होता है। जैसे—"अनिष्कृतः"। (यहाँ पर) षकार और ककार संयुक्त व्यञ्जन हैं। "ऊष्म वर्णों और अन्तस्थ वर्णों से भी परवर्ती स्पर्श द्वित्व को प्राप्त होता है" इस (सूत्र) से प्राप्त (द्वित्व) का प्रतिषेध किया गया है।

अ०—ऋवर्णे परे पूर्वो न द्विरुच्यते। यथा—"अनिष्कृतः"। अत्र "ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः" इति प्राप्तषकारद्वित्वस्यापवादः।

लृवर्णे ॥ ११४ ॥

सू० अ०--लृवर्ण बाद में होने पर (द्वित्व नहीं होता है)।

उ०—लृवर्णे प्रत्यये न द्विरुक्तिर्भवति। यथा—"ऋद्धिः क्लृप्तम्" (वा०१८।११)। "विसर्जनीयाद्व्यञ्जनपरः" (४।१०७) इति प्राप्तिः। लृकारस्य मध्ये लकारस्यार्ध-मात्रां पश्यताचार्येण निषेधः कृतः। वक्ष्यति च—"ऋलृवर्णे रेफलकारौ संश्लिष्टाव-श्रुतिधरावेकवर्णौ" (वा० ४।१४६)।

उ० अ० — लृवर्णे = लृवर्ण बाद में होने पर; द्विरुच्चारण (द्वित्व) नहीं होता है। जैसे—"ऋद्धिः क्लृप्तम्"। "विसर्जनीय से परवर्ती (स्पर्श द्वित्व को प्राप्त करता है) यदि बाद में व्यञ्जन हो"—इस सूत्र से द्वित्व की प्राप्ति होती है। लृकार के मध्य में लकार (व्यञ्जन) की आधी मात्रा को ध्यान में रखकर आचार्य कात्यायन ने निषेध किया है। आचार्य कहेंगे भी—ऋवर्ण तथा लृवर्ण में पृथक् रूप से सुनाई पड़ने वाले तथा एक वर्ण बने हुए रेफ और लकार मिले हुए हैं।

अ०—लृवर्णे परेऽपि पूर्वं न द्विरुच्यते। "ऋद्धिः क्लृप्तम्"। अत्र "विसर्जनीयाद् यञ्जन-परः" इति जिह्वामूलीयोपध्मानीयानां चेति प्राप्तककारद्वित्वापवादः। क्रमसंहितेयम्।

यमे ॥ ११५ ॥

सू० अ०—यम बाद में होने पर (द्वित्व नहीं होता है)।

उ०—यमे प्रत्यये न द्विरुक्तिर्भवति। यथा—"सक्थ्ना देदिश्यते नारी" (वा० २३।२९)। ककारः थकारयमौ नकारश्च संयोगः। तत्र "स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इति द्विरुक्तिः प्राप्ता। सा यमे प्रत्यये निषिध्यते। यथा—"सञ्ज्ञानमसि" (वा० १२।४६)। ञकारः जकारयमौ ञकारश्च संयोगः। अत्रापि "स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इति जकारस्य द्विरुक्तिः प्राप्ता। सा यमे प्रत्यये इति नास्ति विरोधः। रुक्मपाप्मप्रभृतीन्युदाहरणानि वदन्ति। तेषां "संयोगादिः पूर्वस्य" (वा० ११।१०२), 'यमश्च" (वा० ११।१०३) इत्यनेन सह विरोधः प्राप्नोति।

उ० अ०—यमे = यम बाद में होने पर; द्विरुच्चारण (द्वित्व) नहीं होता है। जैसे—"सक्थ्न; देदिश्यते नारी"। (यहाँ पर) ककार, थकार, यम और नकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। वहाँ "स्वर से बाद में स्थित संयुक्त व्यञ्जनों (संयोग) का आदि (= प्रथम वर्ण) सर्वत्र दो बार उच्चारित होता है"—इस (सूत्र) से द्विरुच्चारण प्राप्त है। वह (द्विरुच्चारण) यम बाद में होने पर (प्रस्तुत सूत्र से) निषेध कर दिया जाता है। जैसे—"सञ्ज्ञानमसि"। (यहाँ पर) ञकार, जकार, यम और ञकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। यहाँ पर भी "स्वर से बाद में स्थित संयुक्त व्यञ्जनों

(संयोग) का आदि (=प्रथम वर्ण) सर्वत्र दो बार उच्चारित होता है"-इस (सूत्र) से जकार का द्विरुच्चारण प्राप्त है। वह यम बाद में होने पर (नहीं होता है)— यहाँ विरोध नहीं है। कतिपय आचार्य रुक्म, पाप्मा इत्यादि उदाहरण बतलाते हैं। उनके मत में "संयोग का आदि वर्ण पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है", "यम भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है" इससे विरोध प्राप्त होता है।

अ०—यमे परे पूर्वं न द्विरुच्यते। यथा-"सक्थ्ना"। अत्र ककारः थकारयमौ नकारश्च संयोगः। अत्र "स्वरात्संयोगादिः" इति ककारस्य द्विर्भावः प्राप्तः। सः यमे परे निषिद्धः। तथा 'सञ्ज्ज्ञानमसि"। अत्र ञकारः जकारयमौ ञकारश्च संयोगः। अत्र "स्वरात्संयोगादिः" इति जकारस्य प्राप्तद्वित्वापवादः। अन्यान्यप्येवंजात्युदाहरणानि द्रष्टव्यानि। ये त्वत्र "रुक्मः" "पाप्मा" प्रभृतीन्युदाहरणानि उदाहरन्ति तेषां "संयोगादिः पूर्वस्य" "यमश्च" इत्यनेन सह विरोधः प्राप्नोति ॥ ११५ ॥

विसर्जनीयः। ११६ ॥

सू० अ०—विसर्जनीय (द्वित्व को प्राप्त नहीं करता है)।

उ०-विसर्जनीयो न द्विरुच्यते। व्यञ्जनत्वाद्विसर्जनीयस्य द्विरुक्तौ प्राप्तायां प्रतिषेधोऽयम्। यथा-"दिवः ककुत्पतिः पृथिव्याः" (वा० ३।१२)। "याः फलिनीः"(वा० १२।८९) ॥

(उ० अ०- विसर्जनीय दो बार उच्चारित नहीं होता है। व्यञ्जन होने के कारण विसर्जनीय का द्वित्व प्राप्त होने पर यह प्रतिषेध (किया गया है)।...)

अ०--विसर्जनीयो न द्विरुच्यते। व्यञ्जनत्वात् द्वित्वप्राप्तौ निषिध्यते। यथा- "दिवः ककुत्"। "याः फलिनीः"। "ततः खनेम"। नात्र विसर्जनीयस्य द्वित्वम्।११६।

स्ववर्गीये चानुत्तमे ॥ ११७ ॥

सू० अ०—अपने वर्ग का पञ्चम (उत्तम) से अन्य कोई (वर्ण) बाद में होने पर (पूर्ववर्ती वर्ण द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)।

उ०—स्ववर्गीये च प्रत्ययेऽनुत्तमे पूर्वो वर्णो न द्विरुच्यते। यथा-"तत् देवानाम् = तद्देवानामवो अद्य" (वा० ३३।१७)। द्वौ दकारौ संयोगौ द्विरुक्तेर्निषिद्धत्वात्। "अन्तरिक्षम्पुरीतता" (वा० २५।८)। मकारपकारौ संयोगः। अनुत्तम इति किम्? 'तनून्नो मित्त्रो वरुणः" (वा० ३३।४२)। अत्र द्विरुक्तिर्भवत्येव ॥११७॥

उ० अ०—अनुत्तमे = पञ्चम (उत्तम) को छोड़कर कोई; स्ववर्गीये च = अपने वर्ग का (वर्ण) बाद में होने पर भी; पूर्ववर्ती वर्ण दो बार उच्चारित नहीं होता है। जैसे-"तत् देवानाम = तद्देवानामवो अद्य"। (यहाँ पर) दो दकार संयुक्त व्यञ्जन हैं, (प्रस्तुत सूत्र से) द्विरुक्ति का निषेध होने से। "अन्तरिक्षम्पुरीतता"। (यहाँ पर) मकार

और पकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। पञ्चम (उत्तम) को छोड़कर अन्य कोई-यह क्यों (कहा) ? "तन्न्नो मित्त्रो वरुणः" । यहाँ पर (नकार की) द्विरुक्ति होती ही है।

अ०—उत्तमोऽन्त्य इत्यर्थः। उत्तमे वर्णे स्ववर्गीये परे पूर्वो न द्विरुच्यते। यथा-"तत् देवानाम्=तद्देवानाम्"। अत्र तकारस्य द्वित्वं निषिद्धम्। तथा "अन्तरिक्षम्पुरीतता"। अत्र मकारस्य न द्वित्वम्। अनुत्तमे किम् ? "तत् नः = तन्न्नो मित्रः"। अत्र नकारस्य द्विरुक्तिर्भवत्येव ॥ ११७ ॥

अवसितं च ॥ ११८ ॥

सू० अ०—अवसान में स्थित (व्यञ्जन) भी (द्वित्व को प्राप्त नहीं होता है)।

उ०—निरर्थकं व्यञ्जनमवसानगतमवसितशब्देनोच्यते। **अवसितं** व्यञ्जनं न द्विरुच्यते। यथा-"ऊर्क्" (वा० १८।९)। रेफककारौ संयोगः। अवसितमिति किम् ? "ऊर्क्कँ च मे" (वा० १८।९)। "परं तु रेफहकाराभ्याम" (४।१०२) इति प्राप्तिः। रेफस्यात्र द्विरुक्तिर्न भवति ॥ ११८ ॥

उ० अ०—अवसान में स्थित निरर्थक व्यञ्जन अवसित शब्द से कहा जाता है। **अवसितम्** = अवसान में स्थित व्यञ्जन; (च = भी) दो वार उच्चारित नहीं होता है। जैसे-"ऊर्क्"। (यहाँ पर) रेफ और ककार संयुक्त व्यञ्जन हैं। अवसान में स्थित-यह क्यों (कहा)? "ऊर्क्क् च मे"। "रेफ और हकार से तो परवर्ती व्यञ्जन का द्वित्व होता है"-इस (सूत्र) से (द्वित्व की) प्राप्ति होती है। रेफ का यहाँ द्विरुच्चारण (= द्वित्व = दो वार कथन) नहीं होता है।

अ०—अवसानगतं व्यञ्जनं न द्विरुच्यते। यथा-"ऊर्क्"। "पूषण्वन्"। अवसितं किम् ? संहितायां मा भूत्। "ऊर्क्क् च मे पूषण्वन्तम्"। अत्र "परं तु रेफहकाराभ्याम्" इति द्वित्वम् ॥ ११८ ॥

नान्तःपदे स्वरपञ्चमान्तस्थासु ॥ ११९ ॥

सू० अ०—(आगे जो विधान किया गया है वह) पद के मध्य में नहीं (होता है), जब स्वर (वर्ण), पञ्चम (वर्ण) अथवा अन्तस्थ (वर्ण) बाद में होता है।

उ०—(**स्वरपञ्चमान्तस्थासु** =) स्वरे प्रत्यये पञ्चमे च परे अन्तस्थासु च प्रत्ययभूतासु; यद्वक्ष्यति तदन्तःपदे न भवति। पदान्तीयस्य स विकार इत्यर्थः। यथा-"पूषन्" (वा० ३४।४१)। पकारस्य प्रथमस्य स्वरे तृतीयभाव उक्तः। सोऽन्तःपदे न भवति। पञ्चमे यथा-"त्मन्या समञ्जन्" (वा० २०।४५)। "आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्" (वा० २९।४१)। अत्र "पञ्चमे पञ्चमम्" (४।१२३) इति पञ्चमभाव

उक्तः । सोऽन्तःपदे न भवति । अन्तस्थासु यथा—"इषे त्वा" (वा० १।१)। "आ प्यायस्व" (वा० १२।११२)। प्रथमस्य तृतीयभाव- उक्तः । सोऽन्तःपदे न भवति । वक्ष्यमाण प्रकरणस्यापवादभूतोऽयं योगः । अधिकारसूत्रमेतत् ॥ ११९ ॥

उ० अ०—(स्वरपञ्चमान्तस्थासु =) स्वर बाद में होने पर और पञ्चम बाद में होने पर और अन्तस्थ बाद में होने पर; जो (सूत्रकार) कहेंगे वह; (नान्तःपदे =) पद के मध्य में नहीं; होता है । पद के अन्त में स्थित (वर्ण) का वह विकार है—यह अर्थ है । जैसे—"पूषन्" । स्वर बाद में होने पर पकार का (=प्रथम का) तृतीय होना (४।१२० में) कहा गया है । वह पद के मध्य में नहीं होता है । पञ्चम बाद में होने पर—"त्मन्या समञ्जन्" । "आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती अमित्रान्" । यहाँ पर "पञ्चम बाद में होने पर पञ्चम से अन्य स्पर्श पञ्चम हो जाता है" इससे पञ्चम होने का विधान किया गया है । वह पद के मध्य में नहीं होता है । अन्तःस्था बाद में होने पर—"इषे त्वा" । "आ प्यायस्व" । प्रथम का तृतीय होना कहा गया है । वह पद के मध्य में नहीं होता है । आगे कहे जाने वाले प्रकरण के अपवाद के रूप में यह सूत्र है । यह अधिकार सूत्र है ।

अ०—वक्ष्यमाणप्रकरणस्यापवादोऽयम् । स्वरे पञ्चमेऽन्तस्थासु च परतः "स्पर्शोऽपञ्चमः" इत्याद्युक्तं सूत्रोक्तकार्यं न स्यात् एकपदे । तत्र स्वरे परे यथा—"पूषन्" इत्यत्र पकारस्य प्रथमस्य उकारे स्वरे परे वर्गतृतीयभावः बकारः प्राप्तः । सः अनेनान्तःपदे निषिद्धः । अन्यथा "बूषन्निति स्यात्" । पञ्चमे यथा—"त्मन्या" । अत्र "पञ्चमे पञ्चमम्" इति तकारस्य पञ्चमभावो नकारः न भवतीत्यर्थः । "अन्या समञ्जन्" । एवम् "आर्त्नी इमे विष्फुरन्ती" । अन्तस्थासु यथा—"त्वा" । अत्र तकारस्य वकारे परे अन्तःपदे तृतीयो दकारो निषिध्यते । "मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः" । एवम् "आप्यायस्व" । एवमन्यान्यप्येवं-जातीयकान्युदाहरणानि योज्यानि । अन्त.पदे किम् ? "यत् इन्द्रः = यदिन्द्रो अपिबत्" ॥

स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरधौ तृतीयम् ॥ १२० ॥

सू० अ०—स्वर और धि (संज्ञक वर्ण) बाद में होने पर पञ्चम से अन्य (स्पर्श) तृतीय (स्पर्श) हो जाता है ।।

उ०—अपञ्चमः स्पर्शः; (स्वरधौ =) स्वरे प्रत्यये धिसंज्ञके च; तृतीय-मापद्यते । स्वरे परे भवति यथा—"उत् एनम् = उदेनमुत्तरान्नय" (वा० १७।५०)। "समुद्रात् ऊर्मिः = समुद्रादूर्मिः" (वा० १७।८६)। धौ परे यथा—"यत् ग्रामे = यद्ग्रामे" (वा० ३।४५)। "यत् वर्मी = यद्वर्मी" (वा० २६।३८)।। १२० ॥

उ० अ०—(स्वरधौ =) स्वर बाद में होने पर और धि संज्ञक (वर्ण) बाद में होने पर; अपञ्चमः = पञ्चम से अन्य; स्पर्श तृतीय हो जाता है ।...।

अ०— अपञ्चमः स्पर्शः स्वरे घिसंज्ञे च परे तृतीयमाप्नोति। स्वरे यथा-"उत् एनम् = उदेनम्"। "समुद्रात् ऊर्मिः = समुद्राद्र्मिः"। घिसंज्ञे यथा-"यत् ग्रामे = यद्ग्रामे यदरण्ये"। "यत् वर्मी = यद्वर्मी याति"। "यद्वम्र अतिसर्पति" ॥ १२० ॥

जिति प्रथमम् ॥ १२१ ॥

सू० अ०—जित् (संज्ञक वर्ण) बाद में होने पर (पञ्चम से अन्य स्पर्श) प्रथम (हो जाता है)।

उ०—(जिति =) जित्संज्ञके प्रत्यये; स्पर्शोऽपञ्चमः प्रथमसापद्यते। यथा- "अनुष्टुप्तुसेऽभिगरः" (वा० ८।४७)। "ऊक्क् च मे" (वा० १८।६)। "तत्सवितुः" (वा० ३।३५)। "अनुष्टुप्शारदी" (वा० १३।५७) ॥ १२१ ॥

उ० अ०–(जिति =) जित्संज्ञक (वर्ण) बाद में होने पर; पञ्चम से अन्य स्पर्श प्रथम हो जाता है।...।

अ०—अपञ्चमस्पर्शो जित्संज्ञे परे प्रथममाप्नोति। न तृतीयम्। यथा-"अनुष्टुप्तेऽभिगरः"। "अनुष्टुप्छारदी"। "उक् च मे"। "तत्सवितुर्वरेण्यम्" ॥ १२१ ॥

असस्थाने मुदि द्वितीयं शौनकस्य ॥ १२२ ॥

सू० अ०—असमान (भिन्न) उच्चारण-स्थान वाला मुत् (संज्ञक वर्ण) बाद में होने पर (पञ्चम से अन्य स्पर्श) द्वितीय (हो जाता है)- शौनक के (मत से)।

उ०—(असस्थाने=) असमानस्थाने; (मुदि=) मुत्संज्ञके प्रत्यये; स्पर्शोऽपञ्चमो द्वितीयमापद्यते शौनकस्याचार्यस्य मतेन। यथा-"सम्यक्स्रवन्ति = सम्यख्स्रवन्ति" (वा०१३।३८)। "अनुष्टुप् शारदी = अनुष्टुफ्शारदी"। (वा० १३।५७)। असस्थान इति किम्? "तत्सवितुः" (वा० ३।३५)। केचिदत्र "तृतीयं अवसाने च" इत्येतत्सूत्रं पठन्ति। सोऽपपाठः। यतः "प्रथमोत्तमाः पदान्तीयाः" (१।८५) इत्यधस्तादुक्तम् ॥

उ० अ०—(असस्थाने =) असमान (= भिन्न) उच्चारणस्थान वाला; (मुदि=) मुत् संज्ञक (वर्ण) बाद में होने पर; पञ्चम से अन्य स्पर्श द्वितीय हो जाता है; शौनकस्य = शौनक आचार्य के मत से। जैसे-"सम्यक् स्रवन्ति=सम्यख् स्रवन्ति"। "अनुष्टुप् शारदी=अनुष्टुफ्शारदी" असमान (भिन्न) उच्चारण स्थान वाला बाद में होने पर—यह क्यों (कहा)? "तत्सवितुः"। कतिपय (आचार्य) यहाँ "अवसान में तृतीय भी हो जाता है" इस सूत्र का पाठ करते हैं। वह अयुक्त पाठ है, क्योंकि "प्रथम और अन्तिम स्पर्श पद के अन्त में आते हैं" यह पहले ही कहा जा चुका है।

अ०—न विद्यते पूर्वेण समानस्थानं यस्य सः तथा। असस्थाने मुत्संज्ञे शषसे परेऽपञ्चमस्पर्शो द्वितीयमाप्नोति शौनकाचार्यमतेन। यथा-"सम्यक् स्रवन्ति =सम्यख्-

स्रवन्ति"। "अनुष्टुप् शारदो=अनुष्टुफ्छारदी"। असस्थाने किम्? "तत् सवितुः=तत्सवितुः"। शौनकस्य किम्? सम्यक्स्रवन्तीत्यादि प्रथमभाव एव। केचित् अत्र "तृतीयमवसाने च" इत्येतत्सूत्रं पठन्ति। सोऽपपाठः। यतः "प्रथमोत्तमाः पदान्तीयाः" इत्यधस्तादेवोक्तम् ।१२२।

पञ्चमे पञ्चमम् ॥ १२३ ॥

सू० अ०—पञ्चम बाद में होने पर (पञ्चम से अन्य स्पर्श) पञ्चम (हो जाता है)।

उ०—पञ्चमे स्पर्शे प्रत्यये अपञ्चमः स्पर्शः पञ्चममापद्यते। यथा—"वाक् मात्या = वाङ्मात्या" (वा० १३।५८)। "वट् महान्=वण्महान्" (वा० ३३।३९)। "तत् मित्रस्य = तन्मित्रस्य" (वा० ३३।३८) ॥ १२३ ॥

उ० अ०—पञ्चमे = पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर, पञ्चम से अन्य स्पर्श पञ्चम हो जाता है।....।

अ०—अपञ्चमः स्पर्शः पञ्चमे परे स्ववर्गीयं पञ्चममाप्नोति। यथा—"वाक् मात्या = वाङ्मात्या"। "वट् महान् = वण्महान्"। "तत् मित्रस्य = तन्मित्रस्य"। "त्रिष्टुप् माध्यन्दिनम् = त्रिष्टुम्माध्यन्दिनम्"। इदमुदाहरणं प्रवर्ग्यकाण्डस्थम् ॥१२३॥

हश्च तस्मात्पूर्वचतुर्थम् ॥ १२४ ॥

सू० अ०—उससे (= तृतीय स्पर्श में परिणत अपञ्चम स्पर्श से) परवर्ती हकार भी पूर्ववर्ती (स्पर्श) का चतुर्थ (हो जाता है)।

उ०—हश्च तस्मादपञ्चमात् स्पर्शात्तृतीयभूतादुत्तरः सन्; पूर्वचतुर्थम् = अधस्तनस्य स्पर्शस्य चतुर्थम्; आपद्यते। यथा—"उत् हर्षय=उद्धर्षय"। "अवाट् हव्यानि= अवाड्ढव्यानि" ॥ १२४ ॥

उ० अ०—तस्मात = उससे = तृतीय (स्पर्श) में परिणत पञ्चम से अन्य (स्पर्श) से बाद में स्थित होने पर; हश्च = हकार भी; (पूर्वचतुर्थम् =) पूर्ववर्ती स्पर्श का चतुर्थ; हो जाता है।....।

अ०—हकारश्चापञ्चमात् स्पर्शात् तृतीयभावं प्राप्तात्परस्सन् पूर्वस्पर्शस्य चतुर्थभावमाप्नोति। यथा—"उत् हर्षय = उद्धर्षय"। "अवाट् हव्यानि = अवाड्ढव्यानि"। "वाक् हुतः=वाग्घुतः"। तत्र "स्पर्शोऽपञ्चमः स्वरघौ" इति तृतीयभावो द्रष्टव्यः ॥१२४॥

नर्कारपरो जातूकर्ण्यस्य ॥ १२५ ॥

सू० अ०—जातूकर्ण्य के (मत से) ऋकार बाद में होने पर (हकार पूर्ववर्ती स्पर्श का चतुर्थ नहीं होता तथा पूर्ववर्ती स्पर्श तृतीय भी नहीं होता)।

उ०—ऋकारपरो हकारः अपञ्चमस्पर्शादुत्तरो न चतुर्थमापद्यते न च पूर्वस्तृतीयं जातूकर्ण्यस्याचार्यस्य मतेन। यथा–"सममुस्रोत् हृदः = सममुस्रोत्हृदः" (वा० १८।५८)। जातूकर्ण्यस्येति किम्? "सममुस्रोद्घृदो वा" (वा० १८।५८)॥

उ० अ० – ऋकारपरः = ऋकार है बाद में जिसके वह; हकार, पञ्चम से अन्य स्पर्श से परवर्ती होने पर, चतुर्थ; न = नहीं; होता है। और न पूर्ववर्ती (स्पर्श) तृतीय (होता है); जातूकर्ण्यस्य = जातूकर्ण्य आचार्य के मत से।....;

अ०—उक्तलक्षणो हकारः ऋकारपरश्चेत् न पूर्वचतुर्थमाप्नोति। जातूकर्ण्यस्याचार्यस्य मतेन। यथा–"सममुस्रोत् हृदा वा"। जातूकर्ण्यस्येति किम्? काण्वाचार्यस्य मतेन मा भूत्। "यदाकूतात्सममस्रोद्घृदो वा"॥ १२५॥

हि॥ १२६॥

सू० अ० –यहाँ दूसरा काल समाप्त हुआ।

उ०—"ह्यन्तराः कालाः" इत्यधस्तादुक्तम्, कालशब्दश्चेहावधिवचनः। अतोऽवधिपरिज्ञापनार्थमिद सूत्रम्। अवधेः प्रयोजनं "न परकालः पूर्वकाले पुनः" इत्यधस्तादेवोक्तम्॥

उ० अ०—"कालों के मध्य में हि शब्द को रखा गया है"–यह पहले कहा जा चुका है, कालशब्द यहाँ अवधि का वाचक है। इसलिए अवधि को बतलाने के लिये यह सूत्र है। अवधि का प्रयोजन "परकाल की सन्धि होने के बाद पुनः पूर्वकाल की सन्धि प्राप्त होने पर परकाल की सन्धि सिद्ध नहीं रहती"-यह पहले ही कहा गया है।

अ०—हिशब्दोऽत्रावधिवचनः। अवधिप्रयोजनं तु "न परकालः पूर्वकाले पुनः" इति प्रागुक्तमेव। "ह्यन्तराः कालाः" इति च॥ १२६॥

यवयोः पदान्तयोः स्वरमध्ये लोपः॥ १२७॥

सू० अ०—दो स्वरों के मध्य में स्थित होने पर पदान्तीय यकार और वकार का लोप (हो जाता है)।

उ०—(यवयोः=) यकारवकारयोः; (पदान्तयोः=) पदान्तभूतयोः; स्वरमध्ये वर्त्तमानयोर्लोपो भवति। अश्रवणमनुच्चारणं भवतीत्यर्थः। अधस्तात् सूत्रकारेण यौ यकारवकारौ विहितौ तयोरनेन लोपः क्रियते पदान्तीययोर्यकारवकारयोरसम्भवात्। "आकारोपधो यकारम्" (३।१४२)। यथा–"महाँय् इन्द्रः=महाँ इन्द्रः" (वा०७।३९)। "स्वाँय् अहम् = स्वाँ अहम्" (वा०११।८२)। तथा "कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः" (४।३८)। "श्विन्त्रय् आदित्यानाम् = श्विन्त्र आदित्यानाम्"। (वा० २४।३९)। "ताय् अस्य = ता अस्य सूददोहसः" (वा० १२।५५)। "सन्ध्यक्षरमयवायावम्" (४।४८)। "इडय् एहि = इड एहि" (वा०३।२७)। "अदितय् एहि = अदित

एहि" (वा० ३।२७)। "भूम्याय् आखून् = भूम्या आखून्" (वा० २४।२६)। "विष्णव् उरुगाय = विष्ण उरुगाय" (वा० ८।१) "ताव् उभौ = ता उभौ चतुरः" (वा० २३।२०)। लुप्तयोश्च यकारवकारयोर्यः स्वरसन्धिः प्राप्नोति सः "न परकालः" (३।४) इत्यादिना निषिध्यते ॥ १२७ ॥

उ० अ०—(पदान्तयोः =) पदान्तभूत (= पदान्तीय = पद के अन्त में स्थित); (यवयोः =) यकार और वकार का, स्वरमध्ये = दो स्वरों के मध्य में वर्तमान होने पर; लोप हो जाता है। अश्रवण = अनुच्चारण हो जाता है—यह अर्थ है। पहले सूत्रकार के द्वारा जो यकार और वकार विहित किए गए हैं उनका इस (सूत्र) से लोप किया जाता है क्योंकि यकार और वकार पद के अन्त में उपलब्ध नहीं होते हैं। "आकार से परवर्ती नकार यकार हो जाता है"। जैसे—"महाँय् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः"। "स्वाँय् अहम् = स्वाँ अहम्"। उसी प्रकार "कण्ठ्य स्वर पूर्व में होने पर अरिफित विसर्जनीय यकार हो जाता है"। "श्वित्रय् आदित्यानाम् = श्वित्र आदित्यानाम्"। "ताय् अस्य = ता अस्य सूददोहसः"। "संध्यक्षर (=ए, ओ, ऐ, औ) (क्रमशः) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं"। "इडय् एहि = इड एहि"। "अदितय् एहि = अदित एहि"। "भूम्याय् आखून् = भूम्या आखून्"। "विष्णव् उरुगाय = विष्ण उरुगाय"। "ताव् उभौ = ता उभौ चतुरः"। यकार, वकार के लुप्त हो जाने पर जो स्वरसन्धि प्राप्त होती है वह "परवर्ती काल की सन्धि नहीं" इत्यादि से निषिद्ध हो जाती है।

अ०—पदान्तयोः स्वरमध्ये वर्त्तमानयोर्यवयोः लोपः स्यात्। लोप अनुच्चारणमित्यर्थः। यथा—"महाँय् इन्द्रः = महाँ इन्द्रः"। "स्वाँय् अहम् = स्वाँ अहम्"। "आकारोपधो यकारम्" इति सूत्रेण कृतस्य यकारस्यात्र लोपो ज्ञेयः। यथा—"श्वित्रः आदित्यानाम्"। अत्र "कण्ठ्यपूर्वो यकारमरिफितः" इति कृतस्य यकारस्यात्र लोपः। तथा "ताः अस्य = ता अस्य सूददोहसः"। "इळ एहि"। "अदित एहि"। "काम्य एहि"। "भूम्या आखून्"। "वाय ऋतस्पते"। "हिरण्यरूपा उषसः"। अत्र "सन्ध्यक्षरमयवायावम्" इति प्राप्तयोर्यवयोर्लोपः। एवमन्यदपि उदाहरणं वेदितव्यम्। अत्र यवयोर्लोपे सति स्वरसन्धिस्तु "न परकालः पूर्वकाले पुनः" इति निषिद्धत्वात् न भवति।१२७।

न वकारस्यासस्थान एकेषाम् ॥ १२८ ॥

सू० अ०—असमान (=भिन्न) उच्चारण-स्थान वाला (स्वर) बाद में होने पर वकार का (लोप) नहीं (होता है)—कतिपय (आचार्यों) के (मत से)।

उ०—वकारस्य पदान्तस्य असस्थाने स्वरे प्रत्यये लोपो न भवत्येकेषामाचार्याणां मतेन। यथा—"विष्णवेते दाधर्थ" (वा० ५।१६)। "कृशानवेते वः"

(वा० ४।२७)। असस्थान इति किम् ? "विष्ण उरुगाय" (वा० ८।१)। "हिरण्य-रूपा उषसः (वा० १०।१६) ॥ १२८ ॥

उ० अ०—**असस्थाने** = असमान (= भिन्न) उच्चारण-स्थान वाला स्वर बाद में होने पर; पद के अन्त में स्थित; **वकारस्य** = वकार का; लोप नहीं होता है; **एकेषाम्** = कतिपय आचार्यों के मत से। ''।

अ०—वकारस्य लोपो न स्यात् असस्थाने परे एकेषामाचार्याणां मतेन। यथा—"विष्णवेते दाधर्थ"। "कृशानवेते"। इदं क्रमोदाहरणम्। असस्थाने किम् ? "विष्ण उत वा" "हिरण्यरूपा उषसः"। एकदेशेन समानस्थानत्वात् अत्र एकेषामित्येकशब्दस्य एके मुख्यान्यकेवलाः इत्यभिधानादन्यार्थता। न मुख्यार्थता। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति न्यायात्। तेन मुखे स्थित इति मुख्यः इति व्युत्पत्त्या पञ्चदशसु शाखासु आद्यायां काण्वशाखायां नायं विधिरिति भावः ॥ १२८ ॥

असौ च शाकटायनः ॥ १२९ ॥

सू० अ०—असौ (का वकार) भी (लुप्त नहीं होता है) शाकटायन (के मत से)।

उ०—असावित्येतस्य पदस्य असस्थाने प्रत्यये वकारो न लुप्यते; (**शाकटायनः**=) शाकटायनस्य मतेन। "असौ एहि=असावेहि" (वा० ३८।२)। एके एतत्सूत्रं पठन्ति सोऽपपाठः पूर्वेणैव सिद्धत्वात् ॥ १२९ ॥

उ० अ०—असमान (=भिन्न) उच्चारण-स्थान वाला (स्वर) बाद में होने पर; **असौ**—इस पद का (**च** = भी) वकार लुप्त नहीं होता है; (**शाकटायनः** =) शाकटायन के मत से। "असौ एहि = असावेहि"। कुछ लोग इस सूत्र का पाठ करते हैं। किन्तु पूर्ववर्ती (सूत्र = ४।१२८) से ही (वकार का अलोप) सिद्ध हो जाने से वह पाठ युक्त नहीं है।

अ० – असौपदस्य वकारो न लुप्यते असस्थाने स्वरे परे शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन। काण्वशिष्यः सः पुराणे तद्दर्शनात्। तेन शिष्याचार्ययोः एकमतत्वात् काण्वमतेनाप्येवमेव। यद्वा शाकटायन इति काण्वाचार्यस्यैव नामान्तरमुदाहरणम् यथा—"असावेह्यसावेह्यसावेहि"। "योसावसौ पुरुषस्सोऽहमस्मि"। अत्र अनथो इति शेषं पूरयन्ति अथोशब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः। तेन "सुप्रजास्त्वाय चासा अथो जीव"। इति शब्देनैवमिति सप्तमे वक्ष्यति। यथा-"निदधामि दधाम्योजसा इत्यसौ" ॥ १२९ ॥

प्रउगमिति यकारलोपः ॥ १३० ॥

सू० अ० – प्रउगम् में यकार का लोप (हुआ है)।

उ०—प्रयुगमित्येतस्मिन् पदे यकारलोपः प्रत्येतव्यः कर्त्तव्यो वा । प्रयुज्यत इति प्रयुगम् । तत्र युजेर्यकारो लुप्यते । यथा -"प्रउगमुक्थमव्यथायै" (वा०.१५।११) । "न परकालः" (३।४) इत्यनेन स्वरसन्धिर्न भवति ॥ १२० ॥

उ० अ०—प्रयुगम् -इस पद में; यकारलोपः = यकार का लोप; जानना चाहिए अथवा करना चाहिए । प्रयुक्त होता है अतः प्रयुग कहलाता है । यहाँ 'युज्' का यकार लुप्त हो जाता है । जैसे - "प्रउगमुक्थमव्यथायै" । "परकाल की सन्धि होने के बाद पुनः पूर्वकाल की संधि प्राप्त होने पर परकाल की संधि सिद्ध नहीं रहती"—— इस (सूत्र) से स्वर-संधि नहीं होती है ।

अ०—प्रयुज्यत इति प्रयुगम् । अपदान्तार्थोऽयमारम्भः । यथा—"प्रउगमुक्थमव्यथायै स्तभ्नातु" । "न परकालः" इत्यसन्धिः ॥ १३० ॥

अनादेशेऽविकारः ॥ १३१ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित स्थलों में) विशेष विधान (आदेश) न होने पर विकार का अभाव (समझा जाना चाहिए) ।

उ० — इत उत्तरं स्वराणामुदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितानामेकीभावगतं विकारं विवक्षुः परिभाषां चकाराचार्यः "अनादेशेऽविकारः" इति । यत्रोदात्तादीनां स्वराणां सन्धावादेशो न क्रियते तत्राविकारः प्रत्येतव्यः । यथा—"अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्" (वा० ३।१२) । तथा "इयमुपरि" (वा० १३।५८) ॥ १३१ ॥

उ० अ०—इसके आगे उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचित स्वरों के एकीभाव से सम्बन्धित विकार को बतलाने के इच्छुक आचार्य ने यह परिभाषा की है— अनादेशेऽविकारः = जहाँ उदात्त आदि स्वरों की संधि के विषय में आदेश नहीं किया जाता है वहाँ अविकार (= विकार का अभाव) समझना चाहिए ।...।

अ०—इतः परमुदात्तानुदात्तस्वरितप्रचितस्वराणां एकीभावगतं विकारं विवक्षुराचार्यः परिभाषामाचष्टे "अनादेशेऽविकारः" इति । यत्र उदात्तादीनां स्वराणां परस्परं सङ्गता वा यद्वाचो वार्थः । "कुप्वोः कप्वौ च" इति चेत् प्रत्ययादौ तथा व्याख्यातत्वात् विकल्पोऽपि व्यवस्थितः असावेति । "योसावसौ" । "वासा प्रथो जीव" । व्यवस्थितविकल्पस्येमानि क्रमेण उदाहरणानि । इतिशब्देऽप्येवमेव व्यवस्थां वक्ष्यति सप्तमे । लोके निदधाम्यसाविति । तदुदाहरणं प्रयुगमिति यकारलोप प्रयुगमिति पदे यकारो लुप्यते देशोऽनुक्रियते । तत्र न विकारभावः प्रत्येतव्यः । यथा "अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्" । "इयमुपरि मतिस्तस्यै" ॥ १३१ ॥

प्रागुवर्णादुत्तराणामेकीभावः ॥ १३२ ॥

सू० अ०—उवर्ण (= उ से लक्षित सूत्र = ४।१३७) से पहले तक

स्वर (वर्णों) के एकीभाव को (अधिकृत जानना चाहिए) ।

उ०—(उवर्णात् =) उवर्णोपलक्षितात् सूत्रात् = "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" (४।१३७) इत्येतस्मात्; प्राग्यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्राक्षराणामेकीभावोऽधिकृतो वेदितव्यः। "स्वरोऽक्षरम्" (१।९९) इत्यधस्तादुक्तमित्यतः स्वराणामेकीभावोऽधिकृतो वेदितव्यः। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ १३२ ॥

उ० अ०—(उवर्णात् = उवर्ण से =) उ वर्ण से लक्षित (चिह्नित, विशिष्ट) सूत्र से = "उदात्त से भी परवर्ती अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)" इस (सूत्र) से; प्राक् = पहले तक (= ४।१३६ तक) इस (= प्रस्तुत सूत्र) से आगे जो कहेंगे वहाँ; (अक्षराणामेकीभावः =) अक्षरों के एकीभाव को; अधिकृत जानना चाहिए। "स्वर अक्षर संज्ञक होता है" यह पहले कहा गया है, इसलिए स्वर (वर्णों) के एकीभाव को अधिकृत जानना चाहिए। यह अधिकार-सूत्र है।

अ०—उवर्णोपलक्षितत्वात् "उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम्" इत्यस्मात् सूत्रात् प्राक् इत ऊर्ध्वं यत् अनुक्रमिष्यामः तत्र अक्षराणामेकीभावोऽधिकृतो वेदितव्यः। "स्वरोऽक्षरम्" इत्यधस्तात् उक्तम्। अतः स्वराणामेकीभावोऽधिक्रियते। अधिकारोऽयम् ॥

स्वरितवान् स्वरितः ॥ १३३ ॥

सू० अ०—स्वरित वाला (एकीभाव) स्वरित (होता है)।

उ०—स्वरितवानेकीभावः स्वरितो भवति। यथा—"पृथ्या॑ इव (इव)= पृथ्ये॑व" (वा० ११।५)। "चम्वी॑ इव (इव)=चम्वी व सोमः" (वा० २०।७६)। जात्योदाहरणे। यथा—"ब्रह्म॑ असृज्यत = "ब्रह्मासृज्यत" (वा० १८।२८)। "मृत्यवे॑ असितः = मृत्यवे॑ऽसितः" (वा० २४।३७)। तैरोव्यञ्जनोदाहरणे ॥ १३३ ॥

उ० अ०—स्वरितवान् = स्वरित वाला एकीभाव; स्वरित होता है।....।

अ०—स्वरितः अस्मिन्निति स्वरितवान्। एकीभावः स्वरितः स्यात् यथा—"पथ्या इव = पथ्येव सूरेः"। "स्रुचि इव = स्रुचीव घृतम्"। "चम्वी इव = चम्वीव सोमः"। जात्योदाहरणे इमे। "ब्रह्मासृज्यत"। "मृत्यवेऽसितः"। तैरोव्यञ्जनमिदम् ॥

उदात्तवानुदात्तः ॥ १३४ ॥

सू० अ०—उदात्त वाला (एकीभाव) उदात्त (होता है)।

उ०—उदात्तोऽस्मिन्नस्तीति उदात्तवान्। उदात्तवानेकीभाव उदात्तो भवति। स चोदात्तः पुरस्तात् पश्चाद्वा भवति। इतरत्रोदात्तानुदात्तस्वरितप्रचिताः। यथा उभयत्रोदात्तो भवति—"ये अग्ने॑षु = येऽग्ने॑षु" (वा० १६।६२)। "द्रूणानः अस्ता = द्रूणानोऽस्तासि" (वा० १३।९)। उदात्तपूर्वोऽनुदात्तपरो भवति यथा—"प्र अर्प [illegible]

= प्रार्पयतु" (वा० १।१)। "आ इदम् = एदम्" (वा० ४।१)। उदात्तपरो-ऽनुदात्तपूर्वो यथा—"त्वा आशाभ्यः = स्वाशाभ्यः" (वा० १।१८)। "मे अङ्गानि = मेऽङ्गानि सर्वतः" (वा० २०।८)। उदात्तपूर्वः स्वरितपरो यथा—"सु ऊर्व्याय = नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च" (वा० १६।४५)। अवग्रह एतदुदाहरणम्। स्वरितपूर्व उदात्तपरो यथा—"अद्य त्ये अवसे = "अद्य त्येऽवसे" (वा० ३४।२६)। सुप्वा इति = "सुप्वेति" (वा० १।३)। पदसंहितायामुदाहरणम्। अत्रोदात्तस्वरितसन्धौ "विप्रतिषेध उत्तरं बलवदलोपः" (१।१५६) इति परिभाषासूत्रेणोदात्त एव भवति उदात्तशास्त्रस्य परत्वात्। न तु स्वरितः स्वरितशास्त्रस्य पूर्वत्वात्। उदात्तपरः प्रचितपूर्वो यथा—ओजिष्ठ (इन्द्र ओजिष्ठ) ओजिष्ठः = "इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठः" (वा० ८।३९)। वाजजितः (वाजजित इति वाज-जितः) अध्वनः = "वाजिनो वाजजितोऽध्वनः" (वा० ९।१३)। अधस्तनयोगापवादः ॥ १३४ ॥

उ० अ०—उदात्त जिसमें (इसमें) होता है वह = उदात्तवान्। (उदात्तवान्=) उदात्त वाले एकीभाव में; **उदात्त** होता है। और वह उदात्त पहले अथवा बाद में होता है। दूसरी ओर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचित (में से कोई एक) होते हैं। (तैरो) अवग्रह (स्वरित) का यह उदाहरण है। स्वरित पूर्व में और उदात्त बाद में होता है जैसे-"अद्य त्ये अवसे = अद्य त्येऽवसे"। "सुप्वा इति = सुप्वेति"। पद-संहिता में उदाहरण है। यहाँ उदात्त और स्वरित की संधि होने पर "तुल्य बल वाले सूत्रों का विरोध होने पर परवर्ती सूत्र बलवान् होता है, लोप के स्थलों को छोड़ कर"—इस परिभाषा-सूत्र से (संधिज अक्षर) उदात्त ही होता है क्योंकि उदात्त का विधान करने वाला सूत्र परवर्ती है। (संधिज अक्षर) स्वरित नहीं (होता है), क्योंकि स्वरित का विधान करने वाला सूत्र पूर्ववर्ती है।...यह पूर्ववर्ती सूत्र का अपवाद है।

अ०—उदात्तवानेकीभाव उदात्तः स्यात्। स चोदात्तः पुरस्तात्पश्चाद्वा भवति। क्रमेणोदाहरणानि—उभयतोदात्तो यथा-"ये अन्नेषु = येऽन्नेषु विविध्यन्ति"। "द्रूणानः अस्ता = द्रूणानोऽस्तासि"। उदात्तपूर्वोऽनुदात्तपरो यथा-"प्र अर्पयतु = प्रार्पयतु"। "आ इदम् = एदमगन्म"। "एदं बर्हिः"। अनुदात्तपूर्वः उदात्तपरो यथा-"त्वा आशाभ्यः = विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्यः"। "विशः मे अङ्गानि = विशो मेऽङ्गानि"। उदात्तपूर्वस्वरितपरो यथा-"सु ऊर्व्याय = नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च"। स्वरितपूर्व उदात्त एव भवति न स्वरितः "उदात्तवानुदात्तः"इत्यस्य परत्वेन प्राबल्यादिति भावः। प्रचितपूर्व उदात्तपरो यथा-"ईळितः जातवेदः अवाट् = त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि"। अत्र पूर्वसूत्रापवादो ज्ञेयः !! १३४ ॥

इवर्णमुभयतोह्रस्वमुदात्तपूर्वमनुदात्तपरं स्वरितम् ॥ १३५ ॥

सू० अ०—वे दो ह्रस्व इकार, जिनमें पूर्ववर्ती उदात्त और परवर्ती

अनुदात्त हो मिलकर, स्वरित हो जाते हैं।

उ०—इकारो वर्णो यस्याक्षरस्येति इवर्णमक्षरम्। बहुव्रीहिरयमक्षरप्रधानः। इवर्णमक्षरं स्वरितं भवति। कथम्भूतम्? उभयतोह्रस्वम्। उभयत इवर्णो ह्रस्वस्याक्षरस्येत्युभयतोह्रस्वस्तम्। उदात्तपूर्वो यस्याक्षरस्येत्युदात्तपूर्वमक्षरम्। अनुदात्तपरो यस्येत्यनुदात्तपरमक्षरम्। यथा—स्रु चि इव(इ व)="स्रु ची व घृतम्" (वा० २०।७९)। अभि इन्धताम् = "अभी न्धताम्मुखे" (वा० ११।६१)। उभयतोह्रस्वमिति किम्? हि ई म् = "वि हीमिद्धः" (वा० १२।६)। उदात्तपूर्वमिति किम्? "इ मेऽइतीमे" (वा० २९।३४)। 'वीध्यायेति वि ईध्याय" (वा० १६।३८)। अधस्तनयोगापवादः।

उ० अ०—इकार है वर्ण जिस अक्षर का (में) वह इवर्ण अक्षर है। यह (= इवर्णम्) बहुव्रीहि (समास) है जिसमें अक्षर (अन्य पद) प्रधान है। इवर्णम् = इकार वर्ण वाला; अक्षर (= ई) स्वरित होता है। किस प्रकार का? उभयतोह्रस्वः = जिस अक्षर के दोनों ओर ह्रस्व इवर्ण हो वह उभयतोह्रस्व है, उसको। उदात्त है पूर्व में जिस अक्षर के वह उदात्तपूर्व अक्षर है। अनुदात्त है बाद में जिस (अक्षर) के वह अनुदात्तपर अक्षर है।...। पूर्ववर्ती सूत्र (४।१३४) का यह (= प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है।

अ०—उभयतो ह्रस्वः यस्य तत्तथा। उदात्त पूर्वो यस्य तत्तथा। अनुदात्त परो यस्य तत्तथा। बहुव्रीहिरयं अक्षरप्रधानः। तथाच उभयतोह्रस्वमुदात्तपूर्वं अनुदात्तपरं सन्धि इवर्णमेकीभावे सति स्वरितं स्यात्। यथा—"अभि इन्धताम् = अभीन्धतामुखे"। "स्रुचि इव = स्रुचीव घृतम्"। "दिवि इव = दिवीव चक्षुः"। उभयतोह्रस्वं किम्? "हि ईम्=सद्यो जज्ञानो वि हीमिद्धः"। उदात्तपूर्वं किम्? "वीध्यायेति वि—ईध्याय"। परकीयम्। काण्वानां ईध्यायेति पाठात्। अधस्तनस्य योगापवादः॥ १३५॥

वीक्षितायेति च।१३६।

सू० अ०—वीक्षिताय में भी (एकीभाव स्वरित होता है)।

उ०—वीक्षितायेत्ययं च एकीभावः स्वरितो भवति। यथा—"वी क्षितायेति वि—ई क्षिताय" (वा० २२।८)। उदात्तपूर्वोऽनुदात्तपर एकीभावो भवति। उभयतो ह्रस्वस्तु न भवति। अतो निपात्यते॥ १३६॥

उ० अ०—वीक्षिताय-यह; च = भी; एकीभाव स्वरित होता है। जैसे- "वी क्षितायेति वि-ई क्षिताय"। इस एकीभाव में (भी) उदात्त पूर्व में है और अनुदात्त बाद में है। किंतु दोनों ओर ह्रस्व (इवर्ण) नहीं है। अतः निपातन किया गया है।

अ०—अत्र सन्धिजः पूर्वोक्तलक्षण ईवर्णः स्वरितः स्यात्। उभयतोह्रस्वाभावोऽयमारम्भः। यथा—"वि ईक्षिताय = वीक्षिताय स्वाहा"॥ १३६॥

उदात्ताच्चानुदात्तं स्वरितम् ॥ १३७ ॥

सू० अ०—उदात्त से भी परवर्ती अनुदात्त स्वरित (हो जाता है)।

उ०—अक्षराणामेकीभावस्य पूर्वो विधिः। इदानीमक्षराणां व्यञ्जनव्यवहितानां यः स्वरसंहितायां भवति स उच्यते। **उदात्ताच्चाक्षरात् परं** व्यञ्जनव्यवहितम**नुदात्त**-मक्षरं **स्वरितं** भवति। यथा—"स्वाहा" (वा० ४।६)। "वाजः" (वा० १८।१)। "पयः" (वा० १८।३६)। "नमः" (वा० १६।१)। "मो सु नः = मो षू णः" (वा० ३।४६)। "हि स्म = हि ष्मा ते" (वा० ३।४६) ॥ १३७ ॥

उ० अ०—अक्षरों के एकीभाव के विषय में पूर्ववर्ती विधान है। अब व्यञ्जन-व्यवहित अक्षरों की स्वर-संहिता में जो (स्वर) होता है उसे कहते हैं। **उदात्ताच्च** = उदात्त अक्षर से भी परवर्ती; व्यञ्जन-व्यवहित **अनुदात्त** अक्षर **स्वरित** होता है।...।

अ०—स्वराणामेकीभावे स्वरविशेषमुक्त्वाधुना व्यञ्जनव्यवहितानां स्वराणां यः स्वरितः संहितायां भवति तमाहानेन सूत्रेण। उदात्तात्परं व्यञ्जनेन व्यवहितम् अनुदात्तमक्षरं स्वरितं स्यात्। यथा—"स्वाहा"। "वाजः"। "पयः"। "नमः"। "मनः"। "मो षू णः"। "हि ष्म"। इत्यादि बहुज्ञेयम् ॥ १३७ ॥

निहितमुदात्तस्वरितपरम् ॥ १३८ ॥

सू० अ०—उदात्त बाद में होने पर और स्वरित बाद में होने पर (वह स्वरित) अनुदात्त (हो जाता है)।

उ०—(**निहितम्** =) निहन्यते; स्वरितम्; (**उदात्तस्वरितपरम्** =) उदात्तपरं स्वरितपरं च। "स्वाहा सोमाय" (वा० १०।५)। "नमः। हिरण्यबाहवे= नमो हिरण्यबाहवे" (वा० १६।१७)। "अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु" (वा० २।२७)। "भासे त्वा ज्योतिषे त्वा" (वा० १३।३९)। "स्वर्णघर्मः" (वा० १८।५०)। "स्वर्ग्याये ति स्वः—ग्याय" (वा० ११।२)। "प्रसवे ऽश्विनोः" (वा० १।१०)। "अयुध्योऽस्माकम्" (वा० १७।३९)। "परमे छ्यभिधीतः" (वा० ८।५४)। "स्रुचीवेति स्रुचि-इव। घृतम्" (वा० २०।७९)। "दिवीवेति दिवि—इव। चक्षुः" (वा० ६।५)। एवमेतत्तैरोव्यञ्जनजात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टाः स्वरिता उदात्तेऽनुदात्ती-भूताः प्रदर्शिताः। अथेदानीं स्वरिते यथासम्भवं प्रदर्श्यन्ते। "भूर्भुवः स्वः द्यौरिव" (वा० ३।५)। "स्वर्णघर्म स्वाहा स्वर्णार्कः" (वा० १८।५०) ॥ १३८ ॥

उ० अ०—(**उदात्तस्वरितपरम्** =) उदात्त बाद में होने पर और स्वरित बाद में होने पर; स्वरित; (**निहन्यते** =) अनुदात्त हो जाता है।...इस प्रकार उदात्त बाद में होने पर अनुदात्त बने हुए इन तैरोव्यञ्जन, जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट

(संज्ञक) स्वरितों को दिखलाया गया है। इसके बाद अब स्वरित बाद में होने पर यथासंभव दिखलाए जाते हैं।"""।

अ०—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ। उदात्तस्वरितौ परौ यस्य तत् उदात्तस्वरितपरमिति विग्रहः। तथाचोदात्तपरं स्वरितपरं च स्वरितं निहन्यते। अनुदात्तं स्यादित्यर्थः। तत्र उदात्तपरं स्वरितं यथा–"स्वाहा सोमाय"। "स्वाहा विष्णवे"। "नमो हिरण्यबाहवे"। "अस्थूरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु"। "भासे त्वा ज्योतिषे त्वा"। "अयुष्योऽस्माकम्"। "स्वर्णं"। "स्वर्ग्यामिति स्वः–ग्याम"। स्वरितपरं स्वरितं यथा– "भुवः स्वः = भूर्भुवस्स्वस्सुप्रजाः"। "स्वाहा वीक्षिताय स्वाहा" ॥ १३८ ॥

अनवग्रहे ॥ १३९ ॥

सू० अ० —(४।१३८ में उक्त अनुदात्तत्व) पृथक्करण (अवग्रह) न होने पर (होता है)।

उ०—यदेतत् "निहितमुदात्तस्वरितपरम्" (४।१३८)। इत्यधस्तादुक्तम् एतदेके आचार्या अनवग्रहे मन्यन्ते। अवग्रहे तु स्वरित एव भवति। यथा–"तनू नपादिति तनू-नपात्" (वा० २१।१३)। "तनू नप्त्र इति तनू–नप्त्रे" (वा०५।५)। एतच्च परमतम्। यत औज्जिहायनकैरिदमुक्तम्—

"अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम्" ॥ (व० प्र० शि० ७१) इति ॥

उ० अ०—"उदात्त बाद में होने पर और स्वरित बाद में होने पर वह स्वरित अनुदात्त हो जाता है" यह जो पहले (४।१३८ में) कहा गया है उसे कतिपय आचार्य; अनवग्रहे=पृथक्करण न होने पर; मानते हैं। पृथक्करण (अवग्रह) होने पर तो स्वरित ही होता है। जैसे–"तनू नपादिति तनू–नपात्"। "तनू नप्त्र इति तनू–नप्त्रे"। और यह दूसरों का मत है। क्योंकि औज्जिहायनक के द्वारा यह कहा गया है–"जब कहीं दो उदात्तों के मध्य में अनुदात्त अवग्रह (=पूर्वपद का अन्तिम अक्षर) होता है वहाँ ताथाभाव्य संज्ञक कम्प होता है। तनूनप्त्रे इसका उदाहरण है"।

अ०—योऽयं निघात उक्तः सः अनवग्रहे भवति। अवग्रहे तु स्वरित एव तिष्ठतीति एके आचार्याः मन्यन्ते। यथा—तनूनप्त्र इति तनू-नप्त्रे। "तनूनपादिति तनूनपात्"। "प्रति यज्ञस्य धाम"। एकशब्दोऽत्रान्यवचनः। तेन काण्वादीनामवग्रहेऽपि अनुदात्त एव भवतीति गम्यते। उक्तं हि शिक्षायाम्—

अवग्रहो यदा नीच उच्चयोर्मध्यतः क्वचित्।
ताथाभाव्यो भवेत्कम्पस्तनूनप्त्रे निदर्शनम् ॥ इति ॥ १३९ ॥

स्वरितस्य चोत्तरो देशः प्रणिहन्यते ॥ १४० ॥

सू० अ०—(कतिपय आचार्यों का कहना है कि उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर) स्वरित का अन्तिम भाग अनुदात्त हो जाता है।

उ०—स्वरितस्य य उत्तरः; (देशः =) भागः सः; (प्रणिहन्यते =) निहन्यते। उदात्ते स्वरिते वा परभूते एकेषामाचार्याणां मतेन। अत्र च जात्याभिनिहितक्षैप्रप्रश्लिष्टा एवोदाहरणम्। तथाभूतं तेषां शाखिनां हि स्मरणम्। यथा—"स्वर्णं घर्मः" (वा० १८।५०)। "प्रसवे ऽश्विनोः" (वा० ११०)। "परमे ष्ठ्यभिधीतः" (वा० ८।५४)। "स्रुचीवेंति स्रुचि-इंव" (वा० २०।७६)। वाजसनेयिनां तु अनुदात्त एव भवति। "निहितमुदात्तस्वरितपरम्" (४।१३८) इत्यनेन सूत्रेणानुदात्त एवेति ज्ञेयम् ॥ १४० ॥

उ० अ०—स्वरितस्य = स्वरित का; उत्तरः = बाद वाला; जो; (देशः =) भाग (होता है) वह; (प्रणिहन्यते =) अनुदात्त हो जाता है। उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर—कतिपय आचार्यों के मत से। और यहाँ पर जात्य, अभिनिहित, क्षैप्र और प्रश्लिष्ट ही उदाहरण हैं। क्योंकि शाखा (विशेष) के इन अनुयायियों की वैसी परम्परा है। "स्वर्णं घर्मः"। "प्रसवे ऽश्विनोः"। "परमे ष्ठ्यभिधीतः"। "स्रुचीवेंति स्रुचि-इंव"। वाजसनेयी शाखा के अनुसार तो अनुदात्त ही होता है। "उदात्त बाद में होने पर और स्वरित बाद में होने पर वह स्वरित अनुदात्त हो जाता है" इस (सूत्र) से अनुदात्त ही (होता है)—यह जानना चाहिए।

अ०—स्वरितस्य यः उत्तरो भागः सः प्रणिहन्यते। उदात्ते स्वरिते वा परे इत्येके आचार्या मन्यन्ते। अत्राप्येकशब्दोऽन्यपरः। यथा "स्वर्णं घर्मः"। "प्रसवेऽश्विनोः"। "परमेष्ठ्यभिधीतः"। तैत्तिरीयाणामयं पक्षः। काण्वानां तु "निहितमुदात्तस्वरितपरम्" इति सूत्रेणानुदात्त एवेति ज्ञेयम् ॥ १४० ॥

स्वरितात् परमनुदात्तमुदात्तमयम् ॥ १४१ ॥

सू० अ०—स्वरित (अक्षर) से परवर्ती अनुदात्त (अक्षर) प्रचय (उदात्तमय) (हो जाता है)।

उ०—स्वरितादक्षरात् परं व्यवहितं यदनुदात्तमक्षरं तदुदात्तमयं भवति। उदात्तमयं प्रचितमेकश्रुतीति पर्यायाः। "वायवं स्थ" (वा० ११)। व्यञ्जनव्यवहितं प्रायो निदर्शनं दृश्यते। यथा—"अग्ने अङ्गिरः" (वा० १२।८) ॥ १४१ ॥

उ० अ०—स्वरितात् = स्वरित अक्षर से; परम् = परवर्ती; व्यवहित जो अनुदात्त अक्षर (होता है) वह उदात्तमय होता है। उदात्तमय, प्रचित और एक-

श्रुति--ये पर्यायवाची हैं। 'वायव स्थ'। प्रायः व्यञ्जन से व्यवहित उदाहरण दिखलाई पड़ता है। जैसे-"अग्ने अङ्गिरः"।

अ०—स्वरितात्परं व्यञ्जनेन व्यवहितमनुदात्तं उदात्तमयं नाम प्रचितं स्यात्। उदात्तमयं नाम प्रचितमिति पूर्वमेवोक्तम्। "वायवः स्थ=वायव स्थ" "अनागामित्रे"॥

अनेकमपि ॥ १४२ ॥

सू० अ०-(स्वरित से परवर्ती) अनेक भी (अनुदात्त अक्षर प्रचय हो जाते हैं)।

उ०—स्वरितादक्षरात् परं व्यञ्जनव्यवहितं यदनुदात्तमक्षरमेकमनेकं वा तत्सर्वमनुदात्तमयं भवति। प्रचितं भवतीत्यर्थः। यथा-"वाजे वाजेऽवत वाजिनः" (वा० ९।१८)। "त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणाम्" (वा० २१।६१)।

उ० अ०—स्वरित अक्षर से बाद में व्यञ्जन से व्यवहित जो एक अथवा; अनेकम् = एक से अधिक (अपि = भी); अनुदात्त अक्षर (होते हैं) वे सब अनुदात्तमय (उदात्तमय) होतें हैं। प्रचित होते हैं--यह अर्थ है।"।

अ०—स्वरितात् परं व्यञ्जनव्यवहितम् अनुदात्तं स्यात्। प्रचितं यथा-"वाजे वाजेऽवत वाजिनो नः"। "अग्ने वाजजित्"। "त्वामद्य ऋष आर्षेय ऋषीणां नपादवृणीत"॥

नोदात्तस्वरितोदयम् ॥ १४३ ॥

सू० अ०--उदात्त और स्वरित बाद में होने पर (अनुदात्त अक्षर प्रचय नहीं (होता है)।

उ०—स्वरितादक्षरात् परस्यानुदात्तस्योदात्तमयत्वं विधायाधुना तदपवदति। उदात्तस्वरितोदयम्=उदात्तोदयं स्वरितोदयं च; नोदात्तमयं भवति किन्त्वनुदात्तमेव भवति। उदात्तोदयं भवति यथा-"सरस्वति तमिह धातवेऽकः" (वा० ३८।५)। "वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु" (वा० ९।१८)। स्वरितपरं यथा-"रथौ जाश्चसेनानीग्रामण्यौ" (वा० १५।१५)। "उपयाम गृहीतोऽसि सहस्याय त्वा" (वा० ७।३०)।

उ० अ०--स्वरित अक्षर से परवर्ती अनुदात्त के प्रचय (उदात्तमय) होने का विधान करके अब उसका अपवाद करते हैं। (**उदात्तस्वरितोदयम्** =) उदात्त है बाद में जिसके और स्वरित है बाद में जिसके वह (अनुदात्त अक्षर) प्रचय (उदात्तमय); न= नहीं; होता है किन्तु अनुदात्त ही रहता है।...।

अ०—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ तौ उदयौ उत्तरौ यस्य तत् उदात्तस्वरितोदयमिति विग्रहः। अयमर्थः—स्वरितात्परस्यानुदात्तस्य पूर्वं प्रचितत्वमुक्तम्। अधुना क्वचित् अपवाद इति। उदात्तपरं स्वरितपरं चानुदात्तं प्रचितं न स्यात्। किन्तु अनुदात्त एव स्यात्। उदात्तपरं यथा-"सरस्वती तमारभत्"। "सरस्वति तमिह धातवेऽकः"।

"वाजिनो नो धनेषु"। स्वरितपरं यथा—"रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ"। 'उपयाम गृहीतोऽसि सहस्याय त्वा"। "अनेकमपि" इति प्राप्तापवादोऽयम् ॥ १४३ ॥

द्विवर्णमेकवर्णवद्धारणात् स्वरमध्ये समानपदे ॥ १४४ ॥

सू० अ०—एक पद में दो स्वरों के मध्य में विद्यमान दो वर्णों को, श्वास का अवरोध करके, एक वर्ण के समान (उच्चारित करना चाहिए)।

उ०—"स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इत्यादिना प्रकरणेन यस्य द्विर्भाव उक्तः तस्यैतदुच्यते। (**द्विवर्णम्** =) वर्णौ = द्विवर्णसंयोगः; **एकवर्णवत्** कर्त्तव्यः। (**धारणात्** =) मुखसंधारणाविशेषात्; (**स्वरमध्ये** =) स्वरयोर्मध्ये वर्तमानम्; (**समानपदे** =) एकस्मिन् पदे; भवति। एतच्चाभिधानमुच्यते। इत उत्तरं द्वयोर्वर्णयोरेकीभावः प्रायशो निरूप्यते। यथा—"व्यात्तम्" (वा० ३१।२२)। "कुक्कुटः" (वा० १।१६)। द्विवर्णस्वरमध्य इति किम्? "आज्ज्यम्" (वा० २।८)। "भुज्ज्युः" (वा० १८।४२)। अत्र जकारस्य त्रिर्भवति न तु स्वरयोर्मध्ये यकारेण व्यवधानात्। समानपदग्रहणेन च संहिता लक्ष्यते। पदविच्छेदे न भवति। यथा—"इमम् मे = इमम्मे वरुण" (वा० २१।१) ॥ १४४ ॥

उ० अ०—"स्वर से परवर्ती संयोग का प्रथम (व्यञ्जन)" इत्यादि प्रकरण के द्वारा जिसका द्वित्व कहा गया है उसके विषय में यह (विशेष नियम) कहा जाता है। (**द्विवर्णम्** =) दो वर्णों को = दो वर्णों के संयोग को; **एकवर्णवत्** = एक वर्ण के समान; (उच्चारित) करना चाहिये। (**समानपदे** =) एक पद में; (**स्वरमध्ये**=) दो स्वरों के मध्य में विद्यमान (वर्णद्वय का उच्चारण); **धारणात्** =मुखसंधारण विशेष से=मुख में श्वास का अवरोध करके (एक वर्ण के समान होता है)। और यह अभिधान (अभिनिधान) कहलाता है। इसके आगे प्रायः दो वर्णों के एक हो जाने (एकीभाव) का निरूपण किया जाता है। जैसे—"व्यात्तम्"। "कुक्कुटः" स्वरों के मध्य में वर्तमान दो वर्ण यह क्यों कहा? "आज्ज्यम्"। "भुज्ज्युः"। यहाँ दो जकार हैं किन्तु यकार से व्यवहित होने के कारण (ये दो जकार) स्वरों के मध्य में नहीं हैं (अतः इन दो जकारों का उच्चारण एक जकार के समान नहीं होता है)। (सूत्र में) समान पद का ग्रहण होने से संहिता का बोध होता है। (अतः) पदों का विच्छेद होने पर (प्रस्तुत नियम लागू) नहीं होता है। जैसे—"इमम् मे=इमम्मे वरुण"।

अ०—"स्वरात्संयोगादिः" इति प्रकरणेन यस्य द्विर्भाव उक्तः तस्यैतदुच्यते। समानपदे स्वरमध्ये यद् द्विवर्णं तत्समानधारणादेकवर्णवत् स्यात्। वर्णद्वयमप्येकप्रयत्ननिर्वर्त्यं स्यादिति भावः। यथा—"व्यात्तम्"। "वित्तम्"। 'चित्तम्"। "कुक्कुटः"। स्वरमध्य इति किम्? "आज्ज्यम्"। "भुज्ज्युः"। अत्र जकारस्य यकारेण व्यवधानात्

स्वरमध्यत्वाभावः । समानपदे किम् ? पदद्वयविच्छेदे सति मा भूदिति "इमं मे" । "एतत् ते" । अत्र एकप्रयत्ननिर्वर्त्यत्वं नास्तीति भावः ॥ १४४ ॥

ऐकारौकारौ च ॥ १४५ ॥

सू० अ०—ऐकार और औकार भी (एक वर्ण की भाँति उच्चारित होते हैं।

उ०--(ऐकारौकारौ =) ऐकारश्च औकारश्च; द्विवर्णौ सन्तौ एकवर्णवद्धारणादेकवर्णौ भवतः । एकप्रयत्ननिर्वर्त्यौ भवतः । यथा—"कस्मै तस्मै" (वा० २।६) । "आनन्दनन्दौ आण्डौ" (वा० २०।९) ॥ १४५ ॥

उ० अ० —(ऐकारौकारौ च =) ऐकार और औकार; दो वर्ण होने पर भी मुख में श्वास के अवरोध से ये एक वर्ण के समान = एक वर्ण होते हैं। एक प्रयत्न से उच्चारित होने वाले होते हैं (यह अर्थ है) ।...।

अ०—ऐकारौकारौ द्विवर्णौ सन्तौ एकवर्णवत् स्तः । यथा—"यस्मै कस्मै तस्मै" । अत्रैकारस्य अकारएकारात्मकत्वात् द्विवर्णत्वमिति भावः । "आनन्दनन्दौ आण्डौ" । "अनन्वौ" । अत्र औकारस्यापि अकारओकारात्मकत्वात् द्विवर्णत्वमितिज्ञेयम् ॥ १४५ ॥

डढौ ळळ्हावेकेषाम् । १४६ ॥

सू० अ०—कतिपय (आचार्यों) के मत से डकार और ढकार (क्रमशः) ळकार और ळ्हकार (हो जाते हैं) ।

उ०—(डढौ =) डकारढकारौ; एकेषामाचार्याणां मतेन यथासंख्यम्; (ळळ्हौ =) ळकारळ्हकारौ; आपद्येते । स्वरमध्ये समानपद इत्यनुवर्तते । यथा—"इळे" (वा० ८।४३) । "अषाळ्हा" (वा० १३।२६) । स्वरमध्ये समानपद इति किम् ? यथा—"वनस्पते वीड्वङ्गः" (वा० २९।५२)। "मीढ्वस्तोकाय" (वा० १६।५०)। एतच्च परमतम् । तथाहि वक्ष्यति—"तस्मिन् ळळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्" (८।३९) इति ॥ १४६ ॥

उ० अ०—एकेषाम = कतिपय आचार्यों के मत से; (डढौ =) डकार और ढकार; क्रमशः; (ळळ्हौ =) ळकार और ळ्हकार; हो जाते हैं। 'दो स्वरों के मध्य में' और 'एक पद में'—इसकी (४।१४२ से) अनुवृत्ति हो रही है। जैसे—"इळे", "अषाळ्हा" । 'दो स्वरों के मध्य में' और 'एक पद में'—यह क्यों (कहा) ? जैसे—"वनस्पते वीड्वङ्गः" । "मीढ्वस्तोकाय" । और यह दूसरों का मत है। यही कारण है कि (सूत्रकार) आगे कहेंगे—"उस वर्णराशि में से ळ, ळ्ह, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और नासिक्य माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं" ।

अ०—वेदे डकारढकारौ ळकारळ्हकारौ आपद्येते एकेषामाचार्याणां मतेन । तथा सम्प्रदायपाठात् । स्वरमध्ये समानपदे इत्यनुवर्त्तते । यथा—"इळे रन्ते" ।

"इळामग्ने"। "इळ एहि"। "अषाळ्हासि"। "मीळ्हुष्टम शिवतम"। इत्यादि। स्वरमध्ये किम्? "वनस्पते वीड्वङ्गः"। "मीढ्वस्तोकाय"। समानपदे किम्? "अवाट् हव्यानि"। एकेषां किम्? माध्यन्दिनादीनां माभूदिति। यथा-"इडे"। "इडामग्ने"। "अषाढासि सहमाना"। इत्यादि। एतच्च सूत्रकारप्रकारस्थानादेव ज्ञायते। "तस्मिन् ळळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम्" इति यतः सूत्रकृत् स्वयमेव वक्ष्यति ॥ १४६ ॥

द्विसकारं शास्स्व रास्स्वेति ॥ १४७ ॥

सू० अ०—शास्स्व और रास्स्व में (से प्रत्येक में) दो सकार हैं।

उ०—द्वौ सकारौ अस्मिन् पदद्वय इति **द्विसकारं** पदद्वयम्। कतमत्तदित्यत आह-**शास्स्व रास्स्व**। यथा-"आ च शास्स्वा च" (वा० २१।६१)। "रास्स्वेयत्सोम" (वा० ४ २६)। शासे रासेश्चैकः प्रकृतिसकारः प्रथमः। स्वेति प्रत्ययस्य द्वितीयः। तृतीयः क्रमजः प्राप्नोति। सोऽन्यत्र निषिध्यतेऽनेन सूत्रारम्भसामर्थ्येनेति ॥ १४७ ॥

उ० अ०—दो सकार हैं जिस (इस) पदद्वय (= दो पदों) में वह पदद्वय (दो पद); **द्विसकारम्** = दो सकारों वाला है। वे दो पद कौन हैं (यह प्रश्न उठता है), अतः (सूत्रकार ने) कहा है—**शास्स्व, रास्स्व**। जैसे—"आ च शास्स्वा च"। "रास्स्वेयत्सोम"। 'शास्' और 'रास्' में (जो) एक मूल (प्रकृति) सकार है वह प्रथम है। 'स्व'—इस प्रत्यय का (सकार) द्वितीय है। क्रम से उत्पन्न जो (सकार) प्राप्त होता है वह तृतीय है। इस सूत्र की सामर्थ्य से उस (तृतीय सकार) का इन दोनों पदों में निषेध हो जाता है।

अ०—शास्स्व रास्स्वेति पदद्वये सकारद्वयमेव प्रत्येतव्यः। शास्स्व रास्स्व इति स्थिते स्वरात्संयोगादिरिति सस्य द्वित्व प्राप्तम्। तन्निषेधार्थोऽयमारम्भः। यथा—"आ च शास्स्व"। "रास्स्वयत् सोमाभूयो भर" ॥ १४७ ॥

ऋलृवर्णौ रेफलकारौ संश्लिष्टावश्रुतिधरावेकवर्णौ ॥ १४८ ॥

सू० अ०—ऋकार और लृकार में क्रमशः रेफ और लकार मिले हुए हैं। (स्वर तत्त्व से) पृथक् रूप से सुनाई न पड़ने वाले ये (स्वर तत्त्व के साथ मिलकर) एक वर्ण (ही) होते हैं।

उ०—(**ऋलृवर्णौ**=) ऋकारे लृकारे च; यथासंख्यं **रेफलकारौ** कण्ठ्याणुमात्रयोर्मध्येऽर्धमात्रिकौ; **संश्लिष्टौ**=एकीभूतौ; (**अश्रुतिधरौ** =) अविद्यमानपृथक्श्रुतिधरौ; **एकवर्णौ**=एकश्रुतिभूतौ; भवतः। तथाहि वैयाकरणाः—"उरण् रपरः" (पा० १।१।५१) इति रेफमधिकं विदधति। यथा-"कृत्तिवासाः"। "ऋद्धिः क्लृप्तिः" (वा०१८।११)॥

उ० अ० –(ऋलृ र्णे=) ऋकार में और लृकार में; क्रमशः; रेफलकारौ= रेफ और लकार; कण्ठ्य चौथाई मात्राओं के मध्य में आधी मात्रा वाले (रेफ और लकार) संश्लिष्टौ = मिले हुए = एक बने हुए; (अश्रुतिधरौ =) पृथक् श्रुति न धारण करने वाले = पृथक् रूप से सुनाई न पड़ने वाले; (एकवर्णौ =) एक ध्वनि (श्रुति) बने हुए होते हैं। इसी कारण से वैयाकरण "ऋ के स्थान में जो अण् आदेश वह रपर हो प्रवृत्त हो" इस (सूत्र) में परवर्ती अधिक रेफ का विधान करते हैं। जैसे–"कृत्तिवासाः"। "ऋद्धिः"। "क्लृप्तिः"।

अ०—ऋलृवर्णौ यथासङ्ख्यं रेफलकारौ ज्ञातव्यौ। कीदृशौ तौ। कण्ठ्याणुमात्रयोर्मध्ये वर्त्तमानौ अर्धमात्रिकौ संश्लिष्टौ अविद्यमानपृथक्श्रुतिधरौ। एवम्भूतावित्यर्थः। तथाहि वैयाकरणा अपि "उरण् रपरः" इति सूत्रे ऋकारे रेफमधिकं विदधति। लृकारे लकारं च। यथा–"कृत्तिवासाः"। "ऋतं च मे"। "क्लृप्तं च मे क्लृप्तिश्च मे"। एवं ज्ञानपूर्वं वेदपाठोऽभ्युदयहेतुरिति भावः। "रलावृलृवर्णाभ्यामूष्मणि स्वरोदये सर्वत्र" इति सूत्रं तु ऊष्मसु परेषु ऋलृवर्णविधायकमिति न पुनरुक्तिः ॥ १४८ ॥

मात्रार्धमात्राणुमात्रा वर्णापत्तीनाम् ॥ १४९ ॥

सू० अ०—वर्णों के स्थान पर आने वाले वर्णों का काल एकमात्रा, आधी मात्रा और चौथाई मात्रा होता है।

उ०—"ऋलृवर्णे रेफलकारौ" (४।१४८) इत्यनेन सूत्रेण ऋलृवर्णयोः रेफलकारौ विद्येते—इत्येतत् प्रतिपादितम्। इदमिदानीं चिन्त्यते कियती मात्रा कण्ठ्यस्य कियती मात्रा रेफलकारयोः। तत्प्रसङ्गेनान्यापि वर्णापत्तिश्चिन्त्यते। वर्णापत्तीनां त्रयः कालाः भवन्ति मात्रार्धमात्राणुमात्रोपलक्षिताः। एतच्च "विकारी यथासन्नम्" (१।१४२) इत्यनेन व्यवस्थाप्यते ॥ १४९ ॥

उ० अ०—"ऋकार और लृकार में रेफ और लकार..." इस सूत्र के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि ऋ और लृ वर्णों में रेफ और लकार विद्यमान हैं। अब यह विचार किया जाता है कि (ऋ और लृ में) कण्ठ्य (स्वर) की कितनी मात्रा तथा रेफ और लकार की कितनी मात्रा है। उनके प्रसङ्ग में अन्य वर्णापत्ति (एक वर्ण के स्थान पर आने वाला अन्य वर्ण) पर भी विचार किया जाता है। वर्णापत्तीनाम् = वर्णों के स्थान पर आने वाले अन्य वर्णों के; तीन काल होते हैं जिनका निर्देश मात्रा, अर्धमात्रा और अणुमात्रा (=चौथाई मात्रा) के द्वारा किया जाता है। और इसकी व्यवस्था इस (सूत्र) से होती है—"विकार को प्राप्त करने वाला वर्ण समीपता के अनुसार विकार को प्राप्त होता है"।

अ०—पूर्वसूत्रे ऋऌवर्णयोः रेफलकारौ विद्येते इत्युक्तम् । तत्र कण्ठ्यस्य कियती मात्रा रेफलकारयोश्च कियती मात्रेत्यपेक्षायाम् इदमुच्यते । तत्प्रसङ्गेन अन्या वर्णव्युत्पत्तिरुच्यते । तथाहि—वर्णापत्तीनां त्रयः काला भवन्ति मात्रार्धमात्राणुमात्रोपलक्षिताः । एतच्च "त्रिकारी यथासन्नम्" इति परिभाषया व्यवस्थाप्यते । अत्र च कण्ठ्यस्यार्धमात्रा। पकाररेफऌकारावपि अर्धमात्रौ । ताभ्यां पकारलकारौ अणुमात्राविति विवेकः ॥ १४६ ॥

अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्रा पूर्वा चार्धमात्रेति ॥ १५० ॥

सू० अ०—ह्रस्व (स्वर) पूर्व में होने पर अनुस्वार डेढ़ मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती (ह्रस्व स्वर) आधी मात्रा काल वाला (होता है) ।

उ०—"नानुस्वारः" (४।१११) इत्यनेन सूत्रेण संयोगपरस्यानुस्वारस्यार्धमात्राकाल इत्यवधारितत्वादयमसंयोगपरार्थ आरम्भः । **अनुस्वारो ह्रस्वपूर्वोऽध्यर्धमात्राकालो** भवति । (**पूर्वा च** =) पूर्वश्च ह्रस्वः; **अर्धमात्रा**कालो भवति । यथा—"माघशंसो ध्रुवाः" (वा० १।१) । "मंहिष्ठो मत्सद्दन्धसः" (वा० २७।४०) ॥१५०॥

उ० अ०—"अनुस्वार का द्वित्व नहीं होता है" इस सूत्र के द्वारा संयुक्त व्यञ्जन (संयोग) बाद में होने पर अनुस्वार का काल आधी मात्रा (होता है)-यह निश्चय हो जाने से (यह उवट का अयुक्त कथन है) यह सूत्र उस (अनुस्वार) के लिए आरम्भ किया गया है जिसके बाद में संयुक्त व्यञ्जन (संयोग) नहीं है । **ह्रस्वपूर्वः**= ह्रस्व स्वर है पूर्व में जिसके; वह अनुस्वार; (**अध्यर्धमात्रा** =) डेढ़ मात्रा काल वाला; होता है; (**पूर्वा च** =) और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर; (**अर्धमात्रा** =) आधी मात्रा काल वाला; होता है ।...।

अ०—"नानुस्वारः" इति सूत्रेण संयोगपरस्य अनुस्वारस्यार्धमात्रेत्युक्तत्वात् असंयोगपरविषयोऽयमारम्भः । तथा च ह्रस्वपूर्वोऽसंयोगपरोऽनुस्वारोऽध्यर्धमात्राकालः स्यात् पूर्वो ह्रस्वोप्यर्धमात्राकालः स्यात् । यथा "माघशंसः" । "मंहिष्ठः" । "भागं सोमेन" । अत्रैवं ज्ञात्वा वर्णोच्चारः तत्कालेन कार्य इति भावः ॥ १५० ॥

दीर्घादर्धमात्रा पूर्वा चाध्यर्धा ॥ १५१ ॥

सू० अ०—दीर्घ (स्वर) से परवर्ती (अनुस्वार) आधी मात्रा काल वाला और पूर्ववर्ती (दीर्घ स्वर) डेढ़ (मात्रा काल वाला होता है) ।

उ०—**दीर्घात्** स्वरात् परोऽनुस्वारो**ऽर्धमात्रा**कालो भवति । यथा—"मांसम्" (वा० २०।१३) । "त्वां हि" (वा० ३३।१३) ॥ १५१ ॥

उ० अ०—**दीर्घात्** = दीर्घ स्वर से परवर्ती अनुस्वार; (**अर्धमात्रा** =) आधी मात्रा काल वाला; होता है । जैसे—"मांसम्" । "त्वां हि" ।

अ०—दीर्घात्परोऽनुस्वारोऽर्धमात्राकालः स्यात् । पूर्वश्च द्विमात्रोऽपि अध्यर्धमात्राकालः स्यात् । यथा "त्वां हि" । "तां सवितुः" । "मांसं मे उपनतिः" ॥१५१॥

द्वियकारम् ॥ १५२ ॥

सू० अ०—(आगे कहे जाने वाले पद) दो यकार वाले हैं ।

उ०—द्वौ यकारौ समाहृतौ द्वियकारम् । इत उत्तरं द्वियकारमधिकृतं वेदितव्यम् ।

उ० अ०—दो यकार मिले हुए हैं=द्वियकारम् । इसके आगे; (द्वियकारम् =) दो यकारों को; अधिकृत जानना चाहिए । (यह अधिकार सूत्र है) ।

अ०—द्वौ यकारौ समाहृताविति द्वियकारम् । इत उत्तरं यदुच्यते तत् यकारद्वयं स्यादिति वेदितव्यम् । अधिकारसूत्रमेतत् । तदेव स्पष्टयति ॥ १५२ ॥

आप्याय्यमानो यमो रय्यै धाय्यारूपं श्रवाय्यं नृपाय्यं पौरुषेय्या हृदय्याय सहरय्या निचाय्य सान्नाय्य सन्ताय्येति च ॥ १५३ ॥

सू० अ०—आप्याय्यमानो यमः, रय्यै, धाय्यारूपम्, श्रवाय्यम्, नृपाय्यम्, पौरुषेय्याः, हृदय्याय, सहरय्या, निचाय्य, सान्नाय्य तथा सन्ताय्य (ये पद दो यकार वाले हैं) ।

उ०—एते द्वियकाराः संयोगा भवन्ति । क्रमजस्तृतीयः प्राप्नोति स निषिध्यते । यथा—"आप्याय्यमानो यमः" (वा० ८।५७) । "रय्यै त्वा पोषाय त्वा" (वा० १४।२२) । "यजेति धाय्यारूपम्" (वा० १९।२४) । "तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यम्" (वा० १९।६४) । "वर्त्रीरुद्रा नृपाय्यम्" (वा० २०।८१) । "पौरुषेय्या गृभः" (वा० २१।४३) । "नमो हृदय्याय च" (वा० १६।४४) । "सहरय्या निवर्त्तस्व" (वा० १२।१०) । "अग्ने ज्योतिर्निचाय्य" (वा० ११।१) । "सान्नाय्यभाजना वा अमावास्या" । "मैत्रः शरसि सन्ताय्यमाने" (वा० ३९।५) ॥ १५३ ॥

उ० अ०—ये दो यकार वाले संयोग होते हैं । द्वित्व (क्रम) से उत्पन्न तृतीय (यकार) प्राप्त होता है, उसका (प्रस्तुत सूत्र से) निषेध किया जाता है ।...।

अ०—एते दश शब्दाः द्वियकारसंयोगाः स्युः । नियमसूत्रमेतत् । 'संयोगादिः' इति क्रमजस्तृतीययकारः । सः अनेन निषिध्यते इति भावः । क्रमेणोदाहरणानि । "विष्णुराप्रीतपा आप्याय्यमानो यमः" । आप्याय्यमानो यम इति विशिष्टं किम् ? "आप्यायमानो अमृताय सोम" । "रय्यै त्वा पोषाय त्वा" । "यजेति धाय्यारूपम्" । "तन्नो गीर्भिः श्रवाय्यम्" । "वर्त्रीरुद्रा नृपाय्यम्" । "पौरुषेय्या गृभः" । "नमो हृदय्याय च" । परेषामिदम् । नमो हृद्यायेति काण्वपाठः स्यात् । "सहरय्या निवर्तव" । "अग्ने ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्याः" । "सान्नाय्यभाजना अमावास्या" । "मैत्रश्शरसि सन्ताय्यमाने"॥

एकः ॥ १५४ ॥

सू० अ०—(आगे कहे जाने वाले पद) एक (यकार वाले हैं)।

उ०—अत उत्तरम् (एकः =) एकयकाराः संयोगाः; भवन्तीत्यधिकृतं वेदितव्यम् । अधिकारसूत्रमेतत् ॥ १५४ ॥

उ० अ०—इसके आगे; (एकः =) एक यकार वाले संयोग; होते हैं–यह अधिकृत जानना चाहिए। यह अधिकार सूत्र है।

अ०—इत उत्तरं यदुच्यते तत्र एकयकारसंयोगः स्यात् । अधिकारोऽयम् ॥ १५४ ॥

ज्योतिश्च्यवनः श्येनः श्यामं श्यामाकाः श्येतो ज्येष्ठो ज्योग् ज्याच्छ्यति ॥ १५५ ॥

सू० अ०—ज्योतिः, च्यवनः, श्येनः, श्यामम्, श्यामाकाः, श्येतः, ज्येष्ठः, ज्योक्, ज्या तथा छ्यति (ये पद एक यकार वाले हैं)।

उ०—एते संयोगा एकयकारा भवन्ति । अस्वरपूर्वार्थ आरम्भः । स्वरपूर्वास्तु "स्वरपूर्वश्च शचजाः" (४।१५८) इत्यनेनैव सेत्स्यन्ति । "कस्त्वा छ्यति" इत्येतदधिकमुदाहरणं विहितम् । प्रचुराण्येवोदाहरणानि । "बृहज्ज्योतिः करिष्यतः" (वा० ११।३)। "दुश्च्यवनः पृतनाषाट्" (वा० १७।३९)। "इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा" (वा० १८।५३)। "श्यामं च मे लोहं च मे" (वा० १८।१३)। "श्यामाकाश्च मे" (वा० १८।१२)। "श्येतो मल्हविः सारस्वतः"। "यो ह वै ज्यैष्ठ्यं च श्रैष्ठ्यं च"। "ज्योक्ते सन्दृशि जीव्यासम्" (वा० ३६।१९)। "ज्या इयं समने" (वा० २९।४०)। "कस्त्वा छ्यति" (वा० २३।३९)। इति विहितान्युदाहरणानि ॥ १५५ ॥

उ० अ०—ये संयोग एक यकार वाले होते हैं। स्वर पूर्व में न होने के कारण (यह सूत्र) आरम्भ (किया गया है)। स्वर पूर्व में हैं जिनके ऐसे (पद) तो "एक पद में स्वर है पूर्व में जिनके ऐसे शकार, चकार और जकार द्विरुच्चारित हों तो उनके बाद में भी एक यकार होता है"–इस (सूत्र) से ही सिद्ध हो जायेंगे। "कस्त्वा छ्यति" यह एक अधिक उदाहरण विहित है (क्योंकि यहाँ यकार शकार, चकार अथवा जकार के बाद में नहीं है) उदाहरण बहुत हैं।""।

अ०—एते दश संयोगशब्दाः एकयकाराः स्युः । अस्वरपूर्वार्थोऽयमारम्भः । स्वरपूर्वास्तु स्वरपूर्व इति सूत्रेण सेत्स्यन्ति । बृहदारण्यक एवोदाहरणानि संहितानि द्रष्टव्यानि । यथा—"कल्पन्तां ज्योतिर्यज्ञेन"। "दुश्च्यवनः पृतनाषाट्"। "इन्दुर्दक्षः श्येनः"। "श्यामं च मे"। "श्यामाकाश्च मे"। "श्येतः श्येताक्षः"। "यो ह वै ज्यैष्ठ्यं

च" । "ज्योक्ते सन्दृशि" । "धान्वन् ज्या इयम्" । "कस्त्वाच्छ्यति" । इदमुदाहरण-मेकमेव अन्यानुपलम्भात् ॥ १५५ ॥

जुषस्व यविष्ठ्य शोचा यविष्ठ्येति च ॥ १५६ ॥

सू० अ०—'जुषस्व यविष्ठच' और 'शोचा यविष्ठच' इनमें भी (एक यकार है) ।

उ०—एतौ द्वौ यविष्ठ्यशब्दसंयोगावेकयकारौ भवतः । "तज्जुषस्व यविष्ठ्य" (वा० ११।७३) । "बृहच्छोचा यविष्ठ्य" (वा० ३।३) एताविति किम् ? "सूर्म्या यविष्ठ" (वा० १७।७६) ॥ १५६ ॥

उ० अ०—यविष्ठ्य शब्द के ये दो संयोग (भी) एक यकार वाले होते हैं ।...।

अ०—अनयोस्संयोगौ एकयकारौ स्तः । "यैस्तु परम्" इति प्राप्तस्यापवादः । यथा "तज्जुषस्व यविष्ठ्य" । "बृहच्छोचा यविष्ठ्य" । उभौ किम् ? "अजस्रया सूर्म्या यविष्ठ" । "देवभक्तं यविष्ठ" ॥ १५६ ॥

स्येति ण्यत्वं च ॥ १५७ ॥

सू० अ०—स्य और ण्य भी (एक यकार वाले हैं) ।

उ०—स्य इत्ययं पदावयवो ण्यत्वं च पदावयवभूतं गृह्यते । एतौ च संयोगा-वेकयकारौ भवतः । "कस्य" (वा० २३।४७) । "यस्य" (वा० ७।२९) । "हिरण्यम्" (वा० ३४।५२) । "ओण्योः कविक्रतुम्" (वा० ४।२५) ॥ १५७ ॥

उ० अ०—स्य-यह पद का अंश (होने पर); ण्यत्वं च = और ण्य; पद का अंश होने पर-ग्रहण किया जाता है । ये संयोग भी एक यकार वाले होते हैं ।...।

अ०—स्य इत्ययं पदावयवः ण्यत्वं च पदावयवभूतम् एतौ संयोगौ एकयकारौ स्तः । यथा—"कस्य" । "यस्य" । "हिरण्यं च मे" । "दाक्षायणा हिरण्यम्" । "ओण्योः कविक्रतुम्" ॥

स्वरपूर्वाश्च शचजाः समानपदे द्विरुक्ताः ॥ १५८ ॥

सू० अ०—एक पद में स्वर है पूर्व में जिनके ऐसे शकार, चकार और जकार द्विरुच्चारित्त हों तो (उनके बाद में) भी (एक यकार होता है) ।

उ०—स्वरपूर्वाः; (शचजाः =) शकारचकारजकाराः; (समानपदे =) एकस्मिन् पदे; वर्तमाना द्विरुक्ताः सन्त एकयकारा भवन्ति । यथा—"अश्श्याम तङ्कामम्" (वा० १८।७४) । "पश्श्येम शरदः शतम्" (वा० ३६।२४) । "प्राच्च्यै दिशे" (वा० २२।२४) । "आच्च्या जानु" (वा० १९।६२) । "भुज्ज्युः सुपर्णः" (वा० १८।४२) । स्वरपूर्वाः समानपद इति किम् ? "तच्चक्षुः" (वा० ३६।२४) । "तज्जुषस्व" (वा० ११।७३) ॥ १५८ ॥

उ० अ०—स्वरपूर्वाः = स्वर है पूर्व में जिनके ऐसे; (शचजाः=) शकार, चकार और जकार; (समानपदे =) एक पद में वर्तमान होने पर; द्विरुक्ताः = द्विरुच्चारित होने पर; एक यकार वाले होते हैं ।...।

अ०–स्वरपूर्वाश्शकारचकारजकाराः द्विरुक्तास्सन्तः एकयकाराःस्युः समानपदे । "अश्याम तम्" । "पश्येम शरदः" । "प्राच्यै दिशे स्वाहा" । "आच्या जानु" । "आज्यम्" । "भुज्युः" । समानपदे किम् ? "तत् चक्षुः=तच्चक्षुः" । "उषस्तच्चित्रम्" । "तज्जुषस्व" ॥

व्यञ्जनपराश्च न ॥ १५९ ॥

सू० अ०—व्यञ्जन बाद में होने पर (अथवा व्यञ्जन पूर्व में होने पर) (शकार, चकार और जकार के बाद में यकार) नहीं (होता है) ।

उ०—व्यञ्जनपराश्च शचजाः चशब्दाद्व्यञ्जनपूर्वा वा द्विरुक्ताः सन्तो यकारा न भवन्ति । "अदृश्श्रमस्य केतवः" (वा० ८।४०) । "प्रशस्तदर्शतम् (वा० ११।३७) । "अर्च्चींषि" । "कूर्च्चः" । "वज्ज्रः" (वा० १०।२१) "वर्ज्जयन्ति" ॥

उ० अ०—व्यञ्जनपराः = व्यञ्जन है बाद में जिनके ऐसे; शकार, चकार और जकार; (सूत्रोक्त) च शब्द से (सूचित होता है कि) अथवा व्यञ्जन है पूर्व में जिनके ऐसे (शकार, चकार और जकार) द्विरुच्चारित होने पर यकार से युक्त; न = नहीं; होते हैं ।...।

अ०—व्यञ्जनपरा अपि शचजा द्विरुक्ताः व्यञ्जनपरा न स्युः । "अदृश्श्रमस्य" "अदृश्श्रन्" । "अर्च्चींषि" । "वज्ज्रम्" ॥ १५९ ॥

कश्यपस्यानार्षेये जातूकर्ण्यस्य ॥ १६० ॥

सू० अ०—जातूकर्ण्य के (मत से) ऋषि का वाचक न हो तो कश्यप (में यकार नहीं होता है) ।

उ०—(कश्यपस्य =) कश्यपशब्दस्य; (अनार्षेये=) आर्षेयवर्जम्; जातूकर्ण्यस्याचार्यस्य मतेन यकारो न भवति । एतदुक्तं भवति—कश्यपे वाच्ये द्विरुक्तौ सत्यां यकारो न भवति । यथा—"अपामुद्ध्रो मासाङ्कच्छपः" (वा० २४।३७) । अनार्षेय इति किम् ? "त्र्यायुषञ्जमदग्नेः कश्श्यपस्य" (वा० ३।६२) । अत्र ऋष्यभिधानं कश्यपशब्दो जमदग्न्यादिभिः सहोच्चारणात् । जातूकर्ण्यस्येति किम् ? "कश्श्यपो रोहित्" (वा० २४।३७) । "स्वरपूर्वाश्च शचजाः" (४।१५८) इत्यस्यापवादः ॥१६०॥

उ० अ०—जातूकर्ण्यस्य = जातूकर्ण्य आचार्य के मत से; (कश्यपस्य =) कश्यप शब्द में; यकार नहीं होता है; (अनार्षेये =) आर्षेय को छोड़कर (अर्थात् जब कश्यप ऋषि का नाम नहीं होता है) । तात्पर्य यह है—कश्यप शब्द में द्विरुच्चारण

(द्वित्व) होने पर यकार नहीं होता है (किन्तु शकार का छकार हो जाता है)। जैसे—"अपामुद्द्रो मासाङ्कच्छपः"। ऋषि का वाचक न होने पर—यह क्यों (कहा) ? "आयुषञ्जमदग्नेः कश्यपस्य।" जमदग्नि आदि के साथ उच्चारण से यहाँ कश्यप शब्द ऋषि का नाम है। जातूकर्ण्य आचार्य के मत से—यह क्यों (कहा) ? "कश्यपो रोहित्"। "एक पद में स्वर है पूर्व में जिनके ऐसे शकार, चकार और जकार द्विरुच्चारित हों तो उनके बाद में भी एक यकार होता है"—इसका यह (सूत्र) अपवाद है।

अ०—कश्यपशब्दस्य ऋषिव्यतिरिक्ते अर्थे वाच्ये सति न यकारपरः स्यात्। किन्तु शकारस्य छकारादेशः स्यात् जातूकर्ण्यस्याचार्यस्य मतेन। जातूकर्ण्यग्रहणं विकल्पार्थम्। "अपामुद्रो मासां कच्छपः"। कच्छपः कूर्म इत्यर्थः। अनार्षेय इति किम् ? "कश्यपस्य त्र्यायुषम् जमदग्नेस्त्र्यायुषम्"। अयं कश्यपशब्दः ऋषिवाची जमदग्निशब्द-साहचर्यात्। जातूकर्ण्यस्येति किम् ? काण्वादेर्मा भूदिति। "अपामुद्रो मासां कश्यपः"॥

उच्चरज्जुमज्जानश्च ॥ १६१ ॥

सू० अ०—उच्चैः, रज्जुः और मज्जानः में भी (यकार नहीं है)।

उ०—उच्चैः रज्जुः मज्जानः इत्येतानि पदानि सयकाराणि न भवन्ति। यथा—"उच्चैर्घोषाय" (वा० ३०।१९)। "वाल्वजीमीरज्जुभिर्युता भवति"। "रज्जु-सन्दानमादाय"। "रज्जुसर्ज्जम्" (वा० ३०।७)। "अस्थिमज्जानम्मासरैः" (वा० १९।८२)। इदमपि "स्वरपूर्वाश्च शचजाः" (४।१५८) इत्यस्यापवादभूतम्॥

उ० अ०—उच्चैः, रज्जुः, मज्जानः—ये पद (च=भी) यकार—सहित नहीं होते हैं।...।

अ०—एतानि अयकाराणि स्युः असन्देहार्थोऽयमारम्भः। यथा—"उच्चैर्घोषाय"। "रशना रज्जुरस्य"। "अस्थिमज्जानम्"। "मज्जाभ्यः स्वाहा"॥ १६१॥

मर्त्तो वुरीत मर्त्तेष्वग्निः परो मर्त्तस्ते मर्त्त इति च ॥ १६२ ॥

सू० अ०—मर्त्तो वुरीत, मर्त्तेष्वग्निः, परो मर्त्तः और ते मर्त्तः में भी (यकार नहीं है)।

उ०—एते मर्त्तशब्दाः सयकारा न भवन्ति। यथा—"मर्त्तो वुरीत सख्यम्" (वा० ४।८)। "मर्त्तेष्वग्निरमृतो निधायि" (वा० १२।२४)। "परो मर्त्तः परः श्वा" (वा० २२।५)। "यदा ते मर्त्तो अनु" (वा० २९।१८)। एत इति किम् ? "देव आ मर्त्येष्वा" (वा० ४।१६)। "तन्मर्त्यस्य" (वा० ३१।१७)। "सोमो देवो अमर्त्यः" (वा० २१।१४)॥ १६२॥

उ० अ०—ये मर्त्त शब्द (भी) यकार-सहित नहीं होते हैं।...।

अ०—एते चत्वारः शब्दाः सयकारा न स्युः। यथा—"मर्तो वुरीत सख्यम्"। "मर्त्तेष्वग्निरमृतो निधायि"। "परो मर्त्तः परः श्वा"। "यदा ते मर्तो अनु"। एते किम्? "देव आ मर्त्येषु"। "तन्मर्त्यस्य देवत्वम्"॥ १६२॥

अन्तःपदेऽपञ्चमः पञ्चमेषु विच्छेदम्॥ १६३॥

सू० अ०—पद के मध्य में पञ्चम (स्पर्श) बाद में होने पर पञ्चम से अन्य स्पर्श विच्छेद (हो जाता है)।

उ०—(अन्तःपदे =) पदमध्ये; अपञ्चमः स्पर्शः पञ्चमेषु स्पर्शेषु प्रत्ययेषु विच्छेदमापद्यते। विच्छेदो यम इत नर्थान्तरम्। "रुक्मः" (वा० १२।१)। इत्यत्र "स्वरात् संयोगादिः" (वा० ४।१०१) इत्यादिना ककारस्य द्विर्भावे कृतेऽनेन सूत्रेण द्वितीयस्य ककारस्य यम इत्ययं कार्यक्रमः क्रियते। यथा—"यज्ञः" (वा०८।४)। जकारयमौ नकारश्च संयोगः। "दद्ध्ना"। दकारधकारयमौ नकारश्च संयोगः। अन्तःपद इति किम्? "त्मन्या समञ्जन्" (वा० २०।४५)। अत्र द्विरुक्त्यभावात्त-कारमकारौ संयोगः॥ १६३॥

उ० अ०—(अन्तःपदे =) पद के मध्य में; पञ्चमेषु = पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर; अपञ्चमः = पञ्चम से अन्य स्पर्श; विच्छेद को प्राप्त होता है। विच्छेद और यम पर्यायवाची हैं। "रुक्मः" यहाँ पर "स्वर से बाद में संयोग का आदि" इत्यादि (सूत्र) से ककार का द्वित्व करने पर इस सूत्र से द्वितीय ककार का यम (होता है)—दोनों कार्यों का यह क्रम किया जाता है। जैसे—"यज्ञः"। (यहाँ पर) जकार, यम और नकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। "दद्ध्ना"। (यहाँ पर) दकार, धकारयम और नकार संयुक्त व्यञ्जन हैं। पद के मध्य में—यह क्यों (कहा)? "त्मन्या समञ्जन्"। यहाँ पर द्वित्व का अभाव होने पर तकार और मकार संयुक्त हैं।

अ०—अपञ्चमः स्पर्शः पञ्चमेषु स्पर्शेषु परेषु विच्छेदमापद्यते। विच्छेदो यम इति पर्यायः। यथा—"रुक्मः" इत्यत्र "स्वरात्संयोगादिः" इत्यनेन ककारस्य द्वित्वे कृते अनेन सूत्रेण द्वितीयककारस्य यम इत्ययं कार्यक्रमः क्रियते। "यज्ञः" इत्यत्र जकारयमौ ञकारश्च संयोगः। एवम् "दद्ध्ना" इत्यत्र दकारयमौ नकारश्च संयोगः"। सर्वत्र द्वितीयस्य यम इति कार्यक्रमः। अन्तःपदे किम्? "त्मन्या समञ्जन्"। "त्मन्या देवेषु"। अत्र स्वरात् परत्वाभावेन द्विरुक्तेरभावात् तकारमकारौ संयोगः। मध्ये न यमः॥ १६३॥

ऊष्मभ्यः पञ्चमेषु यमापत्तिर्दोषः॥ १६४॥

सू० अ०—ऊष्म (वर्णों) से बाद में पञ्चम (स्पर्श) होने पर यम करना दोष है।

उ०—एवमधस्तनसूत्रेण यमापत्तिं विधायाधुना यत्र यमा नेष्यन्ते तत्र दोषमाह—

ऊष्मभ्यः परेषु **पञ्चमेषु** "ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः" (४।१०३) इत्यनेन सूत्रेण पञ्चमानां स्पर्शानां द्विरुक्तौ कृतायां प्रथमानां स्पर्शानां **यमापत्तिः** सम्भवति स चात्र **दोषः**॥१६४॥

उ० अ०—इस प्रकार पूर्ववर्ती सूत्र से यम होने का विधान करके अब जहाँ यम अभीष्ट नहीं होते हैं वहाँ दोष बतलाते हैं—**ऊष्मभ्यः** = ऊष्म (वर्णों) से बाद में; **पञ्चमेषु** = पञ्चम (स्पर्श) होने पर "ऊष्म और अन्तस्थ से परवर्ती स्पर्श का द्वित्व हो जाता है" इस सूत्र से पञ्चम स्पर्शों का द्विरुच्चारण (द्वित्व) करने पर प्रथम स्पर्शों का; (**यमापत्तिः** =) यम होना; संभव होता है और वह यहाँ दोष है।

अ०—एवमधस्तनसूत्रेण यमापत्तिमुक्त्वा यत्र नेष्यते तत्र दोषमाह। ऊष्मभ्यः परेषु पञ्चमेषु "ऊष्मान्तस्थाभ्यश्च स्पर्शः" इति सूत्रेण पञ्चमानां स्पर्शानां द्विरुक्तयां सत्यां प्रथमादीनां यमापत्तिसम्भवात् स चात्र दोषः। तं परिजिहीर्षेदिति सूत्रार्थः। यथा प्रश्न इत्यत्र नकारसदृशो यमस्सम्भवति। स दोषत्वात् वर्ज्यः॥ १६४॥

स्फोटनं च ककारवर्गे वा स्पर्शात्॥ १६५॥

सू० अ०—स्पर्श से बाद में कवर्गीय वर्ण होने पर (उन दो व्यञ्जनों का) पृथक् (असंयुक्त) उच्चारण (विकल्प से दोष है)। (अथवा-कवर्गीय वर्ण बाद में होने पर स्पर्श का पृथगुच्चारण विकल्प से दोष है)।

उ०—**स्फोटनं च** स्पर्शानां दोषमापद्यते **ककारवर्गे** परभूते। स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। स्फोटनाख्यो दोषो वा न दोषः। यथा—"काण्डात् काण्डात्" (वा० १३।२०)। "वषट्कृतम्" (वा० ७।२६)। "यकृत् क्लोमानम्" (वा० १६।८५)। यथा सूत्रकारप्रस्थानं तथा स्फोटनं दोषः। "स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इति द्विरुक्तेर्विधानम् न च स्फोटने सति द्विरुक्तिः सम्भवति। तथा चोक्तं याज्ञवल्क्येन—

"यमान् विद्यादयस्पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डवत्।
अन्तस्थाधमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्"॥
यथायस्पिण्डादीनामाश्लेपस्तथैवैतेषां व्यञ्जनानामिति श्लोकार्थः॥ १६५॥

उ० अ०—**ककारवर्गे** = कवर्ग का कोई वर्ण बाद में होने पर; (**स्पर्शात्** = स्पर्श से =) स्पर्शों का; **स्फोटनं च** = स्फोटन भी; दोष होता है। पिण्डीभूत संयोग का पृथक् करके उच्चारण करना स्फोटन कहलाता है। स्फोटन-संज्ञक दोष होता है अथवा दोष नहीं होता है।....। सूत्रकार के सम्प्रदाय के अनुसार स्फोटन दोष है। "स्वर से बाद में स्थित संयोग का आदि" इस (सूत्र) से द्वित्व का विधान किया

गया है किन्तु स्फोटन होने पर द्वित्व संभव नहीं है"। याज्ञवल्क्य ने भी वैसा कहा है—"यम-युक्त संयोग को लौहपिण्ड (अयःपिण्ड = लोहे की गेंद) जानना चाहिए। अन्तस्थ-युक्त संयोग को काष्ठपिण्ड (दारुपिण्ड, लकड़ी की गेंद) के समान (जानना चाहिए)। अन्तस्थ-यम-रहित संयोग को तो ऊर्णापिण्ड (ऊन की गेंद) के रूप में विनिर्दिष्ट करे"। जैसा लौहपिण्ड आदि का संयोग (सम्पर्क, मेल) है वैसा ही इन व्यञ्जनों का (संयोग है)—यह श्लोक का अर्थ है।

अ०—स्फोटनं च स्पर्शादोषमापद्यते कवर्गे परे। स्फोटनं नाम पिण्डीभूतस्य संयोगस्य पृथगुच्चारणम्। स दोषो वा न वा। यथा "काण्डात् काण्डात्"। "वषट्कृते"। "यकृत् क्लोमानम्"। अत्र यथासूत्रकारप्रस्थानं विकल्पः। "स्वरात् संयोगादिः" इति स्वरादेर्द्विरुक्तिविधानात् स्फोटनपक्षे न द्विरुक्तिरिति भावः। तथा चोक्तं शिक्षायाम्—

यमान्विद्यादयस्पिण्डान् सान्तस्थान् दारुपिण्डवत्।
अन्तस्थायमवर्जं तु ऊर्णापिण्डं विनिर्दिशेत्॥

इति। यथा अयःपिण्डादीनां गुरुतमगुरुतरगुरुसंश्लेषः तथा एषां व्यञ्जनानामुच्चारणे संश्लेषः साध्य इति श्लोकार्थः। अयः पिण्डो यथा—"अग्नि"। "पत्नि"। "दध्ना"। "यज्ञः" इत्यादि। दारुपिण्डो यथा—"अश्वः"। "सूर्यः"। "तल्लोकम्"। इत्यादि। ऊर्णापिण्डो यथा—"अस्मिन्"। "अमुष्मिन्" इत्यादि। अन्यच्च।

ज्वालापिण्डसनासिक्यः सानुस्वारश्च मृण्मयः।
सोपध्मो वायुपिण्डश्च जिह्वामूले तु वज्रवत्॥
सप्तपिण्डान् विदित्वापि साक्षात् ब्रह्मणि लीयते।

इति। "ब्रह्मन्"। "वह्निः"। "गृह्णामि" इत्यादि ज्वलापिण्डः। "संस्थाम्" "संसृष्टाम्" "संस्कृत्य" इत्यादि मृत्पिण्डः। "देव सवितः प्रसुव"। "युञ्जानः प्रथमम्" इत्यादि वायुपिण्डः। "दिवः ककुत्"। "ततः खनेम" इत्यादि वज्रपिण्डः। एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुसरामः॥ १६५॥

स्वरात् स्वरे समानपदे जो यन्नतु ऋकारे॥ १६६॥

सू० अ०—स्वर से बाद में विद्यमान जकार, स्वर बाद में रहते, (विकल्प से) यकार हो जाता है, किन्तु ऋकार बाद में होने पर नहीं (होता है)।

उ०—वाशब्दो विकल्पार्थः पूर्वसूत्रादिहानुवर्त्तते। स्वरात् परः; (जः =) जकारः; वा; (यम् =) यकारम्; आपद्यते स्वरे परभूते समानपदे। न तु ऋकारे परे। यथा-"अजो ह्यग्नेरजनिष्ट" (वा० १३।५१)। स्वरादिति किम्? "अब्जा गोजाः" (वा० १०।२४)। स्वर इति किम्? "भुज्युः" (वा० १८।४२)।

"अब्जम्" (वा० २।८) । समानपद इति किम् ? "तदिन्द्रेण जयत" (वा०१७।३४) न ऋकार इति किम् ? "विजृम्भमाणाय" (वा० २२।७) ॥ १६६ ॥

उ० अ०—विकल्प अर्थ वाला वा शब्द पूर्ववर्ती सूत्र से यहाँ अनुवृत्त हो रहा है। **समानपदे** = एक पद में; **स्वरे** = स्वर बाद में होने पर; **स्वरात्** = स्वर से परवर्ती; (**जः** =) जकार; विकल्प से; (**यम्** =) यकार; हो जाता है। **न तु ऋकारे** = ऋकार बाद में होने पर तो (जकार यकार) नहीं (होता है)।...।

अ०—वाशब्दोऽनुवर्त्तते। स्वरात्परो यः जकारो वा यकारमापद्यते स्वरे परे समानपदे न तु ऋकारे परे। यथा–"अजो ह्यग्नेरजनिष्ट"। स्वरादिति किम् ? "अब्जा गोजाः"। स्वरे किम् ? "भुज्युः"। "आज्यम्"। समानपदे किम् ? "तदिन्द्रेण जयत"। न ऋकारे किम् ? "विजृम्भमाणाय स्वाहा" ॥ १६६ ॥

ख्यातेः खयौ कशौ गार्ग्यः सकृख्योक्ख्यमुक्ख्यवर्जम् ॥ १६७ ॥

सू० अ०—सक्ख्य, उक्ख्य, और मुक्ख्य को छोड़कर ख्या (धातु) के (पदों में) खकार और यकार का (संयोग मानते हैं कतिपय आचार्य किन्तु) गार्ग्य ककार और शकार का (संयोग मानते हैं)। अथवा–सख्य, उख्य और मुख्य को छोड़कर अन्यत्र गार्ग्य ख्या धातु के खकार और यकार के स्थान पर ककार और शकार का उच्चारण युक्त मानते हैं।

उ०—(**ख्यातेः** =) ख्या प्रकथन इत्यस्य धातोः; (**खयौ** =) खकार-यकारौ; संयोगमाहुः केचित्। यथा–"विख्याय चक्षुषा" (वा० ११।२०)। "आख्यातम्"। (**कशौ** =) ककारशकारौ; संयोगार्थं **गार्ग्य** आह। "विक्शाय चक्षुषा" (वा० ११।२०) "आक्शातम्"। एतानि पदानि वर्जयित्वा–सक्ख्यम् उक्ख्यम् मुक्ख्यम्। अघस्तनयोगे जकारस्य यकारापत्तिरुक्ता या चास्मिन् योगे ख्यातेः क्शापत्तिरुक्ता एते चरकाणाम्। इतरेषां माध्यन्दिनानां न भवत इति ॥ १६७ ॥

उ० अ०—(**ख्यातेः** =) 'कहना' अर्थ वाली ख्या-इस धातु के (पद में); खकार और यकार संयुक्त व्यञ्जन होते हैं–ऐसा कतिपय (आचार्य) कहते हैं। जैसे–"विख्याय चक्षुषा"। "आख्यातम्"। ककार और शकार संयुक्त व्यञ्जन हैं—ऐसा गार्ग्य कहते हैं। "विक्शाय चक्षुषा"। "आक्शातम्"। इन पदों को छोड़ कर–सक्ख्यम्, उक्ख्यम्, मुक्ख्यम्। पूर्ववर्ती सूत्र में जो जकार का यकार होना कहा गया है और इस सूत्र में खकार तथा यकार का जो ककार तथा शकार होना कहा गया है ये (दोनों) चरक (शाखा) के अनुयायियों के अनुसार हैं। माध्यन्दिन (शाखा) के अनुयायियों के अनुसार नहीं होते हैं।

अ०—ख्या प्रकथन इति धातोः खकारयकारसंयोगमाहुः केचित् । यथा—"विख्याय चक्षुषा त्वम्" । गार्ग्यस्तु कशौ संयोगमाह । "विक्शाय चक्षुषा त्वम्" । एवं आख्यातम् आक्शातमित्यादि । किं कृत्वा । सख्योख्यमुख्यपदानि वर्जयित्वा । "सख्यम्" । "उख्यम्" । "मुख्यम्" । जकारस्य यकारापत्तिः ख्याधातोः क्शापत्तिश्च चरकाचार्याणां मते भवति । वाजसनेयिनां तु यथास्थितिरेव ॥ १६७ ॥

त्रिपदाद्यावर्त्तमाने सङ्क्रमः ॥ १६८ ॥

सू० अ०—तीन अथवा तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर सङ्क्रम (होता है)।

उ०—"संहितायाम्" (३।१) इत्यत आरभ्य संहिताया लक्षणं विधायाधुना पदसंहितालक्षणं विधित्सयेदमाह । त्रिपदप्रभृत्यावर्त्तमाने ग्रन्थे सङ्क्रमो भवति । आवर्त्तमानानि पदानि अतिक्रम्यानावर्त्तमानेन पदेन सह सन्धिर्भवतीत्यर्थः । यथा–"वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् । स्वाहा । रुद्र । यत्" (वा० १०।२०) । "तस्मै । ते । इन्द्रो । हविषा । विधेम । बर्हिषदः । पितरः" (१९।५४–५५) । "इन्द्र । आ । याहि । चित्रभानो । सुताः । इमे । त्वायवः । अण्वीभिः । तना । पूतासः । धिया । इषितः" (वा० २०।८७) । अयं तावदुत्सर्गः ॥ १६८ ॥

उ० अ०—"संहिता में" इससे आरम्भ करके संहिता का लक्षण विधान कर अब पद-संहिता के लक्षण के विधान की इच्छा से इस (सूत्र) को कहा है। (**त्रिपदाद्यावर्त्तमाने =**) तीन पदों इत्यादि (= तीन अथवा तीन से अधिक पदों) ग्रन्थांश के पुनरुक्त होने पर **सङ्क्रम** होता है। पुनरुक्त पदों का परित्याग (अतिक्रमण) करके अपुनरुक्त पद के साथ संधि होती है–यह अर्थ है।"'। यह सामान्य नियम है।

अ०—"संहितायाम्" इत्यारभ्य संहितालक्षणमुक्त्वा अधुना पदसंहितालक्षणविवित्सयेदमाह । त्रिपदप्रभृतिपदानां पुनरावर्त्तमानत्वे सङ्क्रमो भवति । आवर्त्तमानानि पदानि अतिक्रम्य अनावर्तमानेन पदेन सन्धिः स्यादिति भावः यथा–दिशां च पतये नमः । नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः । पशूनां पतये नमः इत्यत्र पशूनां शष्पिञ्जराय । पथीनां हरिकेशाय । पुष्टानां बभ्रुशाय । तथा इन्द्रायाहि चित्रभानो इत्यत्र अण्वीभिस्तना पूतासः । धियेषित इत्यारभ्य तूतुजान उप । तथा उख्यस्य केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयत.मिह त्वा इत्यत्र इमा ब्रह्म पीपिहि सौभगाय स्वैर्दक्षैः । इति द्रष्टव्यम् । एतानि त्रिपदप्रभृतिपदानां आवर्त्तमानत्वे सङ्क्रममुक्त्वा अधुना सङ्क्रममाह—

द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके ॥ १६९ ॥

सू० अ०—एक अनुवाक में दो पदों अथवा एक पद की भी (पुनरुक्ति होने पर उनको छोड़ दिया जाता है)।

उ० - द्वे पदे समाहृते द्विपदम्। एकं च तत् पदं च एकपदम्। (द्विपदैकपदानि =) द्विपदानि च एकपदानि च। बहुवचनोपदेशात् त्रिरावर्त्तमानानि संक्रम्यन्ते अतिक्रम्यन्त इत्यर्थः। "त्रिरावृत्ते" (४।१७५) इति हि वक्ष्यति। "वाजः। च। मे। प्रयतिः" (वा० १८।१)। एकपदे यथा—"मा। छन्दः। प्रमा। प्रतिमा" (वा० १४।१८)। अनुवाक इति किम्? "वसोः। पवित्रम्। असि। द्यौः। पृथिवी" (वा० १।२)। "कुक्कुटः। असि" (वा० १।१६)। त्रिरावृत्त इति किम्? "व्रतम्। कृणुत। व्रतम्। कृणुत" (वा० ४।११)। "सोमः। पवते। सोमः। पवते" (वा० ७।२१)। "इषे। त्वा। ऊर्ज्जे। त्वा" (वा० १।१)॥ १६९॥

उ० अ०—दो पदों का सम्मिलित होना = द्विपद। जो एक भी है और पद भी वह = एकपद। (अनुवाके द्विपदैकपदानि =) एक अनुवाक में दो पद और एक पद। (सूत्र में) बहुवचन का उल्लेख होने से तीन बार पुनरुक्त (पद) का संक्रम होता है=अतिक्रमण होता है—यह अर्थ है क्योंकि "तीन बार पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है" यह (सूत्रकार) कहेंगे।...।

अ०—द्वे पदे समाहृते इति द्विपदम्। एकं च तत् पदं च एकपदम्। "त्रिरावृत्ते" इति शेषं वक्ष्यति। तथा च द्विपदान्येकपदानि च त्रिरावर्त्तमानानि सङ्क्रम्यन्ते एकानुवाकत्वे गम्यमाने। यथा—वाजः च मे प्रसवः प्रयतिः। इत्यादि। माच्छन्दः प्रतिमा इत्यादि। हिंकाराय स्वाहा हिङ्कृताय क्रन्दते इत्यादि च। एकानुवाके किम्? वसोः पवित्रमसि। द्यौरसि। अत्र द्वितीयोऽसिशब्दो न सङ्क्रम्यते। पवित्रमसीत्यसिशब्देन सह एकानुवाकत्वाभावात्। त्रिरावर्त्तमानेति किम्? इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायवः। अत्र वा शब्दो न सङ्क्रम्यते त्रिरावृत्यभावात्। यत्र तु एकानुवाकत्वे त्रिरावृत्तत्वेपि। गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। त्रैष्टुभेन जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि। व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत। सोमः पवते सोमः पवते। मधु मधु। इत्येवमादौ सर्वथा सङ्क्रमः। तत्र विशेषमाह—

अनन्तरे ॥ १७० ॥

सू० अ०—अव्यवहित (पुनरुक्त) में (सङ्क्रम होता है)।

उ०—उभयोरपि योगयोरयं योगविशेषः। "त्रिपदाद्यावर्त्तमाने" (४।१६८) इति यदुक्तं तदनन्तरे पुनरुक्तं भवति। आनन्तर्यं चार्थकृतं शब्दकृतं च गृह्यते। यत्रानन्तरोऽर्थो व्यवहितो वा बुद्धौ विपरिवर्त्तते तदर्थकृतमानन्तर्यम्। यथा—"गन्धर्वः। त्वा। विश्वावसुः। परि। दधातु। विश्वस्य। अरिष्ट्यै। यजमानस्य। परिधिः। असि। अग्निः। इडः। ईडितः। इन्द्रस्य। बाहुः। असि। दक्षिणः। मित्रावरुणौ। त्वा" (वा० २।३)। अनन्तरेऽर्थ एतदुदाहरणम्। व्यवहिते तु यथा—"मधुः। च। माधवः। च। वासन्तिकौ। ऋतू" (वा० १३।२५)। "शुक्रः। शुचिः। ग्रैष्मौ" (वा० १४।६)। स्वयमातृण्णा।सु

एवं स्वस्वमहर्षिणा प्रथमादिचितिषु ऋतव्योपधाने दृष्टासु कण्डिकासु अर्थकृतमानन्तर्यं द्रष्टव्यम् । शब्दकृतं तु यथा—"हविः । कृत् । आ । इहि । कुक्कुटः । असि"(वा० १।१६)। "द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके" (४।१६६) इत्यत्रार्थानन्तर्यमुच्यते । यथा—"कः । त्वा । युनक्ति । सः । कस्मै । तस्मै" (वा० १।६) । "त्वम् । अग्ने । द्युभिः । आशुशुक्षणिः" (वा० ११।२७) । "याः । ओषधीः । पूर्वाः । जाताः" (वा० १२।७५) । अत्र या इत्येतदोषधिविषयं पदम् । "याः । फलिनीः" (वा० १२।८८)। इत्येदपि ओषधिविषयं तदर्थव्यवधानान्न लुप्यते । अतो "याः । फलिनीः । अफलाः" इत्यत्र सन्निधानाल्लुप्यते । यद्येवम् "अपुष्पाः । याः । पुष्पिणी." । इत्यत्र कस्माद्या इत्येतत्पदं न लुप्यते । शृणु । "याः । फलिनीः । याः । अफलाः । याः । अपुष्पाः । याः । च । पुष्पिणीः" (१२।८९)। एवं चत्वारोऽत्र याः शब्दा अर्थदृष्ट्या भवन्ति । तत्र प्रथमस्य द्वितीयेन सम्बन्धः तृतीयस्य चतुर्थेन सम्बन्धः । तत्र तृतीयं या इत्येतत् पदं न विद्यत इत्येतस्य ख्यापनार्थं न लुप्यते या इत्येतत्पदम् । शब्दानन्तर्यं तु यथा—"अश्विभ्याम् । पन्वस्य । सरस्वत्यै । इन्द्राय । स्वाहा । इन्द्रवत् । यः । ते" (वा० ३८।४) । "दिवः । संस्पृशः । पाहि । मधु । गर्भः । देवानाम्" (वा० ३७।१३) ॥ १७० ॥

उ० अ०—यह (प्रस्तुत) सूत्र (पूर्ववर्ती) दोनों ही सूत्रों का पूरक है । "तीन अथवा तीन से अधिक पदों की आवृत्ति होने पर" यह जो कहा गया है वह; अनन्तरे = व्यवधानरहित (अव्यवहित); पुनरुक्त में होता है । अर्थ पर आधृत और शब्द पर आधृत अव्यवधान (आनन्तर्य) का ग्रहण किया जाता है । जहाँ पर अव्यवहित अथवा व्यवहित अर्थ बुद्धि में निरन्तर आता है वह अर्थ पर आधृत (अर्थकृत) आनन्तर्य है ।…। अव्यवहित अर्थ के विषय में यह उदाहरण है । व्यवहित (अर्थ) के विषय में तो जैसे…। "एक अनुवाक में दो पदों अथवा एक पद की भी" इस (सूत्र) के अनुसार अर्थकृत आनन्तर्य को कहा जाता है…। "याः ओषधीः पूर्वाः जाताः"— यहाँ पर 'याः' यह ओषधिविषयक पद है । "याः फलिनीः" यह (याः पद) भी ओषधिविषयक है । वह अर्थ-व्यवधान से लुप्त नहीं होता है । इसलिए "याः फलिनीः अफलाः" यहाँ पर सामीप्य के कारण लुप्त होता है । (शङ्का) यदि ऐसी बात है तो "अपुष्पाः याः पुष्पिणीः" यहाँ पर 'याः' यह पद किस कारण से लुप्त नहीं होता है ? (समाधान) सुनो । "याः फलिनीः याः अफलाः याः अपुष्पाः याः च पुष्पिणी."— यहाँ पर अर्थ की दृष्टि से चार 'याः' शब्द हैं । उनमें से प्रथम का द्वितीय के साथ सम्बन्ध है, तृतीय का चतुर्थ के साथ सम्बन्ध है । उनमें से तृतीय 'याः'—यह पद (संहिता में) विद्यमान नहीं है इसको बतलाने के लिए चतुर्थ याः पद लुप्त नहीं होता है ।…।

अ० —पूर्वसूत्रद्वयशेषोऽयं योगः । "त्रिपदाद्यावर्त्तमाने" इति यदुक्तं तत् अनन्तरे अव्यवहिते पुनरुक्ते भवति । आनन्तर्यं चात्र द्वेधा । अर्थकृतं शब्दकृतं चेति । यत्रानन्तरो-

ऽर्थो व्यवहितो वा बुद्धौ विपरिवर्तते तदर्थकृतमानन्तर्यम् । यथा—गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु विश्वस्यारिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिळ ईळितः इन्द्रस्य बाहुः असि दक्षिणः मित्रावरुणौ त्वा उत्तरतः परि धत्ताम् ध्रुवेण धर्मणा वीतिहोत्रम् त्वा । अत्र विश्वस्यारिष्ट्या इत्यारभ्य ईळ ईळितः इत्यस्य वाक्यस्य सङ्क्रमः । शब्दकृतानन्तर्यात् अस्तीति भावः । व्यवहिते तु मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ ऋतू इत्युपक्रम्य मध्ये अन्यदुक्त्वा शुक्राशुचिः नभः नभस्यः इषः ऊर्जः सहः सहस्यः तपः तपस्यः । इत्यादि । अत्र शब्दकृतानन्तर्याभावेन व्यवहितत्वेऽपि बुद्धिविपरिवृत्तित्वेनार्थकृतमानन्तर्यमस्तीति ज्ञेयम् । स्वस्वमहर्षिदृष्टासु कण्डिकासु यथायोगसद्भावे द्वितीयस्य सङ्क्रमज्ञापनार्थं न तृतीयं संक्रम्यते । ऋषीणां तथैव दृष्टत्वात् । द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके इत्येवं द्रष्टव्यम् । व्रतं कृणुतेत्यादौ साक्षात् शब्दकृतानन्तर्यस्यार्थानन्तर्योदाहरणमुच्यते । कः त्वा युनक्ति सः कस्मै तस्मै । तथा—त्वं अग्ने द्युभिरिति द्युभिः आशुशुक्षणिः अद्भ्यः अश्मनः परिवनेभ्यः ओषधीभ्यः नृणाम् । अर्थानन्तर्यमिति किम् ? याः ओषधीः पूर्वाः जाताः अत्र या इति पदं ओषधीविषयम् । ततः याः फलिनीरित्येतदपि ओषधीविषयम् । तदर्थव्यवधानान्न लुप्यते । या अफला अपुष्पा इत्यत्र यच्छब्दस्तु लुप्यते सन्निधानात् । यद्येवं तर्हि अपुष्पा याश्च पुष्पिणीरित्यत्र या इति पदं कस्मान्न लुप्यते सन्निधानस्य सद्भावादिति चेत् उच्यते । याः फलिनीः या अफलाः या अपुष्पाः याश्च पुष्पिणीः इत्येवं चत्वारः यच्छब्दाः अर्थदृष्टा अत्र भवति । अत्र प्रथमस्य द्वितीयेन सह सम्बन्धः । तृतीयस्य चतुर्थेन सह सम्बन्धः । तृतीयं च या इति पद न पाठदशायां विद्यते । अर्थदर्शनं तु विद्यत एव । अतः तस्य तृतीयज्ञापनार्थं चतुर्थं या इति पदं न लुप्यते । एवं शब्दानन्तर्येऽपि क्वचिन्न लुप्यते । यथा—वाजः च मे प्रसवः इत्यारभ्य अनड्वान् धेनुः च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् इति । अश्विभ्याम् पिन्वस्व सरस्वत्यै इन्द्राय पिन्वस्व इति । व्रतं कृणुत इत्यादिः । अत्र सर्वत्र समाप्ते ज्ञापनार्थं अन्ते स्थितस्य न लोप इत्यवधेयम् । यतः अवसानार्थं पुनर्ग्रहणमिति वक्ष्यति । क्वचिद्भवति । यथा—कः त्वा युनक्ति सः कस्मै तस्मै कर्मणे । तथा—त्वम् अग्ने द्युभिः आशुशुक्षणिः अद्भ्यः अश्मनः परि वनेभ्यः ओषधीभ्यः नृणामित्यादि सर्वं अनन्तरे इति सूत्रस्य उदाहरणं विविच्य ज्ञातव्यम् । क्वचित् अन्तस्यापि सङ्क्रमो भवतीत्युक्तम् । तत्र कारणमाह ॥ १७० ॥

अपराङ्गे ॥ १७१ ॥

सू० अ०—(जब पुनरुक्त पद) अन्य का अङ्ग होता है (तब सङ्क्रम होता है) ।

उ०—(अपराङ्गे =) अपरस्यान्यस्याङ्गभूते पुनरुक्ते; सङ्क्रमो भवति । यथा—"स्वाहा । यज्ञम् । मनसः । उरोः । अन्तरिक्षात् । द्यावापृथिवीभ्याम् । वातात् । आ । रभे" (वा० ४।६) । अत्र स्वाहाकारः अपराङ्गम् । अपराङ्गत्वाल्लोपः । अपराङ्ग इति

किम् ? "स्वाहा । आकूत्यै । प्रयुजे" (वा० ४।७) । अयं च स्वाहाकारः अपराङ्गं न भवति केवलत्वात् ॥ १७१ ॥

उ० अ०—(जब) पुनरुक्त (पद); (अपराङ्गे =) अन्य का अङ्ग होता है तब; सङ्क्रम होता है ।....। यहाँ स्वाहा शब्द अन्य का अङ्ग है। अन्य का अङ्ग होने से लोप हो गया । अन्य का अङ्ग—यह क्यों (कहा) ? "स्वाहा। आकूत्यै। प्रयुजे" । यह स्वाहा शब्द केवल (=अन्य से असम्बद्ध) होने से दूसरे का अङ्ग नहीं है।

अ०—अन्यस्याङ्गभूते पुनरुक्ते सङ्क्रमः स्यात् यथा—स्वाहा यज्ञं मनसः उरोः अन्तरिक्षात् द्यावापृथिवीभ्याम् वातात् आ रभे । अत्रत्यः स्वाहाकारः अपराङ्गाल्लुप्तः । एवं कस्त्वेत्यादि । अपराङ्ग इति किम् ? पुष्यसे स्वाहा । अयं स्वाहाकारः अपराङ्गं न भवति केवलत्वात् । अधुना सुक्ष्मा चासीत्यत्र संक्रमाभावे कारणमाह—

अस्वरविकारे ॥ १७२ ॥

सू० अ०—स्वर का विकार न होने पर (संक्रम होता है) ।

उ०—न विद्यते स्वरविकारो यस्मिन् पुनरुक्ते तदस्वरविकारं पुनरुक्तम् । तस्मिन् संक्रमो भवति । यथा—तेजः । असि । शुक्रम् । अमृतम् । धाम । नाम (वा० १।३१) । अस्वरविकार इति किम् ? सुक्ष्मा । च । असि । शिवा । च । असि । स्योना" । (वा० १।२७) । "देवाः । यज्ञम् । अतन्वत । भेषजम्" (वा० १९।१२) । "यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत" (वा० ३१।१४) ॥ १७२ ॥

उ० अ०—जिस पुनरुक्त (पद) में स्वर का विकार नहीं होता है वह स्वर-विकार रहित पुनरुक्त (पद) है। उसमें सङ्क्रम होता है ।....।

अ०—न विद्यते स्वरविकारः यस्मिन् पुनरुक्ते तत् अस्वरविकारं पुनरुक्तम् । तस्मिन् पुनरुक्ते संक्रमः स्यात् । तेजः असि शुक्रम् अमृतम् धाम नाम । तथा—शुक्रज्योतिः च चित्रज्योतिः सत्यज्योतिः । इत्यादि । अस्वरविकारेत्युक्ते स्वरविकारे सति संक्रमो न भवति । यथा—सुक्ष्मा च असि शिवा च असि स्योना च असि सुषदा च असि ऊर्जस्वती च असि पयस्वती च । द्विपदैकपदानीति सूत्रेणात्र चासिशब्दयोर्लोपः तत्र स्वरविकार इत्यत्र असिशब्दस्य लोपनिषेधे चशब्दस्यापि तत्सहचरितत्वे न लोपनिषेधो द्रष्टव्यः । सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः इति न्यायात् । एवं पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितर इत्यादौ द्रष्टव्यः । तथा—देवाः यज्ञम् अतन्वत भेषजम् । यत् पुरुषेण हविषा । देवाः यज्ञम् । अतन्वत । इत्यादि च ॥ १७२ ॥

अलिङ्गविकारे ॥ १७३ ॥

सू० अ०—लिङ्ग के विकार से रहित (पुनरुक्त पद को छोड़ दिया जाता है)।

उ०—लिङ्गविकारो न विद्यते यस्मिन् पुनरुक्ते तदतिक्रम्यते। यथा—"अग्नेः। भागः। असि। दीक्षायाः। आधिपत्यम्। ब्रह्म। स्पृतम्। त्रिवृत्। स्तोमः। इन्द्रस्य। विष्णोः। क्षत्रम्। पञ्चदशः" (वा० १४।२४)। अत्र स्पृतशब्दो नपुंसकविषयो सोऽतिक्रम्यते। अलिङ्गविकार इति किम्? "आदित्यानाम्। मरुताम्। गर्भाः। स्पृताः। देवस्य। सवितुः। बृहस्पतेः। समीचीः। दिशः। स्पृताः" (वा० १४।२५)। एकत्र शब्दः पुरुषविषयः। एकत्र स्त्रीविषयोऽतो गृह्यतेऽपि न लुप्यते। "सम्। ते। पयांसि। सम्। ऊँ। यन्तु। वाजाः। वृष्ण्यानि" (वा० १२।११३)। अत्र त्रयाणां सम्शब्दानां मध्ये प्रथमो नपुंसकविषयो द्वितीयः पुरुषविषयोऽतो गृह्यते, तृतीयो नपुंसकविषय एव अतो लिङ्गस्याभेदादतिक्रम्यते ॥ १७३ ॥

उ० अ०—लिङ्ग का विकार नहीं होता है जिस पुनरुक्त (पद) में; उसको छोड़ दिया जाता है।...। यहाँ स्पृत शब्द नपुंसक विषयक है, इसलिए उसको छोड़ दिया जाता है। लिङ्ग का विकार न होने पर-यह क्यों (कहा)?....एक (=प्रथम) स्थल पर (स्पृताः) शब्द पुल्लिङ्ग विषयक है। एक (= द्वितीय) स्थल पर (स्पृताः शब्द) स्त्रीलिङ्ग विषयक है। इसलिए ग्रहण किया जाता है, लुप्त नहीं होता है।....। यहाँ तीन 'सम्' शब्दों के मध्य में प्रथम नपुंसकविषयक है, द्वितीय पुरुषविषयक है, इसलिए ग्रहण किया जाता है। तृतीय नपुंसकविषयक ही है, इसलिए लिङ्ग का भेद न होने से छोड़ दिया जाता है।

अ०—लिङ्गविकारो न विद्यते यस्मिन् पुनरुक्ते तदतिक्रम्यते। यथा-अपाम् त्वा एमन् सादयामि ओद्मन् भस्मन् ज्योतिषि इत्यादि। अत्र सादयामीति लिङ्गविकार-भावाल्लुप्यते। अलिङ्गविकार इति किम्? भद्रः नः अग्निः आहुत इत्याहुतः भद्रा रातिः सुभग भद्रः अध्वरः भद्राः उत प्रशस्तय इति। तथा—अग्नेः भागः असि। दीक्षायाः आधिपत्यमित्याधि पत्यम् ब्रह्म स्पृतम् त्रिवृदिति त्रिवृत्। स्तोमः इन्द्रस्य भागः असि विष्णोः आधिपत्यम् इत्यादि। अत्र भद्रा असि स्पृतम् शब्दानां लिङ्गतो विकारान्न लोपः। तथा—सम् ते पयांसि सम् ऊँ इत्यूम् यन्तु वाजाः सं वृष्ण्यानि। अत्र त्रयाणां संशब्दानां मध्ये प्रथमो नपुंसकलिङ्गः द्वितीयः पुरुषविषयः। तृतीयः क्लीवविषयः। अतो लिङ्गविकारान्न लुप्यते। एवं द्यौरसि पृथिव्यसि। मानो महान्तं संवर्चसा इत्यादौ द्रष्टव्यम् ॥ १७३ ॥

असमाने ॥ १७४ ॥

सू० अ०—भिन्न (असमान) पदार्थ से सम्बद्ध (पुनरुक्त पद में सङ्क्रम होता है)।

उ०—(असमाने =) असमानविषये आवर्त्तमाने पुनरुक्ते; संक्रमो भवति। यथा—"आयुः। यज्ञेन। कल्पताम्। प्राणः। चक्षुः। श्रोत्रम्। पृष्ठम्" (वा० ९।२१)। अत्र

आयुरादयो यज्ञक्लृप्तेरसमानाः। असमान इति किम्? "यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्" (वा० ६।२१)"। अत्र यज्ञो यज्ञेनेति यज्ञक्लृप्तेः समानोऽस्तोगृह्यते ॥ १७४ ॥

उ० अ०—(असमाने =) भिन्न पदार्थ से सम्बद्ध पुनरुक्त (पद) में; सङ्क्रम होता है।'''। यहाँ आयुः इत्यादि यज्ञ की क्लृप्ति (पूर्णता, निष्पादन) से भिन्न हैं। भिन्न (असमान) यह क्यो (कहा)? "यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्"। यहाँ यज्ञ यज्ञक्लृप्ति के समान (अभिन्न) हैं। इसलिए ग्रहण किया जाता है (छोड़ा नही जाता है)।

अ०—असमानविषये पुनरुक्ते आवर्त्तमाने सङ्क्रमो भवति। यथा—"आयुः यज्ञेन कल्पताम् प्राणः चक्षुः श्रोत्रम् पृष्ठमित्यादि। अत आयुरादयो यज्ञक्लृप्तेरसमानाः। अतः अत्र लोपः। असमान इति किम्? यज्ञः यज्ञेन कल्पताम्। अत्र यज्ञः यज्ञक्लृप्तेः समानः अतः न लोपः। तथा—शष्पैः न तेजः इन्द्रियम् पयः सोमः परिस्रुता घृतम् मधु वन्तु आज्यस्य। होतः यज तनूनपात् सरस्वतीम् इत्यादि दशकण्डिकासु पयस्सोमः इत्यादि लुप्यते। असमानविषयत्वात्। अग्निम् स्वाहेत्यन्तिमकण्डिकायां न लुप्यते। समाप्त्यर्थत्वात् एवं वसुवने वसुधे यस्य व्यन्तु यजेत्यादौ द्रष्टव्यम् ॥

त्रिरावृत्ते ॥ १७५ ॥

सू० अ०—तीन बार पुनरुक्त (पद) में (सङ्क्रम होता है)।

उ०—त्रिरावृत्ते पुनरुक्ते संक्रमो भवति। "द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके" (४।१६६) इत्यस्यायं शेषः। यथा—"इषे। ऊर्ज्जे। रय्यै। पोषाय। आशुः। त्रिवृत्" (१४।२२)। त्रिरावृत्त इति किम्? "इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा। वायवः" (वा० १।१) ॥ १७५ ॥

उ० अ०—(त्रिरावृत्ते =) तीन बार पुनरुक्त (पद) में, सङ्क्रम होता है। "एक अनुवाक में दो पदों अथवा एक पद की भी पुनरुक्ति होने पर उसको छोड़ दिया जाता है" इस (सूत्र) का यह (प्रस्तुत सूत्र) शेष (पूरक, परिशिष्ट) है।''''।

अ०—त्रिरावृत्ते पुनरुक्ते सङ्क्रमः स्यात्। द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके इत्यस्य शेषोऽयम्। घर्मो इषे। ऊर्जे रय्यै पोषाय त्वा अत्र। त्रिरावृत्त इति विशेषणाच्चतुर्थेन सङ्क्रमः। ये त्वत्र आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा इत्यादौ चतुर्थेऽपि सङ्क्रमणं तत्तु त्वाशब्दस्य मध्यमत्वज्ञापनार्थं ऋषीणां तथैव दृष्टत्वात्। त्रिरावृत्त इति किम्? इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायवः इत्यादि ॥ १७५ ॥

गूढे ॥ १७६ ॥

सू० अ०—गूढ (प्रच्छन्न, अदृष्ट, अव्यक्त किंतु विवक्षित) (पुनरुक्त में सङ्क्रम होता है)।

उ०—गूढेऽपि त्रिरावृत्ते सङ्क्रमो भवति। गूढं नाम यत्र तृतीयपदस्यावृत्तिरनुषङ्गापेक्षितत्वात् पदस्याधस्तनपदानुषङ्गेण भवति। यथा—"इयम्। ते। राट्। यन्ता।

असि । यमनः । ध्रुवः । धरुणः" (वा० ६।२२) । अत्रासिशब्दो यन्ता ध्रुव इत्यनयोः पदयोः संल्लग्नः पठ्यते । यमनधरुणपदयोस्तु अनुषज्यते । अनुषङ्गापेक्षिणौ हि तौ । अतः स एवं गूढश्चतुरार्तमानः श्रुत्या द्विरावृत्तौ व्यतिक्रम्यते । गूढ इति किम् ? "इषे । त्वा । ऊर्ज्जे । त्वा" (वा० १।१) ॥ १७६ ॥

उ० भ०—तीन बार पुनरुक्त; गूढे = गूढ में भी; सङ्क्रम होता है। गूढ = जहाँ पर तृतोय पद को आवृत्ति अनुवृत्ति (अनुषङ्ग) से अपेक्षित होने से (तृतीय) पद को (आवृत्ति) पूर्ववर्ती पदों के साथ अनुवृत्ति (अनुषङ्ग) से होती है।...यहाँ पर असि शब्द यन्ता और ध्रुव–इन दो पदों के साथ (संहिता-पाठ में) पढ़ा गया है। किन्तु यमन और धरुण पदों के साथ (आवृत्ति) अनुवृत्ति (अनुषङ्ग) से प्राप्त होती है। क्योंकि वे दोनों पद अनुषङ्ग की अपेक्षा रखते हैं। इसलिए वह (असि शब्द) शब्दतः दो बार पुनरुक्त होने पर भी गूढ रूप में चार बार पुनरुक्त होने के कारण छोड़ दिया जाता है।...।

अ०—गूढे द्विरावृत्तौ क्वचित् सङ्क्रमः स्यात्। गूढो नाम यत्र तृतीयाद्यावृत्तिरनुषङ्गापेक्षितत्वात् पदस्याधस्तनपदानुषङ्गेण भवति। यथा–इयम् ते राट् यन्ता असि यमनः ध्रुवः धरुणः। अत्रासिशब्दः यन्ता ध्रुवः इत्यनयोः पदयोः संलग्नः संहितायां पठ्यते। यमनधरुणपरयोस्तु अनुषज्यते। अनुषङ्गापेक्षिणौ हि तौ। एवम् अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता इत्यादावपि द्रष्टव्यम्। स एवं गूढश्चतुरावर्तमानो द्विरावृत्तोऽपि पदपाठे सङ्क्रम्यते। इयं ते राड्यन्तासि यमनः। ध्रुवोऽसि धरुणः इत्यत्र संक्रमः। माध्यन्दिनानामेव। काण्वानां तु न सङ्क्रमः। तेषां पदपाठे द्विवारं असिशब्दश्रवणात्। तत्र च प्रथमोऽसिशब्दः अनुषज्यते द्वितीयो धरुणशब्दो नानुषज्यत इति दर्शनाय न संक्रान्त इति अवधार्यम्। यद्वा गूढ इत्यस्य व्याख्यानान्तरमुच्यते। गूढो नाम स्वप्रकरणे द्विरावृत्तोऽपि प्रकरणान्तरमादाय यस्त्रिरावृत्तो भवति। यथा सौत्रामणिप्रकरणे–वायोः पूतः पवित्रेण प्राङ् सोमो अतिद्रुतः। इन्द्रस्य युज्यस्सखा। इन्द्रस्य युज्यस्सखेति द्विवारं श्रुतोऽपि सङ्क्रम्यते। वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अतिस्रुतः। इन्द्रस्य युज्यस्सखा इति राजसूयप्रकरणमादाय त्रिवारं पाठात्। गूढ इति किम् ? इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायवः ॥ १७६ ॥

पदसमूहे ॥ १७७ ॥

सू० अ०—पदसमूह (= एक या एकाधिक पदों की बहुत बार आवृत्ति) में (सङ्क्रम होता है)।

उ०—पदसमूहः पदसङ्घातः। यत्रैकादि पदं बहु कृत्वा आवर्त्तते स पदसमूहोऽभिप्रेतः। "त्रिपदाद्यावर्त्तमाने" (४।१६८) इत्यनेनैवेतरस्य गतार्थत्वात्। यथा शतरुद्रियाध्याये–"नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये" (वा० १६।१७)। वाजः। च। मे।

प्रसवः । प्रयतिः" (वा० १८।१) ननु—"स्वरिति स्वः । च । मे । यज्ञेन । कल्पताम्" इत्यत्र कस्मान्न लोपो भवति ? शृणु । अविकारार्थं च पुनरुक्तस्य ग्रहणमित्युपरिष्टाद्वक्ष्यति । तेन सूत्रेणेह पुनरुक्तं गृह्यते । एवमर्थविशेषात् पुनरुक्तस्य ग्रहणं भवति । अर्थसामान्दात् पुनरुक्तस्यातिक्रमः । तथा चोक्तम्—"द्रव्यदेवतार्थलिङ्गवचनस्वरकर्तृभेदैः पुनरुक्तस्य ग्रहणं भवति" । आह च—

"पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः ।
अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति" ॥

उ० अ०—पदसमूह = पदों का सङ्घात । जब एक अथवा एक से अधिक पद बहुत बार पुनरुक्त होते हैं वह पदसमूह यहाँ अभीष्ट है । "तीन अथवा तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर सङ्क्रम होता है" इस (सूत्र) से ही अन्य (पदसमूह) की सिद्धि हो जाती है । जैसे शतरुद्रिय अध्याय में—"नमो (नमः) । हिरण्यबाहवे । सेनान्ये" । "वाजः । च । मे । प्रसवः । प्रयतिः" । शङ्का—"स्वरिति स्वः । च । मे । यज्ञेन । कल्पताम् ।" यहाँ (च का) किस कारण से लोप नहीं होता है ? (समाधान) सुनो । "अविकार के लिए पुनरुक्त का ग्रहण किया जाता है" यह (सूत्रकार) आगे (४।१८० में) कहेंगे । उस सूत्र से पुनरुक्त का ग्रहण (अपरित्याग) होता है । इस प्रकार विशेष प्रयोजन होने से पुनरुक्त का ग्रहण होता है । सामान्य प्रयोजन होने से पुनरुक्त का परित्याग (अतिक्रमण) होता है । वैसा कहा भी गया है—"द्रव्य, देवता, अर्थ, लिङ्ग, वचन, स्वर कर्तृ भेद से पुनरुक्त का ग्रहण होता है" । कहा भी है—"शाकल ने कहा है कि पुनरुक्त पद लुप्त हो जाते हैं । गार्ग्य काण्व का मत है कि प्रयोजनवश (पुनरुक्त पद का) अलोप होता है" ।

अ०—पदसमूहः पदाना सङ्घातः । तस्मिन् पदसमूहे सङ्क्रमः स्यात् । पूर्वं त्रिरावृत्ते सङ्क्रम उक्तः । अधुना यत्र एकद्वित्रिप्रभृतिपदानि बहुकृत्य आवर्त्तन्ते तत्र संक्रमोऽनेन विधीयते । यथा—शतरुद्राध्याये "हिरण्यबाहवे सेनान्ये" इत्यादौ नम आदिशब्दानां सङ्क्रमः । एव वाजश्चमे । हिंकाराय स्वाहा । पयस्सोमः परिस्रुता । घृतं मधु यन्त्वाजस्य होतर्यज । वसुवने वसुधेयस्य व्यन्तु यज । इत्यादि । तथा—"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे इत्यादि च ॥ १७७ ॥

संहितायाम् ॥ १७८ ॥

सू० अ०—संहिता-पाठ में (भी सङ्क्रम होता है) ।

उ०—प्राप्यां च संहितायां पुनरुक्ते आवर्त्तमाने संक्रमो भवति । यथा—"लोकन्ता इन्द्रम्" (वा० १२।५४) । "हिरण्यगर्भ" (वा० ३२।३) इत्येषः । "मा मा हिंसीत्" (वा० १२।१०२) इत्येषा । "यस्मान्न जातः" (वा० ८।३६)

इत्येषः । एवं च कृत्वा ब्रह्मयज्ञसंहितायां गलिता ऋचोऽध्येतव्याः ब्रह्मयज्ञसंहितायाः परिपूर्णतायै इति बोध्यम् ॥ १७८ ॥

उ० अ०—आर्षी; **संहितायाम्** = संहिता में; भी पुनरुक्त (ग्रन्थांश) की आवृत्ति होने पर सङ्क्रम होता है।…। इस बात को दृष्टि में रखकर ब्रह्मयज्ञसंहिता की परिपूर्णता के लिए ब्रह्मयज्ञसंहिता में गलितसंज्ञक (पुनरुक्त) ऋचाओं का अध्ययन करना चाहिए—यह समझ लेना चाहिए।

अ०—आर्ष्यां संहितायामपि पुनरुक्ते आवर्त्तमाने संक्रमः स्यात्। यथा—लोकं प्रणता अस्येन्द्रं विश्वाः। हिरण्यगर्भ इत्येषः। तं प्रत्नथायं वेनश्चोदयत्। य इमा विश्वा विश्वकर्मा यो नः पितान्नपतेऽन्नस्य नो देहि इत्यादि। अत्र ब्रह्मयज्ञे संहितायाङ्गलिता अपि ऋचः अध्येतव्याः परिपूर्णार्थत्वादिति केचित्। यथास्थितमेव ब्रह्मयज्ञादौ अध्येतव्या इत्यपरे। यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात्। अधिकोक्तौ मानाभावाद्दोषश्रवणाच्च। अन्यथा पदक्रमाध्ययनेऽपि संपूर्त्यर्थं गलितपदाध्ययनं प्रसज्येदिति। न चेष्टापत्तिः। वाजसनेयिनां तथा पाठाभावात्। पदक्रमयोरार्षत्वेन ब्रह्मयज्ञे विनियोगाच्च। इतरथा पदक्रमलक्षणार्थं ऋषिप्रवृत्तिर्न स्यादित्यलम् विस्तरेण। एतावता प्रबन्धेन पुनरुक्तस्य संक्रमणमुक्त्वा यत्र क्वचनेष्यते तत्राह—॥ १७८ ॥

अवसानार्थं पुनर्ग्रहणम् ॥ १७९ ॥

सू० अ०—अवसान (Pause) को बतलाने के लिए (पुनरुक्त पदों का) पुनः ग्रहण (पाठ) (किया जाता है)।

उ०—एवमधस्तादर्थनिबन्धनं पुनरुक्तस्य ग्रहणं चोक्त्वाथेदानीं संहितार्थमाह। संहितावसानार्थं च; (**पुनर्ग्रहणम्**=) पुनरुक्तस्य ग्रहणम्; भवति। यथा—"आकूत्यै। प्रयुजे। अग्नये। स्वाहा। मेधायै। मनसे। दीक्षायै। तपसे। सरस्वत्यै। पूष्णे। अग्नये स्वाहा"। अग्नये स्वाहेत्येतदत्र पुनरुक्तमवसानार्थं गृह्यते। "बृहस्पतये। हविषा। विधेम। स्वाहा" नात्रावसानादन्यत् प्रयोजनमस्तीति ॥ १७९ ॥

उ० अ०—इस प्रकार पहले (पुनरुक्त पदों के सङ्क्रम को कहकर) और प्रयोजनवश पुनरुक्त के ग्रहण को कहकर अब संहिता के (अवसान के द्योतन के लिए ग्रहण) को कहते हैं। संहिता के; **अवसानार्थम्** = अवसान को बतलाने के लिए भी; (**पुनर्ग्रहणम्** =) पुनरुक्त का ग्रहण (अपरित्याग, पाठ) होता है।…। यहाँ पर "अग्नये स्वाहा" यह पुनरुक्त अवसान के लिए ग्रहण किया जाता है।…। यहाँ पर अवसान से दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है।

अ०—संहितावसानप्रज्ञप्त्यर्थं पदपाठे पुनरुक्तस्य संग्रहणम्। यथा—आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा मेधायै मनसे दीक्षायै तपसे सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा। अत्र स्वाहाकारः

अन्ते पुनः पठ्यतेऽवसानज्ञापनार्थम् एवम् आकूतिमग्निं प्रयुजग्स्वाहा। वाजश्चमे। हिंकाराय स्वाहा। पयस्सोमः। परिस्रुतः। घृतम् मधु व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज इत्यादौ पुनरुक्त-स्यान्ते स्थितस्य न लोप इत्युक्तमेव नात्रावसानादन्यत् प्रयोजनमस्ति ॥ १७९ ॥

अविकारार्थं च ॥ १८० ॥

सू० अ०—(पदों के) अविकार को बतलाने के लिए भी (पुनर्ग्रहण किया जाता है)।

उ०—(अविकारार्थम् =) पदाविकारज्ञापनार्थम्; च पुनरुक्तं गृह्यते। यथा—"इषाय। ऊर्जाय। स्वरिति स्वः। स्वाहा। मूद्र्ध्ने। व्यश्नुविने" (वा०२२।३१)। अत्र स्वरित्येतस्य पदस्य परतो यत् स्वाहाकारस्य ग्रहणं तदविकारार्थम्। यदि इह स्वाहाकारो लुप्यते तदा क्रमसंहितायामप्यस्य पदस्य विकारः स्यात्। स्वर्मूद्र्ध्ने। मूद्र्ध्ने व्यश्नुविने। तथा च सति दृष्टरेफत्वादस्य पदस्य क्रमसंहितायां वेष्टको न स्यात्। अतः पदक्रमसंहिताया अविकारार्थं स्वाहेत्यस्य पदस्य ग्रहणम् ॥ १८० ॥

उ० अ० - (अविकारार्थम् =) पदों के अविकार के लिए; भी पुनरुक्त का ग्रहण किया जाता है। यहाँ पर स्वः—इस पद के बाद में जो स्वाहा शब्द का ग्रहण किया गया है वह अविकार के लिए है।····यदि यहाँ स्वाहा शब्द लुप्त हो जाता है तब क्रम-पाठ में भी इस पद का विकार हो जायेगा। "स्वर्मूद्र्ध्ने। मूद्र्ध्ने व्यश्नुविने" और वैसा होने पर रेफ के (संहिता-पाठ में) दृष्ट (स्पष्ट) होने से क्रम-पाठ में इस पद का वेष्टक नहीं होगा। इसलिए पद-पाठ, क्रम-पाठ और संहिता-पाठ में अविकार (विकाराभाव) के लिए स्वाहा पद का ग्रहण किया जाता है।

अ०—क्वचिदविकारज्ञापनार्थं पुनरुक्तं गृह्यते। यथा—वाजाय प्रसवाय अपिजाय क्रतवे स्वः स्वाहा मूर्ध्ने व्यश्नुविने इत्यादि। अत्र स्वः पदात्परः स्वाहाकारः पुनः पठ्यते। सः अविकारार्थ एव। यदिह स्वाहाकारः लुप्येत तदा क्रमसंहिताया अविकारो न स्यात्। यथा-स्वर्मूर्ध्ने मूर्ध्ने व्यश्नुविने इति। तथा सति दृष्टरेफत्वात् स्वरिति पदस्य क्रमसंहितायां वेष्टनं न स्यात्। अतः क्रमसंहिताविकारार्थं स्वाहेति पदस्य पुनर्ग्रहणम्। एतच्च माध्यन्दिनानां तेषामेव स्वाहाकारः पठ्यते। काण्वानां तु विशेषमाह—

उत्सर्गश्च ॥ १८१ ॥

सू० अ०—अथवा (४।१८० में उक्त पुनरुक्त पद का) परित्याग (किया जाता है)।

उ०—उत्सर्गः=परित्यागः। परित्यागश्चाधस्तनसूत्रविहितस्य लक्षणस्य भवति केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन। यथा—"स्वर्मूद्र्ध्ने। मूद्र्ध्ने व्यश्नुविने"। एवं च कृत्स्न-विकल्पेनैतल्लक्षणम् ॥ १८१ ॥

उ० अ०—उत्सर्गः = परित्याग । कतिपय आचार्यों के मत से पूर्ववर्ती सूत्र (= ४।१८०) में विहित नियम का परित्याग होता है।...। इस प्रकार यह नियम विकल्प से (लागू होता है) ।....।

अ०—चशब्दो वाशब्दार्थः यदाविकारार्थं पुनरुक्तं पठ्यते इति उच्यते तस्य उत्सर्गः परित्यागः कर्त्तव्य इति काण्वादयो मन्यन्ते । "स्वमूँर्ध्ने मूर्ध्ने व्यश्नुविने" इत्यादि एवं चायं व्यवस्थितो विकल्पः अथेदानीमविकारार्थं पुनर्ग्रहणमिति सूत्रस्य व्याख्यानान्तरमुच्यते । अविकारार्थं पुनरुक्तं पठ्यते । यथा—वाजाय स्वाहा प्रसवाय अपिजायेत्यादि । तथा आयुः यज्ञेन कल्पताम् प्राणः इत्यादि तथा पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः इत्यादि तथा कृष्णग्रीवा आग्नेयाः इति उक्ताः सञ्चरा इत्यादि सर्व-मुदाहरणं स्वबुध्या विवेक्तव्यम् । एवं अर्था देविशेषात् पुनरुक्तस्य ग्रहणम् अर्थसामान्यात् पुनरुक्तस्यातिक्रमो द्रष्टव्यः । तथाचोक्तम्—द्रव्यदेवतात्वलिङ्गवचनस्वरकर्तृकभेदे सति पुनरुक्तस्य ग्रहणं भवति । आह च—

पुनरुक्तानि लुप्यन्ते पदानीत्याह शाकलः । अलोप इति गार्ग्यस्य काण्वस्यार्थवशादिति ॥

पुनरुक्तं च पुनरुक्ते च पुनरुक्तानीति विग्रहः । त्रिराद्यावर्त्तमाने संक्रमः । द्विपदैकपदान्यप्यनुवाके इति सूत्रकारोक्तेः । तथा क्वचिदेकमेत्र पुनरुक्तं लुप्यते क्वचिद्-द्वयं लुप्यते । क्वचित् त्रिप्रभृति लुप्यत इति शाकल्यमतम् । पुनरुक्तलोपो नास्तीति गार्ग्यमतम् । काण्वस्यार्थादिति भेदात् क्वचिन्न लुप्यते । क्वचिदर्थादिति सामान्यात् लुप्यते इति श्लोकार्थः । तस्माद्धि सम्प्रदायपाठानुसारेण संक्रमलक्षणं योजनीयमितिभावः। अधुना क्रमलक्षणमाह—

क्रमः स्मृतिप्रयोजनः ॥ १८२ ॥

सू० अ०—क्रम-पाठ का प्रयोजन स्मृति है ।

उ०—क्रम इत्ययमधिकार आ अध्यायपरिसमाप्तेः । संहिताध्ययने प्रयोजनं सिद्धम् । यज्ञे स्वाध्याये च संहितायाः सम्बन्धात् पदाध्ययने संहितार्थपरिज्ञानं प्रयोजन-मिति गम्यते । उक्तं च भाष्यकारेण—"पदानि स्वं स्वमर्थं गमयन्ति" इति । पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराण्यर्थमवगमयन्ति । अथेदानीं पदार्था अवगताः वाक्यार्थमवगमयन्तीति । पदपूर्वकं पदार्थपरिज्ञानं पदार्थपरिज्ञानपूर्वकं वाक्यार्थपरिज्ञानं दर्शयति । एवं संहितापाठे पदपाठे च प्रसिद्धं प्रयोजनम् । न तथा क्रमपाठ इत्यत आह—स्मृतिप्रयोजन इति । स्मृतिः प्रयोजनमस्येति स्मृतिप्रयोजनः । संहिताविषयं दृढस्मरणं करोति पदविषयं च । प्रयोजनदिगियं सूत्रकृता प्रदर्शिता । प्रयोजनानि तु अस्यान्यानि बहूनि । यथा द्वयोर्द्वयोः पदयोर्वर्णसंहितोदात्तादिस्वरसंहिता च क्रमं मुक्त्वा नान्येन ज्ञायते । संहितावसानं च । उत्तमं चैतत् । पदकारणं क्रमः. क्रमणं क्रमः सम्मानं च

शिष्टानां मध्ये क्रमं करोति। व्याकरणस्मृतिश्च क्रमाध्यायिनि प्रत्ययं विदधाति। "तदधीते तद्वेद" (पा०४।२।५९) इत्युपक्रम्य "क्रमादिभ्यो वुन्" इति। अत्र क्रममधीते क्रमकः। पदमधीते पदकः। सिद्धक्रमस्याध्ययनं दर्शयति। अतो हि क्रमो बहुप्रयोजनवान्॥

उ० अ०—(चतुर्थ) अध्याय की समाप्ति तक; क्रमः = क्रम-पाठ—यह अधिकार (चलेगा)। संहिता-पाठ के अध्ययन का प्रयोजन सिद्ध है क्योंकि संहिता-पाठ का सम्बन्ध यज्ञ और स्वाध्याय के साथ है (संहितास्थ मन्त्रों से ही यज्ञ और स्वाध्याय निष्पन्न होते हैं)। संहिता-पाठ (के पदों) के अर्थ का ज्ञान कराना पद-पाठ का प्रयोजन है—यह ज्ञात होता है। भाष्यकार ने भी कहा है—"पद अपने अपने अर्थ को बतलाते हैं"। इस प्रकार पद अपने-अपने अर्थ का अभिधान (कथन) करके निवृत्तव्यापार (कृतार्थ) हुए अर्थ को बतलाते हैं। पदार्थ ज्ञात होने पर (वे पदार्थ) वाक्यार्थ को बतलाते हैं। इस प्रकार पद से पदार्थज्ञान होता है, पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान होता है। इस प्रकार संहिता-पाठ और पद-पाठ का प्रयोजन प्रकृष्ट रूप से सिद्ध है। क्रम-पाठ का (प्रयोजन) उस प्रकार से सिद्ध नहीं है, इसलिए सूत्रकार ने कहा है—स्मृतिप्रयोजनः। स्मृति है प्रयोजन जिसका वह = स्मृतिप्रयोजनः। संहिता-पाठ के विषय को और पद-पाठ के विषय को दृढ़स्मरण (दृढ़ है स्मरण जिसका = पक्का) बना देता है। सूत्रकार ने प्रयोजन का यह दिग्दर्शनमात्र किया है। इस (= क्रम-पाठ) के प्रयोजन तो अन्य बहुत हैं! जैसे दो-दो पदों की वर्ण-संहिता और उदात्त आदि स्वरों की संहिता क्रम-पाठ को छोड़कर अन्य किसी से ज्ञात नहीं होती है। संहिता के अवसान भी (क्रम-पाठ से ज्ञात होते हैं)।… क्रम शिष्टों के मध्य में सम्मान प्रदान करता है। व्याकरणशास्त्र क्रमपाठ के अध्येता के लिए प्रत्यय का विधान करता है। "उसको पढ़ता है या जानता है—इस अर्थ में अण् आदि प्रत्यय हों" इससे प्रारम्भ करके "क्रम आदि पदों से वुन् प्रत्यय हो" तक। यहाँ से ज्ञात होता है कि जो क्रम-पाठ को पढ़ता है वह क्रमक (कहलाता है), जो पद-पाठ को पढ़ता है वह पदक (कहलाता है)। अतः ज्ञात होता है कि क्रम-पाठ का अध्ययन सिद्ध तत्त्व है। इस लिए क्रम-पाठ के बहुत प्रयोजन हैं।

अ०—क्रम इत्ययमधिकारः अध्यायसमाप्तिपर्यन्तं वेदितव्यः। स च क्रमः स्मृतिप्रयोजनः। एतदुक्तं भवति। संहिताध्ययने प्रसिद्धं प्रयोजनं यज्ञादौ विनियोगरूपम्। तथा पदानां अर्थपरिज्ञानद्वारेण संहितया सह सम्बन्धात् पदाध्ययनस्य संहितार्थपरिज्ञानं प्रयोजनम्। उक्तं च महाभाष्ये पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराण्यर्थमवगमयन्ति। अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तः वाक्यार्थमवगमयन्तीति। पदपूर्वकं पदार्थपरिज्ञानं पदार्थपरिज्ञानपूर्वकं वाक्यार्थपरिज्ञानं दर्शयति। एवं च संहितापाठे पदपाठे च स्पष्टं एव प्रयोजनं दृश्यते। न तथा क्रमपाठे दृश्यते। इत्यतः सूत्रकृत्क्रमपाठे प्रयोजनमाह

स्मृतिप्रयोजन इति। स्मृतिप्रयोजनमस्य इति विग्रहः। क्रमो हि संहिताविषयं स्मरणं दृढीकरोति पदविषयं च। उपलक्षणमेतत्। तेन द्वयोर्द्वयोः पदयोः वर्णसंहिता उदात्तादिस्वरसंहिता चेत्यादि बहूनि प्रयोजनानि क्रमपाठस्य वेदितव्यानि। क्रमश्चार्षः। यतः व्याकरणे तदधीते तद्वेद इत्युपक्रम्य क्रमादिभ्यो वुन् इत्यत्र क्रममधीतेऽसौ क्रमकः पदमधीतेऽसौ पदकः इति सिद्धं क्रमाध्ययनं दर्शयति। ऋग्वेदेऽपि अथातो निर्भुजप्रमादा इत्युपक्रम्य उक्तम्-यद्धि सन्धि निवर्त्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम्। अथ यच्छुद्धे अक्षरेऽभिव्याहरति तत्प्रतृणस्य। अग्र उ एव उभयमन्तरेणोभयं प्राप्तं भवति। अन्नाद्यकामो निर्भुजं ब्रूयात् स्वर्गकामः प्रतृण्णमुभयकाम उभयमन्तरेणेति। संहितापदक्रमाणां लक्षणपूर्वकमध्ययनं विद्यते। त आर्ष एवेति तल्लक्षणमाह ॥ १८२ ॥

द्वे द्वे पदे सन्दधात्युत्तरेणोत्तरमावसानादपृक्तवर्जम् ॥ १८३ ॥

सू० अ०—(क्रम-पाठ में) अपृक्त पदों को छोड़कर दो-दो पदों को मिलाता है। उत्तरवर्ती पद के साथ उसके उत्तरवर्ती (पद को मिलाता है)। यह क्रम अवसान तक (चलता है)।

उ०—द्वे द्वे पदे सन्दधाति। कथं सन्दधाति ? **उत्तरेणोत्तरं** पदं सन्दधाति। ततस्तेनान्यदुत्तरमेवम्; (**आवसानात्** =) अवसानं यावत्; (**अपृक्तवर्जम्** =) अपृक्तं वर्जयित्वा। अपृक्तं वक्ष्यति। यथा—"उप त्वा। त्वाग्ने। अग्ने हविष्मतीः। हविष्मतीर्घृताचीः। घृताचीर्यन्त। यन्त हर्य्यत। हर्य्यतेतिहर्य्यत" (वा० ३।४)। अपृक्तमिति किम् ? "सोमाय हंसान्। हंसान् आ लभते। आ लभते" (वा० २४।२२)। "कर्मण आ प्यायध्वम्। आ प्यायध्वम्। प्यायध्वमघ्न्याः" (वा० १।१)। "उदु त्वा। ऊँ इत्यूँ। त्वा विश्वे" (वा० १२।३१)। "उदु त्यम्। ऊँ इत्यूँ। त्यम् जातवेदसम्" (वा० ७।४१)। "तमु त्वा। ऊँ इत्यूँ। त्वा दध्यङ्" (वा० ११।३३)॥

उ० अ०—**द्वे द्वे पदे सन्दधाति** = दो-दो पदों को मिलाता है। कैसे मिलाता है ? **उत्तरेणोत्तरम्** = (प्रथम क्रम-वर्ग के) उत्तरवर्ती (परवर्ती) पद के साथ (उसके) उत्तरवर्ती (परवर्ती) पद को मिलाता है। तदनन्तर उस (उत्तरवर्ती) के साथ दूसरे उत्तरवर्ती को (मिलाता है)। इस प्रकार; (**आवसानात्** =) अवसान तक; (मिलाता है); (**अपृक्तवर्जम्** =) अपृक्त संज्ञक पद को छोड़कर। अपृक्त पद के विषय में (सूत्रकार) कहेंगे।....।

अ०—द्वे द्वे पदे सन्दधाति। कथम्। उत्तरेणोत्तरं पदं सन्दधाति। ततस्तेनान्यदुत्तरमेवावसानं यावत् अपृक्तसंज्ञं पदं वर्जयित्वा। तत्र विशेषं वक्ष्यति। यथा समिधाग्निम समिधेति सं इधा अग्निं दुवस्यत दुवस्यत घृतैः घृतैर्बोधयत बोधयतातिथिम् अतिथिमित्यतिथिम्। अपृक्तवर्जं किम् ? तदुत्वा सोमाय हंसानालभते। अत्र पदद्वयसन्धानं नास्तीत्यर्थः। कथं तर्हि तत्र क्रम इत्यपेक्षायामाह—

अपृक्तमध्यानि त्रीणि स त्रिक्रमः ॥ १८४ ॥

सू० अ०—अपृक्त-संज्ञक पद है मध्य में जिनके ऐसे तीन (पद मिलाये जायें तो) वह त्रिक्रम (कहा जाता है) ।

उ०—अपृक्त आकार उकारश्च । अपृक्त एषां मध्य इत्यपृक्तमध्यानि तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । लम्बकर्णवत् । त्रीणि (अपृक्त) मध्यानि स त्रिक्रमो भवति । यथा—"सोमाय हंसान् । हंसान् आ लभते । आ लभते" (वा० २४।२२) । "कर्मण आ प्यायध्वम् । आ प्यायध्वम्" (वा० १।१) । "उदु त्वा । ऊं इत्यूँ । त्वा विश्वे" (वा० १२।३१)। "तमु त्वा । ऊँ इत्यूँ । त्वा दध्यङ्" (वा० ११।३३) ॥१८४॥

उ० अ०—आकार और उकार अपृक्त हैं । अपृक्त (आ और उ) है मध्य में जिनके वे = अपृक्तमध्यानि—'लम्बकर्णः' की भाँति यह तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है । (अपृक्त) मध्यानि = अपृक्त-संज्ञक पद है मध्य में जिनके ऐसे; त्रीणि = तीन (पद) (एक क्रम-वर्ग में मिलाये जायें तो); स त्रिक्रमः= वह त्रिक्रम; होता है ।...।

अ०—अपृक्त आकार उकारश्च एकवर्णपदमपृक्तमिति लक्षणात् । अपृक्तं मध्ये येषां तानि अपृक्तमध्यानि अत्र तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः लम्बकर्णवत् । अपृक्तमध्यानि त्रीणि पदानि सन्दधीत स त्रिक्रमः । यथा—हंसानालभते । कर्मण आप्यायध्वम् इत्यादि ॥

पुनराकारेणोत्तरम् ॥ १८५ ॥

सू० अ०—आकार के साथ (उसके) उत्तरवर्ती पद को दूसरी बार मिलावे)।

उ०—आकार उकारश्चापृक्तौ । तयोरुकारस्य प्रगृह्यत्वादुपरिष्टाद्वेष्टकं वक्ष्यति । आकारस्य यद्वक्तव्यं तदाह—त्रिक्रमं कृत्वा पुनराकारेणोत्तरं पदं सन्दधाति । यथा—"सोमाय हंसान् । हंसान् आ लभते । आ लभते" (वा०२४।२२)। "कर्मण आ प्यायध्वम् । आ प्यायध्वम्" (वा० १।१) ॥ १८५ ॥

उ० अ०—आकार और उकार अपृक्त-संज्ञक हैं । उनमें से उकार के प्रगृह्य होने से (उसके विषय में सूत्रकार ४।१९४ में) वेष्टक को कहेंगे । आकार के विषय में जो वक्तव्य है उसे कहते हैं—त्रिक्रम (तीन पदों के क्रम-वर्ग) का निर्माण करके; पुनराकारेणोत्तरम् = दूसरी बार आकार (= आ) के साथ (उसके) उत्तरवर्ती पद को; मिलावे ।...।

अ०—आकार उकारश्चापृक्तौ तयोर्मध्ये उकारस्य प्रगृह्यत्वात् वेष्टनं वक्ष्यति । आकारस्य विशेषमाह । त्रिक्रमं कृत्वा पुनः केवलमुत्तरं सन्दधीत । यथा कर्मण आप्यायध्वम् आप्यायध्वम् । तथा हंसानालभते आलभते । आकारेणेति किम् ? उदुत्वा ऊँ इत्यूम् त्वा विश्वे ॥ १८५ ॥

मो षू णाभी षु णौ च ॥ १८६ ॥

सू०अ०—मो षू णः और अभी षु णः भी (तीन-तीन पदों के क्रम-वर्ग हैं)।...।

उ०—एतौ त्रिक्रमौ भवतः। यथा—"मो षू णः। मो इति मो। सु नः। न इन्द्र" (वा० ३।४५)। "अभी षु णः। सु नः। नः सखीनाम्" (वा० २७।४१)॥

उ०अ०—ये दोनों (=मो षू णः और अभी षु णः) तीन-तीन पदों के क्रम-वर्ग हैं।

अ०—मो षू णः अभी षु णः एतौ त्रिक्रमौ स्तः। अनपृक्तत्वादारम्भः। यथा—मो षू णः मो इति मो सु नः। पुनस्सुपदेनोत्तरमिति वक्ष्यति। न इन्द्र। अभी षु णः सु नः नःसखीनाम्। एवं त्रिक्रममुक्त्वा चतुःक्रममाह—

चत्वार्यपृक्तपूर्वे नकारपरे सौ ॥ १८७ ॥

सू० अ०—सु पद के पूर्व में अपृक्त-संज्ञक पद हो और बाद में नकार हो तो चार पदों (का क्रम-वर्ग बनाया जाता है)।

उ०—चत्वारि पदानि सन्दधाति; (सौ =) सु इत्येतस्मिन् पदे; अपृक्तपूर्वे नकारपरे च। यथा—"ऊर्ध्व ऊ षु णः। ऊँ इत्यूँ। सु नः। न ऊतये" (वा० ११।४१)। "एतादृक्षास ऊ षु णः। ऊँ इत्यूँ। सु नः। नः सदृक्षासः" (वा० १७।८४)। "गोमदू षु णासत्या। गोमदिति गो—मत्। ऊँ इत्यूँ। सु नासत्या। नासत्याश्वावत्" (वा०२०।८१)॥

उ० अ०—अपृक्तपूर्वे=अपृक्त—संज्ञक पद है पूर्व में जिसके; और; नकारपरे=नकार है बाद में जिसके ऐसा; (सौ=) सु पद होने पर; चत्वारि=चार पदों को; मिलाता है।...।

अ०—चत्वारि पदानि सन्दधीत। क्व सुपदे। कीदृशे। अपृक्तपूर्वे नकारपरे। अपृक्तं पूर्वं अस्य नकारः परः यस्य इति बहुव्रीहिः। यथा ऊर्ध्व ऊ षु णः। ऊँ इत्यूम्। सु नः। न ऊतये। तथा—एतादृक्षास ऊ षु णः ऊँ इत्यूम् सु नः नः सदृक्षासः। गोमदू षु णासत्या गोमदिति गो मत् ऊँ इत्यूम् सु नासत्या नासत्याश्वावत् ॥ १८७ ॥

मकारपरे चैके ॥ १८८ ॥

सू० अ०—सु पद के पूर्व में अपृक्त-संज्ञक पद हो और बाद में मकार हो तब भी कतिपय आचार्य (चार पदों का क्रम-वर्ग बनाते हैं)।

उ०—सु इत्येतस्मिन् पदे अपृक्तपूर्वे मकारपरे च एके आचार्याश्चत्वारि पदानि सन्दधति। यथा—"महीमू षु मातरम्। ऊँ इत्यूँ। सु मातरम्। मातरं सुव्रतानाम्" (वा० २१।५)। मकारपर इति जघन्यश्चायमेकीयः पक्षः। यतः चतुःक्रमेषु सर्वेषु पूर्वो भावी उत्तरं सुपदं ततो नकारादिपदम्। यथा—"गोमत् ऊ षु नासत्या" (वा० २०।८१) इति। तत्र उकारो भावी सुपदस्य षत्वे निमित्तम्। सुपदे षत्वं नकारादौ पदे णत्वे निमित्तम्। तत्र यदि चतुःक्रमो न स्यात्तर्हि षत्वं विहन्येत। ततस्तु आर्षी संहिता न

स्यात् । चतुःक्रमे तु सा स्मृता भवति । न च कश्चिदिह सुशब्दं विना मकारादेः पदस्य विकारः सम्भवति । अतस्त्रिक्रम एवायम् । "महीमू षु । ऊँ इत्यूँ । सु मातरम्" । एवं त्रिक्रमेष्वपि प्रयोजनान्यन्वेष्टव्यानि ॥ १८८ ॥

उ० अ०—अपृक्त-संज्ञक पद है पूर्व में जिसके और; मकारपरे = मकार है बाद में जिसके; ऐसा सु—यह पद होने पर; एके = कतिपय आचार्य; चार पदों को मिलाते हैं।...। 'मकार बाद में होने पर'—कतिपय आचार्यों का यह पक्ष तुच्छ है। क्योंकि चार पदों वाले सभी क्रम-वर्गों में पूर्ववर्ती भावी स्वर (होता है), उत्तरवर्ती सु पद (होता है), उसके बाद में नकार से प्रारम्भ होने वाला पद (होता है) । जैसे-"गोमत् ऊ पु नासत्या" । वहाँ भावी स्वर उकार सु पद के षत्व में निमित्त है। सु पद का षत्व नकारादि पद के णत्व में निमित्त है। वहाँ यदि चार पदों का क्रम-वर्ग न होवे तो णत्व का विलोप हो जायेगा। और इससे आर्षी संहिता (सुरक्षित, अलुप्त) नहीं रहेगी। चार पदों का क्रम-वर्ग होने पर तो वह (=आर्षी संहिता) अलुप्त रहती है। यहाँ पर सु शब्द के विना मकारादि पद का कोई विकार नहीं होता है। अतः यह तीन पदों का क्रम-वर्ग ही है। "महीमू षु । ऊँ इत्यूँ। सु मातरम्। इस प्रकार तीन पदों के क्रम-वर्गों में भी प्रयोजनों को खोज लेना चाहिए।

अ०—सु एतस्मिन् परे अपृक्तपूर्वे मकारे एके आचार्याश्चतुःक्रमं मन्यन्ते। एकशब्दोऽत्र मुख्यार्थः। माध्यन्दिनानां त्रिक्रमत्वात्। तेन इदं काण्वमतमिति गम्यते। यथा—महीमू षु मातरम् ऊँ इत्यूम् सु मातरम् मातरं सुव्रतानाम्। इति। एके किम्? महीमू षु। ऊँ इत्यूम्। सु मातरम्। सर्वत्र चतुःक्रमपूर्वो भावी। उत्तरं सुपदम्। ततः नकारो यथा गोमदू षु णासत्या। तत्र उकारो भावी। सुपदस्य षत्वे निमित्तम्। सुपदस्य च षत्वम् नकारादेः परपदस्य णत्वे निमित्तम्। तत्र यदि चतुष्क्रमो न स्यात् तदा णत्वं विहन्येत। ततश्च आर्षसंहिता न स्यात्। चतुष्क्रमे तु सा स्मृता भवति। इह तु न किञ्चित् सुशब्दं विना मकारादेः पदस्य विकारः सम्भवति अतः त्रिक्रम एवायमिति माध्यन्दिनानामाशयः। यद्वचनवाचनिकमिति न्यायात्। न तु सृष्टिः कार्येति काण्वाशय इति विवेकः। एवं त्रिक्रमचतुष्क्रममुक्त्वा तद्विधिविशेषमाह—

पुनः सुपदेनोत्तरम् ॥ १८६ ॥

सू० अ०—सु पद के साथ उसके उत्तरवर्ती (पद) को दूसरी बार (मिलाता है) ।

उ०—यत्र सुपदनिमित्तस्त्रिक्रमश्चतुःक्रमो वा कृतस्तत्र पुनः सुपदेनोत्तरं पदं सन्दधाति। यथा—"मो षू णः। मो इति मो। सु नः" (वा० ३।४५)। "अभी षु णः। सु नः। नः सखीनाम्" (वा० २७।४१)। "गोमदू षु णासत्या। गोमदिति गो-मत्। ऊँ इत्यूँ। सु नासत्या" (वा० २०।८१) ॥ १८६ ॥

उ० अ०—जहाँ पर सु पद के कारण तीन पदों का क्रम-वर्ग (त्रिक्रम) अथवा चार पदों का क्रम-वर्ग (चतुःक्रम) बनाया जाता है वहाँ; **सुपदेनोत्तरम्** = सु पद के साथ उत्तरवर्ती पद को; **पुनः** = दूसरी बार; मिलाता है।""।

अ०—यत्र सुपदनिमित्तः त्रिक्रमः चतुष्क्रमो वा कृतः तत्र पुनस्सुपदेनोत्तरं पदं सन्दधीत । यथा मो षु णः । मो इति मो । सु नः । तथा गोमदू षु णासत्या । गोमदिति गोमत् । ऊँ इत्यूम् । सु नासत्या । तथा महीमू षु मातरम् । ऊँ इत्यूम् । सु मातरम् ॥

पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य ॥ १९० ॥

सू० अ०—उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित (मिलाये हुए) पूर्ववर्ती (पद) का स्थितोपस्थित (पाठ करना चाहिए), यदि (पूर्ववर्ती पद) अवग्रह के योग्य है।

उ०—एवं द्वित्रिक्रमाद्यनन्तरं परिशिष्टं क्रमविधिमाह । **पूर्वस्य**; (**उत्तर-संहितस्य** =) उत्तरपदस्य त्रिपदचतुःक्रमसम्बद्धस्य सतः; पश्चात् **स्थितोपस्थितं** कर्त्तव्यम् । स्थितोपस्थितशब्देन वेष्टकोऽभिधीयते । यथा—"श्रेष्ठतमाय कर्मणे । श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ-तमाय" (वा० १।१)। "उपप्रयन्तो अध्वरम् । उपप्रयन्त इत्युप-प्रयन्तः" (वा० ३।११) । एतच्च पदप्रदर्शनार्थं क्रियते ॥ १९० ॥

उ० अ०—इस प्रकार द्विक्रम (दो पदों के क्रम-वर्ग) और त्रिक्रम (तीन पदों के क्रम-वर्ग) इत्यादि के अनन्तर अवशिष्ट क्रम-विधि (क्रम पाठ विषयक विधान) को कहते हैं। (द्विक्रम,) त्रिक्रम अथवा चतुःक्रम से सम्बद्ध; **पूर्वस्य** = पूर्ववर्ती (पद) की; (**उत्तरसंहितस्य** =) उत्तरवर्ती (पद) के साथ संधि करने के पश्चात्; उस (पूर्ववर्ती पद) का **स्थितोपस्थित** (पाठ) करना चाहिए (अर्थात् मध्य में इति रख कर पद की आवृत्ति करनी चाहिए)। स्थितोपस्थित शब्द के द्वारा वेष्टक का कथन (अभिधान) होता है।""। और यह (स्थितोपस्थितपाठ) पद (के स्वरूप) को दिखलाने के लिए किया जाता है (भाष्यकार ने 'अवगृह्यस्य' पद की व्याख्या नहीं की है)।

अ०—एवं त्रिक्रमाद्युक्त्वानन्तरं परिशिष्टं क्रमविधिमाह—पूर्वस्य पदस्य उत्तर-संहितस्य सतः पश्चात् स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम् पदकाले वेष्टनयुक्तस्य पदस्य क्रमेपि वेष्टनं कर्त्तव्यमिति भावः। यथा—श्रेष्ठतमाय कर्मणे श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठ तमाय कर्मण आप्यायध्वम् । तथा सुसमिद्धाय शोचिषे सुसमिद्धायेति सु समिद्धाय । तथा उपप्रयन्त अध्वरम् इत्युप प्रयन्तः इत्यादि । अवग्रहस्येति किम्? इषे त्वा त्वोर्जे । अत्र पदकाले वेष्टनं नास्ति। अथेदानीं पदकाले वेष्टनाभावेपि क्रमे क्वचिद्वेष्टनं वक्तुमाह —॥ १९० ॥

सुपदे शाकटायनः ॥ १९१ ॥

सू० अ०—शाकटायन 'सु' पद में (स्थितोपस्थित पाठ मानते हैं)।

उ०—सुपदे स्थितोपस्थितं शाकटायन आचार्यो मन्यते। पूर्वस्योत्तरसंहितस्येति वर्त्तते। यथा—"मो षू णः। मो इति मो। स्विति सु" (वा० ३।४५)। "गोमदू षु णासत्या। गोमदिति गो–मत्। ऊँ इत्यूँ। स्विति सु" (वा० २०।८१)। एतच्च पदस्वरूपज्ञापनार्थम्। विनापि वेष्टकेन पदस्वरूपं ज्ञायते इति शाकटायनमतं न साधीयः॥

उ० अ०—शाकटायन आचार्य; सुपदे = 'सु' पद में स्थितोपस्थित मानते हैं। उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित पूर्ववर्ती (पद) का—इसकी अनुवृत्ति हो रही है।...और यह (स्थितोपस्थित) पद के स्वरूप को बतलाने के लिए (किया जाता है)। वेष्टक के बिना भी पद का स्वरूप ज्ञात होता है, इसलिए शाकटायन का मत ठीक नहीं है।

अ०—सुपदे स्थितोपस्थितं क्रमपाठे कर्त्तव्यमिति शाकटायनाचार्यो मन्यते। यथा—मो षु णः मो इति मो स्विति सु। तथा गोमदू षु णासत्या गोमदिति गोमत् ऊँ इत्यूम् स्वितिसु। एतच्च वेष्टनं पदस्वरूपज्ञापनार्थम् विनापि वेष्टकेन पदस्वरूपं ज्ञायत एवेति शाकटायनमतं न साधु। शाकटायन इति किम्? काण्वमाध्यन्दिनानां मा भूदिति। यदि काण्वमात्रविषयं स्यात् तदा मकारपरे चँके इति सूत्रानन्तरमेतत्सूत्रं पठेत। तस्माद्व्यवधानात् शाकटायनग्रहणाच्च शाखान्तरविषयमित्यवधेयम्। यद्वा सुपदे शाकटायन इति ज्ञप्रश्लेषेण सूत्रं व्याख्यायन्ते। नेदं काण्वमतमिति कैश्चिदुक्तम् शाकटायन इति शब्दस्य काण्वपर्यायत्वात् परिणत इति शाकटायन इत्यादौ तथा दृष्टत्वात् इति निरस्तम्। सर्वदेशेषु स्विति सु इति क्वापि काण्वानामपाठात् वेदे लक्ष्यानुसारेण लक्षणस्य व्याख्येयत्वात् पतञ्जल्यादिमुनिभिस्तथात्वाभ्युपगमाच्चेत्यलं प्रपञ्चेन॥ १६१॥

अन्तःपददीर्घीभावे॥ १६२॥

सू० अ०—पद के मध्य में दीर्घ होने पर (उस पद का स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए)।

उ०—पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमिति वर्त्तते। पदमध्ये दीर्घीभावोऽन्तःपददीर्घीभावस्तस्मिन्नन्तःपददीर्घीभावे पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम्। यथा—"मामहन्तामदितिः। ममहन्तामिति ममहन्ताम्" (वा० ३३।४२)। "सादन्यं विदथ्यम्। सदन्यमिति सदन्यम्" (वा० ३४।२१)॥ १६२॥

उ० अ०—उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित पूर्ववर्ती (पद) का—इसकी अनुवृत्ति हो रही है। पद के मध्य में दीर्घ होना = अन्तःपददीर्घीभावः, वह होने पर = अन्तःपददीर्घीभावे। उत्तरवर्ती (पद) के साथ संधि होने के अनन्तर स्थितोपस्थित करना चाहिए।...।

अ०—पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमिति वर्त्तते। पदमध्ये दीर्घीभावः यः सः अन्तपददीर्घीभावः। तस्मिन्नन्तःपददीर्घीभावे पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितं

कर्त्तव्यम् । अनवग्रहार्थोऽयमारम्भः । यथा—मामहन्तामदितिः ममहन्तामिति ममहन्ताम् । सादन्यं विदथ्यम् सदन्यमिति सदन्यम् ॥ १९२ ॥

विनामे ॥ १९३ ॥

सू० अ०—मूर्धन्यभाव के स्थल में (स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए)।

उ०—पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमिति वर्त्तते। विनामशब्देन दन्त्यस्य मूर्धन्यभाव उच्यते। विनामश्चैष इत्थम्भूतो गृह्यते। यत्र निमित्तनैमित्तिकावेकपदस्थौ भवतः पूर्वपदस्य **विनामे** उत्तरपदसंहितस्य स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम्। यथा—"सिपासन्तो वनामहे। सिसासन्त इति सिसासन्तः" (वा० २६।१८)। "सुषाव सोमम्। सुसावेति सुसाव" (वा० १९।२) ॥ १९३ ॥

उ० अ०—उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित पूर्ववर्ती (पद) का—इसकी अनुवृत्ति हो रही है। विनाम शब्द के द्वारा दन्त्य (वर्ण) के मूर्धन्य (वर्ण) होने को कहा जाता है। और इस प्रकार के विनाम का यहाँ ग्रहण होता है—जहाँ पर निमित्त (मूर्धन्यभाव करने वाला वर्ण) और नैमित्तिक (मूर्धन्य होने वाला वर्ण) एक पद में स्थित होते हैं, वहाँ पूर्ववर्ती पद (के दन्त्य वर्ण) का; **विनामे** = मूर्धन्यभाव होने पर; परवर्ती पद के साथ संधि होने के पश्चात् (उस पूर्ववर्ती पद का) स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।...।

अ०—विनामो नाम दन्त्यस्य मूर्धन्यभावः। तत्र पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितं स्यात्। यथा—सीषधामेन्द्रः सोसधामेति सीसधाम। सुषाव सोमम् सुसावेति सुसाव ॥

प्रगृह्ये ॥ १९४ ॥

सू० अ०—प्रगृह्य-संज्ञक पद में (स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए)।

उ०—"प्रगृह्यम्" (१।९२) इत्यधिकृत्य यद्विहितं तस्यायं विधिः। पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितमिति वर्त्तते, पूर्वे **प्रगृह्ये** उत्तरपदसंहिते स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम्। यथा—"इन्द्राग्नी अपात्। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी"। "उदु त्वा। ऊँ इत्यूँ। त्वा विश्वे" (वा० १२।३१)। "अमी रोचने। अमी इत्यमी। रोचने दिवः" (वा० १३।८) ॥

उ० अ०—"अब प्रगृह्य का विधान किया जायेगा" यह अधिकार करके जिसका विधान किया गया है उसके विषय में यह विधान है। उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित पूर्ववर्ती (पद) का इसकी अनुवृत्ति हो रही है। पूर्ववर्ती प्रगृह्य की उत्तरवर्ती पद के साथ संधि होने के पश्चात् स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए।...।

अ०—प्रगृह्यस्योत्तसंहितस्य स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम् प्रगृह्यमित्यधिकृत्य यद्विहितं तस्यायं विधिः। यथा—इन्द्राग्नो आगतम्। इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी। उदुत्वा ऊँ इत्यूम् इन्द्रवायू बृहस्पतिम्। इन्द्रवायू इतीन्द्रवायू बृहस्पतिम्। इन्द्रवायू इतीन्द्रवायू। अध्वर्यो

अद्रिभिः । अध्वर्यो इत्यध्वर्यो । अमी रोचने । अमी इत्यमो इत्यादि ॥ १६४ ॥

रिफितेऽनिरुक्ते ॥ १६५ ॥

सू० अ०— संहिता पाठ में जिसका रेफ-स्वरूप ज्ञात नहीं होता है उस रिफित पद में (स्थितोपस्थित पाठ होता है)।

उ०—"विसर्जनीयो रिफितः" (१।१६०) इत्यस्मिन्नधिकारे यानि रिफितानि पदानि विहितानि तेषामत्र ग्रहणम् । "पूर्वस्योत्तरसंहितस्य स्थितोपस्थितम्" इति वर्त्तते । सप्तमीकृतविभक्तिव्यत्ययम् । पूर्वे **रिफिते** पदेऽ**निरुक्ते** संहितायामनिर्ज्ञातरेफे उत्तरपदसंहिते स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम् । यथा—"अन्तस्ते । अन्तरित्यन्तः। ते द्यावापृथिवी" (वा०७।५)। "नेष्टः पिब । नेष्टरिति नेष्टः । पिब ऋतुना" (वा० २६।२१) । सर्वे एते वेष्टकाः पदप्रकृतिज्ञापनार्थाः ॥ १६५ ॥

उ० अ०—"अधोलिखित स्थलों में विसर्जनीय रिफित होता है" इस अधिकार में जितने रिफित पदों का विधान किया गया है उनका यहाँ ग्रहण होता है। उत्तरवर्ती (पद) के साथ संहित पूर्ववर्ती (पद) का—इसकी अनुवृत्ति हो रही है। (पूर्वस्योत्तर-संहितस्य के अनुरूप रिफित इत्यादि पदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए था अतः इन शब्दों में) सप्तमी का प्रयोग विभक्ति-परिवर्तन है (अर्थात् विभक्ति-व्यत्यय के कारण सप्तमी का प्रयोग हुआ है) । पूर्ववर्ती **रिफित** पद के **अनिरुक्त** होने पर = संहिता-पाठ में रेफ के ज्ञात न होने पर; उत्तरवर्ती पद के साथ संधि होने के पश्चात् (उस पूर्ववर्ती रिफित पद का) स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए । ।(पूर्वविहित) ये सभी वेष्टक पद के स्वरूप को बतलाने के लिए हैं ।

अ०—विसर्जनीयो रिफित इति अधिकारे यानि पदानि विहितानि तेषामत्र ग्रहणम् । संहितायामनिर्ज्ञातरेफस्य रिफितसंज्ञस्य उत्तरपदसंहितस्य स्थितोपस्थितं कार्यम् । यथा—अन्तस्ते अन्तरित्यन्तः । पुनश्चक्षुः । पुनरिति पुनः । स्वस्सुप्रजाः । स्वरिति स्वः । सवितः प्र सवितरिति सवितः । एते सर्वे वेष्टकाः पदप्रकृतिज्ञापनार्थाः ॥ १६५ ॥

अवसाने च ॥ १६६ ॥

सू० अ०—अवसान (में स्थित पद) में भी (स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए)।

उ०—"विरामोऽवसानम्" (पा० १।४।११०) इत्युच्यते । **अवसाने** = विरामे; स्थितोपस्थितं कर्त्तव्यम् । संहितावसानज्ञापनार्थम् । "अग्नये जातवेदसे । जातवेदस इति जात-वेदसे" (वा० ३।२) ॥ १६६ ॥

उ० अ०—"विराम अवसान है" यह कहा जाता है । **अवसाने** = विराम (में स्थित पद) में; स्थितोपस्थित पाठ करना चाहिए । संहिता-पाठ के अवसान को बतलाने के लिए (ऐसा किया जाता है) ।""।

अ०—विरामोऽवसानमुच्यते । अवसानेर्धर्चादिसम्प्राप्तौ उत्तरसंहितस्य स्थितो-

पस्थितं कार्यम्। यथा-अग्नये जातवेदसे। जातवेदसे इति जातवेदसे। तथा समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। अतिथिमित्यतिथिम्। वसोः पवित्रमसि। असीत्यसि॥

यथासमाम्नातं क्रमावसानं सङ्क्रमेषु ॥ १९७ ॥

सू० अ०—सङ्क्रम (के स्थलों) में सम्प्रदाय के अनुसार क्रम-वर्ग की समाप्ति करनी चाहिए।

उ०—अवसाने सन्धिः सङ्क्रम इत्युच्यते। गलत्पदमतिक्रम्यागलता सह सन्धानं सङ्क्रमः। क्रमसन्धिविषयभूतेषु येन प्रकारेण **क्रमावसानं** परिपठितं तेनैव भवति। यथा-"विश्वधाः परमेण ह्वार्षीच्छतधारम्" (वा० १।२-३)। अधस्तनसूत्रापवादः॥

उ० अ०—अवसान में संधि करना सङ्क्रम है। पुनरुक्त पदों का परित्याग करके अपुनरुक्त पद के साथ संधि करना सङ्क्रम है। (**सङ्क्रमेषु**=) क्रम-संधि के लक्ष्यभूत (सङ्क्रमों) में, (**यथासमाम्नात्** = जैसा पाठ किया गया है वैसे =) जिस प्रकार से (सम्प्रदाय में) **क्रमावसानम्** = क्रम-वर्ग को समाप्ति का पाठ किया गया है; उसी प्रकार से (क्रम-वर्ग की समाप्ति) होती है।...पूर्ववर्ती सूत्र का यह अपवाद है (संहितागत अवसान में स्थित ह्वार्षीत् पद का स्थितोपस्थित पाठ नहीं हुआ है)।

अ०—गलत्पदमतिक्रम्य अगलता पदेन सह सन्धानमिह सङ्क्रममित्युच्यते। तत्र संक्रमेषु येन प्रकारेण शास्त्रे क्रमावसानं पठ्यते तेनैव प्रकारेण अवसानं स्यात्। अधस्तन-सूत्रस्यापवादोऽयम्। यथा-इन्द्रस्य बाहुः बाहुरसि अक्षि दक्षिणः दक्षिणो मित्रावरुणौ मित्रावरुणौ त्वा त्वोत्तरतः उत्तरतः परि परिधत्ताम् धत्तां ध्रुवेण ध्रुवेण धर्मणा धर्मणेति धर्मणा इत्यादि। अत्र संहितावसाने न क्रमावसानम्। किन्तु क्रमशास्त्रोक्तमवसानमिति बोध्यम्॥ १९७॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ १९८ ॥

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

उ०—इत्युक्तार्थम्॥ १९८॥

इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुनोव्वटेन कृते मातृमोदाख्ये प्रातिशाख्यभाष्ये
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः॥ ४॥

अ०—कथितार्थः। हरिः ओम्॥ १९८॥

श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञश्रीमन्नागदेवभट्टसूनुना प्रथमशाखिना अनन्तभट्टेन विरचिते
श्रीमत्कात्यायनकृतप्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये पदार्थप्रकाशे
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः॥ ४॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

समासेऽवग्रहो ह्रस्वसमकालः ॥ १ ॥

सू० अ०—समास में अवग्रह (होता है और वह अवग्रह) ह्रस्व (अक्षर) के तुल्य काल वाला (होता है)।

उ०—संहितापदलक्षणं वक्तव्यमिति शास्त्रमारब्धं कात्यायनेनाचार्येण। तत्र "संहितायाम्" (३।१) इत्यधिकृत्य "पदान्तपदाद्योः सन्धिः" (३।३) इत्यादिना ग्रन्थेन संहितालक्षणमशेषमुक्तम। तथा "क्रमः स्मृतिप्रयोजनः" (४।१८२) इत्यादिना ग्रन्थेन क्रमलक्षणमुक्तम्। तथा "अर्थः पदम्" (३।२) इति पदलक्षणमुक्तम्। स्वरश्च "स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्" (२।१) इत्यनेनाध्यायेन विहितः। अर्थविशेषाच्चतुष्प्रकारं तत् पदं भवतीत्युपरिष्टाद्वक्ष्यति—

"क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः"॥

तत्राख्यातं भवति। यथा—पाहि रक्ष यज यच्छेति। उपसर्गा भवन्ति। यथा—परोपापावप्रतिपरि इत्यादयः। निपाता भवन्ति। यथा—वा च कमु चित् सिमस्मात् इत्यादयः। नाम त्रिप्रकारं भवति कृत्तद्धितसमाससंज्ञाभेदेन भिन्नम्। कृतः—यज्ञः वेदः याच्ञा भूतिः। तद्धिताः—आग्नेयः अग्नीषोमीयः ऐन्द्राग्नः वैश्वदेवः। समासा भवन्ति। यथा—विश्वकर्मा विमनाः विहायाः। तत्र समासपदेऽवग्रहो भवति द्वयोः पदयोः बहूनां वा परस्पराकाङ्क्षया सम्बद्धानाम्। यत्र द्वित्र्यादिपदसमूहोच्चारणं स समासः। स च समासश्चतुष्प्रकारो भवति। यथा—अव्ययीभावतत्पुरुषद्वन्द्वबहुव्रीहयः। तत्र पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः। यथा—समम्भूमि। विषुरूपम्। अन्तःपदम्। अनुरूपम्। उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः। यथा—अघशंसः। व्रतपते। आखरेष्ठः। उपप्रयन्त। उभयपदप्रधानो द्वन्द्वः। यथा—अग्नीषोमौ। इन्द्राग्नी। मित्रावरुणौ। दीक्षातपसोः। अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः। यथा—अनमीवाः। कृष्णग्रीवाः। शितिकक्षः। एवमेतस्मिश्चतुष्प्रकारेऽपि; (**समासे**=) समासपदे; **अवग्रहो** भवति। द्वयोः पदयोः पृथग्ग्रहणमवग्रहः। नानाग्रह इत्यर्थः। स च; **ह्रस्वसमकालः** = ह्रस्वाक्षरतुल्यकालः; भवति। यथा—"ऋक्सामाभ्यामित्यृक्—सामाभ्याम्। सन्तरन्त इति सम्—तरन्तः" (वा० ४।१)। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ १ ॥

उ० अ०—संहिता और पद का स्वरूप (लक्षण) कहना चाहिए—इसी हेतु आचार्य कात्यायन ने (प्रातिशाख्य) शास्त्र का प्रारम्भ किया। उनमें से "संहिता में" यह अधिकार करके "पदान्त और पदादि में संधि होती है" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा

संहिता का स्वरूप (लक्षण) पूर्णरूपेण कह दिया गया है। उसी प्रकार "स्मृति क्रम-पाठ का प्रयोजन है" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा क्रम-पाठ का स्वरूप कह दिया गया है। उसी प्रकार "अर्थ का अभिधान करने वाला पद होता है" इससे पद का स्वरूप कह दिया गया है। "स्वरित पदों को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है" इस अध्याय के द्वारा स्वर का भी विधान किया जा चुका हैं। अर्थ में वैशिष्ट्य (अन्तर) होने के कारण वह पद चार प्रकार का होता है-(सूत्रकार) यह बाद में कहेंगे—"आख्यात क्रिया का वाचक है, उपसर्ग (नाम और आख्यात के अर्थ में) विशेषता उत्पन्न करता है, नाम द्रव्य (सत्त्व) का अभिधान करने वाला है, निपात पाद का पूरण करने वाला है। उनमें से आख्यात (इस प्रकार का) होता है। जैसे—पाहि, रक्ष, यज, यच्छ इत्यादि। उपसर्ग (इस प्रकार के) होते हैं। जैसे—परा, उप, अप, अव, प्रति, परि इत्यादि। निपात (इस प्रकार के) होते हैं। जैसे—वा, च, कम्, उ, चित, सिमस्मात् इत्यादि। नाम तीन प्रकार का होता है। कृदन्त, तद्धित, समास इन संज्ञाओं के भेद से (वह नाम तीन प्रकारों में) विभक्त (भिन्न) है। कृदन्त-यज्ञः, वेदः, याच्ञा, भूतिः। तद्धित-आग्नेयः, अग्नीषोमीयः, ऐन्द्राग्नः, वैश्वदेवः। समास (इस प्रकार के) होते हैं। जैसे-विश्वकर्मा, विमनाः, विहायाः। उन (= कृदन्त, तद्धित और समास) में से समास पद में परस्पर आकांक्षा से सम्बद्ध दो पदों का अथवा बहुत (पदों) का पृथक्करण (अवग्रह) होता है। जहाँ दो, तीन इत्यादि पदों का सहोच्चारण (होता है) वह समास है। और वह समास चार प्रकार का होता है। जैसे—अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व और बहुव्रीहि। उनमें से जिसमें पूर्व पद प्रधान हो, वह अव्ययीभाव (होता है)। जैसे—समम्भूमि, विपुरूपम्, अन्तःपदम् और अनुरूपम्। जिसमें उत्तर पद प्रधान हो, वह तत्पुरुष (होता है)। जैसे—अघशंसः, व्रतपते, आखरेष्ठः और उपप्रयन्त। जिसमें दोनों पद प्रधान हों, वह द्वन्द्व (होता है)। जैसे—अग्नीषोमौ, इन्द्राग्नी, मित्रा-वरुणौ, दीक्षातपसोः। जिसमें अन्य पद प्रधान हो, वह बहुव्रीहि (होता है)। जैसे—अनमीवाः, कृष्णग्रीवाः और शितिकक्षः। चारों ही (= सभी) प्रकार के इस; (समासे=) समास पद में; अवग्रह होता है। दो पदों का पृथग्ग्रहण अवग्रह (कहलाता है)। पृथक् (भिन्न) रूप से ग्रहण करना (=लेना)-यह अर्थ है। और वह (अवग्रह); **ह्रस्वसमकालः** = ह्रस्व अक्षर के तुल्य काल वाला (=एक मात्रा वाला); होता है। जैसे—"ऋक्सामाभ्यामित्यृक्-सामाभ्याम्" "सन्तरन्त इति सम्—तरन्तः"। यह (= ५।१) अधिकार सूत्र है।

अ०—"पूर्वं स्थितोपस्थितमवगृह्यस्य" इति अवग्रहपदस्य वेष्टनमुक्तम्। तज्ज्ञा-नाय पञ्चमाध्याये अवग्रहो निरूप्यते। समासश्चतुर्विधः—अव्ययीभावः तत्पुरुषः द्वन्द्वः बहुव्रीहिः इति। स च द्विपदो बहुपदश्च। तत्र पूर्वपदप्रधानोऽव्ययीभावः। यथा—रूपं

रूपमनुरूपम् । यथायथम् इत्यादि । उत्तरपदप्रधानस्तत्पुरुषः । यथा—अघशंसः । व्रतपते । प्रजापतिः । आखरेष्ठः । अष्टाकपालः । एकादशकपालः । दुच्छूनाम् । इत्यादि । उभयपदप्रधानो द्वन्द्वः । यथा—अग्नीषोमौ । इन्द्राग्नी । मित्रावरुणौ । दीक्षातपसोः इत्यादि । अन्यपदप्रधानो बहुव्रीहिः । शुद्धबालः । सर्वशुद्धबालः । मणिवालः । अनमीवाः । अयक्ष्माः । कृष्णग्रीवः । शितिकक्षः इत्यादि । एवमेतस्मिन् चतुष्प्रकारे समासेऽवग्रहः स्यात् । अवग्रहो नाम द्वयोः पदयोः पृथक्करणम् । स च ह्रस्वाक्षरसमकालो भवति यथा—"रूपं रूपमिति रूपम्—रूपम्" । "अधुः-सुते" । "विषुरूपमिति विषुरूपम्" । इत्यादिपूर्वोक्तान्येवोदाहरणानि । अधिकारोऽयम् ॥ १ ॥....।

तरतमयोश्चातिशयेऽदक्षिणप्रत्यासङ्गे ॥ २ ॥

सू० अ०—उत्कर्ष (अतिशय) के वाचक (अभिधायक) तर और तम बाद में हों तथा दक्षिण (शब्द) समीप में न हो (तो पूर्ववर्ती शब्द तर और तम से पृथक् किया जाता है)।

उ०—तरतमयोश्च प्रत्यययोः परभूतयोः; (अतिशये=) अतिशयवाचिनोः; अवग्रहो भवति । (अदक्षिणप्रत्यासङ्गे =) न चेद्दक्षिणशब्दस्तत्र प्रत्यासक्तो भवति । यथा—"पूर्णतरमिति पूर्ण-तरम्" (वा० १८।१०) । "वह्नितमम् इति वह्नि—तमम् । सस्नितममिति सस्नि—तमम्" (वा० १।८) । अतिशय इति किम् ? "कारोतरेण दधतः" (वा० १९।८२) । "यदा पिपेष मातरम्" (वा० १९।११) । अदक्षिणप्रत्यासङ्ग इति किम् ? "द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्" (वा० २५।५) । असमासार्थ आरम्भः ॥ २ ॥

उ० अ०—(अतिशये =) उत्कर्ष के वाचक; तरतमयोश्च = तर और तम प्रत्यय बाद में होने पर; पृथक्करण होता है । (अदक्षिणप्रत्यासङ्गे=) यदि दक्षिण शब्द वहाँ प्रत्यासन्न (सम्बद्ध, समीपवर्ती) नहीं होता है । जैसे—"पूर्णतरमिति पूर्ण—तरम्" । "वह्नितममिति वह्नि-तमम्" । "सस्नितममिति सस्नि—तमम्" । उत्कर्ष (अर्थ) में—यह क्यों (कहा) ? "कारोतरेण दधतः" । "यदा पिपेष मातरम्" । दक्षिण शब्द सम्बद्ध न हो—यह क्यों (कहा) ? "द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्" । असमास के लिए (इस सूत्र का) आरम्भ (किया गया है) ।

अ०—असमासार्थोऽयमारम्भः । तरतमयोः प्रत्यययोः अतिशयार्थकयोः परयोः पूर्वपदेऽवग्रहः स्यात् । तत्र दक्षिणशब्दश्चेन्न प्रत्यासन्नः । यथा—"पूर्णतरमिति पूर्ण—तरम्" । "वह्नितममिति वह्नि—तमम्" । "पप्रितममिति पप्रि—तमम्" । इत्यादि । अतिशय इति किम् ? "कारोतरेण दधतः" । "यदा पिपेष मातरम्" । अदक्षिणप्रत्यासङ्गो किम् ? "द्यावापृथिव्योर्दक्षिणं पार्श्वं विश्वेषां देवानामुत्तरम्" । नात्रावग्रहः ॥

वीतमहूतमसूतमगोपातमरत्नधातमवसुधातमाः पूर्वेण ॥ ३ ॥

सू॰ अ॰—वीतम, हूतम, सूतम, गोपातम, रत्नधातम और वसुधातम (ये पद तम से) पूर्ववर्ती (पद) के सहित (अवगृहीत होते हैं)।

उ॰—एतानि पदानि तमपः पूर्वेण पदेनावगृह्यन्ते। वीतम यथा–"देववीतम इति देव–वीतमः" (वा॰ ११।३७)। "देवहूतममिति देव–हूतमम्" (वा॰ १।८)। "इन्द्राय। सुषूतमम्। सु–सूतममिति सुसूतमम् (वा॰ ६।३०)। "सुगोपातम इति सु–गोपातमः" (वा॰ ८।३१)। "रत्नधातममिति रत्न-धातमम्" (ऋ॰ १।१।१)। "वसुधातम इति वसु–धातमः" (वा॰ २७।१५) ॥ ३ ॥

उ॰ अ॰—ये पद तम के; पूर्वेण = पूर्ववर्ती पद के सहित; अवगृहीत होते हैं।...।

अ॰—एतानि षट् पदानि तमपूर्वपदेनावगृह्यन्ते। अधस्तनसूत्रापवादोऽयम्। यथा "देववीतम इति देव–वीतमः"। "देवहूतममिति देव–हूतमम्"। "सुसूतममिति सु–सूतमम्"। "सुगोपातम इति सु–गोपातमः"। "रत्नधातममिति रत्न-धातमम्"। "वसुधातम इति वसु-धातमः" ॥ ३ ॥

सर्पदेवजनेभ्यश्च ॥ ४ ॥

सू॰ अ॰—सर्पदेवजनेभ्यः भी (पूर्व-पद से अवगृहीत होता है)।

उ॰—सर्पदेवजनेभ्य इत्येतच्च पदं पूर्वेण पदेनावगृह्यते। यथा–"सर्पदेवजनेभ्य इति सर्प–देवजनेभ्यः" (वा॰ ३०।८)। उपरिष्टाद्वक्ष्यति "बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा" (५।७) इति। अस्यापवादः ॥ ४ ॥

उ॰ अ॰—सर्पदेवजनेभ्यः–यह पद; च = भी; पूर्व पद से अवगृहीत होता है। जैसे–इति सर्प–देवजनेभ्यः"। (सूत्रकार) बाद में कहेंगे "बहुत पदों वाले समास में समास रचना के समय बाद में आने वाले पद से पृथक्करण होता है"। इस "सर्पदेवजनेभ्य' (= ५।७) का (यह प्रस्तुत सूत्र) अपवाद है।

अ॰—इदं पदं प्रथमपदेनावगृह्यते। यथा–"सर्पदेवजनेभ्यः इति सर्प–देवजनेभ्यः"। "बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा" इत्यस्यापवादः।

तूणवध्ममुत्तरेण ॥ ५ ॥

सू॰ अ॰—तूणवध्मम् उत्तर (पद) से (अवगृहीत होता है)।

उ॰—तूणवध्ममित्येतत्पदं उत्तरेण पदेनावगृह्यते। यथा–"कोशाय। तूणवध्ममिति तूणव–ध्मम्" (वा॰ ३०।१९) ॥

उ॰ अ॰—तूणवध्मम्–यह पद उत्तर पद से अवगृहीत होता है।...।

अ०—इदं उत्तरशब्देनावगृह्यते । यथा–"तूणवध्ममिति तूणव-ध्मम्" ॥

रायस्पोषदे विजावेति च ॥ ६ ॥

सू० अ०–रायस्पोषदे और विजावा भी (उत्तर पद से अवगृहीत होते हैं)।

उ०—रायस्पोषदे विजावा इत्येते च पदे चशब्दादुत्तरेण पदेनावगृह्येते। यथा–"रायस्पोषद इति रायस्पोष-दे" (वा० ५।१) । "स्यात् । नः । सुनूः । तनयः। विजावेति विजा–वा" (वा० १२।५१) ॥ ६ ॥

उ० अ०—रायस्पोषदे, विजावा–ये; च = भी; दो पद (सूत्रोक्त) च शब्द के सामर्थ्य से उत्तर पद से अवगृहीत होते हैं ।"'।

अ०—इदं पदद्वयं चशब्दादुत्तरपदेनावगृह्यते । यथा–"रायस्पोषद इति राय-स्पोष–दे" । "विजावेति विजा–वा" ॥ ६ ॥

बहुप्रकृतावागन्तुना पर्वणा । ७ ॥

सू० अ०—बहुत पदों वाले (समास) में (समास-रचना के समय) बाद में आने वाले पद से (पृथक्करण होता है) ।

उ०—(बहुप्रकृतौ=) बहूनि पदानि यत्र तद्बहुप्रकृतिपदम् तत्र । आगन्तुना पर्वणा = समासलक्षणेन यत्पश्चात्कालिकं पदं भवति तेन; अवग्रहो भवति । यथा–"प्रजापतिरिति प्रजा–पतिः" (वा० ३१।१९) । "प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति–गृहीतया" (वा० १३।५४)। समासलक्षणेन यदागन्तुकं पदं तदिह गृह्यते न तु पाठेन । तेनैतद्भवति—यथा–"सुप्रजा इति सु–प्रजाः" (वा० ३।३७) । "सुप्रायना इति सु–प्रायनाः" (वा० २९।५) ॥ ७ ॥

उ० अ०—(बहुप्रकृतौ =) बहुत पद हैं जहाँ (= जिस समास में) वह बहुत प्रकृति वाला पद है, वहाँ (= उस समास पद में) । आगन्तुनापर्वणा = समास के नियम के अनुसार जो पश्चात्कालिक पद होता है (अर्थात् समास-रचना के समय जो पद बाद में जोड़ा जाता है), उससे पृथक्करण (अवग्रह) होता है (अर्थात् उसे पृथक् किया जाता है) । जैसे–"प्रजापतिरिति प्रजा-पतिः" । "प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति–गृहीतया" । समास के नियम के अनुसार जो बाद में आने वाला पद है उसका यहाँ ग्रहण होता है, पाठ से (जो बाद में आता है उसका यहाँ ग्रहण) नहीं (होता है) । इससे यह (उपलब्ध) होता है । जैसे–"सुप्रजा इति सु–प्रजाः" । "सुप्रायना इति सु–प्रायनाः" ।

अ०—बहूनां पदानां प्रकृतिभूते समासे यत्पश्चात् तं अङ्कं पदं तदा तदागन्तु-पर्वेत्युच्यते । तेनावगृह्यते । प्रजापतिगृहीतयेति प्रजापति–गृहीतया । तथा प्रदक्षवत-

प्रमतिरित्यदव्वग्रत–प्रमतिः । अत्रागन्तुशब्देन समासे यदन्त्यं पदं तदेवाभिप्रेतम् । न तु पाठतः । तेनान्तिमपदस्य पदद्वयात्मकत्वेऽपि एकपदवत् पूर्वपदेऽपि वावग्रहः । यथा–सुप्रजा इति सु-प्रजाः । सुप्रायना इति सु–प्रायनाः । इत्यादि ।

तद्वति तद्धिते न्यायसंहितं चेत् ॥ ८ ॥

सू० अ०—मत्वर्थीय प्रत्यय तथा तद्धित वत् प्रत्यय बाद में होने पर (पृथक्करण होता है,), यदि (सम्बद्ध पद) व्याकरण-शास्त्र (न्याय) के अनुसार निष्पन्न संधि से समन्वित हो ।

उ०—तद्वतीत्यत्र एकस्य वतिशब्दस्य तन्त्रेणोच्चारणं द्रष्टव्यम् । तद्वति मत्वर्थीये तद्धिते वतौ च परभूते अवग्रहो भवति न्यायसंहितं व्याकरणशास्त्रोक्तसन्धिमत् पदं चेद्भवति । यथा–"मधुमदिति मधु–मत्" (वा० १३।२८) । "हिरण्यवदिति हिरण्य–वत्" (वा० ८।६३) । वतौ खल्वपि यथा–"वरिष्ठाम् । अनु । संवतमिति सम्–वतम्" (वा० ११।१२) । तद्वतीति किम् ? "एतावान् अस्य महिमा" (वा० ३१।३) । न्यायसंहितमिति किम् ? "ऊर्ज्जस्वन्तम्" "पयस्वन्तम्" (वा० ६।३०) । "मरुत्वन्तम्" (वा० ७।३६) ॥ ८ ॥

उ० अ० —'तद्वति'–यहाँ एक वतिशब्द के द्विरुच्चारण (द्विरुक्ति) को समझना चाहिए । **तद्वति तद्धिते** = मत्वर्थीय (प्रत्यय) बाद में होने पर तथा तद्धित वत् प्रत्यय बाद में होने पर; पृथक्करण (अवग्रह) होता है; **चेत्** = यदि; (सम्बद्ध) पद; **न्यायसंहितम्**=शास्त्र में कही गई संधि से समन्वित; होता है । जैसे–"मधुमदिति मधु-मत्" । "हिरण्यवदिति हिरण्य–वत्" । वत् बाद में होने पर भी जैसे–"वरिष्ठाम् । अनु । संवतमिति सम्–वतम्" । मत्वर्थीय प्रत्यय तथा तद्धित वत् प्रत्यय बाद में होने पर यह क्यों (कहा) ? "एतावान् । अस्य । महिमा ।" व्याकरण–शास्त्र के अनुसार निष्पन्न संधि वाला–यह क्यों (कहा) ? "ऊर्जस्वन्तम्", "पयस्वन्तम्", "मरुत्वन्तम् ।"

अ० - तद्वतीत्यत्र एकस्य वतिशब्दस्य तन्त्रेणोच्चारणं द्वेधा द्रष्टव्यम् । तद्वति मत्वर्थीये तद्धिते वतौ परभूते अवग्रहः स्यात् न्यायसंहितं चेत् पदं भवति । यथा—"मधुमदिति मधु–मत्" । "गोमदिति गो–मत्" । वतौ च यथा–"संवतमिति सम्–वतम्" । मत्वर्थीये किम् ? "एतावान् अस्य महिमा" । अयं वतिप्रत्ययो न मत्वर्थीयः । किन्तर्हि परिमाणार्थकम् । अतः अत्र नावग्रहः । न्यायसंहितं किम् ? "ऊर्जस्वन्तम्", "पयस्वन्तम्", "मरुत्वन्तम्" । नेदं न्यायेन व्याकरणेन संहितम् । अतः अत्र नेत्यर्थः ॥८॥

शस्त्वन्त्रातातिषु च ॥ ९ ॥

सू० अ०—शस्, त्वम्, त्रा और ताति बाद में होने पर भी (पृथक्करण होता है) ।

उ०—शस् त्वं त्रा ताति एतेषु तद्धितेषु अवग्रहो भवति। शस् यथा—"कति। होतारः। ऋतुश इत्यृतु—शः" (वा० २३।५७)। त्वं यथा—"मर्त्यस्य। देवत्वमिति देव—त्वम्" (वा० ३१।१७)। त्रा यथा—"देवत्रेति देव—त्रा। यन्तम्" (वा० ६।२०)। ताति यथा—"ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठ—तातिम्। बर्हिषदम्" (वा० ७।१२)॥ ९॥

उ० अ०—(शस्त्वन्त्रातातिषु च =) शस्, त्वम्, त्रा, ताति-ये तद्धित (प्रत्यय) बाद में होने पर; पृथक्करण (अवग्रह) होता है।...।

अ०—शः त्वम् त्रा ताति एतेषु तद्धितेषु परेषु पूर्वमवग्रहः स्यात्। यथा—"ऋतुश इत्यृतु—शः। कति होतार ऋतुशः"। "देवत्वमिति देव—त्वम्। तन्मर्त्यस्य देवत्वम्"। "देवत्रेति देव—त्रा यन्तम् अवसे"। "ज्येष्ठतातिमिति ज्येष्ठ-तातिम् बर्हिषदम्"॥ ९॥

धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे ॥ १० ॥

सू० अ०—स्वर है पूर्व में जिसके ऐसा धातु के अर्थ को रखने वाला यकार बाद में होने पर (पृथक्करण होता है)।

उ०—प्रातिपदिकं सुब्धातुर्भवतीति कृत्वा यकार उपादीयते स धात्वर्थो यकारः। "सुप आत्मनः क्यच्" (पा० ३।१।८) इत्यादिभिः सूत्रैर्यो विहितः स इह गृह्यते। तस्मिन् **धात्वर्थे यकारे** प्रत्यये **स्वरपूर्वे** अवग्रहो भवति। यथा—"वृषायमाणः वृषयमाण इति वृष—यमाणः"। "अघायतः अघयत इत्यघ—यतः" (वा० ३।२६)। धात्वर्थ इति किम्? "यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः" (वा० २९।१२)। स्वरपूर्वे इति किम्? "इन्द्राय पच्यते मधु"। रूपोदाहरणम्॥ १०॥

उ० अ०—'प्रातिपदिक नामधातु हो जाता है' इससे जो यकार प्राप्त है वह धातु का अर्थ रखने वाला यकार है। "इच्छा के कर्म और इच्छा के सम्बन्धी सुबन्त से इच्छा अर्थ में क्यच प्रत्यय विकल्प से हो" इत्यादि सूत्रों के द्वारा जो विहित है उस (यकार) का यहाँ ग्रहण होता है। **स्वरपूर्वे**=स्वर है पूर्व में जिसके ऐसा; **धात्वर्थे यकारे**=धातु के अर्थ को रखने वाला यकार बाद में होने पर; पृथक्करण होता है।...।

अ० - धातुः अत्र सुब्धातुः। 'सुप आत्मनः क्यच्" इत्यादिभिः सूत्रैर्विहितः यः यकारस्तदिह उपादीयते। तस्मिन् धात्वर्थे यकारे स्वरपूर्वे परे पूर्वमवग्रहः स्यात्। यथा "वृषायमाणः वृषयमाण इति वृषयमाणः वृषभैः तुराषाट्"। तथा "अघायतः अघयत इत्यघ—यतः समस्मात्"। तथा "अरातीयतः अरातियत इत्यराति—यतः हन्ता"। तथा "शत्रूयशः शत्रुयत इति शत्रु—यतः हन्ता" इत्यादि। धात्वर्थे किम्? "जायमानः। यदक्रन्दः प्रथमं जायमानः"। स्वरपूर्वे किम्? विध्यति। पच्यते। रूपोदाहरणमिदम॥

वांसौ च भूतकाले स्वरेण ह्रस्वादनुपि ॥ ११ ॥

सू० अ०—भूतकाल के अर्थ का वाचक, ह्रस्व स्वर से बाद में स्थित

तथा (सम्प्रसारण द्वारा) उष् रूप में न परिणत वांस् (प्रत्यय) बाद में होने पर (पृथक्करण होता है)।

उ०—वांसौ च प्रत्यये परभूतेऽवग्रहो भवति; (भूतकाले =) भूतकालार्थाभिधायिनि। स्वरेण ह्रस्वात् = स्वरात् ह्रस्वात् परभूते स्वरेण वा ह्रस्वेनोपहिते। एवं तृतीया पञ्चम्यर्थे इति विभक्तिव्यत्ययेन योजना। अनुषि = वांसौ उषिरूपभूतेऽवग्रहो न भवति। यथा—"जक्षिवांस इति जक्षि–वांसः" (वा० ८।१९)। "पपिवांसश्चेति पपि–वांसः" (वा० ८।१९)। "ससृवांस इति ससृ वांसः" (वा० ६।१९)। भूतकाल इति किम्? "सुविद्वांस इति सु–विद्वांसः" (वा० १७।६८)। स्वरेण ह्रस्वादिति किम्? "जिगीवांसः"। स्वरादिति किम्? "चिकित्वान्त्सादय" (वा० ११।३५)। अनुषीति किम्? "सूर्य्यः। आत्मा। जगतः। तस्थुषः" (वा० ७।४२)॥

उ० अ०—(भूतकाले =) भूतकाल के अर्थ का अभिधान करने वाला; वांसौ च = वांस् प्रत्यय बाद में होने पर भी; पृथक्करण होता है। स्वरेण ह्रस्वात्= ह्रस्व स्वर से बाद में होने पर अथवा ह्रस्व स्वर के द्वारा उपहित होने पर। इस प्रकार 'तृतीया पञ्चमी के अर्थ में' इस विभक्ति-परिवर्तन के द्वारा अर्थ लगाना चाहिए। अनुषि = (सम्प्रसारण के द्वारा) जब वांस् उष् रूप में परिणत हो जाता है; तब पृथक्करण नहीं होता है।…।

अ०—भूतकालार्थाभिधायिनि पूर्वं पश्चाच्च ह्रस्वेन स्वरेणोपहिते वांसप्रत्यये परे पूर्वमवग्रहः स्यात्। उषिरूपे वांसौ च न भवति। अत्र ह्रस्वादिति पञ्चमीं तृतीयार्थे व्याख्यातव्या। गोत्रेण गार्ग्य इतिवत्। यथा—"जक्षिवांस इति जक्षि–वांसः"। जक्षे इति जक्षिवान्। "पपिवांस इति पपि–वांसः"। पपौ इति पपिवान्। भूतकाले इति किम्? सुविद्वांस इति "सु–विद्वांसः वितेनिरे"। वदन्ति विद्वांस इति। नायं भूतकालः। किं तर्हि? वर्तमानकालः। स्वरेण ह्रस्वादिति किम्? "जिगीवांसो"। परेषामिदम्। स्वरादिति किम्? "चिकित्वान् सादया यज्ञम्"। अनुषीति किम्? "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"॥

प्रत्नपूर्वविश्वेमर्तुभ्यस्था ॥ १२ ॥

सू० अ०—प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम और ऋतु से बाद में स्थित 'था' (प्रत्यय को पृथक् कर दिया जाता है)।

उ०—एभ्यः परस्थाप्रत्ययोऽवगृह्यते। प्रत्न यथा—"प्रत्नथेति प्रत्न–था" (वा० ७।१२)। "पूर्वथेति पूर्व–था" (वा० ७।१२)। "विश्वथेति विश्व–था" (वा० ७।१२)। "इमथेतीम–था" (वा० ७।१२)। "ऋतुथेत्यृतु–था" (वा० २०।६५)॥

उ० अ०—इनसे; बाद में स्थित था प्रत्यय पृथक् किया जाता है।…।

अ० —प्रत्नेत्यादिभ्यः पञ्चभ्यः थाप्रत्ययोऽवगृह्यते। यथा–"प्रत्नथेति प्रत्न–था"। "पूर्वथेति पूर्व–था"। "विश्वथेति विश्व–था" "इमथेतीम–था" "ऋतुथेति ऋतु–था" ॥१२॥

ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये। १३ ॥

सू० अ०—ह्रस्व (स्वर) और व्यञ्जन से बाद में भकार से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति-प्रत्यय होने पर (पृथक्करण होता है)।

उ०—(ह्रस्वव्यञ्जनाभ्याम् =) ह्रस्वात् स्वराद्व्यञ्जनाच्च परभूते; (भकारादौ विभक्तिप्रत्यये =) भकारादिविभक्तिप्रत्यये; अवग्रहो भवति। ह्रस्वाद्भवति यथा–"तक्षभ्य इति तक्ष–भ्यः" (वा०१६।२७)। "अग्निभिरित्यग्नि–भिः"। व्यञ्जनाद्भवति यथा–"तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्–भ्यः" (वा० १६।२३)। "धावद्भ्य इति धावत्–भ्यः" (वा० १६।२३)। ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यामिति किम् ? "रथकारेभ्य इति रथ–कारेभ्यः। कुलालेभ्यः" (वा० १६।२७)। भकारादौ विभक्तिप्रत्यय इति किम् ? "कर्णो गर्दभः" (वा० २४।४०)। "कुम्भो वनिष्ठुः" (वा० १६।८७)। भकारादाविति किम् ? "अग्निषु" ॥ १३ ॥

उ० अ०—(ह्रस्वव्यञ्जनाभ्याम् =) ह्रस्व स्वर से और व्यञ्जन से बाद में; (भकारादौ विभक्तिप्रत्यये =) भकार से प्रारम्भ होने वाला विभक्ति प्रत्यय होने पर; पृथक्करण होता है। ...।

अ०—ह्रस्वस्वरात् व्यञ्जनाच्च भकारादौ विभक्तिप्रत्यये परे अवग्रहः स्यात्। ह्रस्वाद्यथा–"तक्षभ्य इति तक्ष-भ्यः"। "अर्चिभिरित्यर्चि–भिः"। "भानुभिरिति भानु-भिः"। "पितृभ्य इति पितृ–भ्यः"। इत्यादि। व्यञ्जनाद्यथा–"बृहद्भिरिति बृहत्-भिः"। "तिष्ठद्भ्य इति तिष्ठत्-भ्यः"। ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यामिति किम् ? "रथकारेभ्य इति रथ-कारेभ्यः। कुलालेभ्यः"। अत्र समासे अवग्रह इत्यवग्रहः। भकारादौ विभक्तिप्रत्यये किम् ? "कर्णः गर्दभ."। "कुम्भः वनिष्ठुः" ॥ १३ ॥

स्विति चानतौ ॥ १४ ॥

सू० अ०—मूर्धन्य न बना हुआ सु–यह (विभक्ति-प्रत्यय) भी बाद में होने पर पृथक्करण होता है।

उ०—सु इत्येतस्मिंश्च विभक्तिप्रत्ययेऽनतावग्रहो भवति। यथा–"अप्स्वित्यप्–सु अग्ने संधिः" (वा० १२।३६)। "अभि प्र इहि निः दह हृत्स्विति हृत्–सु" (वा० १७।४४)। अनताविति किम् ? "ऋक्षु" "अग्निषु"। "स्नुषु" (वा० १७।१४)। विभक्तीति किम् ? "असुम्"। ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यामिति पूर्वसूत्रादनुवर्त्तते। ताभ्यामिति किम् ? "यासु" ॥ १४ ॥

उ० अ०—सु—यह विभक्ति-प्रत्यय भी बाद में हो तो पृथक्करण होता है; अनतौ = (यदि सु का) सकार षकार न हुआ हो। जैसे—"अप्स्वित्यप्-सु। अग्ने। सखिः"। "अभि। प्र। इहि। निः। दह। हृत्स्विति हृत्-सु"। मूर्धन्य (षकार) न होने पर—यह क्यों (कहा) ? "ऋक्षु", "अग्निषु", "स्नुषु"। विभक्ति-यह क्यों (कहा) ? "असुम्"। ह्रस्व (स्वर) और व्यञ्जन से बाद में—इसकी पूर्ववर्ती सूत्र से अनुवृत्ति हो रही है। उन (=ह्रस्व स्वर और व्यञ्जन) से बाद में—यह क्यों ? "यासु"।

अ०—सु एतस्मिन् विभक्तिप्रत्यये च परे तथा। अनतौ दन्त्यस्य मूर्धन्यभावे भवतीत्यर्थः। यथा। "अप्स्वित्यप्—सु"। "अग्ने हृत्स्विति हृत्-सु शोकैः"। अनतौ किम् ? "दिक्षु" "अग्निषु" ॥ १४ ॥

वर्णसङ्ख्येऽन्यतरतः ॥ १५ ॥

सू० अ०—वर्णसमास और संख्या समास में विकल्प से (पृथक्करण होता है)।

उ०—(वर्णसङ्ख्ये=) वर्णसमासः सङ्ख्यासमासश्च; अन्यतरतः=विकल्पेन; अवगृह्यते। वर्णसमासो भवति यथा—"धूम्ररोहित इति धूम्र-रोहितः। कर्कन्धुरोहित इति कर्कन्धु-रोहितः" (वा० २४।२)। सङ्ख्यासमासो भवति यथा—"पञ्चदशेति पञ्च-दश" (वा० १८।२४)। "त्रयोदशेति। त्रयः—दश" (वा० १८।२४) ॥ १५ ॥

उ० अ०—(वर्णसंख्ये =) वर्णसमास और संख्यासमास; अन्यतरतः = विकल्प से; पृथक् किया जाता है।...।

अ०—वर्णसमासः सङ्ख्यासमासश्च अन्यतरतो विकल्पेनावगृह्येत। विकल्पोऽपि व्यवस्थितः। वर्णसमासे यथा—"धूम्ररोहित इति धूम्र-रोहितः"। "कर्कन्धुरोहित इति कर्कन्धु-रोहितः"। सङ्ख्यासमासे यथा—"पञ्चदशेति पञ्च-दश"। "सप्तदशेति सप्त—दश"। इत्यादि ॥१५॥

अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते ॥ १६ ॥

सू० अ०—अनुदात्त उपसर्ग से युक्त आख्यात बाद में होने पर (पृथक्करण होता है)।

उ०—अनुदात्त उपसर्गोऽस्येत्यनुदात्तोपसर्गमाख्यातम्। तस्मिन्नवग्रहो भवति। यथा—"यत्। अश्वाय। वासः। उपस्तृणन्तीत्युप—स्तृणन्ति" (वा० २५।३९)। "अभि। शूलम् निहतस्येति नि—हतस्य। अवधावतीत्यव—धावति" (वा० २५।३४) ॥

उ० अ०—(अनुदात्तोपसर्गे चाख्याते=) अनुदात्त है उपसर्ग जिसका वह अनुदात्त उपसर्ग वाला आख्यात है, वह (आख्यात) बाद में होने पर; पृथक्करण होता है।...।

अ०—अनुदात्त उपसर्गोऽस्येत्यनुदात्तोपसर्गम्। तादृशे आख्याते परे अवग्रहः स्यात्। यथा—"उपस्तृणन्तीत्युप—स्तृणन्ति। यदश्वाय वास उपस्तृणन्त्यधीवासम्"।

"अवधावतीत्यवधावति । अभि शूलं निहतस्यावधावति" "विभातीति विभाति । द्युम-द्विभाति क्रतुमज्जनेषु" । समास इत्यनुवर्त्तते । अनुदात्तोपसर्गे किम् ? "वि । भाति । दिविस्पृशाद्युमद्विभाति भरतेभ्यः शुचिः" । पूर्वोदाहरणे यद्वृत्तोपपदाच्च इति सूत्रेण आख्यातपदस्य प्रकृतिस्वरत्वेन उदात्तत्वे सति उदात्तवतातिजातैः समासवचनमिति कुगति प्रादय इति व्याकरणसूत्रवार्त्तिकेन समासः । एवं "त्रिशं हरिप्रं प्रवहन्ति देवीः" । इत्यादि शब्दादियोगेन तिङ् उदात्तवत्वेन समास इति स्वबुध्या ऊह्यमित्यलम् ॥ १६ ॥

गिरि त्रशयोः ॥ १७ ॥

सू० अ०—त्र और श बाद में होने पर गिरि (को पृथक् किया जाता है)।

उ०—गिरिशब्दोऽवगृह्यते त्रशयोः प्रत्यययोः परयोः । यथा—"शिवाम् गिरित्रेति गिरि–त्र" (वा० १६।३) । "गिरिशेति गिरि–श । अच्छ । वदामसि" (वा०१६।४) ॥

उ० अ०—गिरि शब्द पृथक् किया जाता है; (त्रशयोः) त्र और श प्रत्यय बाद में होने पर ।...।

अ०—गिरिशब्दोऽवगृह्यते त्रशयोः परयोः । यथा—"शिवाम् गिरित्रेति गिरि–त्र" । "गिरिशेति गिरि-श अच्छ वदामसि" ॥ १७ ॥

इवकाराम्रेडितायनेषु च ॥ १८ ॥

सू० अ०—इव, कार, द्विरुक्त पद (आम्रेडित) और अयन बाद में होने पर (पृथक्करण होता है)।

उ०—इव कार आम्रेडित अयन एतेषु प्रत्ययेषु परभूतेषु अवग्रहो भवति । इवे यथा—"स्रुचीवेति स्रुचि – इव । घृतम्" (वा० २०।७६) । "चम्वीवेति चम्वी–इव । सोमः" (वा० २०।७६) । कारे यथा—"हिङ्कारायेति हिम्-काराय" (वा०२२।७)। "वषट्कारेभिरिति वषट्–कारेभिः । आहुतीरित्या–हुतीः" (वा० १६।१७) । आम्रेडिते यथा—"यज्ञायज्ञेति यज्ञा–यज्ञा । वः" (वा० २७।४१) । "संसमिति सम्-सम् । इत्" (वा० १५।२६) । "यतोयत इति यतः–यतः" (वा० ३६।१२) । अयने यथा "आयनायेत्या–अयनाय" (वा० २२।७) "प्रायनायेति प्र-अयनाय" (वा० २२।·) ॥

उ० अ०—इव, कार, आम्रेडित (द्विरुक्त पद) अयन–ये बाद में होने पर पृथक्करण होता है ।...।

अ०—इवः कारः आम्रेडितः अयन एषु परेषु अवगृह्यते । यथा—"स्रुचीवेति स्रुचि–इव । घृतम्" "हिङ्कारायेति हिं-काराय" । "वषट्कारेभिरिति वषट्–कारेभिः" । "वषट्कारानिति वषट्-कारान्" । आम्रेडिते यथा—"यज्ञायज्ञेति यज्ञा–यज्ञा । वः" । "संसमिति सं–सम् इत् युवसे" । वृषन् । प्रप्रेति प्र-प्र । अयम् । अग्निः । "उपोपेत्युप-

उप । इत् । नु । मघवन्निति मघवन्" । अयने यथा–"आयनायेत्या–अयनाय" । "प्रायणाय प्रायनायेति प्र–अयनाय" ॥ १८ ॥

एकात्समीची ॥ १९ ॥

सू० अ०—एक (शब्द) से परवर्ती समीची (पद पृथक् किया जाता है)।

उ०—(एकात्=) एकशब्दात्परः; **समीची**शब्दोऽवगृह्यते । यथा–"शिशुम् । एकम् । समीची इति सम्–ईचो" (वा० १२।२) एकादिति किम् ? "स्वर्विदेति स्वः–विदा । समीची इति समीची । उरसा । त्मना" ॥ १९ ॥

उ० अ० – (एकात् =) एक शब्द से परवर्ती; **समीची** शब्द पृथक् किया जाता है ।...।

अ०—एकशब्दात्परः समीचीशब्दः अवगृह्यते । यथा–"शिशुम् । एकम् । समीची इति सम्–ईची" । एकात् किम् ? "समीची इति समीची । उरसा" । एकशब्दस्यात्र एकशब्दमात्रपरत्वम् । न सर्वनामत्वम् । तेन एकादिति साध्विति ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

त्वायवः शंयोर्वहिर्द्धास्मयुं मृण्मयीं सुम्नयाशुया साधुया धृष्णुया विशालमनुया ॥ २० ॥

सू० अ०—त्वायवः, शंयोः, वहिर्धा, अस्मयुम्, मृण्मयीम्, सुम्नया, आशुया, साधुया, धृष्णुया, विशालम् और अनुया (पदों में पृथक्करण होता है) ।

उ०—एतानि पदानि सावग्रहाणि भवन्ति । त्वायवो यथा–"सुताः । इमे । त्वायव इति त्वा–यवः" (वा० २०।८७) । शंय्योर्यथा–"शिवम् । शग्मम् । शंय्योरिति शम्–योः" (वा० ३।४३) । वहिर्द्धा यथा–"इदम् । अहम् । तप्तम् । वाः । बहिर्धेति वहिः–धा । यज्ञात्" (वा० ५।११) । अस्मयुं यथा–"अग्निम् । भरन्तम् । अस्मयुमित्यस्म-युम्" (वा० ११।१३) । मृण्मयीं यथा–"महीम् । मृण्मयीमिति मृत्–मयीम् । योनिम् । अग्नये" (वा० ११।५९) । सुम्नया यथा–"धीराः । देवेषु । सुम्नयेति सुम्न–या" (वा० १२।६७) । आशुया यथा–"तव । भ्रमासः । आशुयेत्याशु–या" (वा० १३।१०) । साधुया यथा–"आ । सीद । साधुयेति साधु–या" (वा० १४।१) । धृष्णुया यथा–"चित्र । वज्रहस्तेति वज्र–हस्त । धृष्णुयेति धृष्णु–या । महः" (वा० २७।३८) । विशालं यथा–"वृष्णिः । विशालमिति वि–शालम् । पुरुषः" (वा०१४।९) । अनुया यथा–"अहः । अनुयेत्यनु–या । आत्र्या । रात्रीम्" (वा०१५।६)। "उशिजा । वसुम्य इति वसु–म्यः" (वा० १५।६) ॥ २० ॥

उ० अ०—ये पद सावग्रह (= पृथक् किये जाने वाले) हैं ।...।

अ०—त्वायव इत्यादि एकादश पदानि सावग्रहाणि स्युः । यथा—"सुताः । इमे । त्वा—यवः" । "शिवम् । शग्मम् । शंयोरिति शं—योः" । "इदम् । अहम् । तसम् । वाः । बर्हिर्षेति बर्हिः-षा" । "अग्निम् । भरन्तम् । अस्मयुमित्यस्म—युम्" । "मृण्मयीमिति मृत्—मयीम् । योनिम् । अग्नये" । "धीराः । देवेषु । सुम्नयेति सुम्न—या" । "तव । भ्रमासः । आशुयेत्याशु—या । पतन्ति" । "ध्रुवम् । योनिम् । आसीद । साधुयेति साधु-या" । "वज्रहस्तेति वज्र—हस्त । धृष्णुयेति धृष्णु-या" । "वृष्णिः । विशालमिति वि—शालम्" । "अहः । अनुयेत्यनु—या । आत्था" । अत्र पदग्रहणम् प्रदर्शनार्थम् । तेन शंयोरशंयोरित्यादि द्वितीयपदेऽपि भवतीति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

मृगयुमुभयादतोऽपामार्गकिम्पूरुषमिति च ॥ २१ ॥

सू० अ०—मृगयुम्, उभयादतः, अपामार्ग और किम्पूरुषम् (पृथक् किये जाते हैं)।

उ०—एतानि पदानि सावग्रहाणि भवन्ति । मृगयुं यथा—"मृत्यवे । मृगयुमिति मृग—युम्" (वा० ३०।७) । उभयादतो यथा—"ये । के । च । उभयदत इत्युभय-दतः" (वा० ३१।८) । अपामार्ग यथा—"अपामार्ग । अपमार्गेत्यप—मार्ग । त्वम् । अस्मत्" (वा० ३५।११) । किम्पूरुषं यथा—"पर्वतेभ्यः । किम्पूरुषम् । किम्पुरुषमिति किम्—पुरुषम्" (वा० ३०।१६) ॥ २१ ॥

उ० अ०—ये पद सावग्रह (= पृथक् किये जाने वाले) हैं ।....।

अ०—एषु चतुर्षु अवग्रहः स्यात् । यथा—"मृगयुमिति मृग—युम् । अन्तकाय" । "ये । के । च । उभयादतः । उभयदत इत्युभय—दतः" । "अपामार्ग । अपामार्गेत्यप—मार्ग । त्वम्" । "पर्वतेभ्यः । किम्पूरुषम् । किम्पुरुषमिति किम्-पुरुषम्" ॥ २१ ॥

पारावतानाग्निमारुताश्चेति जातूकर्ण्यस्य ॥ २२ ॥

सू० अ०—जातूकर्ण्य के मत में पारावतान् और आग्निमारुताः (पद भी पृथक् किये जाते हैं)।

उ०—पारावतान् आग्निमारुता इत्येते पदे सावग्रहे भवतो जातूकर्ण्याचार्यस्य मतेन । यथा—"अह्ने । पारावतान् इति पारा—वतान्" (वा० २४।२५)। "कल्माषः । आग्निमारुता इत्याग्नि-मारुताः" (वा० २४।७) । जातूकर्ण्यस्येति किम्? "पारावतान्" । "आग्निमारुताः" ॥ २२ ॥

उ० अ०—**पारावतान्, आग्निमारुताः**—ये पद सावग्रह (= पृथक् किये जाने वाले) हैं; **जातूकर्ण्यस्य** = जातूकर्ण्य आचार्य के मत से ।....।

अ०—पारावतान् आग्निमारुताः इति पदद्वयं सावग्रहं स्यात् जातूकर्ण्यस्य मतेन। जातूकर्ण्यस्य ग्रहणं विकल्पार्थम् । सोऽपि व्यवस्थित एव । काण्वादेर्नास्ति अन्येषा-

मस्वं.ति । यथा–"अह्ने । पारावतानिति पारा–वतान्"। "कल्माषाः । आग्निमारुता इत्याग्नि–मारुताः । जातूकर्ण्यस्य किम् ? "पारावतान्"। "आग्निमारुताः" ॥ ४ ॥

अधीवासमित्येके ॥ २३ ॥

सू०अ०–कतिपय आचार्यों के मत से अधीवासम् (पद पृथक् किया जाता है)।

उ०—अधीवासमित्येतत्पदमेके आचार्याः सावग्रहं कुर्वन्ति । "अधिवास-मित्यधि–वासम् । या । हिरण्यानि" (वा०२५।३९)। एक इति किम् ? "अधीवासम्" ॥

उ० अ०—अधीवासम्–इस पद को; एके=कतिपय आचार्य; पृथक् करते हैं।

अ०—अधीवासमित्येतत्पदं एके आचार्याः सावग्रहं मन्यन्ते। यथा–"अधीवासम् अधिवासमित्यधि–वासम् । या । हिरण्यानि । अस्मै"। एकशब्दोऽत्रान्यवचनः । तेन आद्यशाखिनां न भवति । यथा "अधीवासम् । या । हिरण्यानि । अस्मै" ॥ २३ ॥

प्रतिषेधे नावग्रहः ॥ २४ ॥

सू०अ०–निषेधार्थक नञ् के साथ समास होने पर पृथक्करण नहीं (होता है)।

उ०—"समासेऽवग्रहः" (५।१) इति योऽवग्रहाधिकारः कृतस्तस्यायमपवादः । प्रतिषेधवाचिना नञा निपातेन सह समासे सति अवग्रहो न भवति । यथा–न रक्षसा । "अरक्षसा । मनसा" (वा० ११।२४) । न इराः । "अनिराः । अमीवाः । निषीदन्" (वा० ११।४७)। अत्र "नलोपो नञः" (पा०६।३।७) इति नकारलोपः । "तस्मान्नुडचि" (पा०६।३।७४) इति नुडागमः । प्रतिषेधे किम् ? "अनिशित इत्यनि–शितः । असि" (वा० १।२९) ॥ २४ ॥

उ० अ०—"समास में पृथक्करण होता है" यह जो पृथक्करण (=अवग्रह) का अधिकार किया गया है उसका यह अपवाद है । (प्रतिषेधे =) निषेधार्थक नञ् निपात के साथ समास होने पर; (नावग्रहः =) पृथक्करण नहीं होता है । जैसे–न रक्षसा = "अरक्षसा । मनसा" । न इराः = "अनिराः । अमीवाः । निषीदन्" । यहाँ "नञ् के नकार का लोप होता है उत्तर-पद परे रहते" इससे नकार का लोप (होता है) । "जिस नञ् के नकार का लोप हो गया हो उससे परवर्ती अजादि उत्तर-पद को नुट् आगम होता है" इससे नुट् का आगम (होता है) । निषेधार्थ–यह क्यों (कहा) ? "अनिशित इत्यनि–शितः । असि" ।

अ०—प्रतिषेधवाचिना निपातेन नञा सह समासे सति अवग्रहो न स्यात् । समासेऽवग्रह इत्यस्यापवादः । यथा–"न अमीवाः । अनमीवाः । अनागसः । अरक्षसा" । इत्यादि । "नलोपो नञः" इति व्याकरणसूत्रेण नकारलोपः । ततः "तस्मान्नुडचि" इति नुडागमः । प्रतिषेधे किम्? पर्युदासे मा भूत् यथा–'अनिशित इत्यनि-शितः। असि'॥

उत्तरेण चाकारेण ॥ २५ ॥

सू० अ०—(निषेधार्थक नञ् से) उत्तरवर्ती आकार के साथ (जो समास होता है उसमें) भी (पृथक्करण नहीं होता है)।

उ०—प्रतिषेधवाचिनो नञ्निपातादुत्तरेण चाकारेण सह समासेऽवग्रहो न भवति। यथा—"अनाततया। धृष्णवे" (वा० १६।१४)। "अनादृष्यः। जातवेदा इति जातवेदाः" (वा० २७।७) ॥ २५ ॥

उ० अ०—निषेधार्थक नञ् निपात से; **उत्तरेण** = परवर्ती; **आकारेण** = आकार के साथ; समास में पृथक्करण नही होता है।...।

अ०—प्रतिषेधवाचिनो नञ उत्तरेण सह समासे नावग्रहः। यथा—"अनाततया। धृष्णवे"। "अनादृष्यः। जातवेदा इति जात-वेदाः" ॥ २५ ॥

द्वापूर्वम् ॥ २६ ॥

सू० अ०—द्वा से प्रारम्भ होने वाला (समास पृथक् नहीं किया जाता है)।

उ०—(द्वापूर्वम् =) द्वापदपूर्वम्; समासपदं नावगृह्यते। यथा—"द्वादश" (वा० १८।२५)। "द्वाविंशः" (वा० १४।२३)। "द्वात्रिंशत्" (वा० १८।२५)॥

उ० अ०—(द्वापूर्वम् =) द्वा पद है पूर्व में जिसके ऐसा; समास-पद पृथक् नहीं किया जाता है।...।

अ०—द्वापदपूर्वं समासपदं नावगृह्यते। यथा—"द्वादश" "द्वाविंशतिः"। "द्वात्रिंशत्" ॥

सङ्ख्यापूर्वश्चधा ॥ २७ ॥

सू० अ०—सङ्ख्या पूर्व में होने पर धा (पद पृथक् नहीं किया जाता है)।

उ०—सङ्ख्यापूर्वपदो धापदोत्तरपदः समासो नावगृह्यते। यथा—"अष्टधा। दिवम्" (वा० ८।६२)। "कति। होमासः। कतिधा। समिद्ध इति सम्-इद्धः" (वा० २३।५७)। सङ्ख्यापूर्व इति किम्? "इदम्। अहम्। तसम्। वाः। बहिर्धेति बहिः-धा" (वा० ५।११) ॥ २७ ॥

उ० अ०—(सङ्ख्यापूर्वश्चधा =) सङ्ख्या है पूर्व-पद जिसका और धा पद है उत्तर-पद जिसका ऐसा; समास पृथक् नहीं किया जाता है।...।

अ०—सङ्ख्यापूर्वश्च धाप्रत्ययः नावगृह्यते। "त्रिधा बद्धः"। "सप्तधा त्वा यजन्ति"। "कतिधा वि अकल्पयन्"। सङ्ख्यापूर्वः किम्? "बहिर्धेति बहिः-धा यज्ञात्"

द्वन्द्वानि द्विवचनान्तानि स्वरान्तपूर्वपदानि ॥ २८ ॥

सू० अ०—स्वर-वर्ण में समाप्त होने वाले हैं पूर्व-पद जिनके ऐसे

द्विवचनान्त द्वन्द्व समास (पृथक् नहीं किये जाते हैं) ।

उ०—(द्वन्द्वानि =) द्वन्द्वसमासपदानि; **द्विवचनान्तानि स्वरान्तपूर्व-पदानि** नावगृह्यन्ते । यथा—"अयम् । वाम् । मित्रावरुणा" (वा० ७।९) । "इन्द्राग्नी आगतम्" (वा० ७।३१) । "अग्नीषोमयोः । उज्जितिम्" (वा० २।१५) । द्वन्द्वानीति किम् ? "अह्रु तम् । असि । हविर्द्धानिमिति हविः—धानम्" (वा० १।६) । स्वरान्तपूर्वपदानीति किम् ? "ऋक्सामयोरित्यृक्—सामयोः । शिल्पे" (वा० ४।९) ॥

उ० अ०—**स्वरान्तपूर्वपदानि** = स्वर-वर्ण में समाप्त होने वाले हैं पूर्व-पद जिनके ऐसे; **द्विवचनान्तानि (द्वन्द्वानि =)** द्विवचनान्त द्वन्द्व समास-पद; पृथक् नहीं किये जाते हैं ।…।

अ०—द्विवचनान्तानि स्वरान्तपूर्वपदानि द्वन्द्वसमासपदानि नावगृह्यन्ते । समासे ऽवग्रह इत्यस्यापवादः । यथा—"अयं वां मित्रावरुणा" । "इन्द्राग्नी इतीन्द्राग्नी" । "इन्द्र-वायू इतीन्द्रवायू" । "इन्द्राबृहस्पती इतीन्द्राबृहस्पती" । "अग्नीषोमयोः" । द्वन्द्वानीति किम् । "मणिवाला इति मणि—वालाः" । अत्र मणिवत् वालः यस्येति मणिवाल इति बहुव्रीहिः । स्वरान्तपूर्वपदानीति किम् । "ऋक्सामयोरित्यृक्—सामयोः । शिल्पे इति शिल्पे" । अत्र पूर्वपदं हलन्तम् ॥ २८ ॥

तद्धिते चैकाक्षरवृद्धावनिहिते ॥ २९ ॥

सू० अ०—जब एकाक्षर (पूर्व-पद) में तद्धित के कारण वृद्धि हुई हो और (उत्तर-पद पूर्व-पद से) अव्यवहित हो (तब पृथक्करण नहीं होता है)।

उ०—समासादुत्तरकालं **तद्धिते** उत्पन्नेऽवग्रहो न भवति । **(एकाक्षरवृद्धौ=)** यत्र तद्धितजनितैवैकाक्षरे पूर्वपदे वृद्धिर्भवति । **(अनिहिते =)** यदि च तत्पूर्वपदेन सह अनिहितं भवति अव्यवहितं भवति । यदि पूर्वपदवृद्धया उत्तरपदमव्यवहितं भवतीत्यर्थः यथा—"त्रैष्टुभेन । छन्दसा"(वा०११।६)"मे । भागः । सौभाग्यम् । पसः"(वा०२०।९)। तद्धित इति किम् ? "गायत्री । त्रिष्टुप् त्रिस्तुबिति त्रि-स्तुप्" (वा०२३।३३) । "सुभगेति सु—भग" (वा० २५।१६) । एकाक्षरवृद्धाविति किम् ? "मयुः । प्राजापत्य इति प्राजा—पत्य (वा० २४।३१) । अनिहित इति किम् ? "साम्राज्यमिति साम्—राज्यम्" (वा० ४।२४) । अत्र पूर्वपदोत्तरपदयोर्व्यञ्जनेन व्यवधानं कृतम् ॥ २९ ॥

उ० अ०—समास होने के अनन्तर उत्पन्न; **तद्धिते** = तद्धित में; पृथक्करण नहीं होता है । **(एकाक्षरवृद्धौ =)** जहाँ पर एक अक्षर वाले पूर्व-पद में तद्धित से जनित (उत्पन्न, निष्पन्न) वृद्धि होती है । और; **(अनिहिते =)** यदि वह पूर्व-पद के साथ अनिहित होता है = अव्यवहित होता है । यदि उत्तर-पद पूर्व-पद की वृद्धि से अव्यवहित होता है—यह अर्थ है ।…।

अ०—समासानन्तरं तद्धितोत्पत्तौ नावगृह्यते यदि तत्रैकाक्षरे पूर्वपदे वृद्धिर्भवति यदि च तद्वृद्धिस्वरूपमुत्तरपदेन सहानिहितम् अव्यवहितं भवति तदेत्यर्थः। यथा—"त्रैष्टुभेन। त्रैस्तुभेनेति त्रैस्तुभेन। छन्दसा। अङ्गिरस्वत्"। तथा "भगः। सौभाग्यम्। पसः"। अत्र त्रयाणां स्तुप् सम्बन्धि त्रैष्टुभमिति तद्धितप्रत्ययोत्पत्तिः। शोभनश्चासौ भगश्च इति पूर्वं समासः तथा सुभगस्य भावः सौभाग्यमिति तद्धितोत्पत्तिरिति विवेकः। तद्धिते किम्? "गायत्री। त्रिष्टुप्। त्रिस्तुविति त्रि—स्तुप्"। "सुभगेति सु—भग। भद्रः। अध्वरः"। एकाक्षरवृद्धौ किम्? "प्राजापत्य इति प्राजा—पत्यः। चरुः"। अनिहितमिति किम्? "साम्राज्यमिति साम्—राज्यम्। गच्छतात्"। "आनुस्तुभमित्यानु—स्तुभम्। छन्दः"। अत्र पूर्वोत्तरपदयोः व्यञ्जनेन व्यवधानं कृतम्॥ २९॥

अञ्चतिसहत्योः कृल्लोपे॥ ३०॥

सू० अ०—अञ्च् और सह् धातु के (समास में पृथक्करण नहीं होता है), यदि कृत् (प्रत्यय) का लोप हुआ हो।

उ०—अञ्चतेर्धातोः सहतेश्च कृत्प्रत्ययलोपे सति अवग्रहो न भवति। अञ्चतेर्न भवति यथा—"प्राङ्" (वा० १९।३)। "प्रत्यङ्" (वा० १०।३१)। सहतेः खल्वपि यथा—"ऋतधामा" (वा० १८।३८) "दुश्च्यवनः। पृतनाषाट्" (वा० १७।३९)। अञ्चतिसहत्योरिति किम्? "सुकृदिति सु—कृत्। देवः। सविता" (वा० २७।१३)। कृल्लोप इति किम्? "आच्येत्या—अच्य। जानु" (वा० १९।६२) "पृतनासाह्यायेति पृतना—सह्याय" (वा० १८।६८)॥ ३०॥

उ० अ०—(अञ्चतिसहत्योः) अञ्च् और सह् (धातु के समास में); (कृल्लोपे =) कृत् प्रत्यय का लोप होने पर; पृथक्करण नहीं होता है।...।

अ०—अञ्चतेर्धातोः सहतेश्च कृत्प्रत्ययलोपे नावग्रहः स्यात्। यथा—"प्राङ्। सोमः। प्रत्यङ्। सोमः"। "ऋताषाट्। ऋतधामा। दुश्च्यवनः। पृतनाषाट्। अयुध्यः"। अत्र कृत्प्रत्ययस्य लोपात्। समासेऽवग्रह इत्यस्यापवादः। प्रकर्षेण अञ्चतीति प्राङ् इति कुगतिप्रादय इति समासश्च। अञ्चतिसहत्योः किम्? सुकृदिति सु—कृत्। देवः। कृल्लोपे किम्? आच्येत्या—अच्य जानु। पृतनाषह्याय। पृतनासाह्यायेति पृतना—साह्याय। च। अत्र प्रथमोदाहरणे क्त्वाल्युटि श्रवणात् न कृल्लोपः। अतः समासे नञ्पूर्व इति समासत्वादवग्रहः। द्वितीयोदाहरणेऽपि ऋहलोर्ण्यत् इति ण्यत्प्रत्ययश्रवणात् न कृल्लोपः। पृतना सहते। समासत्वात् अवग्रह इति भावः॥ ३०॥

अनुरुसुम्याम्॥ ३१॥

सू० अ०—उरु और सु पूर्व में होने पर (पृथक्करण का निषेध नहीं होता है)।

उ०—उरु सु इत्येताभ्यां परयोरञ्चतिसहत्योः कृल्लोपे सत्यवग्रहो भवति। यथा "उरुव्यञ्चमित्युरु-व्यञ्चम्। अश्नेत्" (वा० १५।२५)। सुरुच इति सु—रुचः। वेनः। आवः" (वा० १३।३)। "सुप्राङिति सु-प्राङ्। अजः" (वा० २५।२५)। अध-स्तनयोगस्यापवादः ॥ ३१ ॥

उ० अ०—उरु, सु—इन दो से परवर्ती अञ्च् और सह् के (समास में) कृत् का लोप होने पर पृथक्करण होता है।...।

अ०—उरु सु इत्येताभ्यामुभाभ्यां परयोरञ्चतिसहत्योः कृल्लोपे सति नावग्रह-निषेधः स्यात्। पूर्वापवादोऽयम्। "उरुव्यञ्चमिति उरु—व्यञ्चम्। अश्नेत्"। "सुसह-मिति सु—सहम्" ॥ ३१ ॥

समिदाभ्यां वत्सरः ॥ ३२ ॥

सू० अ०—सम् और इदा से परवर्ती वत्सर (शब्द पृथक् नहीं किया जाता है)।

उ०—(समिदाभ्याम्=) सम् इदा एताभ्यां परः; (वत्सरः=) वत्सरशब्दः; नावगृह्यते। यथा—"संवत्सरः। असि। इदावत्सरः" (वा० २७।४५)। समिदाभ्यामिति किम्? "परिवत्सर इति परि—वत्सरः। इद्वत्सर इतीत्—वत्सरः" (वा० २७।४५) ॥

उ० अ०—(समिदाभ्याम् =) सम् और इदा—इन दोनों से परवर्ती; (वत्सरः =) वत्सर शब्द; पृथक् नहीं किया जाता है।...।

अ०—सम् इत् शब्दाभ्यां परः वत्सरशब्दो नावगृह्यते। यथा—"संवत्सरः। असि। इदावत्सरः"। आभ्यां किम्? "परिवत्सर इति परि—वत्सरः। इद्वत्सर इतीत्—वत्सरः" ॥ ३२ ॥

प्राग्निभ्यामनिन्धौ प्रश्लेषे ॥ ३३ ॥

सू० अ०—प्र और अग्नि के साथ इन्ध् को छोड़कर (अन्य शब्द की) प्रश्लिष्ट संधि होने पर (पृथक्करण नहीं होता है)।

उ०—(प्राग्निभ्याम् =) प्र अग्नि इत्येताभ्याम्; (प्रश्लेषे =) प्रश्लिष्ट-सन्धौ; अवग्रहो न भवति; (अनिन्धौ =) इन्धि दीप्तौ इत्यमुं धातुं वर्जयित्वा। प्र-शब्दाद्भवति यथा—"प्राणः" (वा० १८।२)। अग्निशब्दाद्भवति यथा—"आग्नीध्रम्। यत्। सरस्वति" (वा० १९।१८)। प्राग्निभ्यामिति किम्? "वीध्यायेति वि—ईध्याय" (वा० १६।३८)। अनिन्धाविति किम्? "प्रेद्ध इति प्र—इद्धः"। प्रश्लेष इति किम्? "प्रायणाय। प्रायनायेति प्र—अयनाय" (वा० २२।७) ॥

उ० अ०—(प्राग्निभ्याम् =) प्र और अग्नि इन दो के साथ; (प्रश्लेषे=) प्रश्लिष्ट संधि होने पर; पृथक्करण नहीं होता है; (अनिन्धौ =) 'प्रकाशित करना' अर्थ वाली इन्ध् धातु को छोड़कर ।...।

अ०—प्राग्निभ्यां शब्दस्य प्रश्लिष्टसन्धौ नावग्रहः इन्धी दीप्ताविति धातुरूपं वर्जयित्वा । यथा—"प्राणः" । प्रकर्षेण अनतीति विग्रहः । "आग्नीध्रम् । यत् । सरस्वति" । आभ्यां किम् ? "अपान इत्यप—आनः" । "व्यान इति वि—आनः" । "वीध्यायेति वि ईध्याय" । परकोयम् । अनिन्धौ किम् ? "प्रेद्ध इति प्र—इद्धः" । प्रश्लेषे किम् ? "प्रायनायेति प्र—अयनाय" ॥ ३३ ॥

पाङ्त्रानुद्द्रोऽब्भ्राय संशयात् ॥ ३४ ॥

सू० अ०—पाङ्त्रान्, उद्द्रः और अब्भ्राय संशय के कारण (पृथक् नहीं किए जाते हैं) ।

उ०—पाङ्त्रान् उद्द्रः अब्भ्राय एतानि पदानि संशयान्नावगृह्यन्ते । पक्तेः पूर्वपदं त्रायतेरुत्तरपदं पातेर्वा पूर्वपदं तनोतेरुत्तरपदम् । तथा उद्द्रः उत् ऊर्ध्वं द्रवतीति उद्द्रः उत्शब्दः पूर्वपदं द्रवतेरुत्तरपदम् । यद्वा उत् रातीति उद्द्रः । उत् पूर्वपदं रातेरुत्तरपदम् । तथा अब्भ्रशब्दः आपो बिभर्ति धारयतीत्यभ्रः अप्शब्दः पूर्वपदं बिभर्त्तेरुत्तरपदम् । यद्वा अभ्रबभ्रमभ्रचरगत्यर्थाः 'इत्यभ्रतेरेवाभ्रम् । एवमेतानि पदानि पूर्वोत्तरपदसंशयान्नावगृह्यन्ते । हेतुवचनादन्यत्रापि यत्र संशयस्तत्रावग्रहो न भवति । यथा—"अन्तरिक्षाय । पाङ्त्रान्" (वा० २४।२६) । "अपामुद्द्रो मासाम्" (वा० २४।३७) । "अब्भ्राय स्वाहा" (वा० २२।२६) । एतान्युदाहरणानि पदसंहितायां अन्यान्यपि यथासम्भवमूह्यानि चेति ॥ ३४ ॥

उ० अ०—पाङ्त्रान्, उद्द्रः, अब्भ्राय—ये पद; संशयात् = संशय के कारण; पृथक् नहीं किये जाते हैं । पच् (धातु) का पूर्व-पद एवं त्रा (धातु) का उत्तर-पद अथवा पा (धातु) का पूर्व-पद एवं तन् (धातु) का उत्तर-पद है (यह संशय है) । उसी प्रकार उद्द्रः (के विषय में संशय है)—ऊपर को दौड़ता है अतः उद्द्र (कहलाया)-इससे उत् शब्द पूर्व-पद एवं द्रु (धातु) का उत्तर-पद है । अथवा—ऊपर को देता है अतः उद्द्र (कहलाया)—इससे उत् पूर्व-पद एवं रा (धातु) का उत्तर-पद है । उसी प्रकार अब्भ्र शब्द (के विषय में संशय है)—जल को धारण करता है अतः अब्भ्र (कहलाया) इससे अप् शब्द पूर्व-पद एवं भृ (धातु) का उत्तर-पद है । अथवा—अभ्र, बभ्र, मभ्र, चर गत्यर्थक धातु हैं, अतः अभ्र (धातु) का ही अभ्र बना । इस प्रकार ये पद पूर्वोत्तर पद के संशय के कारण पृथक् नहीं किए जाते हैं । (संशयरूप) हेतु का कथन होने से अन्यत्र भी जहाँ संशय हो वहाँ

पृथक्करण नहीं होता है।...। ये उदाहरण पद-संहिता के हैं। अन्य (उदाहरणों) को भी यथासम्भव समझ लेना चाहिए।

अ०—संशयादेतानि नावगृह्यन्ते। संशयश्च पक्तेः पूर्वपदम् त्रायतेरुत्तरपदम्। पातेर्वा पूर्वपदम्। तरतेरुत्तरपदम्। पाङ्क्तानित्यत्र तथा। उद्र इत्यत्र ऊर्ध्वं द्रवतीति ऊर्ध्वशब्दात् पूर्वपदं यद्वा उत् रातीति उत्पूर्वं पदं रातेः उत्तरपदम्। तथा अभ्र इत्यत्र अपो बिभर्तीति अप्शब्दात् पूर्वपदम्। बिभर्तेरुत्तरपदम्। यद्वा अभ्र वभ्र मभ्र चर एते गत्यर्था इत्यनेन अभ्रशब्द इति। यथा—"अन्तरिक्षाय पाङ्क्त्रान्"। "अपामुद्रः"। "अभ्राय स्वाहा"। संशयादिति हेतुवचनात् अन्यत्रापि यत्र संशयः पूर्वोत्तरपदयोस्तत्रापि नावग्रहः। यथा—"विष्वक्"। "उल्काः"। इत्यादि ॥ ३४ ॥

जनयत्या ओषधयो वृषायिषत नहि चनास्मभ्यमजावयो वलगम् ॥३५॥

सू० अ०—जनयत्यै, ओषधयः, वृषायिषत, नहि, चन, अस्मभ्यम्, अजावयः और वलगम् (पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—एतानि पदानि नावगृह्यन्ते। यथा-"जनयत्यै। त्वा" (वा० १।२२)। "ओषधयः। प्रति। मोदध्वम्" (वा० ११।४७)। "आ। वृषायिषत" (वा०२।३१)। "नहि। तेषाम्। अमा। चन" "कदा। चन। स्तरीः। असि" (वा० ३।३४)। "पावकः। अस्मभ्यम्। शिवः। भव"। "ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ विभक्तिप्रत्यये" (५।१३) इत्यस्यापवादः। अजावयो यथा—"उपहूता इत्युप–हूताः। अजावयः" (वा० ३।४३)। "समासेऽवग्रहः" (५।१) इत्यस्यापवादः। वलगं यथा—"इदमहन्तं वलगमुत्किरामि" (वा० ५।२३) ॥ ३५ ॥

उ० अ०—ये पद पृथक् नहीं किये जाते हैं।...।

अ०—एतान्यष्टौ पदानि नावगृह्यन्ते। यथा—"जनयत्यै। त्वा। ओषधयः। प्रति"। अत्र जनानां यतिः जनयतिः। ओषं दधतीत्योषधयः इति समासत्वेन प्राप्तापवादः। वृषायिषत। अत्र धात्वर्थे यकारः इति प्राप्तापवादः। "नहि। तेषाम्। अमा। चन"। अत्र समासत्वेन प्राप्तिः। "पावकः। अस्मभ्यम्। शिवः। भव"। अत्र "ह्रस्वव्यञ्जनाभ्यां भकारादौ" इति प्राप्तिः। अजाश्चावयश्चेति अजावयः। "उपहूता अजावयः"। वलं गच्छतीति वलगम्। "इदम्। अहम्। तम्। वलगम्। उत्। वपामि"। अत्र समासात् प्राप्तिः ॥ ३५ ॥

समानोऽनश्वमेधे ॥ ३६ ॥

सू० अ०—अश्वमेध प्रकरण (वा० सं० २२–२५ एवं २९ अध्याय) को छोड़कर अन्यत्र समान (शब्द पृथक् नहीं किया जाता है)।

उ०—(समानः =) समानशब्दः; (अनश्वमेधे=) अश्वमेधमन्त्रमुक्त्वा-न्यत्र; नावगृह्यते । यथा—"यम् । मे । समानः । यमसमानः" (वा० ५।२३)। अनश्वमेध इति किम् ? "समानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा (वा० २२।३३) । समान इति "सम्–आनः । एकस्मै । द्वाभ्याम्" ॥ ३६ ॥

उ० अ०—(समानः =) समान शब्द; (अनश्वमेधे =) अश्वमेध के मन्त्रों को छोड़कर अन्यत्र; पृथक् नहीं किया जाता है।...।

अ०—समानशब्दो नावगृह्यते । अश्वमेधमन्त्रान् वर्जयित्वा । यथा—यं नस्समानः । ये समानाः । सम्यक् अनतीति समानः इति समासत्वात् प्राप्तिः । अनश्वमेधे किम् ? समानो यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा । समान इति सं–आनः । चक्षुः ॥ ३६ ॥

वायुरसजातः समुद्रमहोरात्रे विश्वानरो विश्वाहाग्रयणोऽसपत्ना गोधा गोधूमा आशुशुक्षणिर्न्यग्रोधः पुरोडाशः प्रावणेभिरशीतम तस्करा मस्मसाश्वत्थ उपस्तिर्माकिर्विश्वामित्रो गोपामप्रउगमङ्गानि कक्षीवन्त-मदधात् पवीरवन्नीहारेण प्रावृता घनाघन ईदृङ् चान्यादृङ् शूघनासः कुयवं कुचरः प्रियङ्गवो नीवारा एकादश षोडश चन्द्रमा आयुवो व्याघ्रो-ऽनड्वान् गविष्ठिरः कपर्दिने पुलस्तये निषङ्गिणे कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यो द्वीप्याय नीप्याय किंशिलायैलबृदाः शूकराय शूकृताय चराचरेभ्यः पारावतान गोलत्तिकाखुरजगरो विपन्यवो दाक्षायणा आयुधं सुरामं बृहस्पतिर्वनस्पतिर्नराशंसः सुरभिर्नरिष्ठायै ॥ ३७ ॥

सू० अ०—वायुः, असजातः, समुद्रम्, अहोरात्रे, विश्वानरः, विश्वाहा, आग्रयणः; असपत्नाः, गोधा, गोधूमाः, आशुशुक्षणिः, न्यग्रोधः, पुरोडाशः, प्रावणेभिः, अशीतम, तस्कराः, मस्मसा, अश्वत्थे, उपस्तिः, माकिः, विश्वा-मित्रः, गोपाम्, प्रउगम्, अङ्गानि, कक्षीवन्तम्, अदधात्, पवीरवत्, नीहारेण प्रावृता, घनाघनः, ईदृङ् चान्यादृङ्, शूघनासः, कुयवम्, कुचरः, प्रियङ्गवः, नीवाराः, एकादश, षोडश, चन्द्रमाः, आयुवः, व्याघ्रः, अनडवान्, गविष्ठिरः, कपर्दिने, पुलस्तये, निषङ्गिणे, कुलालेभ्यः, कर्मारेभ्यः, पुञ्जि-ष्ठेभ्यः, द्वीप्याय, नीप्याय, किंशिलाय, ऐलबृदाः, शूकराय, शूकृताय, चराचरेभ्यः, पारावतान्, गोलत्तिका, आखुः, अजगरः, विपन्यवः, दाक्षायणा आयुधम्, सुरामम्, बृहस्पतिः, वनस्पतिः, नराशंसः, सुरभिः, नरिष्ठायै—(ये पद पृथक् नहीं किये जाते हैं) ।

उ० —वायुरित्यादीनि पदानि नावगृह्यन्ते। वायुर्यथा—"वायुः पूषा स्वस्तये" (वा०३३। ४४)। असजातो यथा—"यमसजातो निचखान" (वा० ५।२३)। समुद्रं यथा "समुद्रं गच्छ स्वाहा" (वा० ६।२१)। अहोरात्रे यथा—"अहोरात्रे पार्श्वे" (वा०३१।२२)। विश्वानरो यथा—"अर्चा विश्वानराय" (वा० ३३।२३)। विश्वाहा यथा—"विश्वाहा शर्म यच्छतु" (वा० १७।४८)। आग्रयणो यथा-"आग्रयणोऽसि" (वा०७।२०)। असपत्ना यथा—"असपत्नाः समनसस्करत्" (वा०७।२५)। गोधा यथा—"गोधा कालका" (वा० २४।३५)। गोधूमा यथा—"गोधूमाश्च मे" (वा० १८।१२)। आशुशुक्षणिर्यथा—"त्वमाशुशुक्षणिः" (वा० ११।२७)। न्यग्रोधो यथा—"न्यग्रोधश्चमसैः" (वा०२३।१३)। पुरोडाशो यथा—"पचन् पुरोडाशान्" (वा० २१।५६)। प्रावर्णोभिर्यथा-"प्रावर्णोभिः सजोषसः" (वा० १२।५०)। अशीतम यथा—"अग्नेऽदब्धायोऽशीतम" (वा०२।२०)। तस्करा यथा—"तस्कराँ उत" (वा० ११।७८)। भस्मसा यथा—"सर्वं सम्भस्मसा कुरु" (वा० ११।८०)। अश्वत्थे यथा—"अश्वत्थे वो निषदनम्" (वा० १२।७९)। उपस्तिर्यथा—"उपस्तिरस्तु सोऽस्माकम्" (वा० १२।१०१)। माकिर्यथा-"अग्ने माकिष्टे व्यथिः" (वा०१३।११) विश्वामित्रो यथा—"विश्वामित्र ऋषिः" (वा०१३।५७)। गोपा यथा—"गोपामृतस्य दीदिविम्" (वा० ३।२३)। प्रउगं यथा—"प्रउगमुक्थ-मव्यथायै" (वा० १५।११)। अङ्गानि यथा—"अङ्गानि च मे" (वा० १८।१३)। कक्षीवन्तं यथा—"कक्षीवन्तं य औशिजः" (वा० ३।२८)। श्रदधाद्यथा—"अश्रद्धा-मनृतेऽदधात्" (वा० १९।७७)। पवीरवद्यथा—"लाङ्गलं पवीरवत्" (वा०१२।७१)। नीहारेण प्रावृता यथा—"नीहारेण प्रावृता" (वा० १७।३१)। द्वे पदे अनन्तर्हिते। घनाघनः यथा—"घनाघनः क्षोभणः" (वा० १७।३३)। "ईदृङ् चान्यादृङ्" (वा०१७।८१)। द्वे पदे। शूघनासः यथा—"सिन्धोरिव प्राध्वने शूघनासः" (वा०१७।९५)। कुयवं यथा—"कुयवश्च मे" (वा० १८।१०)। कुचरो यथा —"मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः" (वा० ५।२०)। प्रियङ्गवो यथा—"प्रियङ्गवश्च मे" (वा०१८।१२)। नीवारा यथा—"नीवाराश्च मे" (वा० १८।१२) एकादश यथा—"एकादश च मे" (वा० १८।२४)। षोडश यथा—"षोडश च मे" (वा० १८।२५)। चन्द्रमा यथा—"चन्द्रमा अप्सु" (वा० ३३।९०)। आयुवो यथा—"आयुवो नाम" (वा० १८।३६)। व्याघ्रा यथा—"व्याघ्रा हेतिः" (वा० १५।१७)। अनड्वान् यथा—"अनड्वान् अघोरामौ" (वा० २९.५९)। गविष्ठिरो यथा—"गविष्ठिरो नमसा" (वा०१५।२५)। कपर्दिने पुलस्तये यथा—"नमः कपर्दिने च पुलस्तये" (वा० १६।४३)। द्वे पदे। निषङ्गिणे यथा—"निषङ्गिणे" (वा० १६।२०)। कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः द्वे पदे अनन्तर्हिते यथा—"नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः" (वा० १६।२७)। पुञ्जिष्ठेभ्यो यथा—"पुञ्जिष्ठेभ्यश्च" (वा०१६।२७)। द्वीप्याय यथा—"द्वीप्याय च" (वा०१६।३१)। नीप्याय यथा—"नीप्याय च" (वा० १६।३७)। किंशिलाय यथा—"किंशिलाय च" (वा० १६।४३)।

ऐलवृदा यथा—"ऐलवृदा आयुर्युवः" (वा०१६।६०)। शूक्राय शूक्ताय यथा—"शूक्राय स्वाहा शूक्ताय" (वा० २२।८)। चराचरेभ्यो यथा—"चराचरेभ्यः स्वाहा" (वा० २२।२९)। पारावतान् यथा—"अह्ने पारावतान्" (वा० २४।२५)। गोलत्तिका यथा—"गोलत्तिका तेऽप्सरसाम्" (वा० २४।३७)। आखुर्यथा—"आखुस्ते पशुः" (वा० ३।५७)। अजगरो यथा—"अजगरो वसूनाम्" (वा० २४।३८)। विपन्यवो यथा—"तद्विप्रासो विपन्यवः" (वा० ३४।४४)। दाक्षायणा यथा—"यदाबध्नन्दाक्षायणाः" (वा० ३४।५२)। आयुधं यथा—"परमे वृत्त आयुधन्निधाय" (वा० १६।५१)। सुरामं यथा—"यत्सुरामं व्यपिबः" (वा० १०।३४)। बृहस्पतिर्यथा—"बृहस्पते अति यत्" (वा० २६।३)। वनस्पतिर्यथा—"वनस्पतिः शमिता देवः" (वा० २९।३५)। नराशंसो यथा—"नराशंसस्य महिमानम्" (वा० २९।३७)। सुरभिर्यथा—"य ईमाहुः सुरभिः" (वा० २५।३५)। नरिष्ठायै यथा—"नरिष्ठायै भोमलम्" (वा० ३०.६)। यैश्च हेतुभिरेतानि पदानि नावगृह्यन्ते तान् हेतूनन्यपदव्याजेनाचिख्यासुराचार्यो वक्ष्यमाणसूत्रैर्वक्ष्यति। येषु च पदेषु वक्ष्यमाणहेतवो न सन्ति ते जातिवचनाः प्रत्येतव्याः। यथा गोधूमपारावतादयः ॥ ३७ ॥

उ० अ०—वायुः इत्यादि पद पृथक् नहीं किये जाते हैं।…।

अ०—वायुरित्यादिसप्ततिपदानि नावगृह्यन्ते। क्रमेणोदाहरणानि—वायुः। अत्र वायुशब्दस्य संशयान्नात्रग्रहः। उक्तं हि यास्केन—अथातो मध्यमस्थानदेवतास्तासां वायुः प्रथमगामी भवति। वायुर्वातेः। वेतेर्वा स्यात् गतिकर्मणः। एतेरिति स्थौलाष्ठीविः। अनर्थको वकारः। तस्यैषा भवति वायवायाहि दर्शत इति एवमन्यत्रापि। पूषा स्वस्तये नियुत्वान्। असजातः। यमसजातो निचखान। समुद्रं गच्छ स्वाहा। समुद्राय स्वाहा अहोरात्रे गच्छ स्वाहा। विश्वानरः सविता विश्वानराय। विश्वाभुवे। विश्वाहा। शर्म यच्छतु। आग्रयणः असि। असपत्नाः। समनसस्करत्। गोधाकालका। गोधूमाश्च मे। त्वम् आशुशुक्षणिः। न्यग्रोधः चमसैः पवन्। पुरोळाशान् पुरोळाशेन सविता पुरोळाशैः हवींषि। आ प्रावणेभिः प्रावणेभिरिति प्रावणेभिः। द्विरुक्तिरत्र विनाम इति सूत्रेण। अशीतम पाहि। तस्कराः वने सर्वम्। तं मसमसा अश्वत्थे वः उपस्तिः अस्तु। अग्ने माकिः ते। विश्वामित्रः ऋषिः। गोपाम् ऋतस्य। विष्णुः गोपाः प्रउगम्। उक्थम्। अङ्गानि च मे। कक्षीवन्तं यः अनृते अदधात् लाङ्गलम् पवरवीत्। नीहारेण प्रावृत्ताः। इदं पदं सन्निहितम्। घनाघनः क्षोभणः। ईदृङ्। अन्यादृङ्। एतद्द्वयमपि सन्निहितम्। शूयनासः व्रतप्रमीयः। कुयवश्च मे। कुचरः गिरिष्ठाः। प्रियङ्गवः प्रियङ्गवश्च मे। नीवाराः। गोधूमाः। एकादश। त्रयोदशेति त्रयः दश। षोळश। विंशतिः। चन्द्रमाः। गन्धर्वः। आयुवः नाम। व्याघ्रः अनाधृष्टम्। व्याघ्राः हेतिः या व्याघ्रम्। अनड्वान्। अनड्वांश्च मे अनड्वाहम् अन्वारभामहे गविष्ठिरः नमसा कपर्दिने नमः कपर्दिने पुलस्तिने

च। इदं द्वयं सन्निहितम्। निषङ्गिणे नमो निषङ्गिणे। कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यः इदं पदद्वयमपि। पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमः। द्वीप्याय नमो नादेयाय च द्वीप्याय च नीप्याय नमः काट्याय च नीप्याय च नमः किंशिलाय च। ऐलबृदा आयुर्युधः। शूकराय स्वाहा शृकुलाय स्वाहा। चराचरेभ्यः स्वाहा। अह्ने पारावतान् पूर्ववदवग्रह उक्तः। अनवग्रहोऽप्यमारम्भः। गोलतिका तेऽप्सरसाम्। आखुः ते पशुः अजगरः। वसूनाम्। विपन्यवो जागृवांसः। अवघ्नं दाक्षायणाः। परमे वृक्षे आयुधम्। यत् सुरामम्। बृहस्पतिः। वाचे वनस्पतिः शमिता। नराशंसः प्रति नराशंसेन। तेजसा। नराशंसस्य महिमानम्। य ईमाहुस्सुरभिः। नरिष्ठायै भीमलम्। यैश्च हेतुभिः वायुरादिपदानि नावगृह्यन्ते तान् हेतूनन्यपदव्याजेनाचिख्यासुराचार्यो वक्ष्यमाणैः सूत्रैः वक्ष्यति। येषु पदेषु वक्ष्यमाणहेतवः न सन्ति तानि जातिवचनानि प्रत्येतव्यानि। यथा—गोधूमानीवारप्रियङ्गवः पारावतादीनि॥

उत्तम्भनादीन्यादिसंशयात्॥ ३८॥

सू० अ०—(उत्तर-पद के) आदि के विषय में संशय होने से उत्तम्भन आदि (पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—उत्तम्भनादीनि पदानि आदिसंशयान्नावगृह्यन्ते। यथा—"वरुणस्योत्तम्भनमसि" (वा० ४।३६)। "उत्थाय बृहतो भव" (वा० ११।६४)। "उत्थिताय स्वाहा" (वा० २२।८)। एतानि त्रीणि पदानि उदाहरणानि उत्पूर्वपदानि। स्तम्भेत्युत्तरपदं प्रथममुदाहरणम्। तिष्ठत्युत्तरपदे उत्तरे। तत्र "उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" (पा० ८।४।६१) इति सकारस्य पाणिनिः पूर्वरूपतां विदधाति। अन्ये तु सकारलोपं विदधति। अत उत्तरपदस्यादिसंशयादेतानि पदानि नावगृह्यन्ते। यथैतान्येवमन्यान्यपि द्रष्टव्यानि॥ ३८॥

उ० अ०—**उत्तम्भनादीनि** = उत्तम्भन इत्यादि पद; **आदिसंशयात** = (उत्तर-पद के) आदि के विषय में संशय होने से; पृथक् नहीं किये जाते हैं। उदाहरण-स्वरूप इन तीनों पदों (उत्तम्भनम्, उत्थाय, उत्थिताय) का पूर्व-पद उत् है। प्रथम उदाहरण का उत्तर-पद स्तम्भ है। बाद वाले दो (पदों) में उत्तर-पद स्था (धातु) है। "उद् उपसर्ग से परवर्ती स्था और स्तम्भ धातुओं के स्थान में पूर्वसवर्ण आदेश हो" इस (सूत्र) से पाणिनि इन स्थलों में सकार को पूर्वरूपता का विधान करते हैं। अन्य (आचार्य) तो सकार के लोप का विधान करते हैं। इसलिए उत्तर-पद के आदि के विषय में संशय होने से ये पद पृथक् नहीं किये जाते हैं। जैसे इनको वैसे अन्य (उदाहरणों) को भी समझ लेना चाहिए।

अ०—उत्तम्भनादीनि पदानि संशयान्नावगृह्यन्ते। तानि च बहुवचनात् त्रीणि भवन्ति। यथा—"वरुणस्य उत्तम्भनम्"। "उत्थाय बृहती"। "उत्थिताय स्वाहा"।

आदिसंशयश्चेत्थम्—त्रीण्येतानि उत्पूर्वपदानि स्तम्भोत्तरपदं प्रथमोदाहरणम्। तिष्ठत्युत्तरमुत्तरपदद्वयम्। "उदस्थास्तम्भोः पूर्वस्य" इति सकारस्य पाणिनिः पूर्वरूपतां विदधाति, अन्ये तु सकारलोपं मन्यन्ते। अत उत्तरपदस्य आदिसंशयान्नावगृह्यन्ते। उक्तान्येत्रोदाहरणानि ॥ ३८ ॥

विशौजा इत्यन्यायसमासात् ॥ ३६ ॥

सू० अ० - व्याकरण के नियम के अनुसार समास न होने के कारण विशौजाः (पृथक् नहीं किया जाता है)।

उ०—विशौजा इत्येतत्पदमन्यायसमासान्नावगृह्यते। विडौजा इति प्राप्ते यथा विशौजाः। "इन्द्रोऽसि विशौजाः" (वा० १०।२८) ॥ ३६ ॥

उ० अ०—विशौजाः—यह पद, अन्यायसमासात् = व्याकरण के नियम के अनुसार समास न होने से; पृथक् नहीं किया जाता है। (व्याकरण के नियम के अनुसार) विडौजाः प्राप्त होने पर विशौजाः जैसे—"इन्द्रोऽसि विशौजाः"।

अ०—इदमपि नावगृह्यते अन्यायसमासात्। अन्यायसमासश्च इत्थम्—विडौजा इति वक्तव्ये विशौजा इत्युक्तः। यथा—"इन्द्रः विशौजाः" ॥ ३६ ॥

दित्यौही तुर्यौही पष्ठौही हृदयौपशेनेति च ॥ ४० ॥

सू० अ०—दित्यौही, तुर्यौही, पष्ठौही और हृदयौपशेन भी (पूर्वोक्त कारण से पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—एतानि च पदान्यन्यायसमासान्नावगृह्यन्ते। अत्र च "उवर्ण ओकारम्" (४।५५) इति ओकारे प्राप्ते औकारोऽन्यायसमासजः ॥ ४० ॥

उ० अ०—ये पद भी व्याकरण के नियम के अनुसार समास न होने के कारण पृथक नहीं किये जाते हैं। और यहाँ पर "उवर्ण बाद में होने पर कण्ठ्य स्वर (= अ, आ), उवर्ण के सहित, ओकार हो जाता है" इस (सूत्र) से ओकार प्राप्त होने पर औकार नियम-विपरीत समास से उत्पन्न होता है।

अ०—चत्वार्येतानि नावगृह्यन्तेऽन्यायसमासात्। अत्र अकार उकारे ओकारमित्योकारे प्राप्ते औकारोक्तिरन्यायसमासः। यथा—दित्यवाट दित्यौही तुर्यौही पष्ठौही हृदयौपशेन अन्तरिक्षम् ॥ ४० ॥

दुष्टरो विष्टरो विष्टपो विष्टम्भो विष्टम्भनीम् ॥ ४१ ॥

सू० अ० -दुष्टरः, विष्टरः, विष्टपः, विष्टम्भः और विष्टम्भनीम् (पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—दुष्टर इत्यादीनि पदानि नावगृह्यन्ते । अत्राचार्येण कारणं नोपन्यस्तम् । तत्र तावत् दुष्टरपदं धातुसंशयान्नावगृह्यते । दुरुपसर्गः पूर्वपदं तरतेस्तृणातेर्वोत्तरपदम् । अतो धातुसंशयान्नावगृह्यते । विष्टरादीनि तु अन्यायषत्वसंहितानि । अतः षत्वागमोऽपि पदकारैर्न कृतः ॥ ४१ ॥

उ० अ०—दुष्टरः इत्यादि पद पृथक् नहीं किये जाते हैं । यहाँ पर आचार्य के द्वारा कारण को प्रस्तुत नहीं किया गया है। उनमें से दुष्टर पद धातु के विषय में संशय होने के कारण पृथक् नहीं किया जाता है। दुः उपसर्ग पूर्व-पद है एवं तृ अथवा तृण् (धातु) का उत्तर-पद है। इसलिए धातु के विषय में संशय होने से पृथक् नहीं किया जाता है । विष्टर इत्यादि में तो संहिता में नियम के विपरीत षत्व हुआ है । इसलिए पठ-पाठ के निर्माताओं ने षत्व का आगम भी नहीं किया है ।

अ०—पञ्चैतानि नावगृह्यन्ते उक्तहेतोरेव । तत्र तावत् दुष्टरपदं धातुसंशयान्नावगृह्यते दुरुपसर्गः पूर्वपदं तरतेस्तृणातेर्वोत्तरपदम् । अतः धातुसन्देहान्नावग्रहः । विष्टरादीनि अन्यायषत्वसंहितानि । अतो षत्वागमोऽपि पदकारैर्न कृतः । यथा "दुष्टरः । दुस्तर इति दुस्तरः" । "तरन् व्रघ्नस्य विष्टपम्" । "विष्टम्भोऽविपतिः" । "धात्रीं विष्टम्भनीमदिशम्" ॥ ४१ ॥

ऊवध्यमुगणा उख इष्कृतिरिष्कर्त्तारमुदरमित्युपसर्गैकदेशलोपात् ॥४२॥

सू० अ०-उपसर्ग के एक भाग (देश) का लोप होने के कारण ऊवध्यम्, उगणाः, उखे, इष्कृतिः, इष्कर्तारम् और उदरम् (पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—एतानि पदान्युपसर्गैकदेशलोपान्नावगृह्यन्ते । तत्र इष्कृतिः इष्कर्त्तारम् इत्यनयोः पदयोर्निरुपसर्गस्य नकारलोपान्नावग्रहः । शेषाणामुद उपसर्गस्यान्त्यवर्णलोपान्नावग्रहः । ऊवध्यं यथा–"ऊवध्यं वातं सब्वन्तदारात्" (वा० १९।८४) । उगणा यथा— "नम उगणाभ्यः" (वा० १६।२४) । उखे यथा -' अभीन्धतामुखे" (वा० ११।६१) । इष्कृतिर्यथा–"इष्कृतिर्नाम वः" (वा० १२।८३) । इष्कर्त्तारं यथा–"इष्कर्त्तारमध्वरस्य" (वा० १२।११०) । उदरं यथा–"पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरम्" (वा० २०।८) ॥ ४२ ॥

उ० अ०—ये पद; उपसर्गैकदेशलोपात् = उपसर्ग के एक भाग का लोप हो जाने से; पृथक् नहीं किये जाते हैं । इनमें से इष्कृतिः और इष्कर्त्तारम्—इन दो पदों के नि उपसर्ग के नकार का लोप हो जाने के कारण पृथक्करण नहीं होता है । शेष (पदों) के उत् उपसर्ग के अन्तिम वर्ण (= तकार) का लोप हो जाने के कारण पृथक्करण नहीं होता है ।…।

अ०—षडेतानि पदानि नावगृह्यन्ते उपसर्गैकदेशलोपात् । तत्र इष्कृतिरिष्कर्त्तारमित्यनयोः पदयोर्निरुपसर्गस्य नकारलोपः शेषाणामुदुपसर्गस्यान्तलोपः । यथा–"ऊवध्यम्

वातम् सन्त्रम्" । "नम उगणाभ्यः" । "अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे" । "इष्कृतिर्नाम वः" ।
"इष्कर्तारमध्वरस्य" । "प्रष्टीमें राष्ट्रमुदरम्" । अत्र समासत्वेन प्राप्तिः ॥ ४२ ॥

सँस्कृतं सँस्कृतिर्माँस्पचन्याः पुँश्चलूमित्यनुनासिकोपधत्वात् ॥४३॥

सू० अ०—उपधाभूत स्वर के अनुनासिक होने से सँस्कृतम्, सँस्कृतिः, माँस्पचन्याः और पुंश्चलूम् (पृथक नहीं किये जाते हैं) ।

उ०—एतानि पदानि अनुनासिकोपधत्वान्नावगृह्यन्ते । अत्र च "शं चे पकारादुकारोदयात्" इत्यादिभिः सूत्रैरुपधानुनासिकत्वमुक्तम् । पक्षे चानुस्वारः । अतो वाजसनेयिनामुपधानुनासिकत्वान्नावग्रहः । काण्वानां तु वक्ष्यमाणसूत्रेण । सँस्कृतं यथा—"तन्नौ सँस्कृतम्" (वा० ४।३४) । सँस्कृतिर्यथा—"सा प्रथमा सँस्कृतिः" (वा० ७।१४)। माँस्पचन्या यथा—"माँस्पचन्या उखायाः" (वा० २५।३६) । पुँश्चलूं यथा—"नमयि पुँश्चलूं हसाय" (वा० ३०।२०) ॥ ४३ ॥

उ० अ०—ये पद; अनुनासिकोपधत्वात् = उपधाभूत स्वर के अनुनासिक होने से; पृथक् नहीं किये जाते हैं । और यहाँ पर "उकार है बाद में जिसके ऐसा पकार से परवर्ती मकार, चकार बाद में होने पर, शकार हो जाता है" इत्यादि सूत्रों से अनुनासिकत्व कहा गया है । पक्ष में अनुस्वार (का आगम कहा गया है) । इसलिए वाजसनेयि-संहिता में उपधाभूत स्वर के अनुनासिक हो जाने से पृथक्करण नहीं होता है। काण्व-संहिता में तो आगे कहे जाने वाले सूत्र से (पृथक्करण नहीं होता है) ।...।

अ०—चत्वार्येतानि नावगृह्यन्ते अनुनासिकोपधत्वात् । स चेत्थम्—श चे पकारादुकारोदयादित्यादिसूत्रैः उपधानुनासिकत्वमुक्त्वा पक्षे चानुस्वारोऽभिहितः । अन्ते माध्यन्दिनानां उपधानुनासिकत्वान्नावगृह्यते यथा—"तन्नौ संस्कृतम्" । "सा प्रथमा संस्कृतिः" । "यन्नीक्षणं मांस्पचन्याः" । नर्माय पुंश्चलूम्" । अत्र काण्वानां पक्षमाह—

अनुस्वारागमत्वादित्येके ॥ ४४ ॥

सू० अ०—कतिपय आचार्यों के अनुसार अनुस्वार का आगम होने से (संस्कृतम्, संस्कृतिः, मांस्पचन्याः और पुंश्चलूम् में पृथक्करण नहीं होता है)।

उ०—(अनुस्वारागमात् =) अनुस्वारागमत्वाद्धेतोः; एव एके आचार्या एतान्येव पदानि नावगृह्णन्ति । "संस्कृतम्" । "संस्कृतिः" । "मांस्पचन्याः" । "पुंश्चलून्" । काण्वादीनामयं पाठो बोध्यः ॥ ४४ ॥

उ० अ०—(अनुस्वारागमात् =) अनुस्वार का आगम होने के कारण; ही; एके=कतिपय आचार्य; इन्हीं पदों को पृथक् नहीं करते हैं !...। काण्व आदि का यह पाठ है—यह जानना चाहिए ।

अ०—अत्रानुस्वारागमत्वाद्धेतोः एतानि नावगृह्यन्त इति एके आचार्या आहुः। एकशब्दोऽत्र मुख्यवचनः। तथैव काण्वपाठात्। उक्तपूर्वोदाहरणान्येव ॥ ४४ ॥

परीत्तोऽवत्तानां सुविताय सग्धिरिति ॥ ४५ ॥

सू अ०—परीत्तः, अवत्तानाम्, सुविताय और सग्धिः (पृथक् नहीं किये जाते हैं)।

उ०—एतानि पदानि यथायोगं कारणैर्नावगृह्यन्ते। तत्र तावत्परीत्तः अवत्तानां सग्धिः एतानि धात्वेकदेशलोपान्नावगृह्यन्ते। सुवितायेत्येतत्पद सुइताय सुगताय वा गृह्यते सुविताय प्रजायै वा इति धातुसंशयान्नावगृह्यते यथा—"श्येने परीत्तो अचरत्" (वा० ६।६)। "अङ्गादङ्गादवत्तानाम्" (वा० २३।४३)। "अग्निः सुदक्षः सुविताय" (वा० १५।२७)। "सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे" (वा० १८।९)। इतिशब्दोऽन्यपदप्रदर्शनार्थः। यथैतानि पदानि एतैर्हेतुभिर्नावगृह्यन्ते एवमन्यान्यपि द्रष्टव्यानि। तथा चोक्तम्—

"आदिमध्यान्तलुप्तानि समासान्यन्यायभाञ्जि च। नावगृह्णन्ति कवयः पदान्यागमवन्ति च"॥

उ० अ०—ये पद सामान्य कारणों से पृथक् नहीं किये जाते हैं। उनमें से परीत्तः, अवत्तानाम् और सग्धिः—ये (पद) धातु के एक भाग का लोप होने के कारण पृथक् नहीं किये जाते हैं। सुविताय यह पद—सुविताय=सुगताय रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा सुविताय = प्रजायै (रूप में ग्रहण किया जाता है) (अर्थात् यहाँ गत्यर्थक इ धातु है अथवा 'उत्पन्न करना' अर्थ वाली सू धातु है)। इस प्रकार धातु के विषय में संशय होने से पृथक्करण नहीं किया जाता है।'''। (सूत्रोक्त) इति शब्द अन्य पदों को दिखलाने के लिए है। जिस प्रकार ये पद इन कारणों से पृथक् नहीं किये जाते हैं उसी प्रकार अन्य भी (पदों) को समझ लेना चाहिए। वैसा कहा भी गया है—"जिन समासों के आदि, मध्य और अन्त लुप्त हुए हों और जो समास व्याकरण के नियम के अनुसार निष्पन्न नहीं हुए हों उन समासों को तथा आगमयुक्त पदों को विद्वान् पृथक् नहीं करते हैं"।

अ०—चत्वार्येतानि नावगृह्यन्ते उक्तहेतुभ्यः। तत्र तावत् परीत्तः अवत्तानाम् सग्धिरिति त्रीणि धात्वेकदेशलोपान्नावगृह्यन्ते। लोपश्चेत्थम्। परीत इत्यत्र परेर्दीर्घोदाहरणार्थं धाण्धातोः ध्वनिति हेतोर्लोपः। अवत्तानामित्यत्र खण्डनार्थस्य दो धातोरोकारलोपः सग्धिरित्यत्र अहो। वसग्धिस्तिलपगितीत्यगोधातोः जाड्यदेशे सुविशायेति पदं तु सुइताय सुगताय सुप्रजायै वा इति धातुसंशयान्नावगृह्यते। यथा—श्येने परीतो अचरत्। अङ्गादङ्गादवत्तानाम्। अग्निः सुदक्षः सुविताय। सग्धिश्च मे। परीत इति पदस्य अवत्तादिपदसाहचर्यात् समस्तस्यैवात्र ग्रहणं न तु व्यस्तस्य तस्य प्राप्त्यभावादेव। यथा—

परि इतः सिञ्चत सुतम् । केचित्तु परीतो अचरदवत्तानामिति सूत्रं पठन्ति । तदा न काचिदनुपपत्तिः । इतिशब्दात् एवं जातीयकान्युदाहरणानि प्रदर्शितार्थानि । तथा चोक्तम्-
आदिमध्यान्तलुप्तानि समासान्यन्यायभाञ्जि च । नावगृह्णन्ति कवयः पदान्यागमवन्ति च ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ ४६ ॥

सू० अ०—(यह शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा) अधिक महत्त्वपूर्ण है, (अत एव इस शास्त्र का अध्ययन करने वालों की) वृद्धि (होती है)।

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे पञ्चमोऽध्यायः ॥

कात्यायनकृत प्रातिशाख्यसूत्र में पञ्चम अध्याय समाप्त ।

उ०—इत्युक्तार्थम् ।

उ० अ०—इसका अर्थ कहा जा चुका है ।

इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुनोव्वटेन कृते मातृमोदाख्ये
प्रातिशाख्यभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥

आनन्दपुरनिवासी वज्रट के पुत्र उवट कृत मातृमोदाख्य
प्रातिशाख्यभाष्य में पञ्चम अध्याय समाप्त ।

अ०—इति गतार्थः । हरिः ओम् ॥

श्रीमदनन्तभट्टेन विरचिते कात्यायनप्रणीतप्रातिशाख्यभाष्ये पदार्थ-
प्रकाशिके पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत् ॥ १ ॥

सू०अ०—सम्बोधन-पद (आमन्त्रित) की भाँति क्रिया-पद (आख्यात) अनुदात्त (होता है)।

उ०—अधुना षष्ठाध्याये आख्यातस्वरोऽभिधीयते । तत्र आमन्त्रितस्वरातिदेश-पूर्वकं सूत्रमाह। "स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्" (२।१) इत्यत्र नामाख्यातोपसर्गनिपातानां सामान्येन स्वरोऽभिहितः । यथा—"नो नौ मे मदर्थे" (२।३) इत्यादिभिर्नाम्नां विशेष-स्वरोऽभिहितः । यथा—"वा च कमु चित्" (२।१६) इत्यादिसूत्रेण निपातानां च विशेषस्वरोऽभिहितः । तथा नाख्यातोपसर्गाणां विशेषस्वरोऽभिहितः । अतस्तत्प्रतिपादना-र्थमाह—"अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत्" इति । (**आमन्त्रितवत् =**) आमन्त्रित-पदवत्; **अनुदात्तमाख्यातं** पदं भवति । यैरेव कारणैरनुदात्तमामन्त्रितं भवति तैरेव कारणैराख्यातमपीत्यर्थः । "पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थेऽपादादौ" (२।१७) इत्यामन्त्रि-तस्यानुदात्तत्वमुक्तम् इहापि तथैव भवति । एतदुक्तं भवति—पदपूर्वमाख्यातमनुदात्तं भवति तच्च नानार्थे न भवति । अपादादौ च भवति । पदपूर्वं भवति तद्यथा—"मा व॑स्ते॒ न ई॑शत" "गोप॑तौ स्यात्" (वा० १।१) । अनानार्थ इति किम् ? "पा॒हि य॒ज्ञं पा॒हि य॒ज्ञप॑तिम्" (वा० २।६) । अपादादाविति किम् ? "ऋ॒द्ध्यामा॑ त॒ ओहैः" (वा० १५।४४) । "सु॒षाव॒ सोम॒मद्रि॑भिः" (वा० १९।२)॥ १ ॥

उ० अ० – अब छठे अध्याय में क्रिया-पद (आख्यात) का स्वर कहा जाता है। वहाँ (= आख्यात के विषय में) (सूत्रकार ने) सम्बोधनपद के स्वर के अतिदेश-सहित (प्रस्तुत) सूत्र (=६।१) को कहा है। "स्वरित को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है"—यहाँ पर (= इस सूत्र में) नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का स्वर सामान्य रूप से कहा गया है। जिस प्रकार—"नः, नौ और मे अनुदात्त होते हैं यदि ये अस्मद् शब्द के अर्थ में हों"—इत्यादि (सूत्रों) के द्वारा नामों का विशेष स्वर कहा गया है। जिस प्रकार—"वा, च, कम्, उ, चित्" —इत्यादि सूत्र के द्वारा निपातों का विशेष स्वर कहा गया है। उस प्रकार आख्यातों और उपसर्गों का विशेष स्वर नहीं कहा गया है। इसलिए उसके प्रतिपादन के लिए (सूत्रकार ने) कहा है— "अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत्"। (सूत्र का अर्थ यह है)—(**आमन्त्रितवत =**) सम्बोधन-पद की भाँति; **आख्यातम्** = क्रिया—पद; **अनुदात्तम्** = अनुदात्त (=सर्वा-नुदात्त); होता है। जिन कारणों से सम्बोधन-पद अनुदात्त होता है, उन्हीं कारणों

से क्रिया-पद भी (अनुदात्त होता है)—यह अर्थ है। "कोई भी पद पूर्व में हो तो सम्बोधन-पद अनुदात्त होता है, यदि वह सम्बोधन-पद अनेक पदार्थों का वाचक न हो और पाद के प्रारम्भ में न हो" (इस सूत्र में उल्लिखित कारणों) से आमन्त्रित का अनुदात्त होना कहा गया है, यहाँ (= क्रिया-पद में) भी वैसे ही होता है। इसका तात्पर्य यह है—जिस क्रिया पद के पूर्व में कोई पद हो वह (क्रिया पद) अनुदात्त होता है, यदि वह अनेक पदार्थों का अभिधायक नहीं होता है और यदि वह पाद के प्रारम्भ में नहीं होता है।…।

अ०—आख्यातपदमामन्त्रिवत् अनुदात्तं स्यात्। एतदुक्तं भवति—"पदपूर्वमामन्त्रितमनानार्थेऽपादादौ" इति उक्तत्वात्। तथैव पदपूर्वमाख्यातमनुदात्तं भवति अपादादौ च वर्त्तमानं च भवति। यथा—"ईशत = मावस्तेन ईशत गोपतौ स्यात्"। "वयं स्याम"। "अग्ना अग्निचरति" इत्यादि। अनानार्थे किम्? "पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम्"। इदमाख्यातं नानार्थकं अत्रपातेर्नानार्थकत्वात्। अपादादौ किम्? "ऋध्यामा त ओहैः"। "सुषाव सोममद्रिभिः"। पदपूर्वं किम्? "मन्ये त्वा जातवेदसम्"। पूर्वम् "स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्" इत्यादिना नाम्नां निपातानां च विशेषस्वरोऽभिहितः न त्वाख्यातोपसर्गाणाम्। अतः तत्प्रतिपादनार्थम् अध्यायारम्भ इत्यवधेयम् ॥ १ ॥

उपसर्ग उपसर्गे ॥ २ ॥

सू० अ०—उपसर्ग बाद में होने पर उपसर्ग (अनुदात्त होता है)।

उ०-उपसर्गोऽनुदात्तो भवति उपसर्गे प्रत्यये। एतच्च समासपद एव द्रष्टव्यम्। यथा—"सम्प्रच्यवध्वम्" "सम्प्रयाताग्ने पथः" (वा० १५।५३)। अत्र समुपसर्ग-उपसर्गेऽनुदात्तः। उपसर्ग इति किम्? "प्रयतिः। प्रसितिः" (वा० १८।१) ॥ २ ॥

उ० अ०—उपसर्गे = उपसर्ग बाद में होने पर; उपसर्ग अनुदात्त होता है। और इसे समास-पद में ही समझना चाहिए। जैसे—"सम्प्रच्यवध्वम्"। "सं प्रयाताग्ने पथः"। यहाँ पर उपसर्ग बाद में होने पर सम् उपसर्ग अनुदात्त है। उपसर्ग बाद में होने पर यह क्यों (कहा)? "प्रयतिः"। "प्रसितिः" ॥ २ ॥

अ०—परोपेत्युपसर्गसंज्ञां वक्ष्यति। उपसर्गोऽनुदात्तः स्यात् उपसर्गे परे। एतच्च पदसमासे द्रष्टव्यम्। यथा—"सम्प्रच्यवध्वम्"। "सम्प्रयाता"। "उपसर्गे किम्? "समिद्धो अञ्जन्"। "प्रयतिः"। "प्रसितिः" ॥ २ ॥

आम्रेडिते चोत्तरः ॥ ३ ॥

सू० अ०—किन्तु द्विरुक्त पद में (अर्थात् उपसर्ग की द्विरुक्ति होने पर) परवर्ती (उपसर्ग अनुदात्त होता है)।

उ०—आम्रेडिते च पदे उत्तर उपसर्गोऽनुदात्तो भवति। यथा—"संसमिति सम्-सम्" (वा०६।२०)। उपोपेत्युप-उप" (वा०३।३४)। अवस्तनयोगापवादः ॥ २॥

उ० अ०—आम्रेडिते च = किन्तु द्विरुक्त पद में; उत्तरः = बाद में विद्यमान; उपसर्ग अनुदात्त होता है।"""यह पूर्ववर्ती सूत्र (=६।२) का अपवाद है।

अ०—आम्रेडिते उपसर्गोऽनुदात्तः स्यात्। न पूर्वः। अधस्तनापवादोऽयम्। यथा—संसमित्। उपोपेन्नु। प्रप्रायमग्निः ॥ ३ ॥

कृदाख्यातयोश्चोदात्तयोः ॥ ४ ॥

सू० अ०—उदात्त कृदन्त (पद) और उदात्त आख्यात (पद) बाद में होने पर उपसर्ग अनुदात्त होता है।

उ०—उदात्ते कृत्प्रत्यये चाख्याते परभूते उपसर्गोऽनुदात्तो भवति। कृति भवति यथा—"स्वः आ भरन्तः" (वा० १५।४९)। "विभ्राजमानः सरिरस्य मध्ये" (वा० १५।५२)। आख्याते भवति यथा—"ये चार्वते पचनं सम्भरन्ति" (वा० २५।२६)। "यदूवध्यमुदरस्यापवाति" (वा० २५।३३)। कृदाख्यातयोरिति किम्? "अनु गावोऽनु भगः कनीनाम्" (वा० २९।१९)। उदात्तयोरिति किम्? "प्रयतिः", "प्रसितिः"। (वा० १८।१)। "शिवां शग्मामपरि दधे" (वा० ४।२)। यत्र चानुदात्तत्वमुपसर्गस्य न भवति तत्र पृथक्पदत्वमपि भवति। "स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्" (२।१) इति परिभाषितत्वात् ॥ ४ ॥

उ० अ०—उदात्त कृत् प्रत्यय बाद में होने पर और (उदात्त) क्रिया-पद बाद में होने पर उपसर्ग अनुदात्त होता है।"""और जहाँ उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता है वहाँ पृथक्पद भी होता है। (अर्थात् वहाँ उपसर्ग कृदन्त और क्रिया-पद से पृथक् एक स्वतन्त्र पद होता है)। क्योंकि "स्वरित को छोड़कर पद एक उदात्त वाला होता है" यह कहा गया है।

अ०—उपसर्गोऽनुदात्तः स्यात्। उदात्तवति कृदन्ते च परे उदात्तवति आख्याते च परे। यथा—"स्वः आरभन्तः"। "विभ्राजमानः सरिरस्य मध्ये"। "प्रतिपदसि"। "अनुपदसि"। "सम्पदसि"। "विवृदसि"। "संवृदसि"। "संवृते प्रयुतं द्वेषः"। "प्रवृत्तस्तेजः"। "संभरन्ति"। "ये चार्वते पचनं संभरन्ति"। "अपवाति"। "यदूवध्यमुदरस्यापवाति"। "यत्तो यतस्समीहसे"। कृदाख्यातयोः किम्? "अनु गावः अनु भगः"। उदात्तयोरिति किम्? "प्रयतिः प्रसितिः"। "शिवाम् शग्माम् परिदधे"। यत्र चानुदात्तत्वं उपसर्गस्य न भवति तत्र पृथक्पदत्वमपि भवति। यथा—"परि दधे" इत्यादि। "स्वरितवर्जमेकोदात्तं पदम्" इति परिभाषितत्वात् ॥ ४ ॥

नाभ्येकाक्षरश्च स्वरसन्धेयेऽकृति ॥ ५ ॥

सू० अ०—अभि (उपसर्ग) और एक अक्षर वाला (उपसर्ग) (अनुदात्त) नहीं (होते हैं), यदि (अभि और एकाक्षर उपसर्ग के साथ) स्वर-संधि प्राप्त कर लेने वाला कृदन्त-भिन्न (पद) बाद में हो।

उ०—अभ्युपसर्ग एकाक्षरश्चोपसर्गः स्वरात्मके उपसर्गे स्वरसन्धेये चाकृति प्रत्यये नानुदात्तो भवति। अभेः स्वरात्मके भवति यथा—"अभि। आ। वर्त्तस्व" (वा० १२।१०३)। अभेः स्वरसन्धेये अकृति भवति यथा—"याभिः। मित्रावरुणौ। अभि। असिञ्चन्" (वा० १०।१)। "अभि। ऐक्षेताम्। मनसा" (वा० ३२।७)। एकाक्षरस्य स्वरात्मके भवति यथा—"वि। आ। अकरोत्" (वा० १९।७७)। "नि। असीदत्" (वा० १७।१७)। एकाक्षरस्य स्वरसन्धेयेऽकृति भवति यथा—"सत्यधर्मा। वि। आनट्" (वा० १२।१०२)। "यत्। पुरुषम्। वि। अदधुः" (वा० ३१।१०)। अधस्तनयोगापवादः ॥ ५ ॥

उ० अ०—(अभ्येकाक्षरश्च =) अभि उपसर्ग और एक अक्षर वाला उपसर्ग; स्वरात्मक उपसर्ग बाद में होने पर और; स्वरसन्धेयेऽकृति = स्वर-संधि को प्राप्त करने वाला कृदन्तभिन्न (पद) बाद में होने पर; अनुदात्त; न = नहीं; होता है।...। पूर्ववर्ती सूत्र का यह अपवाद है।

अ०—अभ्युपसर्ग एकाक्षरश्चोपसर्गः स्वरात्मके उपसर्गे स्वरसन्धेये च अकृति प्रत्यये उदात्ते अनुदात्तो न स्यात्। "उपसर्ग उपसर्गे" इत्यस्यापवादः। उभे स्वरात्मके यथा—"अभि। आ। दधामि"। "अभि। आ। वर्तस्व"। स्वरसन्धेये अकृति प्रत्यये यथा—"याभिर्मित्रावरुणा अभि असिञ्चन्"। "अभि। ऐक्षेताम्"। एकाक्षरस्य स्वरात्मके यथा—"वि। आ। अकरोत्"। "वि। असीदत्। पिता"। एकाक्षरस्य स्वरसन्धेये यथा—"सत्यधर्मा व्यानट्"। "यत्पुरुषं व्यदधुः" ॥ ५ ॥

आ पूतजातयोः ॥ ६ ॥

सू० अ०—पूत (शब्द) और जात (शब्द) बाद में होने पर आ (उपसर्ग) (अनुदात्त नहीं होता है)।

उ०—आ इत्ययमुपसर्गः पूतजातयोः प्रत्यययोर्नानुदात्तो भवति। यथा—"आ पूतः एमि" (वा० ४।२)। "आ जातो विश्वा" (वा० १२।१३) ॥ ६ ॥

उ० अ०—आ—यह उपसर्ग; पूतजातयोः = पूत और जात (शब्द) बाद में होने पर; अनुदात्त नहीं होता है।

अ०—आ इत्युपसर्गः पूतजातयोः शब्दयोः परयोः नानुदात्तः स्यात्। यथा—"शुचिः आ पूतः एमि"। "आ जातः विश्वा"। "कृदाख्यातयोः" इत्यस्यापवादः ॥६॥

अधि नि प्र प्रति श्रितात्रिणंभानवः पचतेषु ॥ ७ ॥

सू० अ०—अधि, नि, प्र और प्रति (अनुदात्त नहीं होते हैं), (यदि क्रमशः) श्रित, अत्रिणम्, भानवः और पचत बाद में होते हैं।

उ०—अधि नि प्र प्रति एते उपसर्गाः **श्रित अत्रिणं भानवः पचत** एषु प्रत्ययेषु नानुदात्ता भवन्ति। अधि यथा—"अधि श्रिताः" (वा० २०।३२)। नि यथा—"विश्वं न्यत्रिणम्" (वा० १७।६)। प्र यथा—"प्र भानवः" (वा० १५।२४)। प्रति यथा—"प्रति पचताग्रभीष्म" (वा० २१।६०) ॥ ७ ॥

उ० अ०—अधि, नि, प्र, प्रति—ये उपसर्ग; **(श्रितात्रिणंभानवः पचतेषु=)** श्रित, अत्रिणम्, भानवः, पचत—ये (क्रमशः) बाद में होने पर, अनुदात्त नहीं होते हैं।...।

अ०—अधि नि प्र प्रति एते उपसर्गाः श्रिताः अत्रिणं भानवः पचत क्रमेण एषु परेषु नानुदात्ता स्युः। "यस्मिन् लोका अधि श्रिताः"। "यासद्विश्वं न्यत्रिणम्"। प्र भानवस्सिस्रते। "प्रतिपचता"। एष्विति किम्? "अधिपवणे" इत्यत्र न ॥ ७ ॥

उज्जेषमावर्ते आपनीफणत्सनिष्यदत्संवतं प्रयाणं सञ्चरन्तं संरभध्वं प्रसितिं विक्रमस्वेत्येतेष्वनु ॥ ८ ॥

सू० अ०—उज्जेषम्, आवर्ते, आपनीफणत्, सनिष्यदत, संवतम्, प्रयाणम्, सञ्चरन्तम्, संरभध्वम्, प्रसितिम् और विक्रमस्व बाद में होने पर अनु (अनुदात्त नहीं होता है)।

उ०—उज्जेषम् आवर्ते आपनीफणत् सनिष्यदत् संवतं प्रयाणं सञ्चरन्तं संरभध्वं प्रसितिं विक्रमस्व एतेषु प्रत्ययेषु **अन्वित्ययमुपसर्गो** नानुदात्तो भवति। उज्जेषं यथा—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषम्" (वा० २।१५)। आवर्ते यथा—"सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते" (वा० २।२७)। आपनीफणद्यथा—"पथामङ्कास्यन्वापनीफणत्" (वा० ६।१४)। सनिष्यदद्यथा "अनु सं सनिष्यदत्" (वा० ६।१४)। संवतं यथा—"वरिष्ठामनु संवतम्" (वा० ११।१२)। प्रयाणं यथा—"अनु प्रयाणमुषसो विराजति" (वा० १२।३)। सञ्चरन्तं यथा—"समानं योनिमनु सञ्चरन्तम्" (वा० १३।५)। संरभध्वं यथा—"इन्द्रं सखायोऽनु संरभध्वम्" (वा० १७।३८)। प्रसितिं यथा—"तृष्वीमनु प्रसितिन्द्रूणानः (वा० १३।९)। विक्रमस्व यथा—"पृथिवीमनु विक्रमस्व" (वा० १२।५) ॥ ८ ॥

उ० अ०—उज्जेषम्...विक्रमस्व—एतेषु = ये बाद में होने पर; **अनु—**यह उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता है।....।

अ०—अनु इत्युपसर्गः उज्जेषमित्यादिदशसु परेषु नानुदात्तः। यथा—"अग्नीषोमयोरुज्जितिमनूज्जेषम्"। "सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते"। "अङ्क्षांस्यन्वापनीफणत्"। "अनुसंसनिष्यदत्"। परेषामिदम्। "वरिष्ठामनुसंवतम्" "अनुप्रयाणमुषसो विराजति"। "योनिमनु सञ्चरन्तरम्"। "सञ्जायो अनुसंरभध्वम्"। "तृष्णीमनुप्रसितिं द्रूणानः"। "पृथिवीमनु विक्रमस्व" ॥ ८ ॥

आप प्रोदात्ते ॥ ६ ॥

सू० अ०—उदात्त प्र बाद में होने पर आ और उप (अनुदात्त नहीं होते हैं)।

उ०—आ उप एतौ; (प्रोदात्ते =) प्रोपसर्गे उदात्ते प्रत्यये; नानुदात्तौ भवतः। आ यथा—"आ प्रयातु परावतः" (वा० १८।७२)। "आ प्रयच्छ दक्षिणात्" (वा० ५।१९)। उप यथा—"उप प्रयाहि" (वा० ३४।१६)। उप प्रागाच्छसनम्" (वा० २६।२३) ॥ ६ ॥

उ० अ०—आ, उप—ये दो (उपसर्ग); (प्रोदात्ते =) उदात्त प्र उपसर्ग बाद में होने पर; अनुदात्त नहीं होते हैं।...।

अ०—आ उप एतौ उदात्ते उपसर्गे परे अनुदात्तौ न स्तः। यथा—"आ प्रयातु परावतः"। "आ प्रयच्छ दक्षिणात्"। "उप प्रयाहि"। "उप प्रागात्" ॥ ६ ॥

अभिप्रेह्युपसम्प्रयात प्रत्यातनुष्वासुषाव ॥ १० ॥

सू० अ०—अभिप्रेहि, उपसम्प्रयात, प्रत्यातनुष्व और आसुषाव (में प्रथम उपसर्ग अनुदात्त नहीं होता है)।

उ०—अभिप्रेहि उपसम्प्रयात प्रत्यातनुष्व आसुषाव एते चोपसर्गा यथागृहीता नानुदात्ता भवन्ति। यथा—"अभिप्रेहि निर्दह" (वा० १७।४४)। "उपसम्प्रयाताग्ने पथः" (वा० १५।५३)। "उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व" (वा० १३।१२)। आसुषाव सोममद्रिभिः" (वा० १९।२) ॥ १० ॥

उ० अ०—अभिप्रेहि, उपसम्प्रयात, प्रत्यातनुष्व, आसुषाव—ये उपसर्ग भी, जैसे ग्रहण किये गए हैं वैसे ही अनुदात्त नहीं होते हैं।...।

अ०—अभिप्रेहीत्यादयः चत्वारः यथोक्तौ नानुदात्ता स्युः। यथा—"अभिप्रेहि निर्दह"। "उपसम्प्रयाताग्ने"। "उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व"। "अन्तरा सुषाव सोममद्रिभिः"। "उपसर्ग उपसर्गे" इति प्राप्तस्यापवादः ॥ १० ॥

प्रकृत्याख्यातमाख्यातपूर्वम् ॥ ११ ।

सू० अ०—क्रिया-पद पूर्व में होने पर क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर (मूल स्वर) से युक्त होता है।

उ०—यदुक्तम् "अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत्" (६।१) इति तस्यायमपवादः। आख्यातपूर्वमाख्यातम्; (प्रकृत्या=) प्रकृतिस्वरं भवति। उदात्तपूर्वं भवति यथा—"पिबन्तु। मदन्तु। व्यन्तु" (वा० २१।४२) ॥ ११ ॥

उ० अ०—जो यह कहा गया है "सम्बोधन-पद की भाँति क्रिया-पद अनुदात्त होता है" उसका यह (सूत्र) अपवाद है। आख्यातपूर्वमाख्यातम् = क्रिया-पद है पूर्व में जिसके वह क्रिया-पद; (प्रकृत्या =) प्रकृति-स्वर वाला होता है।....।

अ०—यदुक्तम् "अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवत्" इति तस्यायमपवादः। आख्यातपूर्वम् आख्यातं प्रकृतिस्वरं स्यात्। यथा—"पिबन्तु। मदन्तु" ॥ ११ ॥

उदात्ताच्चामन्त्रितादनन्तरम् ॥ १२ ॥

सू० अ०—उदात्त-युक्त सम्बोधन-पद से भी अव्यवहित परवर्ती (क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—(उदात्तात् =) उदात्तस्वरात्; च; (आमन्त्रितात् =) आमन्त्रित-पदात्; अनन्तरमाख्यातं पदं प्रकृतिस्वरं भवति। यथा—"अग्ने पवस्व" (वा० ८।३८)। "होतर्यज" (वा० २१।२६) ॥ १२ ॥

उ० अ०—(उदात्ताच्चामन्त्रितात् =) उदात्त-स्वर-युक्त सम्बोधन-पद से भी; अनन्तरम् = अव्यवहित परवर्ती; क्रिया-पद प्रकृति-स्वर वाला होता है।...।

अ०—उदात्तस्वरात् आमन्त्रितपदात् अनन्तरमाख्यातं प्रकृत्या स्यात्। यथा—"अग्ने पवस्व"। "अग्ने नय"। "होतर्यज"। उदात्तात् किम्? "पचस्वाग्ने"। "आ अगमम्"। आमन्त्रितात् किम्? "शिवो भवा वरूथ्यः" ॥ १२ ॥

एकान्तरादपि ॥ १३ ॥

सू० अ०—एक (पद) से व्यवहित भी (सम्बोधन-पद से परवर्ती क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—(एकान्तरादपि =) एकेन पदेन व्यवहितादपि; आमन्त्रितपदात् परमाख्यातं प्रकृतिस्वरं भवति। यथा—"ब्रह्मन्नश्वं भन्त्स्यामि" (वा० २२।४१)। "देवाः। सधस्थाः। विद। रूपम्। अस्य" (वा० १८।६०)। अपिशब्देन विकल्पो ज्ञेयः। क्वचिद्भवति क्वचिन्न भवति। यथा—"इडे। आ। इहि" (वा० ३।२७) ॥ १३ ॥

उ० अ०—(एकान्तरादपि =) एक पद से व्यवहित भी; सम्बोधन-पद से परवर्ती क्रिया-पद प्रकृतिस्वर वाला होता है।....। (सूत्र में) अपि शब्द (के प्रयोग) से विकल्प जानना चाहिए। (इससे) कहीं (प्रकृति-स्वर) होता है, कहीं (प्रकृति-स्वर) नहीं होता है। जैसे—"इडे। आ। इहि"।

अ०—एकेन पदेन व्यवहितात् अप्यामन्त्रितपदात् परमाख्यातं प्रकृत्या स्यात्। यथा—"ब्रह्मन्। अश्वम्। भन्त्स्यामि"। "देवाः। सधस्थाः। विद। रूपम्। अस्य"। तथा। "वाजजित्। च। एधि"। अपिशब्दो वाशब्दार्थः। तेन क्वचिन्न भवति। यथा—"इळे। आ। इहि"॥ १३॥

यद्वृत्तोपपदाच्च ॥ १४ ॥

सू० अ०—सब विभक्तियों और सब प्रत्ययों में समाप्त होने वाले यत् शब्द से सम्बद्ध परवर्ती (क्रिया-पद) भी (प्रकृति-स्वर में रहता है)।

उ०—यदो वृत्तं यद्वृत्तम्। सर्वविभक्त्यन्तं सर्वप्रत्ययान्तं च गृह्यते—यत् यम् येन यतः यथा यत्र यदि इत्यादि। यद्वृत्तोपपदात्परमाख्यातं पदं प्रकृत्या भवति। "यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम्" (वा० १५।४९)। "येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्" (वा० १५।४९)। "यतो जातो अरोचथाः" (वा० ३।१४)। "यथायं वायुरेजति" (वा० ८।२८)। "यत्र ऋषयो जग्मुः" (वा० १८।५८)। "यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृम" (वा० २०।१५)। अत्र सर्वत्र यस्य यद्वृत्तस्याख्यातपदेन सह सम्बन्धो भवति तदेवाख्यातपदं विक्रियते न तु सन्निधिमात्रेण। यथा—"यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि" (वा० २०।१७)। तथा चोक्तम्—

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्"॥

उ० अ०—यत् (शब्द) का रूप (स्वरूप, वृत्त) = यद्वृत्त। सब विभक्तियों में समाप्त होने वाले और सब प्रत्ययों में समाप्त होने वाले (यत् शब्द) का ग्रहण होता है—यत्, यम्, येन, यतः, यथा, यत्र, यदि इत्यादि। यद्वृत्तोपपदात्= यत् शब्द के रूपभूत किसी भी उपपद से; परवर्ती क्रिया-पद प्रकृति (मूल) स्वर में रहता है।...यहाँ सभी स्थलों में जिस यद्रूप का (जिस) क्रिया-पद के साथ सम्बन्ध होता है वही क्रिया-पद विकृत होता है, केवल समीपता (सन्निधि) से तो नहीं। जैसे—यदेकस्याधि धर्मणि तस्यावयजनमसि"। वैसा कहा भी गया है—"दूर में स्थित भी, जिस (यद्रूप) का जिस (क्रिया-पद) के साथ सम्बन्ध होता है उस (यद्रूप) से वह (क्रिया-पद) (विकृत होता है)। अर्थ की दृष्टि से असम्बद्ध (यद्रूप और क्रिया-पद के विषय में) समीपता (अव्यवधान, आनन्तर्य) कारण नहीं होता है"।

अ०—यदो वृत्तं यद्वृत्तम्। यच्छब्दस्वरूपमित्यर्थः। तत्सर्वविभक्त्यन्तं सर्वप्रत्ययान्तं च गृह्यते। यच्छब्दस्वरूपमुपपदं यस्य तत् यद्वृत्तोपपदम्। तस्मात् परमाख्यातं प्रकृतिस्वरं स्यात्। यथा—'अग्निं यमाहुर्मनवस्तीर्णबर्हिषम्"। "येन ऋषयस्तपसा सत्रमायन्"। "यतो जातो अरोचथाः"। "यथायं वायुरेजति"। "यत्र ऋषयो जग्मुः"। "यदि दिवा यदि नक्तमेनांसि चकृम"। "ये देवा देवेष्वधिदेवत्वमायन्"। अत्र सर्वत्र यस्य

यद्वत्तस्याख्यातपदेन सह सम्बन्धो भवति, तदेवाख्यातपदं विक्रियते। न तु सन्निधानमात्रेणान्यदपि। स यथा—"यदेकस्याधिचर्मणि तस्यावयजनमसि"। अत्रार्थतः सम्बन्धो नास्ति। तथा चोक्तम्—

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य तत्। अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्"॥

हेश्च ॥ १५ ॥

सू० अ०—हि (शब्द) से भी (परवर्ती क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—(हेः =) हिशब्दात्; च परमाख्यातं पदं प्रकृत्या भवति। यथा—"आपो हि ष्ठा मयोभुवः" (वा० ११।५०)॥ १५॥

उ० अ०—(हेश्च =) हि शब्द से भी; परवर्ती क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है।...।

अ०—हिशब्दाच्च परम् आख्यातं प्रकृत्या स्यात्। "हि स्थ = आपो हि ष्ठा मयोभुवः"। "त्वामिद्धि हवामहे"॥ १५॥

उत्तरेऽपि ॥ १६ ॥

सू० अ०—(हि शब्द) बाद में होने पर भी (क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—उत्तरेऽपि हिशब्दे आख्यातं पदं प्रकृत्या भवति। यथा—"इन्दवो वामुशन्ति हि" (वा० ७।८)॥ १६॥

उ० अ०—हि शब्द; उत्तरेऽपि = बाद में होने पर भी; क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है।...।

अ०—उत्तरेऽपि हिशब्दे सति आख्यातं प्रकृत्या स्यात्। यथा—"इन्दवो वामुशन्ति हि"॥ १६॥

नेत् ॥ १७ ॥

सू० अ०— नेत् (से परवर्ती क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—नेदित्यस्मान्निपातसमाहारात् परमाख्यातपदं प्रकृतिस्वरं भवति। यथा—"एष नेत्त्वदपचेतयातै" (वा० २।१७)॥ १७॥

उ० अ०—नेत्-इस निपात-समुदाय से परवर्ती क्रिया-पद प्रकृति-स्वर वाला होता है।

अ०— नेदित्यस्मात् निपातसमुदायात् परम् आख्यातं तथा। यथा—"एष नेत्त्वदपचेतयातै"। नेदिति विशिष्टं किम्...॥ १७॥

समनसस्करत् ॥ १८ ॥

सू० अ०—समनसः से परवर्ती करत् (अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ० —करदित्येतदाख्यातं पदं समनस इत्येतत्पूर्वं प्रकृत्या भवति। यथा—"असपत्नाः समनसस्करत्" (वा० ७।२५)। समनस इत्येतत्पूर्वमिति किम? "सुक्षत्रो भेषजं करत्" (वा० २१।२२) ॥ १८ ॥

उ० अ०—समनसः-यह पूर्व में होने पर करत्-यह क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है।...।

अ०—समनसः इत्यस्मात्पर आख्यातं तथा। यथा-"असपत्नास्समनसस्करत्"। समनसः परं किम्? "सुक्षत्रो भेषजं करत्" ॥ १८ ॥

द्वयोः पूर्वं समुच्चये ॥ १९ ॥

सू० अ०—दो (क्रिया-पदों) के समुच्चय (अर्थ) में होने पर पहला (क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ० - द्वयोराख्यातयोः समुच्चयेऽर्थे वर्त्तमानयोः पूर्वमाख्यातं पदं प्रकृत्या भवति। समुच्चयो नाम द्वयोराख्यातयोरेकस्मिन्नर्थे समावेशः। यथा—"शर्म। च। स्थः। वर्म। च। स्थः" (वा० ११।३०)। "शम्। च। वक्ष। परि। च। वक्ष" (वा० ८।२६) ॥ १९ ॥

उ० अ० - द्वयोः = दो क्रिया-पदों के; समुच्चये=समुच्चय अर्थ में विद्यमान होने पर; पूर्वम् = पहला; क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है। समुच्चय = दो क्रिया-पदों का एक अर्थ में समावेश।...। "शं च वक्ष परि च वक्ष"।

अ०—द्वयोराख्यातयोः समुच्चयार्थे वर्त्तमानयोर्मध्ये पूर्वमाख्यातं तथा। समुच्चयो नाम द्वयोराख्यातयोरेकार्थसमावेशः। यथा—"शर्म च स्थः वर्म च स्थः"। "परि च वक्ष शम् च वक्षि"। समुच्चये किम्? "अपतन्तमिद्धतं वज्रेण तन्तमिद्धतम्" ॥१९॥

वा विचारणे ॥ २० ॥

सू० अ०—(दो क्रिया-पदों के) विचार (अर्थ) में (विद्यमान होने पर पहला क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है), यदि वा (शब्द के द्वारा उन क्रिया-पदों का संयोग हो)।

उ०—द्वयोराख्यातयोर्विचारणेऽर्थे वर्त्तमानयोः पूर्वमाख्यातं प्रकृत्या भवति वाशब्देन चेदाख्यातयोर्योगो भवति। संहितायां प्रायश उदाहरणानि न लभ्यन्ते। रूपोदाहरणानि तु दीयन्ते। "देवदत्तो भुङ्क्ताम् वा यज्ञदत्तो वा भुङ्क्ताम्" ॥ २० ॥

उ० अ०—दो क्रिया-पदों के; **विचारणे** = विचार अर्थ में वर्तमान होने पर; पहला क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है, यदि **वा** शब्द के द्वारा दोनों क्रिया-पदों का संयोग होता है। सहिता में प्रायः उदाहरण नहीं मिलते हैं। लौकिक उदाहरण तो दिये जाते हैं।"।

अ०–विचारार्थकयोः द्वयोः आख्यातयोः पूर्वं तथा। वाशब्देन चेदाख्यातयोः योगो भवति। संहितायां तादृशोदाहरणं नोपलभ्यते। अधस्विदासीदुपरिस्विदासीत् इत्यत्र स्वर-विशेषः पूर्वमेवोक्तः। ततः नेदमुदाहरणम्। रूपोदाहरणं तु–"देवदत्तो वा भुङ्क्ताम् यज्ञदत्तो वा भुङ्क्ताम्" ॥ २० ॥

अह विनियोगे ॥ २१ ॥

सू० अ०—(दो क्रिया-पदों के) विनियोग (अर्थ) में (विद्यमान होने पर पहला क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है) यदि अह-(शब्द के द्वारा उन क्रिया पदों का संयोग हो)।

उ०—द्वयोराख्यातयोर्विनियोगेऽर्थे वर्त्तमानयः : पूर्वमाख्यातं प्रकृत्या भवति अह शब्देन चेदाख्यातयोर्योगो भवति। विनियोगो नाम द्वयोः पुरुषयोरेकस्मिन् कर्मणि एकस्य पुरुषस्य सम्बन्धः अन्यस्मिन् कर्मण्यपरस्य सम्बन्धः। रूपोदाहरणं दीयते। यथा–"देवदत्तोऽह ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्तोऽह गाः पालयतु" ॥ २१ ॥

उ० अ०—दो क्रिया–पदों के; **विनियोगे** = विनियोग अर्थ में वर्तमान होने पर; पहला क्रिया–पद अपने प्रकृति–स्वर से युक्त होता है, यदि अह शब्द के द्वारा दोनों क्रिया-पदों का संयोग होता है। विनियोग = दो पुरुषों में से एक कार्य में एक पुरुष का सम्बन्ध, दूसरे कार्य में दूसरे (पुरुष) का सम्बन्ध। लौकिक उदाहरण दिया जाता है। "देवदत्तोऽह ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्तोऽह गाः पालयतु"।

अ०—विनियोगे वर्त्तमानयोराख्यातयोः पूर्वं तथा। अहशब्दो अपि योगाभिधायकः। विनियोगो नाम द्वयोः पुरुषयोः कर्मद्वये सम्बन्धः। रूपोदाहरणम्—"देवदत्तोऽह ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्तोऽह गाः पालयतु" ॥ २१ ॥

एवावधारणे ॥ २२ ॥

सू० अ०—(दो क्रिया-पदों के) अवधारण (अर्थ) में (विद्यमान होने पर पहला क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है) यदि एव (शब्द के द्वारा उन क्रियापदों का संयोग हो)।

उ०—द्वयोराख्यातयोरवधारणेऽर्थे वर्त्तमानयोः पूर्वमाख्यातं प्रकृत्या भवति एवशब्देन चेदाख्यातयोर्योगो भवति। अवधारणं नाम द्वयोः कर्मणोः द्वयोश्च कर्त्रोरे-

कस्मिन् कर्मण्येकः कर्त्तावध्रियते परस्मिन्नन्यः। यथा–"देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्त एव भुङ्क्ताम्" ॥ २२ ॥

उ० अ०—दो क्रिया-पदों के; **अवधारणे** = अवधारण अर्थ में वर्तमान होने पर; पहला क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है, यदि एव शब्द के द्वारा दोनों क्रिया-पदों का संयोग होता है। अवधारण = दो कार्यों के दो करने वालों (कर्ता) में से–एक कार्य में एक कर्ता निश्चित किया जाता है, दूसरे (कार्य) में दूसरा (कर्ता निश्चित किया जाता है)।....।

अ०—अवधारणार्थकयोराख्यातयोः पूर्वं तथा। एवशब्दो अपि द्वयोराख्यातयोः योगाभिधायी। अवधारणं नाम द्वयोः कर्त्रोः कर्मद्वयसम्बन्धः। यथा–"देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्त एव भुङ्क्ताम्" ॥ २२ ॥

उपपदाप्रयोगेऽपि च ॥ २३ ॥

सू० अ०—उपपदों का प्रयोग न होने पर भी (क्रिया-पद अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होता है)।

उ०—च वा ह अह एव एतानि चप्रभृतीनि यान्युपपदानि उक्तान्याख्यातस्य विकारीणि तेषामर्थो यदि कथञ्चिदवगम्यते। तथा चोक्तम्—

'उपसर्गात्परो यस्तु पदादिरपि दृश्यते। उच्चस्थानस्थितो यत्र गुरुं तत्रैव कारयेत्" ॥

इति तदा एतेषाम्; (**उपपदाप्रयोगे** =) उपपदानामनुच्चारणे अपि आख्यातं न विक्रियते। तथा रूपोदाहरणम्—"सुखं भवथ पवित्रकं भवथ"। चशब्दोऽत्र लुप्तः। इत्थम्भूतानि छन्दस्युदाहरणानि द्रष्टव्यानि ॥ २३ ॥

उ० अ०—क्रिया–पद में विकार लाने वाले च, वा, ह, अह, एव–जो ये च इत्यादि उपपद कहे गए हैं, उनका अर्थ यदि किसी प्रकार ज्ञात होता है,....तब इन; (**उपपदाप्रयोगेऽपि** =) उपपदों का उच्चारण न होने पर भी; क्रिया-पद विकृत नहीं होता है। वैसा लौकिक उदाहरण – "सुखं भवथ पवित्रकं भवथ"। च शब्द यहाँ लुप्त हो गया है। इस प्रकार के उदाहरण वेद में देखने चाहिए।

अ०—च वा ह अह एव एतानि यानि च उपपदानि पूर्वमुक्तानि तेषामनुच्चारणेऽपि यदि कथञ्चिदर्थोऽवगम्यते नाख्यातं विकारं प्राप्नोति यथा–"सुखं भवथ पवित्रकं भवथ"। चशब्दोऽत्र लुप्तोऽपि अर्थदशायां समुच्चयत्वेनावगम्यते। इत्थम्भूतानि छन्दसि उदाहरणानि शाखान्तरे द्रष्टव्यानि ॥ २३ ॥

परोपापाव प्रति पर्यन्वप्यत्यध्याङ् प्र समिदुर्दुनि वि स्वभि ॥ २४ ॥

सू० अ०—परा, उप, अप, अव, प्रति, परि, अनु, अपि, अति, अधि,

आङ्, प्र, सम्, निर्, दुर्, उत्, नि, वि, सु, अभि (ये उपसर्ग अपने प्रकृति-स्वर से युक्त होते हैं)।

उ०—परा उप अप अव प्रति परि अनु अपि अति अधि आङ् प्र सम् निर् दुर् उत् नि वि सु अभि एते विंशतिरुपसर्गाः प्रकृतिस्वरा भवन्ति। अस्य चोत्सर्गस्य "उपसर्ग उपसर्गे" (६।२) इत्यादिकः पुरस्तादपवादो द्रष्टव्यः। प्रकृतिस्वरस्तु व्याकरणपठितोऽत्र गृह्यते। तथा च तत्सूत्रम्—"निपाता आद्युदात्ताः", "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्" (फि०सू० ८०,८१) इति। तथा चोक्तम्—

"एकारोथ चकारो वा रेफो दीर्घपरेषु च। समुपसर्गेत्येतष्टेद्गुरुरेव न संशयः" ॥

उक्तानामुपसर्गाणामनित्यमुपसर्गगुरु। यथा—"अनु योजा न्विन्द्र ते हरी"।

"विंशतेरुपसर्गाणामुच्चा एकाचरा नव। आद्युदात्ता दशैतेषामन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम्" ॥

उ० अ०—परा...अभि—इन बीस उपसर्गों के अपने प्रकृति—स्वर होते हैं। इस सामान्य नियम का "उपसर्ग बाद में होने पर उपसर्ग (अनुदात्त होता है)"—इत्यादि पहले किया गया अपवाद है—(इस तथ्य को) समझना चाहिए। प्रकृति-स्वर तो यहाँ व्याकरणोक्त ग्रहण किया जाता है। वह सूत्र इस प्रकार है "निपात आद्युदात्त (होते हैं)", "अभि को छोड़कर अन्य उपसर्ग भी (आद्युदात्त होते हैं)"। वैसा कहा भी गया है—'बीस उपसर्गों में से एक अक्षर वाले नौ उदात्त हैं। इन (उपसर्गों) में से दस आद्युदात्त हैं। अभि यह (उपसर्ग) तो अन्तोदात्त हैं"।

अ०—परा उप अप अव प्रति परि अनु अपि अति अधि आङ् प्र सम् निर् दुर् उत् नि वि सु अभि एते विंशतिरुपसर्गाः प्रकृतिस्वराः स्युः। अयमुत्सर्गः "उपसर्ग उपसर्गे" इत्यादिपूर्वोक्तस्यापवादः इति द्रष्टव्यम्। प्रकृतिस्वरश्च व्याकरणपरिपठितोऽत्र गण्यते। तथा च तत्सूत्रम्—"निपाता आद्युदात्ताः"। "उपसर्गाश्चाभिवर्जम्"। इति। तथा चोक्तम्—

"विंशतेरुपसर्गाणामुच्चा एकाक्षरा नव। आद्युदात्ता दशैतेषामन्तोदात्तस्त्वभीत्ययम् ॥इति।

द्विस्पर्शम् ॥ २५ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित पदों में) दो स्पर्श (होते हैं)।

उ०—द्वौ स्पर्शौ यस्मिन् पदे तद्द्विस्पर्शं पदम्। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ २५ ॥

उ० अ०—दो स्पर्श हैं जिस पद में वह; द्विस्पर्शम् = दो स्पर्श (वर्णों) वाला; पद है। यह अधिकार-सूत्र है।

अ०—एवमाख्यातोपसर्गयोः स्वरमुक्त्वा अधुनावशिष्टं संयोगमाह। द्विस्पर्शमिति द्वौ स्पर्शौ यस्मिन् पदे तत् द्विस्पर्शं भवति। अधिकारसूत्रमेतत् ॥ २५ ॥

वेत्तु वित्त्वास्मद्द्रय्चक् पात्त्रमभित्त्यम्मृत्त्तिका द्ध्व्वं दात्त्रं समाव-वर्त्यृद्धिवृद्धिरराद्ध्य्या अर्द्धशुद्धबुद्धनक्क्त निषण्णस्विन्नान्नसन्नाश्च ।२६।

सू० अ०—वेत्तु, वित्त्वा, अस्मद्द्रचक्, पात्त्रम्, अभि त्त्यम्, मृत्तिका, द्ध्वम्, दात्त्रम्, समावर्वत्ति, ऋद्धिः, वृद्धिः, अराद्धचै, अर्द्धं, शुद्ध, बुद्ध, नक्क्तम्, निष्ण्ण, स्विन्न, अन्न और सन्न (इनमें दो-दो स्पर्श हैं)।

उ०—एतेषु पदेषु द्वौ स्पर्शौ भवतः। वेत्तु यथा-"प्रति त्वा पर्वती वेत्तु" (वा० १।१९)। द्वौ तकारौ संयोगः। वित्त्वा यथा -"वित्त्वा गातुमित" (वा०२।२१)। द्वौ तकारौ वकारश्च संयोगः। अस्मद्द्रचक् यथा-"अस्मद्द्रचग् वावृधे" (वा० ७।३९)। पात्रं यथा-"आसन्ना पात्त्रञ्जनयन्त देवाः" (वा० ७।२४)। द्वौ तकारौ रेफश्च संयोगः। अभि त्त्यं यथा-"अभि त्त्यन्देवम्" (वा० ४।२५)। द्वौ तकारौ यकारश्च संयोगः। मृत्तिका यथा-"अश्मा च मे मृत्तिका च मे" (वा० १८।१३)। द्वौ तकारौ संयोगः। द्ध्वं यथा-"विमुच्यद्ध्वमघ्न्या देवयानाः" (वा० १२।७३)। दकारधकारौ वकारश्च संयोगः। दात्रं यथा-"सोमस्य दात्त्रमसि" (वा० १०।६)। द्वौ तकारौ रेफश्च संयोगः। समावर्वति यथा-"समावर्वत्ति पृथिवी" (वा० २०।२३)। रेफौ द्वौ तकारौ संयोगः। ऋद्धिर्यथा-"सत्रस्य ऋद्धिरसि" (वा० ८।५२)। दकारधकारौ संयोगः। वृद्धिर्यथा-"वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे" (वा० १८।४)। दकारधकारौ संयोगः। अराद्ध्यै यथा-"अराद्ध्या एर्दिधिषुः पतिम्" (वा० ३०।९)। दकारधकारौ यकारश्च संयोगः। अर्द्धो यथा-"अन्तश्च परार्द्धश्चैता मे" (वा० १७।२)। रेफ-दकारधकाराः संयोगः। शुद्धो यथा-"शुद्धवालः सर्वशुद्धवालः" (वा० २४।३)। दकारधकारौ संयोगः। बुद्धो यथा-"प्रबुद्धाय स्वाहा" (वा० २२।७)। दकारधकारौ संयोगः। नक्क्तं यथा-"मधु नक्क्तमुतोषसः" (वा० १३।२८)। द्वौ ककारौ तकारश्च संयोगः। निषण्णो यथा-"निषण्णाय स्वाहा" (वा० २२।८)। द्वौ णकारौ संयोगः। स्विन्नो यथा-"स्विन्नः स्नातो मलादिव" (वा० २०।२०)। द्वौ नकारौ संयोगः। अन्नं यथा-"अन्नपतेऽन्नस्य" (वा० ११।८३)। द्वौ नकारौ संयोगः। सन्नो यथा-"सन्नः सिन्धुः" (वा० ८।५९)। द्वौ नकारौ संयोगः। "स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इत्यस्य प्रायशोऽपवादभूतमेतत्सूत्रम्॥ २६ ॥

उ० अ०—इन पदों में दो स्पर्श होते हैं।...।

अ०—मृत्तिका द्ध्वं इति विच्छेदः। वेत्त्वादिविंशतिपदेषु द्वौ स्पर्शौ भवतः। स्वरात्संयोगादिरिति अस्य प्रायेणापवादभूतम् एतत्। क्रमेणोदाहरणानि। "पर्वती वेत्तु"। "वित्त्वा गातुमित"। इदं माध्यन्दिनानाम्। काण्वानां तु इत्त्वेति पाठः। तदा वेत्त्वित्त्वेति सूत्रपाठो द्रष्टव्यः। अत्र द्वौ तकारौ वकारश्च संयोगः। पूर्वत्र द्वौ तकारौ संयोगः।

":अस्मद्द्रयग्वावृधे"। अत्र द्वौ दकारौ रेफयकारौ संयोगः। एवमुत्तरत्रापि प्रत्युदाहरणम् द्वौ द्वौ स्पर्शौ द्रष्टव्यौ। "आसन्ना पात्त्रम्"। "अभित्त्यं देव सवितारम्"। "मृत्तिका च मे"। "विमुच्यद्ध्वमघ्न्याः"। "सोमस्य दात्त्रमसि समाववर्त्ति पृथिवी"। "ऋद्ध च मे ऋद्धिश्च मे"। "वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे"। "अराद्ध्या एदिधिषुः पतिम्"। "अन्तश्च परार्द्धश्च"। "शुद्धवालस्सर्वशुद्धवालः"। "प्रबुद्धाय स्वाहा"। "मधु नक्क्तम्"। "यदि दिवा यदि नक्क्तम्"। "निषण्णाय स्वाहा"। "स्विन्नः स्नातो मलादिव"। "अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि"। "आसन्द्यामासन्नः" ॥ २६ ॥

न क्षवृचिश्विसतयेभ्यस्त्रैकम् ॥ २७ ॥

सू० अ०—क्ष, वृ, चि, श्वि, स, त, य से बाद में स्थित त्र में (दो स्पर्श) नहीं (होते हैं), एक (ही स्पर्श होता है)।

उ०—क्ष वृ चि श्वि स त य एतेभ्यः परस्त्रशब्दो न द्विरुच्यते एकमेव व्यञ्जनं भवति। क्ष यथा—"क्षत्रस्य योनिरसि" (वा० १०।८)। वृ यथा—":वृत्रं वधेत्" (वा० १०।८)। चि यथा—"चित्रं देवानाम्" (वा० ७।४२)। श्वि यथा—"श्वित्र आदित्यानाम्" (वा० २४।३९)। स यथा—"सत्रस्य ऋद्धिः" (वा०८।५२)। त यथा—"तत्र गच्छ" (वा० १३।३१)। य यथा—"यत्र पूर्वे परेताः" (वा०१३।३१)। "स्वरात् संयोगादिः" (४।१०१) इत्यस्यायमपवादः ॥ २७ ॥

उ० अ०—क्ष, वृ, चि, श्वि, स, त, य–इनसे परवर्ती त्र शब्द द्विरुच्चारित; न = नहीं; होता है; एकम् = एक; ही व्यञ्जन (= स्पर्श) होता है।...।

अ०—एभ्यः परः त्रशब्दः न द्विरुच्यते। स्वरात् संयोगादिरिति प्राप्तस्यापवादः। यथा—"क्षत्रस्य नाभिरसि क्षत्रस्य योनिरसि"। "वृत्रं वध्यात्"। "चित्रं देवानाम्"। "श्वित्र आदित्यानाम्"। "सत्रस्य ऋद्धिः"। परेषामिदम्। "तत्र गच्छ"। "यत्र पूर्वे परेताः"॥

ईध्यायवार्ध्रीनसोद्राश्चराश्चेत् ॥ २८ ॥

सू० अ०—ईध्याय, वार्ध्रीनस और उद्र (में दो स्पर्श नहीं होते हैं), यदि ये गतिशील द्रव्यों के वाचक हों।

उ०—ईध्याय वार्ध्रीनस उद्रः एते स्पर्शाः संयोगादयो न द्विरुच्यन्ते। (चराः =) चरद्रव्यवचनाः; चेद् भवन्ति। ईध्याय यथा—"नमो वीध्याय च" (वा० १६।३८)। ध्रकाररेफौ यकारश्च संयोगः। वार्ध्रीनसो यथा—"वार्ध्रीनसस्ते" (वा० २४।३९)। रेफधकारौ रेफश्च संयोगः। उद्रो यथा—"अपामुद्रो मासां कश्यपः" (वा० २४।३७)। चरद्रव्यवचना इति किम्? "समुद्राय शिशुमारान्" (वा०२४।२१)। अत्र समुद्रशब्देन पार्थिवः समुद्र उच्यते ॥ २८॥

उ० अ०—ईध्र्याय, वार्ध्रीनस, उद्र-संयोग के आदि में विद्यमान ये (=इनके) स्पर्श द्विरुच्चारित नहीं होते हैं। चेत् = यदि (ये पद); (चराः =) गतिशील द्रव्यों के वाचक; होते हैं। ईध्र्याय जैसे—"नमो वीध्र्याय च"। धकार, रेफ और यकार का संयोग है। वार्ध्रीनसः जैसे—"वार्ध्रीनसस्ते"। रेफ, धकार और रेफ का संयोग है। उद्र जैसे—"अपामुद्रो मासां कश्यपः"। गतिशील द्रव्यों के वाचक यह क्यों (कहा)? "समुद्राय शिशुमारान्"। यहाँ समुद्र शब्द के द्वारा पार्थिव समुद्र कहा जाता है।

अ०—ईध्र्याय। वार्ध्रीनसः। उद्रः। इत्यत्र स्पर्शाः संयोगादिरिति द्वित्वेऽपि न द्विरुच्यन्ते चरद्रव्यवचनाश्चेत् भवन्ति। यथा—"नम ईध्र्याय च"। अत्र धकाररेफयकारश्च संयोगः। "वार्ध्रीनसस्ते मर्त्यं"। "अपामुद्रो मासां कश्यपः"। चराश्चेदिति किम्? "समुद्राय शिशुमारान्"। अत्र समुद्रशब्देन पार्थिवः समुद्र उच्यते॥ २८॥

उपोत्त्थित उतत्त्तम्भनमुत्त्तभानोत्त्थायोत्त्थितायेति त्रीणि॥ २९॥

सू० अ०—उपोत्त्थितः, उतत्त्तम्भनम्, उतत्त्तभान, उत्त्थाय, उत्त्थिताय में तीन (स्पर्श होते हैं)।

उ०—उपोत्त्थितः उतत्त्तम्भनम् उतत्त्तभान उत्त्थाय उत्त्थिताय एतेषु पदेषु त्रीणि स्पर्शाख्यानि व्यञ्जनानि भवन्ति। उपोत्त्थितो यथा—"क्रयायोपोत्त्थितोऽसुरः" (वा० ८।५५)। द्वौ तकारौ थकारश्च संयोगः। उतत्त्तम्भनं यथा—"वरुणस्योतत्त्तम्भनम्" (वा० ४।३६)। त्रयस्तकाराः संयोगः। उतत्त्तभान यथा—"दिवमुतत्त्तभान तेजसा" (वा० १७।७२)। त्रयस्तकाराः संयोगः। उत्त्थाय यथा—"उत्त्थाय बृहती भव" (वा० ११।६४)। द्वौ तकारौ थकारश्च संयोगः। उत्त्थिताय यथा—"उत्त्थिताय स्वाहा" (वा० २२।८)। द्वौ तकारौ थकारश्च संयोगः॥ २९॥

उ० अ०—उपोत्त्थितः, उतत्त्तम्भनम्, उतत्त्तभान, उत्त्थाय, उत्त्थिताय—इन पदों में; त्रीणि = तीन; स्पर्श संज्ञक व्यञ्जन होते हैं।...।

अ०—एषु पञ्चसु पदेषु त्रीणि स्पर्शाक्षराणि स्युः। नियमोऽयम्। यथा—"क्रयायोपोत्त्थितः। अत्र द्वौ तकारौ थकारश्च संयोगः। "वरुणस्योतत्त्तम्भनम्"। त्रयस्तकाराः संयोगः। "दिवमुतत्त्तभान तेजसा"। इदं पूर्ववत्। "उत्त्थाय बृहती"। द्वौ तकारौ थकारश्च संयोगः "उत्त्थिताय स्वाहा" पूर्ववत्॥ २९॥

बर्हिरङ्ङ्क्ताम्भद्रेण पृङ्ङ्क्तं पङ्ङ्क्तिः समङ्ङ्धि परिवृङ्ङ्धि पाङ्ङ्त्रानिति द्वावनुनासिकौ पूर्वावारपन्तीवर्जमिति च॥ ३०॥

सू० अ०—बर्हिरङ्ङ्ताम्, भद्रेण पृङ्ङ्क्तम्, पङ्ङ्क्तिः, समङ्ङ्धि, परिवृङ्ङ्धि, पाङ्ङ्त्रान् में तथा आरपन्ती को छोड़कर (इस प्रकार के अन्य पदों में एक स्पर्श के) पूर्व में दो अनुनासिक (होते हैं)।

उ०—बर्हिरङ्ङ्क्तां, भद्रेण पृङ्ङ्क्तं, पङ्ङ्क्तिः, समङ्ङ्धि, परिवृङ्ङ्धि, पाङ्ङ्त्रान, एवंजातीयकेषु स्पर्शात्पूर्वौ द्वावनुनासिकौ ङकारौ भवतः; (आरपन्तीवर्जम् =) आरपन्तीशब्दं वर्जयित्वा। बर्हिरङ्ङ्क्तां यथा—"सम्बर्हिरङ्ङ्क्ताम्" (वा० २।२२)। भद्रेण पृङ्ङ्क्तं यथा—"सम्मा भद्रेण पृङ्ङ्क्तम्" (वा० ६।४)। पङ्ङ्क्तिर्यथा—"पङ्ङ्क्तिश्छन्दः" (वा० १४।१८)। समङ्ङ्धि यथा—"पयसा समङ्ङ्धि" (वा० १३।४१)। परिवृङ्ङ्धि यथा—"परिवृङ्ङ्धि हरसा" (वा० १३।४१)। पाङ्ङ्त्रान् यथा—"अन्तरिक्षाय पाङ्ङ्त्रान्" (वा० २४।२६)। आरपन्तीवर्जमिति किम् ? "ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती" (वा० २२।२) ॥ ३० ॥

उ० अ०—बर्हिरङ्ङ्क्ताम्……पाङ्ङ्त्रान्—इस प्रकार के (पदों) में एक स्पर्श से; पूर्वौ = पूर्ववर्ती (= पूर्व में); द्वावनुनासिकौ = दो अनुनासिक = दो ङकार; होते हैं; (आरपन्तीवर्जम =) आरपन्ती शब्द को छोड़कर।…।

अ०—एषु षट्पदेषु स्पर्शात्पूर्वौ द्वौ ङकारौ स्याताम्। आरपन्ती इति वर्जयित्वा। चशब्दात् एवं जातीयके अन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। यथा—"सम्बर्हिरङ्ङ्क्तां हविषा घृतेन"। "सं मा भद्रेण पृङ्ङ्क्तं पापेन पृङ्ङ्क्तम्"। "पङ्ङ्क्तिश्छन्दः"। "पयसा समङ्ङ्धि"। "परिवृङ्ङ्धि हरसा"। "अन्तरिक्षाय पाङ्ङ्त्रान्। आरपन्तीवर्जमिति किम्? "ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती"। अत्र काण्वानां नकारः अनुनासिक इत्यर्थः। च शब्दात् यत्कासीत्यादि ॥ ३० ॥

वृद्धं वृद्धिः। ३१ ॥

सू० अ०—(यह शास्त्र अन्य शास्त्रों की अपेक्षा) अधिक महत्त्वपूर्ण है, (अतएव इस शास्त्र का अध्ययन करने वालों की) वृद्धि (होती है)।

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

उ०—इत्युक्तार्थम् ॥ ३१ ॥

उ० अ०—इसका अर्थ कहा जा चुका है।

इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुनोव्वटेन कृते मातृमोदाख्ये
प्रातिशाख्यभाष्ये षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

अ०—उक्तार्थमेव। हरिः ओम् ॥ ३१ ॥

श्रीमदनन्तभट्टेन विरचिते कात्यायनप्रातिशाख्यभाष्ये पदार्थप्रकाशे
षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

अथावसानानि ॥ १ ॥

सू० अ०—अब अवसानों को (कहते हैं) (अथवा-अवसान में विद्यमान वर्णों के परिग्रह का विधान किया जायेगा)।

उ०—अथशब्दोऽधिकारार्थः। (अवसानानि =) पदावसानानि; अधिकृतानि वेदितव्यानि। पदान्तस्येतिकरणस्यादेशच यः सन्धिः स उच्यत इति यावत् ॥ १ ॥

उ० अ०—अथ शब्द अधिकार के लिए है। (अवसानानि =) पद के अवसानों को; अधिकृत जानना चाहिए। पद के अन्त (= अन्तिम वर्ण) की और इति शब्द के आदि (प्रथम वर्ण = इकार) की जो संधि होती है उसे कहा जाता है—यह अभिप्राय है। (परिग्रह=मध्य में इति रखकर पद को दोहराना)।

अ० —सप्तमेऽध्याये पदावसानं निरूप्यते—अथशब्दोऽधिकारार्थः। आनन्तर्यस्य पाठादेव प्राप्तेः। पदावसानानि अधिकृतानि वेदितव्यानि इति सूत्रार्थः। पदान्तस्य इतिकरणस्य आदेश्च यः सन्धिः स उच्यत इत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

कण्ठ्यस्वरमेकारेण परिगृह्णीयात् प्लुतवर्जम् ॥ २ ॥

सू० अ०—प्लुत से अन्य कण्ठच स्वर (= अ, आ) का एकार के रूप में परिग्रह करे।

उ०—(कण्ठचस्वरम् =) कण्ठ्यो ह्रस्वोऽकारो दीर्घश्चाकारः स्वरस्तम्; एकारेण परिगृह्णीयात; (प्लुतवर्जम् =) प्लुतमाकारं वर्जयित्वा। यथा—"यच्छन्तां पञ्च। पञ्चेति पञ्च" (वा० ११९)। "द्रविणस्युर्विपन्यया। विपन्ययेति विपन्यया" (वा०२३।६)। प्लुतवर्जमिति किम्? "विवेशा३ इति विवेशा" (वा० २३।४९)॥

उ० अ०—(प्लुतवर्जम्=) प्लुत आकार को छोड़कर; (कण्ठचस्वरम्=) कण्ठ्य स्वर = ह्रस्व अकार और दीर्घ आकार; उनका; एकारेण = एकार के रूप में; परिगृह्णीयात् = परिग्रह करे। (अर्थात् ... अ + इति = ... एति)।

अ० —कण्ठ्यस्वरमवर्णम् एकारेण परिगृह्णीयात् प्लुताकारं वर्जयित्वा। यथा—"यच्छन्तां पञ्च। पञ्चेति पञ्च"। "द्रविणस्युर्विपन्यया। विपन्ययेति विपन्यया"। प्लुतवर्जं किम्? "विवेशा नु इति विवेश नु" ॥ २ ॥

इवर्णमीकारेण ॥ ३ ॥

सू० अ०—इवर्ण का ईकार के रूप में (परिग्रह करे) ।

उ० —इवर्णमीकारेण परिगृह्णीयात् । यथा–"पशून् पाहि । पाहीति पाहि" (वा० १।१) । "अश्विना सूनृतावती । सूनृतावतीति सू-नृतावती" (वा० ७।११)॥

उ० अ०—इवर्णम् = इवर्ण का (को) (= इकार और ईकार को); **ईकारेण**=ईकार के रूप में, परिग्रह करे । (अर्थात्…इ या ई + इति =…ईति) ।

अ०—इवर्णमीकारेण परिगृह्णीयात् । यथा–"वसोः पवित्रम् । पवित्रमसि । असीत्यसि" । "अश्विना सूनृतावती । सूनृतावतीति सूनृतावती" ॥ ३ ॥

उवर्णं वकारेण ॥ ४ ॥

सू० अ० – उवर्ण का वकार के रूप में (परिग्रह करे) ।

उ० – उवर्णं वकारेण परिगृह्णीयात् । यथा–"तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सन्त्विति सन्तु" (वा० ३३।१२) ॥ ४ ॥

उ० अ०—उवर्णम् = उवर्ण का (को) (= उकार और ऊकार को); **वकारेण** = वकार के रूप में; परिग्रह करे । (सन्तु + इति = सन्त्विति) ।

अ०—उवर्ण वकारेण परिगृह्णीयात् । "तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सन्त्विति सन्तु" ॥

औकारं च ॥ ५ ॥

सू० अ०—औकार का भी (वकार के रूप में परिग्रह करे) ।

उ० – औकारं च वकारेण परिगृह्णीयात् । यथा–"अभिपिञ्चाम्यसौ । असावित्यसौ" (वा० ६।३०) ॥ ५ ॥

उ० अ०—औकारं च = औकार का भी; वकार के रूप में परिग्रह करे ।…।

अ०—औकारं च वकारेण परिगृह्णीयात् । "लोके नि निदधामि दधाम्यसौ । असावित्यसौ" ॥ ५ ॥

ह्रस्वकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमरिफितं विवृत्त्या ॥ ६ ॥

सू० अ०—ह्रस्व कण्ठ्य (स्वर) (= अकार) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसे अरिफित विसर्जनीयान्त (पद) का विवृत्ति के रूप में (परिग्रह करे) ।

उ०—विसर्जनीयान्तं पदम्; (**ह्रस्वकण्ठ्योपधम्** =) ह्रस्वाकारोपधम्; (**अरिफितम्** =) रिफितं यन्न भवति तद्; **विवृत्त्या** परिगृह्णीयात् । यथा–

"होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । ईड्य इतीड्यः" (वा० ३।१५)। "शुक्रन्दुदुह्रे अह्रयः । अह्रय इत्यह्रयः" (वा० ३।१६)। अरिफितमिति किम् ? "सतश्च योनिमसतश्च वि वः । वरिति वः", "सुरुचो वेन आवः । आवरित्यावः" (वा० १३।३)।

उ० अ०—(ह्रस्वकण्ठ्योपधम् =) ह्रस्व अकार (कण्ठ्य) है पूर्व में जिसके ऐसा; **विसर्जनीयान्तम्**=विसर्जनीय में समाप्त होने वाला पद; (**अरिफितम्**=) जो रिफित नहीं होता है; उसका; **विवृत्त्या**=विवृत्ति के रूप में; परिग्रह करे।...।

अ०—विसर्जनीयान्तं ह्रस्वाकारोपधं रिफितसंज्ञं वर्जयित्वा विवृत्या परिगृह्णीयात्। विवृतिरसन्धिः । यथा—"होता यजिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । ईड्य इतीड्यः"। "दुदुह्रे अह्रयः। अह्रय इत्यह्रयः" । अरिफितं किम् ? "असतश्च विवः । वरिति वः" । "आवः । आवरित्यावः" । "समानर्चि" इति रिफितसंज्ञा ॥ ६ ॥

दीर्घकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तमेकारान्तमैकारान्तं प्लुतं प्रगृह्यं च ॥७॥

सू० अ०—दीर्घ कण्ठ्य (स्वर) (= आकार) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसे विसर्जनीयान्त (पद), एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुत तथा प्रगृह्य (पद का विवृत्ति के रूप में परिग्रह करे)।

उ०—(दीर्घकण्ठ्योपधम् =) दीर्घाकारोपधम्; विसर्जनीयान्तम् च यत्पदं तद्विवृत्या परिगृह्णीयात् । एकारान्तमैकारान्तं प्लुतं प्रगृह्यं च एतानि च पदानि विवृत्या परिगृह्णीयात् । दीर्घाकारोपधं विसर्जनीयान्तमुदाहरणं यथा —"यतो जातो अरोचथाः । अरोचथा इत्यरोचथाः" (वा० ३।१४) । एकारान्त यथा—"मन्त्रं वोचेमाग्नये । अग्नय इत्यग्नये" (वा० ३।११) । ऐकारान्तं यथा—"उभा राधसः सह मादयध्यै । मादयध्या इति मादयध्यै" (वा० ३।१३) । प्लुतं यथा—"भुवनमा विवेशा३ । विवेशा इति विवेशा३" (वा० २३।४९) । प्रगृह्यं यथा—"अन्यान्या वत्समुपधापयेते । धापयेत इति धापयेते" (वा० २३।५) ॥ ७ ॥

उ० अ०—(दीर्घकण्ठ्योपधम् =) दीर्घ आकार (कण्ठ्य) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसा; **विसर्जनीयान्तम** = विसर्जनीय में समाप्त होने वाला; जो पद (होता है) उसका विवृत्ति के रूप में परिग्रह करे। **एकारान्तमैकारान्तं प्लुतं प्रगृह्यं च** = एकारान्त, ऐकारान्त, प्लुत और प्रगृह्य–इन पदों का भी; विवृत्ति के रूप में परिग्रह करे।...।

अ०—दीर्घकण्ठ्योपधं विसर्जनीयान्तं पदं विवृत्या परिगृह्णीयात् । यथा-"यतो जातो अरोचथाः । अरोचथा इत्यरोचथाः ।" इदं दीर्घकण्ठ्योपधविसर्जनीयान्तोदाहरणम्। एकारान्तं यथा—"मन्त्रं वोचेमाग्नये। अग्नय इत्यग्नये"। ऐकारान्तं यथा—"सह मादयध्यै।

मादयध्या इति मादयध्यै"। प्लुतं यथा—"भुवनमा विवेशा। विवेशा इति विवेशा"। प्रगृह्यं यथा—"उपधापयेते। धापयेत इति धापयेते ॥ ७ ॥

औकारान्तं चैके ॥ ८ ॥

सू० अ०—औकार में समाप्त होने वाले (पद) का भी (विवृत्ति के रूप में परिग्रह करे)-कतिपय (आचार्य) (ऐसा मानते हैं)।

उ०—औकारान्तं च पदमेके आचार्या विवृत्या परिगृह्णन्ति। यथा—"अभिषिञ्चाम्यसौ। असा इत्यसौ"। एक इति किम्? "असावित्यसौ" (वा० ९।३०) ॥

उ० अ०—औकारान्तं च=औकार में समाप्त होने वाले भी पद का; एके = कतिपय आचार्य; विवृत्ति के रूप में परिग्रह करते हैं।...।

अ०—पदं औकारान्तं च एके आचार्या विवृत्या परिगृह्णन्ति। एकशब्दोऽत्र मुख्यार्थवचनः। यथा—"दधाम्यसौ। असा इत्यसौ"। इदं काण्वमतम्। एके किम्? माध्यन्दिनादेर्मा भूदिति। तेषां तु औकारं वकारेति वकारः। यथा—"निदधाम्यसौ। असावित्यसौ" ॥ ८ ॥

भाव्युपधरिफितविसर्जनीयान्तानि रेफेण ॥ ९ ॥

सू० अ०—अकण्ठ्य स्वर (भावी) है पूर्ववर्ती वर्ण (उपधा) जिसका ऐसे विसर्जनीयान्त (पदों) का एवं रिफित विसर्जनीयान्त (पदों) का रेफ के रूप में (परिग्रह करे)।

उ०—अकण्ठ्यो भावीत्युक्तम्। (भाव्युपधरिफितविसर्जनीयान्तानि) भाव्युपधं रिफित-सर्जनीयान्तं रिफितविसर्जनीयान्तं च यत्पदं तत्; रेफेण परिगृह्णीयात्। यथा—"अग्निमीडे पूर्वचित्तिन्नमोभिः। नमोभिरिति नमः—भिः" (वा० १३।४३)। "सद्ध्यक्कः। करिति कः" (वा० ३३।५९)।"सतश्च योनिमसतश्च वि वः। वरिति वः" (वा० १३।३) ॥ ९ ॥

उ० अ०—अकण्ठ्य (अ, आ से भिन्न स्वर) भावी (कहलाता है)—यह कहा गया है। (भाव्युपधरिफितविसर्जनीयान्तानि) भावी (स्वर) (=अ, आ से भिन्न स्वर) है पूर्ववर्ती वर्ण जिसका ऐसे (विसर्जनीयान्त पद) का और रिफितविसर्जनीयान्त = रिफितविसर्जनीयान्त जो पद है उसका; रेफेण = रेफ के रूप में; परिग्रह करे।...।

अ०—अकण्ठ्यो भावीत्युक्तम्। भाव्युपधं विसर्जनीयान्तं पदं रिफितविसर्जनीयान्तं च पदं रेफेण परिगृह्णीयात्। यथा—"अग्निमीळे पूर्वचित्तिन्नमोभिः। नमोभिरिति नमः—भिः"। "असतश्च विवः। वरिति वः" ॥ ९ ॥

प्रथमान्तं तृतीयेन ॥ १० ॥

सू० अ०—प्रथम (स्पर्श) में समाप्त होने वाले (पद) का तृतीय (स्पर्श) के रूप में (परिग्रह करे)।

उ० – प्रथमाः कचटतपाः तृतीयाः गजडदबाः । वर्गप्रथमान्तं पदं स्ववर्गतृतीयेन वर्णेन परिगृह्णीयात् । यथा–"विश्वा द्वेषांसि प्र मुमुग्ध्यस्मत् । अस्मदित्यस्मत्" (वा० २१।३) । "सममृतत्वमानट् । आनडित्यानट्" (वा० १७।८६) ॥ १० ॥

उ० अ० – क् च् ट् त् प् प्रथम हैं । ग् ज् ड् द् ब् तृतीय हैं । (प्रथमान्तम्=) वर्गों के प्रथम (वर्ण) में समाप्त होने वाले पद का; (तृतीयेन =) अपने वर्ग के तृतीय वर्ण के रूप में; परिग्रह करे ।...।

अ०—प्रथमाः कचटतपाः वर्गाद्यास्तृतीयाः गजडदबाः । प्रथमान्तं पदं तृतीयेन परिगृह्णीयात् । "अस्मदित्यस्मत् । प्रमुमुग्ध्यस्मत्" । "वागिति वाक्" ? "वाळिति वाट्" । "अनुस्तुबित्यनुस्तुप्" ॥ १० ॥

उत्तमान्तमुत्तमेन ॥ ११ ॥

सू० अ०—पञ्चम (स्पर्श) में समाप्त होने वाले (पद) का पञ्चम (स्पर्श) के रूप में (परिग्रह करे)

उ०—उत्तमान्तं पदमुत्तमेनैव परिगृह्णीयात् । यथा–"वर्त्तीं रुद्रा नृपाय्यम् । नृपाय्यमिति नृपाय्यम्" (वा० २०।८१) ॥ ११ ॥

उ० अ०—उत्तमान्तम् = पञ्चम (अन्तिम) वर्ण में समाप्त होने वाले पद का; उत्तमेन = पञ्चम (अन्तिम) वर्ण के रूप में, परिग्रह करे ।...।

अ०— उत्तमाः ङञणनमाः वर्गान्त्याः । उत्तमान्तं पदं उत्तमेनैव परिगृह्णीयात् । यथा–"अतिथिमित्यतिथिम् । घृतैर्बोधयतातिथिम्" । "नृपाय्यमिति नृपाय्यम्" । "अवर्धयन्नित्यवर्धयन्" । "अर्वाङ् इत्यर्वाङ् । स्ववाधात्वर्वाङ्" ॥ ११ ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ १२ ॥

इति कात्यायनकृतौ प्रातिशाख्यसूत्रे सप्तमोऽध्यायः ।

उ०—इत्युक्तार्थम् ॥ १२ ॥

इत्यानन्दपुरवास्तव्यवज्रटसूनुनोव्वटेन कृते मातृमोदाख्ये प्रातिशाख्यभाष्ये सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अ०—उक्तार्थमेव ।

हरिः ओम् ।

इति श्रीमदनन्तभट्टेन विरचिते कात्यायनप्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये सप्तमाध्यायः समाप्तः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

सू० अ०—अब वर्ण-माला (वर्ण-समाम्नाय) को कहेंगे ।

उ०—अथातः शब्दावुक्तार्थौ । वर्णा यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते स वर्ण-समाम्नायः । तं (वर्णसमाम्नायम्) व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञा समाधानार्थम् ॥

उ० अ०—अथातः = अथ और अतः शब्दों; का अर्थ कहा जा चुका है । जिस समाम्नाय में वर्णों का पाठ होता है वह वर्ण-समाम्नाय है । उस (वर्ण-समाम्नायम् = वर्ण समाम्नाय) को; व्याख्यास्यामः = कहेंगे—यह प्रतिज्ञा (शिष्यों की बुद्धि को) एकाग्र करने के लिये है ।

अ०—नास्ति सर्वत्र सम्पूर्णाद्यतोऽन्यद्वस्तु किञ्चन ।
सदसत्सम्प्रकाशाय तस्मै शक्त्यात्मने नमः ॥

वर्णसमाम्नायस्वरूपप्रदर्शनायाष्टमाध्यायः प्रारभ्यते । वर्णसमाम्नायस्य सर्वोपयोगित्वात् यद्यपि प्रथमाध्याय एव वक्तुमुचितः तथापि मुनेः स्वतन्त्रेच्छत्वात् अन्तिमाध्याये कथ्यते । अथशब्दोऽत्रानन्तर्यार्थः मङ्गलार्थश्च । अतश्शब्दो हेत्वर्थः । यतस्सर्वमुक्तं वर्णसमाम्नायो नोक्तः अतस्सर्वार्थत्वात् । वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते सः वर्णसमाम्नायः । तं वर्णसमाम्नायं व्याख्यास्याम इति प्रतिज्ञासूत्रम् ॥ १ ॥

तत्र स्वराः प्रथमम् ॥ २ ॥

सू० अ०—वहाँ (= वर्ण-समाम्नाय में) पहले स्वर (कहे जाते हैं) ।

उ०—व्याख्यायन्त इति शेषः । तद्यथा—

उ० अ०—कहे जाते हैं इसे (सूत्र पूर्ति के लिए) जोड़ना चाहिए । जैसे—

अ इति आ इति आ३इति इ इति ई इति ई३इति उ इति ऊ इति ऊ३इति ऋ इति ॠ इति ॠ३इति ऌ इति ॡ इति ॡ३इति ॥ ३ ॥

सू० अ०—(ये मूल स्वर हैं) अ, आ, आ३; इ, ई, ई३; उ, ऊ, ऊ३; ऋ, ॠ, ॠ३; ऌ, ॡ, ॡ३ ।

अ०—यथा—अ आ आ३ इ ई ई३ उ ऊ ऊ३ ऋ ॠ ॠ३ ऌ ॡ ॡ३ इति ॥

अथ सन्ध्यक्षराणि ॥ ४ ॥

सू० अ०—अब सन्ध्यक्षर (कहे जाते हैं) ।
उ० – व्याख्यायन्त इति सूत्रशेषः ॥ ४ ॥

ए इति ए३इति ऐ इति ऐ३इति ओ इति ओ३इति औ इति औ३इति ॥ ५ ॥

सू० अ०—(ये सन्ध्यक्षर हैं) ए, ए३; ऐ, ऐ३; ओ, ओ३; औ, औ३ ।
अ०—व्याख्यायन्त इति सूत्रशेषः । ए ए३ ऐ ऐ३ ओ ओ३ औ औ३ इति ॥

इति स्वराः ॥ ६ ॥

सू० अ०—ये (उपर्युक्त) स्वर हैं ।
उ०—व्याख्याता इति सूत्रशेषः ॥ ६ ॥
उ० अ०—कहे जा चुके हैं—यह सूत्र में जोड़ना चाहिए ।
अ०—व्याख्याता इति सूत्रशेषः ॥ ६ ॥

अथ व्यञ्जनानि ॥ ७ ॥

सू० अ०—अब व्यञ्जन (कहे जाते हैं) ।
उ०—व्याख्यायन्त इति सूत्रशेषः । तद्यथा—

किति खिति गिति घिति ङिति कवर्गः ॥ ८ ॥ चिति छिति जिति झिति ञिति चवर्गः ॥ ९ ॥ टिति ठिति डिति ढिति णिति टवर्गः ॥ १० ॥ तिति थिति दिति धिति निति तवर्गः ॥ ११ ॥ पिति फिति बिति भिति मिति पवर्गः ॥ १२ ॥

सू० अ०—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्—कवर्ग । च्, छ्, ज्, झ्, ञ्—चवर्ग । ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्—टवर्ग । त्, थ्, द्, ध्, न्—तवर्ग । प्, फ्, ब्, भ्, म्—पवर्ग ।
अ०—व्याख्यायन्त इति शेषः । क् ख् ग् घ् ङ् इति कवर्गः । च् छ् ज् झ् ञ् इति चवर्गः । ट् ठ् ड् ढ् ण् इति टवर्गः । त् थ् द् ध् न् इति तवर्गः । प् फ् ब् भ् म् इति पवर्गः ॥

इति स्पर्शाः ॥ १३ ॥

सू० अ० – ये स्पर्श हैं ।
उ०—व्याख्याता इति सूत्रशेषः ॥ १३ ॥
अ०—व्याख्याता इति सूत्रशेषः ॥ १३ ॥

अथान्तस्थाः ॥ १४ ॥

सू० अ०—अब अन्तस्था (कहे जाते हैं) ।

उ०— व्याख्यायन्त इति शेषः ॥ १४ ॥

यिति रिति लिति विति ॥ १५ ॥

सू० अ०—(ये अन्तस्था हैं) य्, र्, ल्, व् ।

अ०—व्याख्यायन्त इति शेषः । य् र् ल् व् इति ॥ १५ ॥

अथोष्माणः ॥ १६ ॥

सू० अ०—अब ऊष्म (कहे जाते हैं) ।

उ०—व्याख्यायन्त इति शेषः ॥ १६ ॥

शिति षिति सिति हिति ॥ १७ ॥

सू० अ०—(ये ऊष्मन् हैं) श्, ष्, स्, ह् ।

अ०—व्याख्यायन्त इति शेषः । श् ष् स् ह् इति ॥ १७ ॥

अथायोगवाहाः ॥ १८ ॥

सू० अ०—अब अयोगवाह (कहे जाते हैं) ।

उ०—व्याख्यायन्त इति शेषः । अकारादिना वर्णसमाम्नायेन सहिताः सन्त एते वहन्त्यात्मलाभं प्राप्नुवन्त्ययोगवाहाः । तथाहि—

उ० अ०—कहे जाते हैं –यह (सूत्र में) जोड़ना चाहिए । अकार आदि वर्ण-समाम्नाय के साथ मिलकर ये अपना निर्वाह करते हैं = आत्मलाभ प्राप्त करते हैं (उच्चरित होते हैं) (अतः ये) अयोगवाह कहलाते हैं । जैसे–

अ०—योगवहत्वं च इत्थम् । योगेन अकारादिवर्णसमुदायेन सहिताः सन्तः आत्मानं च वहन्त इति योगवाहाः । तथाहि—

≍क इति जिह्वामूलीयः ॥ १९ ॥

सू० अ०—≍क जिह्वामूलीय है ।

उ०—इति ककारपूर्वं जिह्वामूलीयं दर्शयति । तथा—

उ० अ०—ककार के पूर्व में जिह्वामूलीय को दिखलाते हैं ।

अ०—इति ककारोत्तरं जिह्वामूलीयं दर्शयति—

≍प इत्युपध्मानीयः । २० ॥

सू० अ०—≍प उपध्मानीय है ।

उ०—इति पकारपूर्वमुपध्मानीयं दर्शयति। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

उ० अ०—पकार के पूर्व में उपध्मानीय को दिखलाते हैं। इस प्रकार अन्यत्र भी देखना चाहिए।

अ०—इति पकारोत्तरमुपध्मानीयं दर्शयति। एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

अं इत्यनुस्वारः ॥ २१ ॥

सू० अ०—अं अनुस्वार है।

उ०—इति स्वरपूर्वं अनुस्वारं दर्शयति ॥ २१ ॥

उ० अ०—स्वर के वाद में (स्वर है पूर्व में जिसके उस) अनुस्वार को दिखलाते हैं।

अः इति विसर्जनीयः ॥ २२ ॥

सू० अ०—अः विसर्जनीय है।

उ०—इति स्वरपूर्वं विसर्जनीयं दर्शयति ॥ २२ ॥

उ० अ०—स्वर के वाद में (स्वर है पूर्व में जिसके उस) विसर्जनीय को दिखलाते हैं।

अ०—इति स्वरपूर्वं विसर्जनीयं दर्शयति ॥ २२ ॥

हुँ इति नासिक्यः ॥ २३ ॥

सू० अ०—हुँ नासिक्य है।

उ०—अयमृक्शाखायां प्रसिद्धः ॥ २३ ॥

उ० अ०—यह (नासिक्य) ऋक्शाखा में प्रसिद्ध है।

कुँ खुँ गुँ घुँ इति यमाः ॥ २४ ॥

सू० अ०—कुँ, खुँ, गुँ, घुँ यम हैं।

उ०—इति यमसंज्ञकाः वर्णा विंशतिसंख्याका भवन्तीत्येतच्चतुर्थाध्याये व्याख्यातम् ॥२४॥

उ० अ०—ये यम संज्ञक वर्ण संख्या में वीस होते हैं—यह चतुर्थ अध्याय में कहा जा चुका है।

एते पञ्चषष्टिवर्णा ब्रह्मराशिरात्मवाचः ॥ २५ ॥

सू० अ०—ये (उपर्युक्त) पैंसठ वर्ण वेदराशि (ब्रह्मराशि) एवं वाणी की आत्मा हैं।

उ०—य एते पञ्चषष्टिवर्णास्ते समस्ता एव त्रयीलक्षणो ब्रह्मराशिः। एत एव कदाचिदानुपूर्व्या व्यवस्थिताः सन्तः ऋग्यजुस्सामाख्या भवन्तीत्यर्थः। लौकिक्या अपि वाचोऽयमेवात्मा। एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह—

उ० अ०—जो; एते = ये; पञ्चषष्टिवर्णाः = पैंसठ वर्ण हैं; वे मिलकर ही तीन रूपों में अवस्थित; ब्रह्मराशि = वेद-राशि हैं। ये (वर्ण) ही विशेष क्रम (आनुपूर्वी) में व्यवस्थित होकर ऋक्, यजुष् और साम संज्ञक होते हैं—यह अर्थ है। लौकिक (लोक में प्रयुक्त होने वाली) वाणी की भी यही आत्मा है। इसी को स्पष्ट करने के लिये (सूत्रकार) कहते हैं—

अ०—एते पञ्चषष्टिवर्णाः। ते एते समस्ता एव त्रयीलक्षणो ब्रह्मराशिः। एत एव कदाचिदानुपूर्व्या व्यवस्थितास्सन्तः ऋग्यजुस्सामाख्या भवन्तीति श्लोकार्थः। लौकिक्या अपि वाचोऽयमेवात्मा एतदेव स्पष्टीकर्तुमाह यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोक इति ॥२५॥

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके सर्वमत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥

सू० अ०—लोक में जो कुछ वाङ्मय है वह सब यहाँ (= इन वर्णों में) प्रतिष्ठित है।

उ०—यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके इत्यादि। एते पञ्चषष्टिवर्णा लोके वेदे च प्रतिज्ञाताः यत्किञ्चिद् वाङ्मयं लोके इत्यादिना। ते च लोके लोकैरनियतदेशकालाः प्रयुज्यमानाः सन्तो दृष्टाः। अतो वेदे तन्नियमार्थ स्वाध्यायविधिः क्रियते ॥ २६ ॥

उ० अ०—"लोक में जो कुछ वाङ्मय है" इत्यादि। 'लोक में जो कुछ वाङ्मय है' इत्यादि के द्वारा लोक में और वेद में पैंसठ वर्ण प्रस्तुत किये जाते हैं। और वे (वर्ण) लोक में लोगों के द्वारा अनियत देश और काल में प्रयुक्त किये जाते हुए देखे जाते हैं। इसलिए वेद में उन (= देश और काल) के नियम के लिए स्वाध्याय का विधान किया जाता है।

शुचिना ॥ २७ ॥

सू० अ०—पवित्र होकर (वेदाध्ययन करना चाहिए)।

उ०—(शुचिना =) स्नानाचमनादिभिः शौचयुक्तेन ब्रह्मचर्य्यवता त्रैवर्णिकेन स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २७ ॥

उ० अ०—(शुचिना =) स्नान, आचमन इत्यादि के द्वारा पवित्र होकर; ब्रह्मचर्यपूर्वक त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए।

अ०—य एते पञ्चषष्टिवर्णाः लोके वेदे तन्नियमार्थं शास्त्रारम्भतत्समाप्त्योः स्वाध्यायविधिं निरूप्यते। शुचिनेति। शुचिना स्नानाचमनादिभिः शौचयुक्तेन ब्रह्मचर्यवता च त्रयीवर्णकेन स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति सूत्रशेषः ॥ २७ ॥

शुचौ देशे ॥ २८ ॥

सू० अ०—पवित्र-स्थान में (अध्ययन करना चाहिए)।

उ०— अनुपहतदेशे स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । तथाचोक्तम्—

"द्वावेव वर्जयेन्नित्यमनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धामात्मानं चाशुचिं द्विजः ॥"

उ० अ०—पवित्र-स्थान में अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए । वैसा कहा भी गया है—"द्विज को अध्ययन के अनुपयुक्त इन दो स्थितियों में प्रयत्नपूर्वक वेदाध्ययन का परित्याग करना चाहिए । (१) स्वाध्याय का स्थान अशुद्ध होने पर (२) स्वयं की अपवित्रता होने पर" ।

अ०—शूद्राद्यनुपहते देशे स्वाध्यायोऽध्येतव्यः । उक्तं हि—

द्वावेतौ वर्जयेन्नित्यं अनध्यायौ प्रयत्नतः । स्वाध्यायभूमिं चाशुद्धां आत्मानं चाशुचिं द्विजः ॥

शूद्रपतितयोरसंश्रावं स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २६ ॥

सू० अ०—शूद्र और पतित को न सुनाते हुए वेदाध्ययन करना चाहिए ।

उ०—शूद्रपतितादयो न शृण्वन्ति तथा स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ॥ २६ ॥

उ० अ०—उस प्रकार से अपने वेद का अध्ययन करना चाहिए जिससे शूद्र और पतित आदि न सुनते हों ।

अ०—यदितः ब्रह्महत्यादिपातकेन पतति सः पतितः शूद्रः चतुर्थो वर्णः । शूद्रपतितादयो यथा न शृण्वन्ति तथा शुद्धेन शुद्धायां भूमौ स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति सूत्रत्रयमेकान्वयत्वेन व्याख्यातव्यम् । प्रत्येकमन्वयानुपपत्तेः ॥ २६ ॥

ज्ञाने ॥ ३० ॥

सू० अ०—ज्ञान का (फल कहते हैं) ।

उ०—एवं स्वाध्यायविधिमुक्त्वाधुना वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिज्ञाने फलमाह—

उ० अ०—इस प्रकार स्वाध्याय की विधि को कहकर अब वेद का ग्रन्थ की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से ज्ञान हो जाने पर फल को कहते हैं—

अ०—एवं स्वाध्यायविधिमुक्त्वा अधुना वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्च परिज्ञाने फलमुच्यते इति शेषः । तदेवाह—

पौरुष्यम् ॥ ३१ ॥

सू० अ०—(वेदाध्ययन से) आत्म-ज्ञान (की प्राप्ति होती है) ।

उ०—पुरुषः =आत्मा । तस्य विवेकस्य साधकं **पौरुष्यम्** । मुक्तिप्रदमित्यर्थः ॥

उ० अ०—पुरुष = आत्मा । उसके ज्ञान का साधक = **पौरुष्य** । मुक्तिप्रद होता है—यह अर्थ है ।

अ०—पुरुष आत्मा । तत्प्राप्तिसाधकं पौरुष्यम् । मुक्तिप्रदमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

स्वर्ग्यम् ॥ ३२ ॥

सू० अ०—स्वर्ग की (प्राप्ति होती हैं) ।

उ०—स्वर्गसाधकं च ॥ ३२ ॥

उ० अ०—और (वेदाध्ययन) स्वर्ग का साधक (होता है) ।

अ०—स्वर्गसाधकं च ॥ ३२ ॥

यशस्यम् ॥ ३३ ॥

सू० अ०—यश की प्राप्ति होती हैं ।

उ०—यशः कीर्त्तिस्तस्याः साधकम् ॥ ३३ ॥

उ० अ०—यश = कीर्ति, उसका साधक (होता है) ।

अ०—यशः कीर्त्तिः । तत्साधकं च ॥ ३३ ॥

आयुष्यम् ॥ ३४ ॥

सू० अ०—आयु को बढ़ाने वाला (होता है) ।

उ०—आयुषो वर्धनम् । यद्वेदस्यार्थज्ञानं तन्मुक्तिसाधकं स्वर्गसाधकं च भवति ॥

उ० अ०—आयु को बढ़ाने वाला होता है । जो वेद के अर्थ का ज्ञान है, वह मुक्ति का साधक एवं स्वर्ग का साधक होता है ।

अ०—आयुषो वर्धनम् । अत्र पौरुष्यमित्यादिसूत्रचतुष्टये विभक्तिपरिणामेन वेदितव्यम् । तद्यथायद्वेदस्यार्थतोग्रन्थतश्च ज्ञानं तन्मुक्तिसाधनं यशस्साधनं आयुस्साधनं चेति । यद्वा पौरुष्यं स्वर्ग्यं यशस्यं आयुष्यमिति भावप्रधानो निर्देशः । पुरुषस्य भावः स्वर्गस्य भावः यशसो भावः आयुषो भावः इति । तदा सुगमोऽन्वयः । वेदस्य परिज्ञाने पौरुष्यादि भवतीति भावः ।' ३४ ॥

तथा विभक्तिपरिज्ञानम् ॥ ३५ ॥

स० अ०—उसी प्रकार ज्ञान के विभाग को (समझना चाहिए) ।

उ०—पदार्थज्ञानं तन्मुक्तिसाधकम् । यत्प्रकृतिप्रत्ययादिपरिज्ञानं तत् स्वर्गयश-आयुषां साधकमित्ययं विभागो ज्ञानस्य द्रष्टव्यः ॥ ३५ ॥

उ० अ०—पदार्थ का जो ज्ञान है वह मुक्ति को प्रदान करने वाला है । प्रकृति, प्रत्यय आदि का जो ज्ञान है वह स्वर्ग, यश और आयु को प्रदान करने वाला है—ज्ञान के इस विभाग को समझना चाहिए ।

अ०—यद्वेदस्य प्रकृतिप्रत्ययादिविभागतो ज्ञानं तस्मादपि आयुष्यादिफलं भवति ॥

अथापि भवति ॥ ३६ ॥

सू० अ०—(अधोलिखित में) यह भी कहा गया है ।

उ०—अयमेवार्थः प्रकृत्या । अन्योऽपि श्लोको भवति ॥ ३६ ॥

उ० अ० —प्रकृत में यही अर्थ है । अन्य भी श्लोक है ।

अ०—अथापि श्लोका भवन्ति ॥ ३६ ॥

वेदस्याध्ययनाद्धर्मः सम्प्रदानात्तथाश्रुतेः ।
वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद्विभक्तिपदशोऽपि च ॥ ३७ ॥

सू० अ०—वेद के अध्ययन से धर्म (होता है) । उसी प्रकार (वेद के) अध्यापन से और श्रवण से (धर्म होता है) । वर्णों और अक्षरों के ज्ञान से एवं विभक्तियों और पदों के (ज्ञान से) भी (धर्म होता है) ।

उ०—वेदस्य पाठमात्रातावद्धर्मो भवति । तथा शिष्येभ्यः सम्प्रदानात् । तथा श्रवणात् । तथा वर्णपरिज्ञानात् । तथा अक्षरपरिज्ञानात् । विभक्तिपरिज्ञानाच्च पदपरिज्ञानाचोत्तरोत्तरं धर्मो भवति इत्येतदेवानुवर्तते ॥ ३७ ॥

उ० अ०—वेद के पाठमात्र से धर्म होता है । उसी प्रकार शिष्यों को प्रदान करने (अध्यापन) से । उसी प्रकार (वेद को) सुनने से । उसी प्रकार वर्णों के ज्ञान से । उसी प्रकार अक्षरों के ज्ञान से । विभक्तियों के ज्ञान से और पदों के ज्ञान से उत्तरोत्तर-धर्म होता है-इसकी (सत्र में) अनुवृत्ति हो रही है ।

अ०—अस्यार्थः-वेदस्याध्ययनात् पाठमात्रात् तावद्धर्मो भवति । अक्षरशः स्वराणां परिज्ञानाद्धर्मो भवति । तथा शिष्येभ्यः सम्प्रदानाद्धर्मो भवति । तथा श्रुतेः वेदश्रवणाद्धर्मो भवतीति सर्वत्रानुवर्तते । वाशब्दो व्यस्तसमस्तार्थः । तथाहि—अध्ययनादेर्व्यस्तस्य धर्मसामान्यसाधनत्वं समुदितस्य तु धर्मविशेषसाधनत्वमित्यवधेयम् । वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानादिति यदुक्तं तद्विवृणोति—

त्रयोविंशतिरुच्यन्ते स्वराः शब्दार्थचिन्तकैः ।
द्विचत्वारिंशद्व्यञ्जनान्येतावान्वर्णसंग्रहः ॥ ३८ ॥

सू० अ०—शब्द और अर्थ के विचारक कहते हैं कि तेईस स्वर हैं और बयालीस व्यञ्जन हैं । इतना ही वर्णसमूह है ।

उ० —शब्दस्वरूपचिन्तकैस्त्रयोविंशतिः स्वरा अकारादय उक्ताः । द्विचत्वारिंशद्व्यञ्जनानि कादीनि । एतावान् वर्णसंघातः ॥ ३८ ॥

उ० अ० —शब्द-स्वरूप के विचारकों के द्वारा अकार आदि तेईस स्वर कहे गये हैं । ककार आदि बयालीस व्यञ्जन (कहे गये हैं) । इतना वर्णसमूह है (अर्थात् सभी वर्णों की यह संख्या है) ।

अ०—शब्दस्वरूपचिन्तकैः त्रयोविंशतिः स्वरा अकारादयः उक्ताः। द्विचत्वारिंशत्सङ्ख्यानि व्यञ्जनानि उक्तानि। एतावानेव वर्णसङ्घातः। स च अध्यायादौ प्रदर्शित अकारादियमान्तः ॥ ३८ ॥

तस्मिन् ळळ्हजिह्वामूलीयोपध्मानीयनासिक्या न सन्ति माध्यन्दिनानाम् लॄकारो दीर्घः प्लुताश्चोक्तवर्जम् ॥ ३९ ॥

सू० अ०—उनमें से ळकार, ळ्हकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, नासिक्य, दीर्घ लॄकार, उक्त प्लुतों को छोड़कर अन्य प्लुत-ये माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं।

उ०—अधस्तनश्लोकरूपसूत्रेण वर्णानुक्त्वा अधुनां ये माध्यन्दिनानां नेष्यन्ते वर्णास्तान्निराकर्तुमाह। ढकारष्टवर्गीयो डकारश्च तत्प्रकृती ळ्हळकारौ जिह्वामूलीयो पध्मानीयश्च नासिक्यश्च एते वर्णा न सन्ति माध्यन्दिनानाम्। किमेतावन्त एव? नेत्युच्यन्ते। ॡकारो दीर्घः। लाजीञ्छाचीनित्येवमादयो ये पठितास्तान् प्लुतान् वर्जयित्वा अन्ये प्लुता न सन्ति माध्यन्दिनानाम् ॥ ३९ ॥

उ० अ०—पूर्ववर्ती श्लोकवद्ध सूत्र के द्वारा वर्णों को कह कर अब माध्यन्दिन शाखा में जो वर्ण अभीष्ट नहीं हैं उनको निराकृत (= उनका निराकरण) करने के लिए (सूत्रकार) कहते हैं। टवर्गीय ढकार और डकार के स्थान पर आने वाले ळ्हकार और ळकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और नासिक्य-ये वर्ण माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं। (प्रश्न) क्या इतने ही (वर्ण नहीं हैं)? (उत्तर) नहीं, बतलाते हैं। दीर्घ ॡकार (= ॡ)। लाजी३न्, शाची३न् इत्यादि जो (प्लुत) (२।५० में पठित हैं, उन प्लुतों को छोड़कर अन्य प्लुत माध्यन्दिन शाखा में नहीं हैं।

अ०—अधस्तनश्लोकेन वर्णसङ्ग्रहमुक्त्वा तत्र माध्यन्दिनानां ये वर्णा नेष्यन्ते तान्निराकरोति। तस्मिन्निति। तस्मिन्वर्णसङ्ग्रहे माध्यन्दिनशाखिनां ळळ्हादयो न सन्ति। डकारस्थानीयो ळकारः ढकारस्थानीयो ळ्हकारः डढौ ळळ्हावेकेषामिति सूत्रकारोक्तेः। ≍क इति जिह्वामूलीयः। ≍प इत्युपध्मानीयः। हुङ्कारो नासिक्यः। एते वर्णा माध्यन्दिनानां न सन्तीति भावः। किमेतावन्त एव न सन्ति। नेत्याह। ॡकारो दीर्घो लाजी३न् शाची३न् एवमादयो ये परिपठिताः प्लुताः तान् वर्जयित्वान्ये प्लुताश्च न माध्यन्दिनानां सन्ति। माध्यन्दिनानामिति ग्रहणात् काण्वादेर्निषेधः ॥ ३९ ॥

वर्णदेवताः ॥ ४० ॥

सू० अ०—(अब) वर्णों के देवता (कहे जाते हैं)।

उ०—प्रकृतानाम्; (वर्ण देवताः=) वर्णानां देवताः; वक्ष्याम इति सूत्रशेषः।

उ० अ०—प्रकृत; (वर्णदेवताः =) वर्णों के देवताओं को; कहेंगे-यह सूत्र-पूर्ति के लिए जोड़ना चाहिए।

अ०—अथ प्रकृतानां वर्णानां देवताः उच्यन्त इति सूत्रशेषः ता एवाह—

आग्नेयाः कण्ठ्याः ॥ ४१ ॥

सू० अ०—कण्ठ्य वर्णों के देवता अग्नि हैं।

उ०—कण्ठस्थाना वर्णा अग्निदेवत्या भवन्ति ॥

उ० अ०—कण्ठ-स्थानीय वर्ण अग्नि देवता वाले हैं।

अ०—कण्ठस्थाना वर्णाः अग्निदेवत्या भवन्ति ॥

नैर्ऋत्या जिह्वामूलीयाः ॥ ४२ ॥

सू० अ०—जिह्वामूलीय वर्णों के देवता निर्ऋति हैं।

उ०—जिह्वामूलस्थाना वर्णा निर्ऋति देवत्या भवन्ति ॥ ४२ ॥

उ० अ०—जिह्वामूल स्थानीय वर्ण निर्ऋति देवता वाले हैं।

अ०—जिह्वामूलीयस्थाना नैर्ऋत्यदेवत्या स्युः ॥ ४२ ॥

सौम्यास्तालव्याः ॥ ४३ ॥

सू० अ०—तालव्य वर्णों के देवता सोम हैं।

उ०—तालुस्थाना वर्णाः सोमदेवत्या भवन्ति ॥ ४३ ॥

उ० अ०—तालु-स्थानीय वर्ण सोम देवता वाले हैं।

अ०—तालुस्थाना वर्णाः सोमदेवत्या स्युः ॥ ४३ ॥

रौद्रा दन्त्याः ॥ ४४ ॥

सू० अ०—दन्त्य-वर्णों के देवता रुद्र हैं।

उ०—दन्तस्थाना वर्णा रुद्रदेवत्या भवन्ति ॥ ४४ ॥

उ० अ०—दन्त-स्थानीय वर्ण रुद्र देवता वाले हैं।

अ०—दन्तस्थाना वर्णाः रुद्रदेवत्या स्युः ॥ ४४ ॥

ओष्ठ्या आश्विनाः ॥ ४५ ॥

सू० अ०—ओष्ठ्य-वर्णों के देवता अश्विन् हैं।

उ०—ओष्ठ्यस्थाना वर्णा अश्विदेवत्या भवन्ति ॥ ४५ ॥

उ० अ०—ओष्ठ-स्थानीय वर्ण अश्विन् देवता वाले हैं।

अ०—ओष्ठस्थाना वर्णाः अश्विदेवत्याः स्युः ॥ ४५ ॥

वायव्या मूर्धन्याः ॥ ४६ ।

सू० अ०--मूर्धन्य-वर्णों के देवता वायु हैं।

उ०--मूर्धस्थाना वर्णा वायुदेवत्या भवन्ति ॥ ४५ ॥

उ० अ०--मूर्धा-स्थानीय वर्ण वायु देवता वाले हैं।

अ०--मूर्धस्थाना वर्णाः वायुदेवत्या स्यु ॥ ४६ ॥

शेषा वैश्वदेवाः ॥ ४७ ॥

सू० अ०--अवशिष्ट वर्णों के देवता विश्वेदेव हैं।

उ०--एतानि स्थानानि विहाय येऽन्यस्थानजन्या वर्णास्ते वैश्वदेवा भवन्ति। स्पष्टार्थान्येतानि सूत्राणि ॥ ४७ ॥

उ० अ०--इन (ऊपर कहे गये) स्थानों को छोड़कर जो अन्य स्थान पर उत्पन्न (= उच्चारित होने वाले) वर्ण (हैं) वे विश्वदेव देवता वाले हैं। इन सूत्रों का अर्थ स्पष्ट है।

अ०--उक्तानि स्थानानि विहाय ये अन्यस्थानजन्मानः वर्णाः शेषास्ते वैश्वदेवा स्युः ॥

तत्समुदायोऽक्षरम् ॥ ४८ ॥

सू० अ०--उन (= वर्णों) का; समुदाय अक्षर होता है।

उ०--(तत् =) तेषाम्; वर्णानामेकीभावलक्षणः समुदायोऽक्षरं भवति। तद्यथा--क ख ग घ ङ इत्यादि ॥ ४८ ॥

उ० अ०--(तत् =) उन वर्णों का एकीभाव रूप समुदाय अक्षर होता है। जैसे--क, ख, ग, घ, ङ, इत्यादि।

अ०--तेषां वर्णानामेकीभाव लक्षणः समुदायोऽक्षरं स्यात्। यथा--क ख ग घ इत्यादि ॥ ४८ ॥

वर्णो वा ॥ ४९ ॥

सू० अ०--अथवा वर्ण (अक्षर होता है)।

उ०--वर्णसमुदायो वा वर्णो वा अक्षरं भवति। तद्यथा--अ आ इ ई उ ऊ इत्येवमादि। वर्णसमुदायोऽक्षरं भवति। क ख ग घ ङ दध्ना एवमादि। व्यवस्थित-विभाषा चेयम्। स्वरः केवलोप्यक्षरं भवति। व्यञ्जनसमुदायस्तु स्वरसंहित एवाक्षरं भवति। तथा च प्रतिपादितम्--"स्वरोऽक्षरम्" (१।९९)। "सहाद्यैर्व्यञ्जनैः" (१।१००)। "उत्तरैश्चावसितैः" (१।१०१) इति प्रथमाध्याय एवेति ॥ ४९ ॥

उ० अ०—वर्णों का समुदाय; वर्णो वा = अथवा वर्ण; अक्षर होता है। जैसे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ इत्यादि। वर्णों का समुदाय अक्षर होता है। (जैसे) क, ख, ग, घ, ङ, दघ्ना इत्यादि। और यह व्यवस्थित विभाषा है। स्वर अकेला भी अक्षर होता है। व्यञ्जनों का समुदाय तो स्वर से मिला हुआ ही अक्षर होता है। वैसा प्रथम अध्याय में कहा भी गया है—"स्वर अक्षर होता है"। "पूर्ववर्ती व्यञ्जनों के सहित-स्वर वर्ण अक्षर होता है"। "अवसान में स्थित परवर्ती व्यञ्जनों के सहित भी स्वर वर्ण अक्षर होता है"।

अ०—वर्णसमुदायो वर्णो वाक्षरं स्यात्। यथा वर्णसमुदायः पूर्वमुक्तः। द्वितीयो यथा—अ आ इ ई इत्यादि। व्यवस्थितविभाषेयम्। यथा—स्वरः केवलोऽप्यक्षरं भवति। व्यञ्जनं तु स्वरसहितमेवाक्षरं भवतीति। तथा च पूर्वमेव प्रतिपादितम्—"स्वरोऽक्षरम्"। "सहाद्यैर्व्यञ्जनैः"। "उत्तरश्चावसितैः" इत्यादिना ॥ ४९ ॥

अक्षरसमुदायः पदम् । ५० ॥

सू० अ०—अक्षरों का समुदाय पद होता है।

उ०—(अक्षरसमुदायः =) अक्षराणां समुदायः; पदं भवति। तद्यथा—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा" (वा० १।१)। "वाजः च मे" (वा० १८।१)॥ ५० ॥

उ० अ०—अक्षरों का समुदाय पद होता है। जैसे—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा"। "वाजः च मे"।

अक्षरं वा ॥ ५१ ॥

सू० अ०—अथवा अक्षर पद होता है।

उ०—अक्षरं वा पदं भवत्यक्षरसमुदायो वा पदं भवति। "इन्द्र आ याहि"। (वा० २०।८७)। "यः उ विद्यायां रताः"। अक्षरसमुदायः पदं भवति। "इषे त्वा ऊर्जे त्वा" (वा० १।१)॥ ५१ ॥

उ० अ०—अक्षरं वा = अथवा अक्षर पद होता है अथवा अक्षरों का समुदाय पद होता है। "इन्द्र आ याहि"। "यः उ विद्यायां रताः"। अक्षरों का समुदाय पद होता है। "इषे त्वा उर्जे त्वा"।

अ०—तन्त्रावृत्या एकशेषन्यायेन वा अक्षरशब्दः द्विवारं आदर्शनीयः। अक्षरं समुदायश्चेति विग्रहः। तथा च अक्षरं अक्षरसमुदायो वा पदं स्यात्। यथा—"आ इदम् अगन्म"। द्वितीयो यथा—"इषे त्वा ऊर्जे त्वा" इत्यादि ॥ ५१ ॥

तच्चतुर्द्धा ॥ ५२ ॥

सू० अ०—वह (पद) चार प्रकार का होता है।

उ०—तदेतत्पदं चतुर्धा भिद्यत इति सूत्रशेषः ।। ५२ ।।

उ० अ०—तत् = वह = यह पद; चार प्रकार से; भिन्न है—यह सूत्र-पूर्ति के लिए जोड़ना चाहिए। (अर्थात् पद चार प्रकार का होता है)।

अ०—तदेतत्पदं चतुर्धा भिद्यत इति शेषः। तदेवाह—

नामाख्यातोपसर्गनिपाताः ॥ ५३ ॥

सू० अ०—नाम आख्यात उपसर्ग (और) निपात।

उ०—नामपदं यथा—गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्येवमादि। आख्यातपदं यथा—पचति पठति गच्छति धावति वल्गतीत्येवमादि। उपसर्गपदं यथा—प्र परा आ अभीत्येवमादि। निपातपदं यथा—वा च कम् उ चित् इत्यादि। नामाख्यातोपसर्गनिपाता इति बहुवचनं पदचतुष्टयापेक्षम् ॥ ५२ ॥

उ० अ०—नाम पद जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती इत्यादि। आख्यात पद जैसे—पचति, पठति, गच्छति, धावति वल्गति इत्यादि। उपसर्ग पद जैसे—प्र, परा, आ, अभि इत्यादि। निपात पद जैसे—वा, च, कम्, उ, चित् इत्यादि। (सूत्र) "नामाख्यातोपसर्गनिपाताः" में बहुवचन का प्रयोग चार पदों को दृष्टि में रखकर किया गया है।

अ०—नाम च आख्यातं च उपसर्गश्च निपातश्चेति द्वन्द्वसमासः। क्रमेणोदाह्रियन्ते। नाम यथा—गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्येवमादि। आख्यातं यथा—पचति पठति गच्छति यच्छन्ताम् गृह्णामीत्यादि। तृतीयं यथा—अभि प्र निः। अभिप्रेहि। निर्दह। इत्यादि। निपातपदं यथा—वा च कम् इत्यादि ।। ५३ ।।

तत्र प्रतिविशेषः ॥ ५४ ॥

सू० अ०—उन (= चार प्रकार के पदों) के वैशिष्ट्य (को कहा जाता है)।

उ०—तत्र च वाक्यपदचतुष्टयं प्रति यो विशेषः स प्रतिपाद्यते। वक्ष्यमाणेन सूत्रेणेति वाक्यशेषः ।। ५४ ।।

उ० अ०—वाक्य के अङ्गभूत इन चार प्रकार के पदों के; **प्रतिविशेषः** = विषय में जो वैशिष्ट्य है; उसका प्रतिपादन किया जाता है। आगे कहे जाने वाले सूत्र के द्वारा यह सूत्र-पूर्ति के लिए जोड़ना चाहिए।

अ०—तत्र पदचतुष्टयं प्रति यो विशेषः स प्रतिपाद्यते। वक्ष्यमाणेन सूत्रेणेति सूत्रशेषः। तदेव दर्शयति—

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः ।। ५५ ।।

सू० अ०—आख्यात क्रिया का वाचक है। उपसर्ग (आख्यात के अर्थ

में) विशेषता ला देता है। नाम द्रव्य (सत्व) का अभिधान करने वाला है और निपात पाद को पूरण करने वाला है।

उ०—अर्थ व्यवस्थया पदचतुष्टयस्य लक्षणं कर्त्तुमाह। क्रिया कालः कर्त्ता सङ्ख्या उपसर्गे विशेष इत्याख्यातार्थः तत्र क्रियैव प्रधानम्। उपसर्गस्तु क्रियाया एव विशेषं करोति। यथा पचतीत्यत्र पाकः प्रतीयते। पुनः प्रपचतीत्युक्ते आदरः प्रतीयते। एवं गच्छत्यागच्छतीत्यादिषु द्रष्टव्यम्। सत्त्वं धातुः कारकं विभक्तिरिति नाम्नोऽर्थः। तत्र सत्त्वमेव विशेषतोऽभिधीयते। निपातस्त्वर्थासम्भवे पादपूरणो भवति॥ ५५॥

उ० अ०—अर्थ को आधार (निर्णायक तत्त्व) मानकर चार प्रकार के पदों का लक्षण करने के लिए (सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र को) कहा है। क्रिया, काल, कर्त्ता, सङ्ख्या, उपसर्ग के लगने पर विशेष (अर्थ) कहना—ये आख्यात, के अर्थ हैं। उनमें क्रिया ही प्रधान है। उपसर्ग तो क्रिया में ही वैशिष्ट्य को उत्पन्न करता है। जैसे 'पचति' से पकाना (पाक) की प्रतीति होती है। किन्तु 'प्रपचति' कहने पर अतिशय की प्रतीति होती है। इसी प्रकार गच्छति, आगच्छति इत्यादि में समझना चाहिए। द्रव्य (सत्त्व), धातु, कारक, विभक्ति-ये नाम के अर्थ हैं उनमें से द्रव्य का ही विशेष रूप से अभिधान किया जाता है। अर्थ सम्भव न होने पर निपात पाद की पूर्ति करने वाला होता है।

अ०—अर्थ विशेषेण पदचतुष्टयस्य लक्षणं कर्तुमाह। क्रिया नाम धात्वर्थः। तद्वाचकम् आख्यातं पदम् उपसर्गस्तु क्रियया एव विशेषं करोति। यथा-पचतीत्यत्र पाकः प्रतीयते। तत्र पुनः प्रपचतीत्युक्ते प्रकर्षोऽवगम्यते। एवं गच्छति आगच्छति नमति प्रणमतीत्यादौ द्रष्टव्यम्। सत्त्वं नाम लिङ्गसङ्ख्याकारकनिर्मुक्तं प्रातिपदिकस्वरूपं तस्य अभिधायकं नाम पदम्। लिङ्गसङ्ख्याकारकानि तु सुप्तिङोः प्रत्ययार्थाः। यथा-कृष्णः वामम् अश्विना अग्नये, अग्नेः अग्नौ इत्यादि। निपातस्तु अर्थविशेषाभावात् पादपूरणार्थः यथा स्वित्। किंस्विदेकाकी चरति। चित्। हृदयाविधश्चित्। कम् इमा। नु कं भुवना सीषधाम। इत्यादि॥ ५५॥

चतुर्दश निपाता येऽनुदात्तास्तेऽपि सञ्चिताः।
निहन्यते खल्वाख्यातमुपसर्गाणां चतुष्टये॥ ५६॥

सू० अ०—चौदह निपात जो अनुदात्त हैं वे (प्रतिशाख्य के सूत्र में) एकत्रित करके कह दिये गये हैं। चार प्रकार के पदों के अन्तर्गत जो आख्यात है वह उपसर्ग इत्यादि के बाद में स्थित होने पर अनुदात्त हो जाता है।

उ०—एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातानामर्थभेदं व्याख्यायाधुना स्वरसंस्कारावपि तत्रोक्तावेवैतौ प्रतिपादयति—चतुर्दशेति। चतुर्दश निपाता येऽनुदात्तास्तेपि अधस्तात्

(**सञ्चिताः =**) सन्चिताः; एव "वाचक मुचित्" इत्यादि सूत्रेण। निपातग्रहणमुपलक्षणम्। नाम्नामपि स्वरः सूत्रविहित एव। यथा—"नो नौ मे मदर्थे त्रिद्वयैकेषु" (२।३) इत्यादिना। यच्च पदचतुष्टये **आख्यातमुक्तं तन्निहन्यते** अनुदात्तं भवति; उपसर्गाणाम् = उपसर्गादीनां पदानाम्; परभूतम्। "उपसर्गो विशेषकृत्। सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः" (८.५५) इत्येतन्नामानुपूर्वीमंगीकृत्योक्तम्। निहन्यते खल्वाख्यातमुपसर्गाणां चतुष्टय इति। खलुशब्द उपलक्षणार्थः। उपसर्गाणामपि तत्र स्वरो विहित इति "उपसर्ग उपसर्गे" (६।२) इत्यादिना। एतदुक्तं भवति—यद्यस्तान्मया प्रतिज्ञातं "स्वरसंस्कारयोः छन्दसि नियमः" इति कृत्स्नं प्रतिपादितमित्यर्थः। अतः कृत्स्नमिदं शास्त्रमिति कृत्वा आदर्त्तव्यं शिष्यैः॥ ५६॥

उ० अ०—इस प्रकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के अर्थ-भेद को कहकर अब 'चतुर्दश' इस (सूत्र) के द्वारा (सूत्रकार) यह प्रतिपादन करते हैं कि (इन पदों के) स्वर और संस्कार भी वहाँ (= प्रातिशाख्य के सूत्रों में) कह ही दिये गये हैं। **चतुर्दश निपाता येऽनुदात्तास्तेऽपि** = चौदह निपात जो अनुदात्त हैं वे भी; पहले "वा, च, कम्, उ, चित्" इत्यादि सूत्र के द्वारा; (**सञ्चिताः =**) एक स्थान पर एकत्रित करके रख दिये गये हैं। (सूत्र में) निपात का ग्रहण उपलक्षण के लिए है। नामों का भी स्वर सूत्र के द्वारा विहित ही है। जैसे—"नः, नौ और मे अनुदात्त होते हैं, यदि ये अस्मद् शब्द के अर्थ को कहते हों और क्रमशः बहुवचन, द्विवचन और एकवचन के वाचक हों।" इत्यादि के द्वारा। (**चतुष्टये =**) चार प्रकार के पदों के अन्तर्गत जो **आख्यात** कहा गया है वह; **निहन्यते** = अनुदात्त हो जाता है; (**उपसर्गाणाम् =**) उपसर्ग इत्यादि पदों के; बाद में स्थित होने पर। "उपसर्ग आख्यात के अर्थ में विशेषता ला देता है। नाम द्रव्य का अभिधान करने वाला होता है और निपात पाद को पूरण करने वाला है"—इस क्रम (आनुपूर्वी) को अङ्गीकार करके यह कहा गया है—चार पदों के अन्तर्गत जो आख्यात है वह उपसर्ग इत्यादि पदों के बाद में स्थित होने पर अनुदात्त होता है। (सूत्रोक्त) 'खलु' शब्द उपलक्षण के लिए है। "उपसर्ग बाद में होने पर उपसर्ग अनुदात्त होता है" इत्यादि के द्वारा वहाँ (= प्रातिशाख्य में) उपसर्गों के स्वर का भी विधान किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है—पूर्व में मैंने जो कहा था "वेद के विषय में स्वर और संस्कार का विधान किया जायेगा" उस सम्पूर्ण का प्रतिपादन कर दिया गया है। अतः यह शास्त्र सप्रयोजन (पूर्ण, कृत्स्न) है—इस बात को दृष्टि में रखकर शिष्यों को (इस शास्त्र का) आदर करना चाहिए।

अ०—एवं नामाख्यातोपसर्गनिपातार्थभेदं व्याख्याय सम्प्रति निपातादीनां स्वर-

विशेषमनुवदति । चतुर्दश निपाता येऽनुदात्तास्तेऽपि सञ्चिता एव । वाचकमुचिदित्यादिना सूत्रेण द्वितीयाध्यायेऽभिहिता एव । यद्वाख्यातपदं तदुत्सर्गेण निहन्यते । यद्वृत्तोपपदादन्यथा भवतीत्येतदपि षष्ठाध्याये अनुदात्तमाख्यातमामन्त्रितवदित्यादिनाभिहितमेव । तथोपसर्गचतुष्टयस्यापि स्वरः तत्रैव उपसर्ग उपसर्ग इत्यादिनाभिहित एव । चतुष्टयशब्दस्य उपलक्षणत्वात् सर्वोपसर्गाणां स्वरोऽप्यभिहित एव परोपापावेत्यादिना । खलु शब्दः प्रसिध्यर्थः । एतदुक्तं भवति—यदधस्तात् मया प्रतिज्ञातं स्वरसंस्कारयोः छन्दसि नियम इति कृत्स्नं तत्प्रतिपादितम् । अतः कृत्स्नमिदं शास्त्रमिति मत्वा ज्ञानातिशयाय सर्वदा शिष्यैरावर्तनीयमिति । अधुना यन्नोक्तं पूर्वं प्रसङ्गात्तानाह—

अथ पदगोत्राणि ॥ ५७ ॥

सू॰ अ॰—अब पदों के गोत्र (बतलाये जायेगें) ।

उ॰—(अथ =) एवम्; (पदगोत्राणि =) पदचतुष्टयगोत्राणि; वक्ष्यन्त इति सूत्रशेषः ॥ ५७ ॥

उ॰ अ॰—(अथ =) इस प्रकार (अथवा—अब); (पदगोत्राणि =) चारों पदों के गोत्र; कहे जायेगें—यह सूत्र—पूर्ति के लिए जोड़ना चाहिए ।

अ॰—अथ शब्दो मङ्गळार्थः । पदानां नामाख्यातोपसर्गनिपातानां गोत्राणि वक्ष्यन्त इति सूत्रशेषः । तदाह—॥ ५८ ॥

भारद्वाजकमाख्यातं भार्गवं नाम भाष्यते ।
वासिष्ठ उपसर्गस्तु निपात काश्यपः स्मृतः ॥ ५८ ॥

सू॰ अ॰—आख्यात का भारद्वाज गोत्र (तथा) नाम का भार्गव गोत्र कहा गया है । उपसर्ग का वाशिष्ठ गोत्र (और) निपात का काश्यप गोत्र माना गया है ।

उ॰—भरद्वाजेन दृष्टमाख्यातम्; (भारद्वाजकम् =) भारद्वाजगोत्रं वा भारद्वाजसगोत्रं वा तथा भृगुणा दृष्टं नाम; (भार्गवम्=) भार्गवगोत्रं भार्गवसगोत्रं वा । तथा वसिष्ठेन दृष्टा उपसर्गा; (वासिष्ठः=) वासिष्ठगोत्रा वासिष्ठसगोत्रा वा । तथा कश्यपेन दृष्टा निपाताः; (काश्यपः=) काश्यपगोत्राः काश्यपसगोत्रा वा ॥ ५८ ॥

उ॰ अ॰—भरद्वाज के द्वारा देखा गया आख्यात; (भारद्वाजकम्=) भारद्वाज गोत्र वाला अथवा भारद्वाज के समान गोत्र वाला है । उसी प्रकार भृगु के द्वारा देखा

गया नाम; (भार्गवम्=) भार्गव गोत्र वाला अथवा भार्गव के समान गोत्र वाला है। उसी प्रकार वसिष्ठ के द्वारा देखे गये उपसर्ग; (वासिष्ठः =) वासिष्ठ गोत्र वाले अथवा वासिष्ठ के समान गोत्र वाले हैं। उसी प्रकार कश्यप के द्वारा देखे गये निपात; (काश्यपः=) काश्यप गोत्र वाले अथवा काश्यप के समान गोत्र वाले हैं।

अ०—अत्र पूर्वोक्तक्रमपदक्रमस्यानुपयुक्तत्वात् प्राधान्यादाख्यातादिक्रममनुसृत्याह-भारद्वाजकमाख्यातमिति। भरद्वाजेन दृष्टत्वात् आख्यातं भारद्वाजगोत्रम्। तथा भृगुणा दृष्टत्वात् नाम भृगुगोत्रम्। वसिष्ठेन दृष्टत्वात् उपसर्गः वसिष्ठगोत्रः। कश्यपेन निपातो दृष्टः। अतः काश्यपगोत्र इत्युच्यते ॥ ५९ ॥

अथ पददेवताः ॥ ५९ ॥

सू० अ०—अब पदों के देवता (कहे जायेगें)।

उ०—अथ; (पददेवताः =) पदानां देवताः; वक्ष्यन्त इति सूत्रशेषः ॥५९॥

उ० अ०—अथ = अब; (पददेवताः =) पदों के देवता; कहे जायेगें—यह सूत्र-पूर्ति के लिये जोड़ना चाहिये।

अ०—उच्यन्त इति सूत्रशेषः। तथाहि—॥ ५९ ॥

सर्वं तु सौम्यमाख्यातं नाम वायव्यमिष्यते।
आग्नेयस्तूपसर्गः स्यान्निपातो वारुणः स्मृतः ॥ ६० ॥

सू० अ०—सभी आख्यात तो सोम देवता वाले हैं। नाम वायु देवता वाला माना जाता है। उपसर्ग तो अग्नि देवता वाला है तथा निपात वरुण देवता वाला माना गया है।

उ०—सर्वमाख्यातं; (सौम्यम् =) सोमदैवत्यम्। सर्वं नाम; (वायव्यम् =) वायुदैवत्यम्। (आग्नेयः =) अग्निदैवत्याः; उपसर्गाः। निपाताः; (वरुणः =) वरुणदैवत्याः। इत्याद्युपासनार्थमुक्तम्। एवं ह्युपासिताः सन्तोऽर्थानभिज्ञस्यापि पुरुषस्य फलप्रदा भवन्ति। "यो वा अविदितार्षेयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेन याजयति वाध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वांपद्यते प्र वा मीयते पापीयान् भवति" (का० अ० १।१) इत्येवमादिदोषेण सम्बध्यते। घृतकुल्यमधुकुल्या इत्येवमादिभिस्तु गुणैः सम्बध्यत एव ॥ ६० ॥

उ० अ०—सर्वमाख्यातम् = सभी आख्यात; (सौम्यम् =) सोम देवता वाले हैं। सभी नाम; (वायव्यम् =) वायु देवता वाले हैं। उपसर्ग; (आग्नेयः=)

अग्नि देवता वाले हैं। **निपात; (वारुणः =)** वरुण देवता वाले हैं।[क] यह सब उपासना (दृष्टि) के लिए कहा गया है (अर्थात् आख्यात इत्यादि में सोम देवता इत्यादि की दृष्टि करनी चाहिए)। क्योंकि इस प्रकार उपासना किये जाने पर ये अर्थ को न जानने वाले पुरुष के हेतु भी फल देने वाले होते हैं। "जिन मन्त्रों का ऋषि, छन्द, देवता और ब्राह्मण विदित नहीं है ऐसे मन्त्रों से जो यज्ञ कराता है अथवा अध्यापन करता है वह स्थाणु होता है, गर्त में गिरता है, नष्ट हो जाता है अथवा पाप का भागी होता है" इत्यादि दोषों से सम्बद्ध होता है। घृतकुल्या, मधुकुल्या इत्यादि गुणों से सम्बद्ध होता है। (अर्थात् जो व्यक्ति देवता इत्यादि को बिना जाने वेदाध्ययन करता है वह उक्त दोषों का भागी बनता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति देवता इत्यादि को जानकर वेदाध्ययन करता है उसके पितृ-गण घृतकुल्या इत्यादि को प्राप्त करते हैं)।

अ० — सर्वमाख्यातं सोमदेवत्यम्। नामपदं सर्वं वायुदेवत्यम् उपसर्गोऽग्निदेवत्यः निपातो वरुणदेवत्यः। एवञ्च अथ पदगोत्राणीत्यादिकमुपासनार्थं उक्तमित्यवधेयम्। एवं हि उपासिताश्शब्दाः अर्थानभिज्ञस्यापि पुरुषस्य फलप्रदा भवन्तीति ज्ञायते। यो ह वा अविदितार्षेयछन्दो दैवतेन मन्त्रेण याजयति अध्यापयति वा स्थाणुं वर्च्छति गर्त्तं वापद्यते प्रमीयते वा पापीयान् भवतीत्यनुक्रमणिकायां देवताद्यज्ञाने दोषश्रवणात्। तद्ज्ञाने तु अथ विज्ञायैतानि योऽधीतेऽस्य ब्रह्म वीर्यवद्भवतीत्यर्थः योऽर्थवित्तस्य वीर्यवत्तरं भवति। जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलेन युज्यते इति गुणश्रवणाच्च। एवं कृत्स्नं शास्त्रं अभिधाय स्वकृतमित्यलङ्करोति—

(क) पदों के गोत्रों और देवताओं को अधोलिखित रेखा-चित्र से भली भाँति समझा जा सकता है—

	नाम	आख्यात	उपसर्ग	निपा
गोत्र	भार्गव	भारद्वाज	वासिष्ठ	काश्यप
देवता	वायु	सोम	अग्नि	वरुण

इत्याह स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता भगवान् कात्यायनः ॥ ६१ ॥

सू० अ०—स्वर-संस्कार को प्रतिष्ठित करने वाले भगवान् कात्यायन; ने इस शास्त्र का उपदेश किया है।

उ० - एवं (स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता=) स्वरसंस्कारयोः प्रतिष्ठापयिता भगवान् कात्यायनः; (इत्याह =) इदं शास्त्रमाह ॥ ६१ ॥

उ० अ०—इस प्रकार; (स्वरसंस्कारप्रतिष्ठापयिता =) स्वर और संस्कार को प्रतिष्ठित करने वाले; भगवान् कात्यायन ने; (इत्याह =) इस शास्त्र (=प्रातिशाख्य) को कहा है।

अ०—ओम्—उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥

इति भगवच्छब्दार्थः। शेषं सुगमम् ॥ ६१ ॥

वृद्धं वृद्धिः ॥ ६२ ॥

इति कात्यायनकृतौ प्रतिशाख्यसूत्रेऽष्टमोऽध्यायः ॥

उ०—इत्युक्तार्थः ॥

इत्यानंदपुरवास्तव्यवज्रटसूनुनोव्वटेन कृते मातृमोदाख्ये
प्रतिशाख्यभाष्ये अष्टमोऽध्यायः ॥

अ०—उक्तार्थमेव। हरिः ओम् ॥

वेदवेदाङ्गविदुषा अनन्तभट्टेन सादरम्। परेषामुपकाराय भाषितं प्रातिशाख्यकम् ॥
अम्बा भागीरथी यस्य नागदेवात्मजः सुधीः। तेनानन्तेन रचितं प्रातिशाख्यस्य वर्णनम् ॥
असाधु साधु वा पद्यं ग्रन्थे चास्मिन्यथोदितम्। तत्सर्वं क्षम्यतां सन्तः श्रीमन्तः काण्वशाखिनः ॥
न पाण्डित्याभिमानेन न च वित्तस्य चेप्सया। ग्रन्थोऽयं रचितः किन्तु रामनाथस्य तुष्टये ॥

ओम्। श्रीमत्प्रथमशाखिना नागदेवभट्टात्मजेन श्रीमदनन्तभट्टेन विरचिते
श्रीमत्कात्यायनप्रातिशाख्यसूत्रभाष्ये पदार्थप्रकाशके
अष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

सूत्र–सूची

पारिभाषिक शब्दकोष

अक्षर···(१) स्वर-वर्ण (२) पूर्ववर्ती व्यञ्जन से युक्त स्वर वर्ण और (३) अवसान में स्थित परवर्ती व्यञ्जन से युक्त स्वर वर्ण।

अणु--एक चौथाई मात्रा काल।

अनुदात्त—उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चारित स्वर।

अनुनासिक—(१) वर्गों के पञ्चम वर्ण-ङ, ञ, ण, न, म (२) मुख और नासिका से उच्चारित होने वाला कोई भी वर्ण।

अनुस्वार—शुद्ध नासिक्य वर्ण।

अनुदेश—सर्वनाम पदों से पूर्व प्रज्ञापित अर्थ का बोधन।

अन्तस्थ—य, र, ल, व।

अपृक्त—किसी व्यञ्जन से न मिला हुआ एकवर्णात्मक पद।

अभिनिहित स्वरित—अभिनिहित सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित।

अभिघात-उच्चारणावयवों का तिर्यग्गमन।

अयोगवाह—अकारादि के साथ मिलकर उच्चरित होने वाले ⌒क, ⌒प इत्यादि वर्ण।

अवग्रह—(१) सावग्रह पद का पूर्व-पद (२) पृथक्करण।

[illegible]स्थान—मन्त्रों का विराम स्थल।

[illegible]न—क्रिया-वाचक पद।

विश्वेऽग्र[illegible]न—द्विरुच्चारित पद।

विष्णो ते [illegible] उच्चारणावयवों का ऊर्ध्वगमन।

विसर्जनीय [illegible]

उदात्त—उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वगमन से उच्चारित होने वाला स्वर।

उदात्तमय—उदात्त के समान उच्चारित होने वाला स्वर (अर्थात् प्रचय)।

उपध्मानीय—⌒प।

उपधा—अन्तिम वर्ण से अव्यवहित पूर्ववर्ती वर्ण।

उपसर्ग—आख्यात के सम्पर्क में आकर अर्थ में विशेषता लाने वाले प्र इत्यादि पद।

ऊष्म—श, ष, स, ह।

करण—वर्णोच्चारण में सक्रिय मुखावयव।

क्रम—(१) द्विरुक्ति (२) क्रमपाठ।

क्षैप्र—क्षैप्र (यण्) सन्धि के परिणाम स्वरूप निष्पन्न स्वरित।

चर्चा--इति शब्द से बाद में पद की द्विरुक्ति।

चतुःक्रम—चार पदों का क्रमवर्ग।

जात्यस्वरित-स्वाभाविक (नित्य) स्वरित।

जित्—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ्, फ, श, ष, स।

जिह्वामूलीय—(१)⌒क (२ या है ! मूल से उच्चारित होने वाले वर्ण ऋ ॠ ऌ ३; क, ख, ग, घ, ङ।

ताथाभाव्य—दो उदात्तों के मध्य में स्थित अनुदात्त।

तैरोविराम स्वरित—अवग्रह से व्यवहित उदात्तपूर्व स्वरित।

तैरोव्यञ्जनस्वरित—व्यञ्जन से व्यवहित

उदात्तपूर्व स्वरित ।

त्रिक्रम—तीन पदों का क्रमवर्ग ।

दीर्घ—द्विमात्रिक स्वर–आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ औ ।

धि—ग, घ, ङ; ज, झ, ञ; ड, ढ, ण; द, ध, न; ब, भ, म; य, र, ल, व; ह ।

नति—दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य हो जाना ।

नाम—द्रव्य-वाचक पद ।

नासिक्य—(१) नासिका से उच्चारित होने वाला वर्ण-विशेष (हुँ) (२) नासिका स्थान से उच्चारित होने वाले वर्ण ।

निघात (निहित)—अनुदात्त ।

निपात—नाम, आख्यात और उपसर्ग से व्यतिरिक्त च इत्यादि पद ।

न्यूङ्ख—प्रातरनुवाक में पठनीय षोडश ओङ्कार ।

पद—अर्थ का अभिधायक अक्षर अथवा अक्षरसमुदाय ।

परमाणु—$\frac{1}{2}$ मात्रा काल ।

पादवृत्त स्वरित—विवृत्ति से व्यवहित उदात्तपूर्व स्वरित ।

संस्कृतिभाव—विना विकार के ज्यों का संहिता ।

संहितायापरवर्ती स्वर-वर्णों के साथ विकार संभव होने पर भी विकार को प्राप्त न करने वाला स्वर ।

प्रश्लिष्ट स्वरित—प्रश्लिष्ट सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वरित ।

प्रावचन—आर्षपाठ में प्रयुक्त स्वर ।

प्लुत—त्रिमात्रिक आ ३, ई ३ इत्यादि स्वर ।

भावी—अकंठ्य स्वर–इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ ए, ऐ, ओ, औ ।

मात्रा—(१) वर्णों के उच्चारण काल की इकाई (२) ह्रस्व अकार के समान उच्चारण काल ।

भुत्—श, ष, स ।

मार्दव—उच्चारणावयवों का अधोगमन ।

यम—कुँ, खुँ, गुँ, घुँ ।

रिफित—अकार और आकार उपधा वाले विसर्जनीयान्त (१।१६१-१६८ तक परिगणित) पद ।

लोप—वर्ण का अदर्शन ।

वर्ग—पाँच-पाँच स्पर्शों का समूह ।

वर्ण—अकारादि ध्वनियाँ ।

वर्ण-समाम्नाय—वर्णमाला (वर्णों का संग्रह) ।

विवृत्ति—दो स्वरों के मध्य में काल का व्यवधान ।

विसर्जनीय—अः ।

विच्छेद—यम ।

विनाम—दन्त्य वर्णों का मूर्धन्य हो जाना (नति) ।

वेष्टक—इति को मध्य में रखकर पद को दोहराना ।

व्यञ्जन—स्वर की सहायता से उच्चारित होने वाले क, ख इत्यादि वर्ण ।

सन्ध्यक्षर—ए, ऐ, ओ, औ ।

सवर्ण—समान स्थान तथा समान आभ्यन्तर प्रयत्न वाला वर्ण ।

संयोग—स्वर से अव्यवहित दो या दो से अधिक व्यञ्जन ।

संहिता—एक श्वास में उच्चारित होने वाले वर्णों का मेल।

सङ्क्रम—(१) पुनरुक्त पदों को छोड़कर अपुनरुक्त पद के साथ सन्धि (२) पुनरुक्त पदों का परित्याग या अतिक्रमण।

संस्कार—लोप, आगम, वर्णविकार और प्रकृतिभाव।

संधि—वर्णों अथवा पदों का मेल।

सिम्—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ।

सोष्म वर्ण—वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्ण–ख, छ, ठ, थ, फ, घ, झ ढ, ध, भ।

स्थान—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त स्थल।

स्थितोपस्थित—इति से व्यवहित द्विरुच्चारित पद।

स्पर्श—क, ख इत्यादि पच्चीस व्यञ्जन।

स्फोटन—पिण्डीभूत संयोग का पृथगुच्चारण।

स्वर—अ, आ, आ ३; इ, ई, ई ३; उ, ऊ, ऊ ३; ऋ, ॠ, ॠ ३; ऌ, ॡ ॡ३, ए, ए ३; ऐ, ऐ ३; ओ, ओ ३; औ, औ ३।

स्वर—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित संज्ञक स्वर-वर्णों के उच्चारण धर्म।

स्वरित—उच्चारणावयवों के तिर्यग्गमन से उच्चारित होने वाला स्वर। उदात्त और अनुदात्त का मिश्रित रूप।

ह्रस्व—एकमात्रिक वर्ण अ, इ, उ, ऋ, ऌ।

वा० प्रा० के अधिकांश पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या **ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की एक परिशीलन** में की जा चुकी है। जिन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या वहाँ नहीं की गई है उनकी व्याख्या यहाँ की जा रही है—

(१) **अणु**—अणु का शाब्दिक अर्थ है सूक्ष्म। वा० प्रा० १।६० में व्यञ्जन के उच्चारण में लगने वाले काल के आधे काल को अणु कहा गया है। इस प्रकार अणु= $\frac{1}{4}$ मात्रा।

(२) **अनुदेश**—वा० प्रा० २।७ में इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है। अनुदेश का अर्थ है–पूर्व-कथित अर्थ का बोधक। वा० प्रा० में यह संज्ञा अस्मै, एषाम् इत्यादि सर्वनामपदों के लिये की गई है।

(३) **अयोगवाह**—वा० प्रा० ८।१८ में इस संज्ञा का प्रयोग किया गया है। इसके अन्तर्गत ≍क, ≍प, अं; अः, हुँ, कुँ, खुँ, गुँ, घुँ वर्ण आते हैं। भाष्यकार उवट ने इसका निर्वचन इस प्रकार किया है–[अ]कारादि वर्ण-समाम्नाय के साथ मिलकर ये अपना निर्वाह करते हैं, आत्म-लाभ प्राप्त [क]रते हैं अतः अयोगवाह कहे जाते हैं।

(४) **आम्रेडित**—आम्रेडित का [अ]र्थ है द्विरुक्त पद। वा० प्रा० १।१४६ में दो बार [उ]च्चारित पद को आम्रेडित कहा ग[या] है।

([५]) **जित्**—यह अन्वर्थक संज्ञा न[हीं] है। वा० प्रा० १।५० के अनुसार वर्गों के प्रथम ए[वं] द्वितीय वर्ण, श, ष, स—ये वर्ण [जि]त्संज्ञक हैं।

(६) **ताथाभाव्य**—ताथाभाव्य का शाब्दिक अर्थ है—ज्यों का त्यों रहने वाला। उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त उदात्त बाद में होने पर स्वरित के रूप में परिवर्तित न होकर ज्यों का त्यों अर्थात् अनुदात्त ही रहता है, इसे ताथाभाव्य संज्ञक अनुदात्त कहा जाता है।

(७) **धि**—यह अन्वर्थ संज्ञा नहीं है। वा० प्रा० १।५३ के अनुसार वर्गों के तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम वर्ण; य, र, ल, व, तथा ह धि संज्ञक हैं।

(८) **भावी**—भावी का शाब्दिक अर्थ है—बना देने वाला कर देने वाला। यह शब्द भू धातु में णिनि प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है। जो स्वर वर्ण दन्त्य वर्णों को मूर्धन्य बना देते हैं वे भाविन् (= भावी) कहे जाते हैं।

(९) **मुत्**—यह अन्वर्थ संज्ञा नहीं है। वा० प्रा० १।५२ के अनुसार श, स, ष, की मुत् संज्ञा है।

(१०) **विच्छेद**—विच्छेद शब्द वि उपसर्ग पूर्वक छिद् धातु से बना है, वा० प्रा० ४।१६३ में इस शब्द का प्रयोग 'यम' के लिये किया गया है, जब वर्ग के अपञ्चम वर्ण के बाद पञ्चम वर्ण आता है तब अपञ्चम वर्ण विभक्त हो जाता है। एक वर्ण के दो वर्ण हो जाते हैं।

(११) **विनाम**—विनाम शब्द वि उपसर्ग पूर्वक नम् धातु से निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है झुकना। वा० प्रा० ४।१६३ में विनाम शब्द का प्रयोग नति के अर्थ में किया गया है। पूर्ववर्ती भावी स्वर के प्रभाव से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य की ओर झुक जाता है अर्थात् दन्त्य वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य हो जाता है। इसी दन्त्य के मूर्धन्य होने को विनाम कहा जाता है।

(१२) **संक्रम**—संक्रम शब्द का शाब्दिक अर्थ है—अतिक्रमण। संहिता में तीन या तीन से अधिक पदों की पुनरुक्ति होने पर पुनरुक्त पदों को पद-पाठ तथा क्रम-पाठ में छोड़ दिया जाता है। पुनरुक्त पदों के पद-पाठ तथा क्रम-पाठ में छोड़ने को संक्रम कहा जाता है।

(१३) **सिम्**—यह अन्वर्थ संज्ञा नहीं है। वा० प्रा० १।४४ के अनुसार अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ—ये वर्ण सिम् संज्ञक है।

(१४) **स्फोटन**—स्फोटन शब्द 'पृथक् करना', 'अलग करना' अर्थ वाली स्फुट् धातु से निष्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ है—पृथक्करण। वा० प्रा० ४।१६५ के भाष्य में भाष्यकार उव्वट का कथन है कि पिण्डीभूत संयोग का पृथगुच्चारण स्फोटन है।

(१५) **सोष्म**—सोष्म का शाब्दिक अर्थ है ऊष्म के सहित। [illegible] उवट के अनुसार ऊष्म का अर्थ है वायु, उस वायु के साथ उच्चारित होते हैं इसलिए सोष्म कहलाते हैं।